मीमांसक-लेखावली

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा

[वेद-विषयकः प्रथमो भागः]

युधिष्ठिर मीमांसक

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या......... ..   आगत संख्या............

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित हैं। इस तिथि सहित ३०वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

मीमांसक-लेखावली

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा

[वेद-विषयकः प्रथमो भागः]

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—
युधिष्ठिर मीमांसक
बहालगढ़, सोनीपत
[हरयाणा]

प्राप्ति-स्थान—
रामलाल कपूर ट्रस्ट
बहालगढ़, सोनीपत
(हरयाणा)

मूल्य—
सादी अजिल्द २५-००
बढ़िया सजिल्द ३०-००

प्रथम बार
५०० मात्र
वि० सं० २०३३, पौष

मुद्रक—
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत)

स म र्प ण

जिस ने मुझे जन्म दिया, और
स्वीय ब्राह्मण कुल परम्परा के अनुसार
गुण-कर्म-स्वभाव से वेदपाठी ब्राह्मण बनाने का
दिव्य संकल्प संजोया
परन्तु अकाल में स्वर्गगामिनी होते हुए भी
अन्त समय में मेरे पितृ-चरण से
'एकाकी रह जाने पर मोह वश
युधिष्ठिर को गुरुकुल
भेजने के संकल्प में
ढील न देने का
वचन लिया'
जिसका अन्तिम वचन मुझे सदा प्रेरणा देता रहा
उस
जन्म-दात्री, जन्म-निर्मात्री
माता यमुना देवी
की
पावन-स्मृति
में
यह पत्र-पुष्प
समर्पित
है।

विषय-सूची

लेखकीय वक्तव्य

अध्ययनकाल और आश्रम का यायावरत्व

मेरे माता-पिता की यह बलवती आकाङ्क्षा थी कि वे मुझे अपने कुल के अनुसार सच्चा वेदपाठी ब्राह्मण बनावें। मेरी माता तो इस मनःकामना को लेकर असमय में ही, जब कि मैं अभी आठवें वर्ष में था, स्वर्ग सिधार गई। परन्तु निधन से पूर्व उन्होंने मेरे पिता जी से जिन तीन बातों के लिये अपनी आकाङ्क्षा प्रकट की थी, उन में एक यह भी थी कि—'अब आप अकेले रह जायेंगे, कहीं मोहवश युधिष्ठिर को गुरुकुल भेजना स्थगित न कर देना।' मैं उस समय माता के समीप में ही बैठा था, और मैंने माता का यह विचार स्वयं सुना था। उस समय तो मेरी अवस्था ऐसी नहीं थी कि मैं इसका महत्त्व समझता। परन्तु जब मैं बड़ा हुआ, तो मुझे वात्सल्यमूर्ति माता के बालकपन में सुने हुये उक्त शब्दों का ध्यान आया। ये शब्द मुझे सदा प्रेरणा देते रहे। पिता जी मेरी माता के स्वर्गवास के कारण २-३ वर्ष अन्यमनस्क से रहे, किन्तु सन् १९२१ में मुझे पूर्व निश्चय के अनुसार गुरुकुल भेजने का प्रयत्न किया। दुर्भाग्यवश अथवा सौभाग्य-वश पिता जी मुझे गुरुकुल कांगड़ी, और गुरुकुल सान्ताकुञ्ज बम्बई में प्रवेश कराने में असफल रहे। उस की विशेष कथा लिखने का यहां स्थान नहीं है।

अन्त में दैवी अनुकम्पा से 'आर्यमित्र' के मई वा जून १९२१ के अङ्क में श्री स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के साधु आश्रम, पुल काली नदी, अलीगढ़ की विज्ञप्ति छपी। जिस में कुछ छात्रों को शिक्षणार्थ भरती करने का उल्लेख था, और आर्षपाठविधि के अनुसार शिक्षण देने का निर्देश था। पिता जी ने आश्रम के आचार्य जी से पत्रव्यवहार करके मुझे ३ अगस्त १९२१ को गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु, श्रद्धेय श्री पं० शङ्करदेव जी, एवं श्रद्धेय श्री पं० बुद्धदेव जी धार (म० प्र०) निवासी के चरणों में समर्पित कर दिया। कुछ मास पश्चात् आश्रम 'गण्डासिंहवाला' अमृतसर चला गया। वहां

उसका 'विरजानन्द आश्रम' नाम रखा गया। २-३ वर्ष पश्चात् श्री पं० बुद्धदेव जी आश्रम से पृथक् हो गये। दैवी घटनाचक्र को मनुष्य नहीं जानता। कुछ समय पश्चात् आश्रम की व्यवस्थापिका 'सर्वहितकारिणी सभा' में मतभेद उत्पन्न हो गया, और आश्रम की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। अतः सभा के झगड़ों से दूर रहने के विचार से दोनों गुरुजन चुने हुए १२-१३ विद्यार्थियों को ईश्वर भरोसे लेकर दिसम्बर सन् १९२५ के अन्त में काशी चले गये। वहां सप्तसरोवर, काशीदेवी के मठ के पास (बुलानाला) किराये के मकान में रहे। लगभग ढाई वर्ष रहना हुआ कि पुनः दैवी घटना ऐसी घटी कि गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु हम ८-९ विद्यार्थियों को लेकर अमृतसर आ गये। श्री गुरुवर्य पं० शङ्करदेव जी किन्हीं कारणों से अमृतसर नहीं आये। इस बार स्थान-परिवर्तन का कारण अमृतसर के कागज के प्रसिद्ध व्यापारी श्री रामलाल कपूर का निधन, उनकी स्मृति में उनके सुपुत्रों द्वारा 'रामलाल कपूर ट्रस्ट' की स्थापना, और उसके संचालन के लिये श्री गुरुवर्य को बुलाना हुआ। इस वैदिकधर्मप्रेमी परिवार के साथ गुरु जी का सम्पर्क गण्डासिंहवाला अमृतसर में रहने के काल में हुआ था।

इस बार अमृतसर में विद्यालय की स्थिति दुर्ग्याणा के समीप श्री रामलाल कपूर जी के "राम-भवन" में हुई। पूज्य गुरुवर्य जी को वैदिक वाङ्मय के स्वाध्याय में पूर्वमीमांसा के ज्ञान की कमी खटकती रहती थी। पिछले काशी-निवासकाल में मीमांसा के अध्ययन के लिये प्रयत्न भी किया था, पर पौराणिक पण्डितों की कट्टरता के कारण उस समय कृतकार्य नहीं हो सके थे। अतः लगभग ३॥ साढे तीन वर्ष के पश्चात् गुरुवर्य 'मीमांसा पढ़कर ही वापस लौटने' की प्रतिज्ञा करके हम लोगों को साथ लेकर पुनः काशी गये। काशी जाने से पूर्व मेरा महाभाष्यान्त व्याकरण और निरुक्त का अध्ययन हो चुका था। अतः काशी जाना मेरे लिये विशेष लाभकारी रहा। वहां न्याय वैशेषिक दर्शनों का विशेष, एव सांख्यादि का सामान्य अध्ययन किया। पूर्वमीमांसा का अध्ययन श्री पूज्य गुरुवर्य ने मीमांसक-शिरोमणि श्रद्धेय श्री पं० चिन्न स्वामी जी शास्त्री एवं उन के जामाता पूज्य श्री पं० पट्टाभिराम जी से किया। इस समय पूज्य गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने परम औदार्य और महती निरभि-

मानता का परिचय दिया। वे हम दो तीन छात्रों को भी अपने साथ मीमांसा का अध्ययन कराने के लिये ले गये। और गुरुजनों की महती कृपा से मीमांसा के सदृश दुर्गम एवं अत्यन्त शुष्क विषय का अध्ययन करने में मैं सफल हो सका।

मीमांसा का अध्ययन करके सन् १९३५ के अन्त में गुरु जी पुनः पंजाब लौटे। इस बार आश्रम की स्थिति लाहौर में रावी पार बारहदरी के निकट रामलाल कपूर परिवार के उद्यान में हुई। हम लोग समझे थे कि अब यहां आश्रम स्थायी रूप से विकसित होगा, परन्तु आश्रम के साथ तो उसके बाल्यकाल से ही स्थानान्तर-परिभ्रमण का दैवीचक्र काम कर रहा था। अतः यहां आकर भी उसका अन्त नहीं हुआ। अगस्त १९४७ में देशविभाजन के समय बलात् लाहौर छोड़ना पड़ा। मैं अजमेर चला गया। पूज्य गुरुवर्य की २ वर्ष यायावर की स्थिति रही। सभी साथी बिखर गये। अन्त में सन् १९५० में पुनः अजमतगढ़ पैलेस (मोती झील) वाराणसी में किराये का मकान लेकर आश्रम और ट्रस्ट के कार्य की व्यवस्था पुनः आरम्भ की। २३ दिसम्बर १९६४ को पूज्य गुरुवर्य का स्वर्गवास हुआ। अतः कतिपय विशिष्ट कारणों से पुनः काशी का परित्याग करना पड़ा। और अब जुलाई सन् १९६७ से बहालगढ़ सोनीपत-हरयाणा में आश्रम और ट्रस्ट के काम को पुनः व्यवस्थित किया है। यहां आश्रम की अपनी भूमि और कुछ भवनों की व्यवस्था हो गई है। दोनों कार्य मेरे तथा श्री पं० विजयपाल जी व्याकरणाचार्य के निरीक्षण में चल रहे हैं। आगे का वृत्त दैवाधीन है।

मेरे जीवन का भी यायावरत्व

मेरा जीवन भी आरम्भ से अन्त तक यायावरपन में ही बीता है। जन्मकाल से अध्ययनार्थ विरजानन्द आश्रम में प्रविष्ट होने तक पिता जी के यायावर जीवन से सम्बद्ध रहा। क्योंकि वे इन्दौर राज्य की पाठशाला में अध्यापक थे, उनका स्थानान्तरण होता रहता था। विरजानन्द आश्रम का यायावरत्व ऊपर प्रकट कर चुका हूं। उसके पश्चात् सन् १९३६ में गृहस्थ होने पर भी यायावरपन ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। मैं १९३६ से १९४२ तक लाहोर में, १९४२ के अन्त से १९४६ के मध्य तक अजमेर में, १९४६ के मध्य से २ अगस्त १९४७

तक पुनः **लाहोर** में, देशविभाजन के पश्चात् अगस्त १९४७ से मार्च १९५० के अन्त तक **अजमेर** में, मार्च १९५० से अप्रेल १९५५ तक **काशी** में, अप्रेल १९५५ से १९५९ के मध्य तक **देहली** में, जून १९५९ से १९६० के अन्त तक **टंकारा** (सौराष्ट्र) में कार्य करता रहा। सन् १९६१ में **अन्त तक अजमेर में रहने का निश्चय किया।** परन्तु दैवगति से पूज्य गुरुवर्य के स्वर्गवास के पश्चात् ट्रस्ट का कार्य सम्भालने के लिये जुलाई १९६७ में **बहालगढ़ (सोनीपत)** आना पड़ा। इस से पूर्व सन् १९६७ में लगभग ३-३॥ मास 'केन्द्रीय सांध्य पाणिनि महाविद्यालय' **भुवनेश्वर** का प्रधानाचार्यत्व भी निभाया। जलवायु के प्रतिकूल होने से मैं वहां अधिक नहीं रह सका। आगे की गति दैवाधीन है।

जीवन का लक्ष्य

माता-पिता एवं गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु की इच्छाओं को ध्यान में रखकर मैंने गृहस्थ जीवन बिताते हुए भी ब्राह्मणवृत्ति से रहने का निश्चय किया। तथा उसी के अनुरूप अथवा अल्प बाधक कार्य करते हुए स्वाध्याय प्रवचन और लेखनकार्य में लगा रहा। परमपिता परमात्मा की असीम कृपा से जहां मुझे श्रेष्ठतम माता-पिता और गुरुजन प्राप्त हुए, वहां इस जीवन की सहधर्मिणी भी ऐसी ही प्राप्त हुई, जिसके पूर्ण सहयोग से मैं अपने लक्ष्य के अनुरूप यथाशक्ति शनैःशनैः आगे बढ़ता रहा। लौकिक दृष्टि से भी दीन-बन्धु परम कृपालु देव की अनुकम्पा और गुरुजनों के आशीर्वाद से विना प्रयत्न यथाक्रम उच्च-उच्चतर-उच्चतम सम्मानार्ह स्थिति को प्राप्त होता रहा।

लेखन वा शोधकार्य में प्रवृत्ति

मैंने अपने जीवन में जो लेखन वा शोधकार्य किया है, उस पर जब दृष्टि डालता हूं, तो मुझे ऐसा लगता है कि जीवन के इस भावी कार्य के बीज का वपन भी आरम्भिक और अनजान अवस्था में सन् १९२६ के उत्तरार्ध में हो गया था। उस समय मैं अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति पढ़ रहा था। जिन घटनाओं से ग्रन्थों के पारायण वा स्वाध्याय की ओर मैं प्रवृत्त हुआ, वे अत्यन्त साधारण थीं। परन्तु उत्तरकाल में मेरे कार्य के लिये ये घटनाएं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। वे घटनाएं इस प्रकार हैं—

१—सन् १९२६ में काशी में हमारे साथ ज्येष्ठ गुरुभाई पं० भद्रसेन जी भी अध्ययन करते थे। उन दिनों यह नियम बनाया गया था कि प्रति मास छात्रसभा होवे, और छात्र विभिन्न विषयों पर बोलें। इसी क्रम में कभी-कभी किसी विषय पर वादविवाद भी रखा जाता था। पं० भद्रसेन[1] जी की आरम्भ से ही वैदिकधर्म के प्रचार में विशेष रुचि थी। अतः उन्होंने वैदिकधर्म के कई मन्तव्यों पर उपयोगी प्रमाणों का कुछ संग्रह कर रखा था। एक बार किसी विषय पर बोलने की तैयारी के लिये उन से प्रमाण-संग्रह की कापी मांगी, तो उन्होंने देने से इनकार कर दिया। इस पर मुझे भी रोष आ गया और मैंने उन्हें कह दिया कि अब मैं कभी आप से कापी नहीं मांगूंगा, स्वयं आप से अधिक प्रमाणों का संग्रह कर लूंगा। बस उस दिन से मैंने वैदिक सिद्धान्तों के सम्बन्ध में प्रमाणों का संग्रह करने के लिये ग्रन्थों का पारायण आरम्भ किया। धीरे-धीरे ग्रन्थपारायण में रस आने लगा। उत्साह बढ़ता गया, और विभिन्न विषयों के ग्रन्थों का पारायण[2] करना मेरे दैनिक जीवन का अटूट अङ्ग बन गया। जो लगभग १९६६ तक नियमित रूप से चलता रहा।

२—इसी काल में मेरे ज्येष्ठ भ्राता पं० इन्द्रदेव[3] जी एक दिन

---

१. श्री पं० भद्रसेन जी सन् १९२८ में योग के शिक्षण के लिये लूनावाला (पूना के पास) चले गये। वहां से लौटकर वे अजमेर में स्थिर हो गये। योग वा व्याकरण आदि के अध्यापन के साथ वैदिकधर्म के प्रचार का भी कार्य करते रहे। उनका लगभग दो वर्ष पूर्व निधन हो गया है।

२. मीमांसा के अध्ययन से पूर्व मैं विविध धर्मशास्त्रों वेद की उपलब्ध शाखाओं ब्राह्मणग्रन्थों आरण्यकों और उपनिषदों का पारायण कर चुका था। चारों वेदों के कई पारायण सम्पन्न हो गये थे। साथ में स्वामी दयानन्द सरस्वती के सभी ग्रन्थों, पं० भगवद्दत्त जी के सभी ग्रन्थों, और आत्मानन्द आनन्दबोध जयतीर्थ आदि के वेदभाष्यों का अध्ययन कर चुका था। यह सारा पारायण और अध्ययन मीमांसाशास्त्र के अध्ययन में अत्यन्त सहायक होता। यदि इन ग्रन्थों का अवलोकन न किये हुए होता, तो सम्भव है मीमांसा मेरे पल्ले न पड़ती।

३. लगभग २५ वर्ष से 'घनश्यामदास वैदिक विद्यालय' **देवरिया** में प्रधानाचार्य पद पर कार्य कर रहे हैं। देशविभाजन से पूर्व भी बहुत वर्षों तक आपने इसी विद्यालय में कार्य किया था।

काशी के गुदड़ी बाजार से लीथो प्रेस की छपी दशपादी उणादिवृत्ति की एक प्रति ले आये। उस समय तक हम लोग उणादि के पञ्चपादी पाठ से ही परिचित थे। अतः भ्राता इन्द्रदेव जी द्वारा लाई गई दशपादी उणादिवृत्ति को देखकर मन में कुतुहल जागा। और प्रयत्न करने पर कुछ मास पश्चात् मुझे भी गुदड़ी बाजार से एक प्रति मिल गई।

पञ्चपादी और दशपादी उणादि के पाठों में सूत्रक्रम अत्यन्त भिन्न है। अतः मैंने कुतुहलवश ही पञ्चपादी उणादि के सूत्रपाठ पर दशपादी उणादिवृत्ति की पृष्ठसंख्या, और दशपादी उणादि के सूत्रों पर पञ्चपादी की सूत्रसंख्या अङ्कित कर ली। बस इस कुतुहलवश की गई तुलना से तुलनात्मक अध्ययन की नींव अनायास पड़ गई। और दशपादी उणादि वृत्ति के तुलनात्मक अध्ययन से उणादिसूत्रों और उनकी वृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन मेरा प्रिय विषय बन गया। इसके लिये मैंने सभी मुद्रित और यथासम्भव उपलब्ध हस्तलिखित वृत्तियों का संग्रह किया। विभिन्न उणादिपाठों की जितनी वृत्तियों का एकत्र संकलन मेरे पास है, उतना सम्भव है किसी बड़े से बड़े पुस्तकालय में भी न होगा।

श्री पं० भगवद्दत्त जी के साथ सम्पर्क

श्री पूज्य गुरुवर्य का श्री पं० भगवद्दत्त जी रिसर्च स्कालर, अध्यक्ष अनुसन्धान विभाग लालचन्द पुस्तकालय, लाहौर के साथ पुराना सम्पर्क था। सन् १९२८में अमृतसर आने पर पूज्य गुरुवर्य जी श्री पं० भगवद्दत्त जी से मिलने यदा कदा लाहौर जाते रहे। दोनों योग्य विद्वानों एवं स्वामी दयानन्द सरस्वती के भक्तों का यह मिलन कुछ समय में ही गहन मित्रता में परिणत हो गया,जो अन्त तक बना रहा। कहा भी है–**अजर्यमार्यसङ्गतम्**=श्रेष्ठ जनों की मित्रता कभी जीर्ण नहीं होती, टूटना तो बहुत दूर की बात है।

सम्भवतः सन् १९२९ से पूज्य गुरुवर्य ने, जब उन्हें श्री पं० भगवद्दत्त जी से मिलने लाहौर जाना होता था, तो मुझे भी साथ ले जाना आरम्भ किया। इसमें पूज्य गुरुवर्य की निश्चय ही दूरदृष्टि कार्य कर रही थी,अन्यथा और छात्रों को भी साथ ले जाते। अस्तु! सब से प्रथम मुझे श्री पण्डित भगवद्दत्त जी का दर्शनलाभ तब प्राप्त

हुआ, जब वे भाटी दरवाजे के बाहर (मुख्य सड़क पर) किराये के मकान में रहते थे। आरम्भ में मैं दोनों विद्वानों के शास्त्रचिन्तन को ध्यान से सुनता रहा। कुछ काल पश्चात् मैं भी बातचीत में भाग लेने लगा।

श्री पं॰ भगवद्दत्त जी ने मेरी अन्तर्निहित शक्तियों को पहचान कर मुझे लेखन और सम्पादन कार्य में प्रेरित किया। अतः मैंने इस दिशा में जो कार्य किया है, उसका मुख्य श्रेय श्री पं॰ भगवद्दत्त जी की प्रेरणा एवं उत्तरोतर दीयमान उनके सहयोग को ही है।

लेखन-कार्य का आरम्भ

मैंने लेख लिखना कब आरम्भ किया, इसका मुझे निश्चित ज्ञान नहीं है। अपने पुराने कतिपय मुद्रित लेखों के संग्रह में जो सब से पुराना छपा हुआ लेख विद्यमान है, वह है **शङ्का-समाधान** शीर्षक लेख। यह २१ नवम्बर १९२९ के आर्यमित्र (साप्ताहिक) के अङ्क में छपा था। इसके साथ ही दो छपे हुये और एक हस्तलिखित लेख भी है। उनका समय इस प्रकार है—

१—**शङ्का-समाधान**—यज्ञविषयक, हस्तलिखित। २१ नवम्बर १९२९ के कुछ पश्चात्। यह लेख छपा वा नहीं छपा, यह ज्ञात नहीं।

२— **ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का संशोधन**—७ अगस्त १९३० के आर्यमित्र के अङ्क में छपा।

३—**महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत अष्टाध्यायी भाष्य**—२८ मई १९३१ के आर्यमित्र में छपा।

इसके पश्चात् पुनः लेखों का सिलसिला (संग्रह के अनुसार) २९ जनवरी सन् १९३९ से होता है।

सम्पादन-कार्य का आरम्भ

सन् १९३० के अन्तिम चरण में मैं निरुक्त का अध्ययन कर रहा था। उस समय देवराज यज्वाकृत निघण्टु टीका का भी अवलोकन किया। निघण्टु टीका में देवराज यज्वा ने तीन स्थानों पर किसी उणादिवृत्ति के विशिष्ट पाठ उद्धृत किये हैं। ये पाठ मुझे पूर्व उल्लिखित काशी में सम्प्राप्त दशपादी उणादिवृत्ति में उपलब्ध हो

गये। इन पाठों को श्री पं० भगवद्दत्त जी को दिखाया। वे देखकर प्रसन्नता से उछल पड़े। अचानक इतनी पुरानी किसी उणादिवृत्ति का ज्ञान हो जाना, और देवराजयज्वा जैसे प्रामाणिक एवं प्राचीन व्यक्ति के द्वारा उसका उद्धृत किया जाना निश्चय ही अत्यन्त प्रसन्नता का विषय था। उन्होंने छूटते ही मुझे इस वृत्ति के सम्पादन का परामर्श दिया। मैं सम्पादन कार्य से प्रायः अनभिज्ञ था, और फिर इसकी तो एकमात्र यही अशुद्धि-बहुल प्रति थी। परन्तु श्री श्रद्धेय पण्डित जी ने सहयोग देने का वचन दिया। उनके परामर्श और निर्देश के अनुसार मैंने सन् १९३१ के मध्य तक विविध ग्रन्थों के साहाय्य से इस वृत्ति के आधे भाग का सम्पादन कर लिया। बस इस कार्य से मेरी ग्रन्थ-सम्पादन कार्य में प्रवृत्ति हुई।

सन् १९३२ के आरम्भ में मीमांसा आदि के अध्ययन के लिये पुनः काशी जाना हुआ। वहां सन् १९३२ ने ३४ तक के तीन वर्षों में लेखन और अनुसन्धान-सम्बन्धी दो प्रारम्भिक कार्य सम्पन्न हुए—

१—शोधपूर्ण निबन्ध-लेखन के रूप में सन् १९३२ में देहली में आयोजित प्रथम 'आर्य विद्वत् सम्मेलन' में पढ़ने के लिये मैंने प्रथम निबन्ध लिखा—**'क्या ऋषि मन्त्रों के रचयिता थे ?'**

२—प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के शोधसम्बन्धी कार्य का आरम्भ भी इसी काल में काशी में हुआ। दशपादी उणादिवृत्ति के सम्पादन का कार्य मैं आरम्भ कर चुका था। अतः इच्छा हुई कि काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान में संस्कृत विश्वविद्यालय) के 'सरस्वती भवन' पुस्तकालय में जो हस्तलेखों का संग्रह है, उसमें उक्त दशपादी वृत्ति के कोशान्तर की खोज करूं। साथ ही वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थों के खोज की भी इच्छा थी। अतः इन दोनों को ध्यान में रखकर मैंने 'सरस्वती भवन' के वेद और व्याकरण विषयक शतशः हस्तलेखों का अवलोकन किया। उस समय हस्तलेख विभाग के अध्यक्ष काशी के प्रसिद्ध विद्वान् **श्री पं० नारायण शास्त्री खिस्ते** थे। आप ने मुझे इस कार्य के लिये सभी सुविधाएं प्रदान कीं।

इस ग्रन्थावलोकन काल में 'सरस्वती भवन' के संग्रह में ही दशपादी उणादिवृत्ति का एक हस्तलेख मिल गया। और एक हस्तलेख का पता चला कि वह पूना नगरस्थ भण्डारकर प्राच्यविद्या

संस्थान में है। उसे श्री डा० मङ्गलदेव जी शास्त्री, जो उस समय 'सरस्वती भवन' के मुख्य अधिकारी थे, ने मंगवा कर दिया। इस प्रकार दोनों हस्तलेखों के पाठ मिलाकर उनके पाठान्तर मैंने अपने ग्रन्थ पर अङ्कित कर लिये।

इसके पश्चात् विविध शोधपूर्ण निबन्धों वा ग्रन्थों के लेखन वा सम्पादन का जो कार्य आरम्भ हुआ, वह आज तक चल रहा है।

उपसंहार

मुझे लेख लिखने का चाव नहीं है। मैं किसी भी विषय पर तब तक नहीं लिखता, जब तक कि मुझे उस विषय से आत्मसंतोष न हो जावे। अतः एव मेरे सभी लेख प्रायः शोधपूर्ण हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी विविध प्रकार के हैं। सम्भवतः मेरे लेखों वा निबन्धों की संख्या सौ सवा सौ से अधिक रही होगी (इस में वेदवाणी का सम्पादक बनने अर्थात् सन् १९६५ के पश्चात् वेदवाणी में लिखे गये लेखों वा सम्पादकीय टिप्पणियों की गणना नहीं है)। मेरे पास जिन लेखों के मुद्रणपत्र संगृहीत हैं, उनकी संख्या लगभग ७५ है। इन में से कुछ चुने हुए विशिष्ट लेखों वा निबन्धों का संग्रह मैं दो भागों में प्रकाशित कर रहा हूं। प्रस्तुत भाग में वेद-विषयक लेखों वा निबन्धों का संग्रह है। द्वितीय भाग में वेदाङ्ग-विषयक लेखों वा निबन्धों का संग्रह होगा।

प्रकाश्यमाण लेखों वा निबन्धों का सम्प्रति पुनः परिवर्धन वा परिष्करण किया गया है। अतः ये पुराने होते हुए भी नवीन हो गये हैं। अन्तिम लेख तो पूरा ही नये सिरे से लिखा गया है।

शोधपूर्ण गहन लेखों वा निबन्धों के पाठक बहुत स्वल्प रह गये है। आर्यजनों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन अल्प हो रही है। अतः ऐसे गहन विषय के लेखों वा निबन्धों के संग्रह बहुत कम बिकते हैं। अतः केवल ५०० प्रतियां ही छपवाई हैं। कागज और छपाई की श्रेष्ठता पर विशेष ध्यान दिया है। इन दो कारणों से इस संग्रह की लागत अधिक पड़ने से मूल्य भी अधिक रखना पड़ा है।

रामलाल कपूर ट्रस्ट — **विदुषां वशंवदः—**
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा) — **युधिष्ठिर-मीमांसक**

ऋषियों का महत्त्वपूर्ण आदेश

स्वाध्यायान्मा प्रमदः

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्

वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है

आचार्य समावर्तन के समय स्नातक को जो उपदेश वा आदेश देता है, उसमें एक वचन है—'**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**' अर्थात् स्वाध्याय से प्रमाद मत कर। **स्वाध्याय** शब्द '**सु+आ+अध्याय**' तथा '**स्व(स्य) अध्यायः**' इस तरह दो प्रकार से निष्पन्न होता है। इन दोनों का अर्थ निम्न प्रकार है—

१—अच्छा अध्ययन अर्थात् वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन।

२—अपना अध्ययन, अर्थात् आत्मा तथा शरीर आदि के तत्त्वज्ञान के लिये प्रयत्न।

ये स्वाध्याय शब्द के यौगिक अर्थ हैं, किन्तु जहां-जहां स्वाध्याय के लिये शास्त्रकारों ने आदेश दिया है, वहां-वहां केवल यौगिक अर्थ अभिप्रेत नहीं है। 'पङ्कज' आदि शब्दों की तरह वह भी विशेषार्थ में नियत है। शतपथ के '**अथातः स्वाध्यायप्रशंसा**' नामक ब्राह्मण, तथा मीमांसकों की मीमांसानुसार यह पद **केवल वेदाध्ययन** के लिये प्रयुक्त होता है। अतः '**स्वाध्यायान्मा प्रमदः**' वाक्य का विशिष्ट अर्थ यह हुआ कि 'वेदाध्ययन में प्रमाद मत कर'। इसी प्रकार '**स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्**' का अर्थ होगा—वेद के अध्ययन और अध्यापन में प्रमाद मत कर।

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि ये दोनों आदेश एक गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले स्नातक के लिये हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक गृहस्थी को वेद के अध्ययन और अध्यापन करने का आदेश दिया जा रहा है। भगवान् मनु गृहस्थ धर्म प्रकरण में लिखते हैं—

नित्यं शास्त्राण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्।

अर्थात् 'नित्यप्रति वेद और सत्यशास्त्रों का अवलोकन करना चाहिये'। तैत्तिरीयोपनिषद् (शिक्षावल्ली ६) में लिखा है—

'तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च, दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च,…… प्रजननं च स्वाध्यायप्रवचने च, प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च ··'॥

अर्थात् 'तप शम दम अग्निहोत्र आदि तथा धर्मपूर्वक सन्तानादि की उत्पत्ति करते हुए भी स्वाध्याय और प्रवचन करते रहना चाहिये'। स्वाध्याय अर्थात् स्वयं अध्ययन और प्रवचन अर्थात् दूसरे को पढ़ाना। इन वाक्यों का भी तात्पर्य यही है कि—**वेद का पढ़ना-पढ़ाना प्रत्येक अवस्था में अवश्य करना चाहिये, कभी छूटना नहीं चाहिये।** इसीलिये स्वाध्याय और प्रवचन पद प्रत्येक वाक्य में पढ़े गये हैं। इनसे यह भी प्रतीत होता है कि वेद का पढ़ना-पढ़ाना प्रतिदिन का आवश्यक कर्म है।

'स्वाध्याय' योग का एक अंग है—महर्षि पतञ्जलि ने स्वाध्याय को नियमों के अन्तर्गत माना है। और स्वाध्याय का फल स्वयं बतलाया है—**'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः'** (योग २।४४)। अर्थात् 'स्वाध्याय से इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है।' महर्षि वेदव्यास ने योग १।२८ सूत्र की व्याख्या में लिखा है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय से योग=चित्तवृत्तियों के निरोध की प्राप्ति करे, योग=चित्तवृत्तियों का निरोध करके स्वाध्याय=वेद का अध्ययन करे। स्वाध्याय और योग की सम्मिलित शक्ति से आत्मा में भगवान् स्वयं प्रकाशित हो जाते हैं। यह है स्वाध्याय का महान् फल।

महर्षि याज्ञवल्क्य शतपथ के स्वाध्याय के प्रकरण में लिखते हैं—

'यदि ह वाभ्यङ्क्तोऽलंकृतः सुखे शयने शयानः स्वाध्यायमधीते, आ हैव नखाग्रेभ्यस्तपस्तप्यते, य एवं विद्वान् स्वाध्यायमधीते'। शत० ११।५।१।४॥

अर्थात् 'जो पुरुष अच्छी प्रकार अलंकृत होकर अच्छे पलङ्ग पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, तो मानो वह चोटी से लेकर एडी पर्यन्त तपस्या कर रहा है। इसलिये स्वाध्याय करना चाहिये।'

कई सज्जन कहते हैं कि वेद के स्वध्याय में मन नहीं लगता । रूखा विषय है, सरस नहीं । यह कहना बहुत अंश में ठीक है, किन्तु इसमें भी दोष हमारा ही है । सरसता प्रत्येक पुरुष की अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर होती है । बहुत लोग गणित को शुष्क विषय कहते हैं, किन्तु जो उसके वेत्ता हैं उन्हें वह विषय इतना प्रिय होता है कि उसमें वे अपनी सुध-बुध भी भूल जाते हैं । इससे प्रतीत होता है कि जिस पुरुष की जिस विषय में प्रगति होती है, उसके लिये वह विषय सरस है, अन्य के लिये रूक्ष । इस रूक्षता को हटाने का एक-मात्र साधन है—निरन्तर अध्ययन । जो पुरुष दो चार दिन पढ़कर आनन्द उठाना चाहते हैं, उन्हें कभी भी लाभ नहीं हो सकता । उसके लिए निरन्तर स्वाध्याय की आवश्यकता है। अतएव प्राचीन महर्षियों ने **स्वाध्याय को दैनिक कार्य मानकर नैत्यिक पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत स्थान दिया है।** और इसीलिये इसे संसार का सब से महान् तप कहा है । मनुजी (४।२०) कहते हैं—

यथा यथा हि पुरुषः, शास्त्राणि समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति, विज्ञानं चास्य रोचते ॥

"पुरुष जैसे-जैसे अपने शास्त्राध्ययन को बढ़ाता जाता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता है,और उसमें उसे रुचि पैदा होती है, तत्काल नहीं ।"

महर्षि दयानन्द ने प्रत्येक आर्य के लिये दश आदेश दिये हैं, जिन्हें मानकर ही आर्यसमाज का सदस्य बन सकता है । मानने का अभिप्राय सदा तदनुसार कर्म करना होता है । एक सामान्य नियम है कि—

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते' ।

'पुरुष जिस बात को अपने मन से सोचता है, उसे वाणी द्वारा प्रकट करता है । जिसे वाणी द्वारा प्रकट करता है, उसे कर्म द्वारा करता है । जिसे कर्म द्वारा करता है, वैसा ही बन जाता है ।'

अब हमारे सामने प्रश्न आता है कि जिन नियमों को हम आर्यसमाज का सदस्य बनते हुये स्वीकार करते हैं, क्या हमारी वह स्वीकृति हृदय से होती है वा दिखावटी ? इसकी कसौटी हमारे कर्म

हैं। यदि उन नियमों के अनुसार हमारे कर्म हैं। तो मानना होगा कि हम उन नियमों को हृदय से मानते हैं। अन्यथा यही कहा जायगा कि सदस्य बनने के लिये दिखावटी स्वीकृति है। महर्षि दयानन्द ने आर्य-समाज के दस नियमों में तीसरा नियम यह लिखा है—

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

ऋषि ने वेद का पढ़ना अर्थात् स्वाध्याय, पढ़ाना अर्थात् प्रवचन, ये दोनों बातें संगृहीत करते हुये 'सुनना' और 'सुनाना' पद विशेष रखे हैं। यदि ये पद न रखे होते, तो कोई पुरुष यह कह सकता था कि हमें पढ़ना नहीं आता, किन्तु यहां तो यह समस्या पहले ही हल कर दी गई है। जो पढ़ नहीं सकता वह सुने। जो सुनाने में समर्थ हो, उसका भी कर्तव्य है कि वह सुनावे। इस नियम में **धर्म** शब्द कर्तव्य का वाचक है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या आर्यसमाज के सदस्य इस नियमको हृदय से मान रहे हैं? स्पष्टतया कहा जा सकता है कि नहीं। क्योंकि आर्यसमाज के सदस्यों में सम्प्रति स्वाध्याय की रुचि ही नहीं है।

आर्य व्यक्तियों से कहते सुना जाता है कि आजकल समाज में पूर्व जैसा उत्साह नहीं। बात सोलह आने सत्य है। पर किसी ने इस बीमारी का निदान भी किया है? इस बिमारी का कारण है वेद के स्वाध्याय का अभाव। वेद आर्यों का धार्मिक अर्थात् कर्तव्यबोधक ग्रन्थ है। यह आर्य जाति की संस्कृति का आदि-स्रोत तथा केन्द्र है। जब हम उस स्रोत तथा केन्द्र से विमुख हो जाते हैं, तभी हममें शिथिलता उत्पन्न होती है। मुसलमानों में अपने मत के प्रति कितना उत्साह है। उसका प्रमुख कारण कुरान का प्रतिदिन स्वाध्याय है। हिन्दुओं में इतनी हीनता और कुरीतियां क्यों उत्पन्न हुई ? इसका उत्तर भी यही है कि उन्होंने अपने भूलमूत वेदों को छोड़कर साम्प्रदायिक ग्रन्थों और पुराणों को ही अपनाना प्रारम्भ कर दिया। आर्यसमाज के प्रारम्भिक आर्यों में जो महान् उत्साह था, उसका कारण धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन ही था। स्व० श्री पं० क्षेमकरण-दासजी को कौन नहीं जानता। आपने राजकीय नौकरी से ५५ वर्ष

की अवस्था के पश्चात् मुक्त होकर संस्कृतभाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया। और बड़ौदा राज्य की तीन वेदों की राजकीय परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। तत्पश्चात् उस अथर्ववेद का भाष्य रचा, जिस पर सायण का भी पूर्ण भाष्य उपलब्ध नहीं होता। क्या अब भी कोई कह सकता है कि संस्कृत और वेद कठिन हैं? संसार में कठिन कुछ नहीं, मन की पूरी लगन चाहिए, सब काम पूरे हो जाते हैं। कठिन कहना तो अपने आलस्य-दोष को छिपानेमात्र के लिये है।

इसलिये आर्यों का परम कर्त्तव्य है कि यदि वे स्वामी दयानन्द सरस्वती, और उनसे प्राचीन मनु, याज्ञवल्क्य, पतञ्जलि, वेद-व्यास आदि के कथन पर थोड़ी भी श्रद्धा रखते हों, तो वेद, उप-निषद्, गीता, षड्दर्शन आदि उत्तमोत्तम ग्रन्थों का नित्य स्वाध्याय करें। जो सज्जन केवलमात्र हिन्दी जानते हैं, वे उक्त ऋषियों के ग्रन्थों का हिन्दी के माध्यम (=अनुवाद) से स्वाध्याय कर सकते हैं। इससे उन्हें अपनी संस्कृति से प्रेम उत्पन्न होगा। जातीयता का उद्-बोधन होगा, और उत्साह की वृद्धि होगी। **यदि आर्य जाति संसार में जीवित जागृत रहना चाहती है, तो उसे वेद को आगे करके सब कार्य करने होंगे।** यदि आर्यसमाज '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' की उक्ति चरितार्थ करना चाहता है, तो उसे आचार्य द्रोण के शब्दों में घोषणा करनी होगी—

अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः।
उभाभ्यां हि समर्थोऽस्मि शापादपि शरादपि॥

चारों वेदों को आगे (=हृदय) में, तथा पीठ पर शरयुक्त धनुष को धारण करके कहना चाहिए कि मैं शाप और शर (शास्त्रार्थ तथा शस्त्रार्थ) दोनों में समर्थ हूं, जिसका जी चाहे परीक्षा करलो। इसके विना न कभी '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' का लक्ष्य सफल हो सकता है, और न अपनी वा अपने देश की उन्नति हो सकती है। अतः प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन (चाहे समय थोड़ा ही लगावे) **वेद का स्वाध्याय अवश्य करे।** अतः मेरी प्रत्येक वैदिक मतानुयायी से विनम्र प्रार्थना है कि अपने वा समाज के कल्याण के लिये वा देश के समुत्थान के लिये **दैनिक स्वाध्याय का व्रत लें।**

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥ यजुः १९।३०॥

—:०:—

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा

॥ ओ३म् ॥

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसायाम्

वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥
ऋ० १० । ७१ । १ ॥

विज्ञातं हि समेषामपि विदुषां यद्वेदा अस्माकं वैदिकधर्मानुयायिनां प्राणभूता वर्तन्ते । आजन्मन आमरणान्तमस्माकं सर्वेऽपि संस्कारा आभ्युदयनैःश्रेयसिका व्यवहाराश्च वेदानेव प्राधान्येनोपजीवन्ति । सम्प्रत्यपि धर्मप्रधानानाम् आर्याणां वेदा एव प्रमाणभूताः सन्ति । अतएव आस्माकीनैर्ब्राह्मणैरद्यपर्यन्तं ते तथा महता प्रयत्नेन कण्ठस्थीकृत्य सुरक्षीकृताः, येन तेष्वेकत्रापि स्वरमात्रावर्णविपर्यासो नोपलभ्यते ।

सत्येवं जायते विचारणा, यत् किमत्र कारणं येन वैदिकमतानुयायिनः प्राधान्येन वेदमेवाश्रयन्ति ? तत्रैतिहासिकदृष्ट्याऽनुशीलने कृते सति ज्ञायत एतद् यद् भगवन्तं ब्रह्माणमारभ्य आस्वामिदयानन्दं[1] ये केऽपि महर्षयो मुनय आचार्याश्च संबभूवुः, ते सर्वेऽपि 'वेदाः सर्वविद्यानां भूतभव्यभविष्योपयोगिनां ज्ञानानामाकरग्रन्थाः' इति मेनिरे । वेदेषु यादृशं सूक्ष्मं प्रत्यक्षाविषयीभूतं ज्ञानं वर्तते[2], न तादृक् क्वचिदन्यत्रोपलभ्यते । अत एव चाह भगवान् स्वायंभुवो मनुः —

'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम्॥

१. द्र०—'संस्कृतसाहित्यस्यारम्भ ऋग्वेदात् भवति, समाप्तिश्च स्वामिदयानन्दस्य ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकात्' इति मोक्षमूलरः ('हम भारत से क्या सीखें'—इत्यस्य तृतीये भाषणे, पृष्ठ १०२) ।

२. पदार्थविज्ञानविषये वेदेषु महती दक्षता वर्तते । द्र०—पूनानगरे स्वामिदयानन्दस्य वेदविषयकं पञ्चमं व्याख्यानम् (पूना-प्रवचन, पृ० ४४) ।

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यमप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥' इति ।
मनुस्मृतौ १२ । १००, ९७, ९६, ९४ ॥

एतत्सर्वमभिसमीक्ष्यैव भगवता मनुनाऽन्यत्राऽपि महता कण्ठेनोक्तम्—'सर्वज्ञानमयो हि सः'[१] (२ । ७) इति ।

अयमेव राद्धान्तस्तत्रभवता कृष्णद्वैपायनेनाऽपि प्रतिपादितः । तथाहि—

'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः ।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥' इति ।
महाभारते, अनु० १२२।४॥

परमब्रह्मिष्ठे याज्ञवल्क्येनाऽप्युक्तम्—

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्' ॥ इति ।

यद्येवं वेदा एव सर्वविधज्ञानस्य निधयः, तर्हि किमर्थं तत्तच्छास्त्राणां प्रवचनमकारि महर्षिवृन्दैरिति चेदुच्यते—

यदा सर्गादावपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्या धर्मसत्त्वशुद्धतेजसोऽपरिमितबुद्धयः साक्षात्कृतधर्माणो मनुष्या बभूवुः, ते वेदादेव सर्वविधं ज्ञानमाददते स्म । नासीत्तदानीं वेदातिरिक्तं किमप्यन्यच्छास्त्रम् । यदा तूत्तरकालं मानवाः क्रमशोऽपचीयमानसत्त्वा उपचीयमानरजस्तमस्का[२] अल्पमतय उपदेशेनाऽपि मन्त्रान्तर्गता विविधा विद्या विज्ञातुम् असमर्था बभूवुः, तदा तादृशानल्पमेधसो[३] मनुष्यान् विविधा विद्या ग्राहयितुं तत्तच्छास्त्राणां प्रवचनमकार्षुर्महर्षयः । अयमेव च शास्त्रावतारेतिहासस्तत्रभवता यास्केनेत्थं प्रत्यपादि—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः । उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं

---

१. द्रष्टव्याः मेधातिथिगोविन्दराजादिविरचिता मनुस्मृतेष्टीकाः ।

२. द्र०—पाराशरीयज्योतिषसंहिताया वचनम्—'पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्या .... धर्मसत्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः । तेषां क्रमादपचीयमानसत्वानां उपचीयमानरजस्तमस्कानां .... ' (एतच्च भट्टोत्पलेन वराहमिहिरकृतबृहत्संहिताटीकायां (पञ्चदशे पृष्ठ उद्धृतम्) । आयुर्वेदीयचरक-संहिताया विमानस्थाने तृतीयाध्याये—'आदिकाले...' इति च ।

३. द्र० — काशिका ५।४।१२२॥

ग्रन्थं समाम्नासिषु[1] र्वेदं च वेदाङ्गानि च। इति।' निरुक्ते १।२०॥

इममेव चेतिहासमनुसृत्य भगवता याज्ञवल्क्येनाऽप्युक्तम्—

'दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्॥' इति।

महाभारते भगवता वेदव्यासेनापि लिखितम्—'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य'[2] (महाभारते शान्ति० २८४।९२) इति।

अपि च—इदानीं शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दोज्योतिष-धर्मशास्त्र-पदार्थविज्ञान-साहित्य-कला-शिल्प-राजनीति-आयुर्वेद-धनुर्वेद-गान्धर्ववेद - वास्तु - शास्त्रादीनां ये ये आकरभूता ग्रन्था उपलभ्यन्ते,ते सर्वेऽपि स्वस्वविषयस्य वेदमूलतां महता कण्ठेनोद्घोषयन्ति। विस्तरभिया कानिचिदेव प्रमाणानि प्रस्तूयन्ते—

(१) ज्योतिषाचार्य आर्यभट्टः स्वग्रन्थान्ते ज्योतिश्शास्त्रस्य वेदमूलकतां संगिरते।

(२) आयुर्वेदशास्त्रम् अथर्ववेदस्योपाङ्गमिति भगवान् सुश्रुतो ब्रवीति—'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।' सू० अ० १॥

(३) पदार्थविज्ञानप्रतिपादकं वैशेषिकशास्त्रमपि वेदमूलकमिति भगवान् कणादः प्रतिजानीते। तथा ह्याह—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।' वै० १।१।३॥

अस्यायमर्थः—तद्वचनात् 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इत्येवं प्रतिज्ञातस्य

---

१. समाम्नासिषुरित्यस्य रचितवन्त इत्यर्थः कैश्चिद् व्याख्यातृभिः क्रियते। स चाशुद्धः। प्राचीनेन निरुक्तवार्तिककृताऽयं निरुक्तांश एवं व्याख्यायते—'अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा। वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः'॥ इति। अयं निरुक्तवार्तिकश्लोको ग्रन्थो हस्तलिखितोऽस्मत्सकाशे विद्यते। स्वामिदयानन्देन स्वीयर्ग्वेदादिभाष्यभूमिकायामुक्तनिरुक्तांशव्याख्याने समाम्नासिषुरित्यस्य 'अभ्यासं कारितवन्तः' इत्यन्तर्भूतण्यर्थः स्वार्थिकणिचि वार्थः कृतः।

२. अयं षडङ्गोद्धारो भगवता शिवेन कृतः। बृहस्पतिनापि षडङ्गप्रवचनमकारि—'वेदाङ्गानि तु बृहस्पतिः'। महाभा० (दा० सं०) शान्ति० ११२। ३२॥

वैशेषिकप्रतिपाद्यस्य पदार्थधर्मस्य वचनात्[1] प्रतिपादनात् आम्नायस्य प्रामाण्यं भवति ।

अत्रेदमपि ज्ञेयं यद् भगवान् कणादो न केवलं 'वेदाः पदार्थधर्मप्रतिपादकाः' इति प्रतिज्ञामेव कृतवान्, अपितु तत्प्रकरणे तत्तत्पदार्थधर्मप्रतिपादनाय श्रुतिप्रामाण्यमप्युदाहृतवान् । तद्यथा—

(क) हिमकरकादीनामुत्पत्तिः तेजःसंयोगाद् भवतीति प्रतिपाद्य दिव्यास्वप्सु तेजःसंयोगो भवतीति प्रतिपादयन् वैदिकं च (५।२।१०) इति सूत्रेण वैदिकवचनमपि प्रमाणयति । यथा—

'या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ।' तै० सं० ५।६।१ ॥

'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।' ऋ० १०।१२१।७ ॥

'वृषाऽग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् ।' यजु० १५।४६ ॥

'योऽनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः ।' ऋ० १०।३०।४ ॥

इत्येवमादीनि[2] बहूनि वचनानि वेदेषूपलभ्यन्ते ।

(ख) शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं चेति विवृण्वन् अतीन्द्रियमयोनिजं शरीरं प्रतिपादयन् 'वेदलिङ्गाच्च' (४ । २ । ११) इति सूत्रेणायोनिजशरीरप्रामाण्याय वैदिकं लिङ्गमुपस्थापयति । तच्च—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।।' ऋ० १०।९०।१२ ।।

इत्येवमादि द्रष्टव्यम् ।[3]

अस्मिन्मन्त्रे 'अस्य' पदेन विराण्नामकः पुरुषः परामृश्यते । स एव पुरुषः

---

१. सम्प्रत्युपलभ्यमानेषु व्याख्यानेषु 'तत्'पदेन 'ईश्वरः' गृह्यते । तच्चिन्त्यम्, सर्वनाम्नां पूर्व-परामर्शित्वात् ।

२. उपस्कारव्याख्यानेऽन्यानि वचनान्युद्धृतानि, तान्यप्यत्र द्रष्टव्यानि ।

३. वैशेषिकोपस्कार एतद्‍‍ग्व्याख्याभूतं किञ्चिल्लुप्तब्राह्मणमप्युद्ध्रियते—'तथाहि ब्राह्मणम्—प्रजापतिः प्रजा अनेका असृजत् । स तपोऽतप्यत प्रजाः सृजेयमिति । स मुखतो ब्राह्मणमसृजत बाहुभ्यां राजन्यम् ऊरुभ्यां वैश्यं पद्भ्यां शूद्रमिति ।' ४।२।११ ॥

वैदिकग्रन्थेषु सर्गप्रकरणेषु प्रजापति-हिरण्यगर्भ-सुवर्णाण्ड-महदण्डादिभिः शब्दान्तरैः स्मर्यते ।

(४) भगवान् न्यायसूत्रकारो गोतमोऽपि अतीन्द्रियविषयकं विज्ञानं प्रतिपादयतो वेदभागस्य प्रामाण्यनिदर्शनायाह—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥'

न्याय० २।१।६८ ॥

मन्त्रेषु य [1]आयुर्वेदः प्रत्यक्षविषयीभूत उपदिश्यते, तस्यावितथं प्रामाण्यं लोकविज्ञातम् । तस्य प्रामाण्यादतीन्द्रियविज्ञानप्रतिपादकस्यापि वेदभागस्य प्रामाण्यम् । यतः य एव आप्त ईश्वरः प्रत्यक्षविषयीभूतस्यायुर्वेदविषयकस्य वेदभागस्य कर्त्ता, स एवातीन्द्रियविषयकस्यापि वेदभागस्य रचयिता । तस्मादेककर्तृकत्वादतीन्द्रियविषयकस्याऽपि वेदभागस्य प्रामाण्यं स्वीकर्तव्यं भवति ।

सत्येवं सर्वविद्यानामाकरभूतान् वेदान् यदि वैदिकधर्मानुयायिनः प्राणादपि प्रियान् संजानते, तर्हि किमत्राश्चर्यम् ?

सम्प्रति वेदार्थविषयमवलम्ब्य किंचिदुच्यते—बहोः कालात् वेदप्रतिपाद्यविषये विप्रवदन्ते वैदिका विद्वांसः । यजुर्वेदस्य कः प्रतिपाद्यविषय इत्यत्राह सायणाचार्यः—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्यकाख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम् । तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव [2]प्रतिपाद्यत्वात् इति' । काण्वसंहिता-भाष्योपोद्घाते ॥

इत्थमेवान्यवेदानां विषयेऽपि ज्ञेयम् ।

वेदाङ्गज्योतिषेऽप्युक्तम्—'वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः' इति ।

एतेन स्पष्टमेव यन्मन्त्रसंहितासु केवलं कर्मकाण्ड एव प्रतिपाद्यत इति ।

अस्तु, यदि हि नाम वेदानां प्रयोजनं द्रव्ययज्ञसंपादनमेव, हन्त ! समाप्त-

---

१. अस्य सूत्रस्य व्याख्यातारो मन्त्रायुर्वेदयोर्द्वन्द्वसमास इति मन्यन्ते ।

२. सायणीयमिदं वचनं चिन्त्यम् । संहितायाश्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये ब्रह्मविषयस्य प्रतिपादनात् । अत एवायमध्याय ईशोपनिषन्नाम्ना व्यवह्रियते । न चात्र सायणवचने भूमान्यायः प्रसरति । शतपथान्तर्गतस्य बृहदारण्यकाख्यस्यैकदेशस्य पृथङ् निर्देशात् ।

मेव वेदानां सर्वविद्यामूलकं प्राचीनैर्महर्षिवर्यैरुद्घोषितं मतम् । तस्मात् पुरस्तान्निर्दिष्टैः प्रमाणैः प्रतिपादितस्य प्राचीनाचार्यसमुपबृंहितस्य 'वेदाः सर्व-विद्यानामाकरग्रन्थाः' इति मतस्य रक्षार्थं वेदानामनेकार्थप्रतिपादनशक्तिरवश्य-मुररीकर्तव्या । तथा सत्येव वेदानां वास्तविकं महत्वमुपपादयितुं शक्यते, नान्यथा ।

सा च मन्त्राणामनेकार्थता न स्वच्छन्दसाऽऽश्रयितुं शक्या, अपितु प्रतिपाद्यविषयभेदात् सर्वत्र व्यवस्थिता वर्तते । सा च व्यवस्था प्राचीनैर्महर्षिभिः त्रिविधप्रक्रियानुरूपा व्यवस्थापिता । तदनुसारं मन्त्राणां याज्ञिक एकोऽर्थः, आधिदैविको द्वितीयः, आध्यात्मिकस्तृतीयः ।

प्राचीना महर्षयो वैदिका विद्वांसश्च वेदस्य पुरस्तान्निर्दिष्टं त्रिविधमर्थ स्वीकुर्वन्ति स्म, इत्यत्र कानिचित् प्रमाणानि प्रस्तूयन्ते—

(१) भगवान् यास्कः—'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्' (ऋ० १०।७१।५) इत्यृगंशं व्याख्यायमान आह—

'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा इति ।' निरुक्ते १ । १९ ॥

एतेन दैव्या वाचो वेदस्य याज्ञिकाधिदैविकाध्यात्मिकास्त्रिविधा अर्था भवन्तीति विस्पष्टमुच्यते ।

(२) न च भगवान् यास्कः केवलं प्रतिज्ञामेव कृतवान्, अपितु निरुक्ते व्याख्यायमानानां सर्वेषामपि मन्त्राणामाधिदैविकव्याख्यानं कुर्वन् सर्वमन्त्राणामा-धिदैविकार्थं एव प्रधानभूत इति ज्ञापयति । अनेकत्र च स आध्यात्मिकार्थं याज्ञिकार्थं च निदर्शयति । तद्यथा—

(क) 'एकया प्रतिधापिबत् साकं सरांसि काणुका' (ऋ० ८।७७।४) इत्यृचं व्याख्यायमान आह—

'तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवने एकदेवतानि । तान्येतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति । तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते । त्रिंशदपरपक्षस्याहोरात्राः, त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः । तद् या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति । इति' । निरुक्ते ५ । ११ ॥

(ख) 'गौरमीमेदनु' (ऋ० १ । १६४ । २८) इति, 'उपह्वये

सुदुघां धेनुमेताम्' (ऋ० १ । १६४ । २६) इति च ऋचोर्व्याख्याने निरुक्तकार आह—

'वागेषा (गौः=धेनुः) माध्यमिका, घर्मधुगिति याज्ञिकाः ।' निरुक्ते ११।४२ ॥

(ग) 'यत्रा सुपर्णाः' (ऋ० १।१६४।२१) इति मन्त्रव्याख्याने यास्क आह—

'यत्र सुपर्णा सुपतना आदित्यरश्मयः ···इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मम्—यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि···इत्यात्मगतिमाचष्टे इति ।' निरु० ३ । १२ ॥

(घ) 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' (यजु० ३४ । ५५) इति मन्त्रव्याख्यान आह—

'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे,रश्मयः आदित्ये··इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि इत्यात्मगतिमाचष्टे इति ।' निरुक्ते १२ । ३७ ॥

एवमेवान्यत्राऽपि आधिदैवतेन सह याज्ञिकमाध्यात्मिकं च व्याख्यानं भगवता यास्केन प्रदर्शितम् । निरुक्तस्य त्रयोदशचतुर्दशाध्याययोस्तु प्रायेण सर्व-मन्त्राणामेवाधिदैविकमाध्यात्मिकं च व्याख्यानद्वयमुपलभ्यते । तेन यास्कमते मन्त्राणां त्रिविधोऽर्थः प्रामाणिक इति सर्वथा विस्पष्टं भवति ।

(३) पूर्वनिर्दिष्टमेव यास्कीयं मतं निरुक्तटीकाकारः स्कन्दस्वामी (महेश्वरः) प्रबन्धेन महता प्रतिपाद्योपसंहरति—

"सर्वदर्शनेषु (पूर्वनिर्दिष्टेषु याज्ञिकाधिदैवताध्यात्मिकेषु) च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः । कुतः ? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञा-दीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिजानात् । इति ।" निरुक्तटीकायाम् ७ । ५ ॥

(४) निरुक्तव्याख्याता दुर्गाचार्योऽपि मन्त्राणां त्रिप्रकारकोऽर्थ इति विस्पष्टयति । तद्यथा—

क. 'आध्यात्मिकाधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परि-ज्ञायन्ते इति' । निरुक्तटीकायाम् १ । १८ ॥

ख. 'तत्रतत्र एक एव ह्यसौ आदित्यमण्डले चाधिदैवते चाध्यात्मे

च बुद्ध्यधिदेवताभूतः, स एव तत्रतत्रोपेक्षितव्यः ।… अध्यात्मेऽपि हृदयाकाशाद् यानीन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति त एव रश्मयः, अधिदैवते च त एव विश्वेदेवा इत्युक्तम् । एवं तत्रतत्र योज्यम् । प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेणेति ।' निरुक्तटीकायाम् ३ । १२ ॥

ग. 'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैविकाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति इति' । निरुक्तटीकायाम् २ । ८ ॥

एवमन्यत्रापि तत्रतत्र मन्त्राणां त्रिविधार्थप्रक्रियामाचष्टे दुर्गाचार्यः ।

(५) वेदविदामलङ्कारभूतः प्रमाणितशब्दशास्त्रः[1] आचार्यो भर्तृहरिरपि मन्त्राणां त्रिविधप्रक्रियागाम्यर्थं इति स्वीकरोति । तथा ह्याह—

"यथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तत इति ।" महाभाष्यदीपिकायां ह० ले०, पृष्ठ २६८ ।

एवमन्येषामपि प्राचामाचार्याणां वचनान्युद्धर्तुं शक्यन्ते, परन्तु विस्तरभिया विरम्यते । केषांचिन्मन्त्राणां बहुविधोऽप्यर्थः पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितः । यथा --

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४।४५) इत्यृचो यास्केन षड्विधोऽर्थः प्रदर्शितः । तथाहि—

'कतमानि तानि चत्वारि पदानि ? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्, नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः, मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः, ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः, सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके, पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः ।।' निरुक्ते १३।९ ।।

एतदेव च सर्वमभिसमीक्ष्य निरुक्तव्याख्याकारो दुर्गाचार्य आह—

(क) 'अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीति ।' निरुक्तटीकायाम् २।८ ॥

१. द्रष्टव्यः—वर्धमानकृतगणरत्नमहोदधिः, पृष्ठ १२३ ।

(ख) 'नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च । यथाश्वारोहवैशिष्टयादश्वः साधु साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तुर्वैशिष्टयात् साधुन् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति इति ॥' निरुक्तटीकायाम् २।८ ॥

एभिः पूर्वतनैश्च प्रमाणैः सर्वथा विस्पष्टं भवति—यद्वेदा न केवलं द्रव्यमययज्ञार्थमेव प्रवृत्ता इति । ते हि सर्वविद्यानां सर्वविधविज्ञानानां चाकरभूताः सन्ति । तत्राधिदैविकोऽर्थः साक्षाद्विज्ञानपर एव, स च बहुविधः । तन्निदर्शनमुपरिष्टात् संक्षेपतः करिष्यते । आध्यात्मिकोऽप्यर्थः आत्म-शरीर-परमात्म-सम्बन्धेन त्रिधा विभक्तः ।

परिशिष्टो याज्ञिकार्थोऽप्यत्यन्तं महत्त्वभूतो वर्तते । परन्तु यथा साम्प्रतिका याज्ञिका यज्ञव्याख्यानं कुर्वन्ति, न तथा तेषां तर्कप्रधानेऽस्मिन् युगे महत्त्वं प्रतिपादयितुं शक्यते । वस्तुतोऽत्र कारणम् आधुनिकानां याज्ञिकानां यज्ञप्रक्रियामूलस्यापरिज्ञानमेवास्ति । तस्मादत्र लेशतो नित्यत्वेन विहितानां श्रौतयज्ञानां वास्तविकं प्रयोजनमुपवर्ण्यते—

वैदिकवाङ्मयस्यानेकधा परिशीलनेन मयैतत्समधिगतं यन्नित्यत्वेन विहिता आधानादारभ्य आसहस्रसंवत्सरं साध्याः श्रौतयज्ञा अस्मिन् ब्रह्माण्डे सर्गारम्भादाप्रलयं यावन्तोऽतीन्द्रिया यज्ञा अभूवन् प्रवर्तन्ते च, तेषां स्वरूपं परिज्ञापनायैव प्रवृत्ताः । अस्मिन्, विराट्पुरुषे (ब्रह्माण्डे) देवैः (प्राकृतिकतत्त्वैः) ये यज्ञा वितन्यन्ते, तानेवाधिकृत्य पुरुषसूक्तस्थेयमृक् प्रवृत्ता—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥'
ऋ० १०।९०।१६ ॥

यास्केन आधिदैविकयज्ञप्रतिपादिकेयं ऋगेवं व्याख्याता—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः । अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनाजयन्त इति च ब्राह्मणम् । तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् । ते ह नाकं महिमानः संसेव्यन्त । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः । द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ता इति ॥'
निरुक्ते १२।४१ ॥

यजुष्यप्युक्तम् —'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त ··· वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त ····सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त ।' यजुः २३।१६॥

यथा सम्प्रति भूगोलखगोलयोः परिज्ञानाय तयोर्विविधप्रकाराणि चित्राणि

निर्मीयन्ते, यथा वाऽतीन्द्रियां पूर्वतनीं कथां घटनां वा निदर्शयितुं रंगमंचे नाटकान्याह्रियन्ते, तथैव ब्रह्माण्डविज्ञानं संपादयितुं विविधानां श्रौतयज्ञानां विधानं प्रवृत्तम् । अतः श्रौतयज्ञविधानं सम्यक् परिज्ञाय तत्तत्प्रकृतिभूतं ब्रह्माण्डविज्ञानं सम्यक् सम्पादयितुं शक्यते । एतच्च 'याज्ञदैवते पुष्पफले' इति यास्कीयवचने (निरुक्त १।२०) अधियज्ञस्य पुष्पत्वेन अधिदैवतस्य च तत्फलत्वेन वर्णनाद् अतिविस्पष्टम् ।

अस्यैव परमोपयोगिनः श्रौतयज्ञतत्त्वस्य स्पष्टतायै याज्ञिकीमाधानप्रक्रियामुपस्थाप्य वैदिकग्रन्थोद्धरणैरेव तद्व्याख्या विधास्यते—

अग्न्याधानाय प्रथमतो वेदिर्निर्मीयते । वेदिनिर्माणे चेयं प्रक्रिया[1] – यज्ञोपयोगिस्थानं निश्चित्य तत्पृष्ठं किंचित् खनित्वा तत्र प्रथमं जलप्रसेकः क्रियते । तदनन्तरं क्रमशो वराहविहता मृत् वल्मीकवपा ऊषः सिकताः शर्कराः विकीर्य इष्टकाः संचीय हिरण्यं निधाय समिधः संस्थाप्य अरणीं मथित्वाऽग्निमुत्पाद्य तत्र अग्नेराधानं क्रियते ।

इयमग्न्याधानप्रक्रिया महदण्डतो यदेयं भूमिः पृथक् स्वसत्तामलभत[2] तस्मात्कालादारभ्य यावत्पृथिव्याः पृष्ठेऽग्नेः प्रादुर्भावः समजनि तावति काले सा भूमिरुत्तरोत्तरं विपरिणममाना कां कामवस्थामतिक्रम्य प्रथमतो स्वपृष्ठेऽग्निसद्भावे समर्थाऽभूदिति संक्षेपतः प्रदर्श्यते ।

सलिलमय्यां भूमौ क्रमशो नव सृष्टयोऽभवन् । तथा हि ब्राह्मणं भवति-—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत ···स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापं ऊषं सिकतं शर्करां अश्मानं अयोहिरण्यं ओषधिवनस्पत्यसृजत । तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत् ।' श० ६।१।१।१३॥

या अत्राप्सु नव सृष्टयः परिगणिताः, तासु फेनानामप्रधानत्वादेव फेनरूपा सृष्टिराधानप्रक्रियायां नोपदर्शिता । अतस्तां परिहाप्य अन्यासां क्रमश आधानप्रक्रियानुसारं वर्णनं प्रस्तूयते—

१: इयं प्रक्रिया अग्न्याधानाग्निचयनयोः समासेन निर्दिष्टा ।

२. पाश्चात्या वैज्ञानिका 'भूमेरुत्पत्तिः सूर्यादभवत्, अत आदावियं सूर्यवदुष्णासीत्, शनैः-शनैः शीतीभावं गता' इति ब्रुवन्ति । तद्वैदिकविज्ञानविरोधाच्चिन्त्यम् ।

१—यदेयं भूमिर्हिरण्यगर्भात्[1] पृथग्भूत्वा स्वसत्तामालभत, तदा सा सलिलरूपासीत्। अत एव—'आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास' (श० ११।१।६।१) इत्येषा श्रुतिः प्रवृत्ता। भूमेस्तामवस्थां द्योतयितुं वेदिस्थाने प्रथमं जलसेकः क्रियते।

२—अग्निसंयोगात् सलिलेषु फेनोऽजायत। स एव मारुतसंयोगात् घनत्वं[2] प्राप्य मृद्भावं गतः। तदानीं पृथिवी स्वल्पासीत्। अत एवोक्तम्—

'स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति।' श० ६।१।३।३॥ इति।

'यावद्वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद्वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते।' मै० सं० १।६।३॥

इति च श्रुतिविहितामवस्थां द्योतयितुं जलप्रसेकानन्तरं वराहविहता मृत् प्रकीर्यते।

३—तदनन्तरं सूर्यतेजसा पृष्ठोपरिभागस्था यदा मृद आपो शुष्कतां गताः, तदा शुष्कापोरूपा सृष्टिरजायत। अस्यामवस्थायां मृच्छुष्का बभूव, अधस्ताच्च तस्या जलमासीत्। तत उपरिष्ठो भागो वायुरूपिण इन्द्रस्य योगात्[3] पुष्करवर्णवत् लेलायमान एवासीत्[4]। तामवस्थां द्योतयितुम् 'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वेत्यृक् (ऋ० १०।११९।९) प्रवृत्ता। तामवस्थां द्योतयितुम्—

---

१. हिरण्यगर्भत्वं महदण्डस्य चरमावस्था। तदुक्तं मनुस्मृतौ 'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् इति।' तदवस्थस्यैव महतोऽण्डस्य द्विधा भावाद् द्युपृथिव्यादयो लोकाः स्वसत्तां प्रापुः। तथाह ऋक्—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम् इति। ऋ०१०।१२१।१॥

२. सोऽग्निमारुतसयोगाद् घनत्वमुपपद्यते। महा० शान्ति० १८२।१५॥ यथा तप्ते दुग्धे यद्याच्छादनं क्रियते, तर्हि वायुसंयोगाभावात्तदुपरि संतानिका न जायते।

३. वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः (निरुक्त ७।५) इति वचनान्नैरुक्तप्रक्रियायामन्तरिक्षस्थानीयवायुदेवतापक्षे मन्त्रपठितानामिन्द्रपदानां वाय्वर्थत्वं व्याचक्षते निरुक्तविदः। तथा चाह वररुचिः—'नैरुक्तपक्षे—इन्द्र दानादिगुण! इन्द्रो मध्यस्थानो वायुरुच्यते—हे इन्द्र वायो!' निरुक्त समुच्चय सं० २, पृ० ८४।

४. सा हेयं पृथिव्यलेलायद् यथा पुष्करपर्णम्। शत० २।१।१।८॥

'यद्वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते ।' (मै० सं० १।६।३) इति श्रुतिः प्रवृत्ता ।

वल्मीकवपाया अधस्ताज्जलं भवति । एष च निश्चितः सिद्धान्तः । अत एव धन्वदेशे जलगवेषका वल्मीकवपाधःस्थान एव कूपखननं प्रायेणोपदिशन्ति ।

४—ततः सूर्यतेजसा सैव शुष्कापोमृद् ऊषत्वम् (क्षारत्वम्) अभजत । सा ऊषरूपा सृष्टिरभवत् । अतएव—

'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते ।' (मैं० सं० १।६।३) इति श्रुतिः प्रवृत्ता ।

५-तत्पश्चात् सैव मृत् सूर्यतेजसा तप्यमाना सिकतात्वमलभत[1] । अतएव—

'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते ।' (मै० सं० १।६।३) इति श्रुतिः प्रवृत्ता ।

६—तदनन्तरं ता एव सिकताः सूर्यतेजसाऽन्तरूष्मणा च शर्करात्वमविन्दन्त । सा शर्कराख्या सृष्टिरजायत । अतएव—

'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते ।' (मै० सं० १।६।३) इति श्रुतिः प्रवृत्ता ।

शर्करोत्पत्त्या पृथिव्यां यद्वैशिष्टचमजायत, तदपि वैदिकग्रन्थेष्वित्थं प्रदर्श्यते—

'शिथिरा वा इयं (पृथिवी) अग्र आसीत्, तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत ।' (मै० सं० १।६।३) इति ।

एतदेव पृथिवीदृंहणं 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा' (ऋ० १०।२१।५) इति मन्त्र उपदिश्यते ।

७—ततः पश्चाद् ता एव शर्करा अन्तरूष्मणा तप्यमाना अश्मत्वं गताः।[2] सा अश्मसृष्टिर्बभूव । अतएव चयने—

'इष्टका उपदधाति ।' (तै० सं० ५ । २ । ८) इत्येषा श्रुतिः प्रवृत्ता ।

---

१. द्र०—एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः । स यदिहासीत् तस्यैतद् भस्म यत् सिकताः । मै० सं० १।६।३॥

२. शर्कराया अश्मानम्,तस्मात् शर्करा अश्मैव भवति । शत० ६।१।३।३॥

नियताकारायां वेद्यां सुगमतायै नियताकारा इष्टका उपधीयन्ते । अश्मनां नियताकारे विपरिणामो विशेषेण आयाससाध्य इति कृत्वा तत्स्थाने तत्प्रतिनिधिरूपा इष्टकाः प्रतिनिधीयन्ते ।

८ – ततस्त एवाश्मानोऽन्तरूष्मणा पच्यमाना लोहादारभ्याऽऽसुवर्णं धातुरूपेण विपरिणामं प्राप्ताः ।[1] तद्रूऽयोर्हिरण्यरूपा सृष्टिरभवत् । अतएव—

'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्[2] ।' इति चयनविषयिका श्रुतिः प्रवृत्ता ।

९ एवं पृथिव्याः पूर्णत्वेऽपि सा कूर्मपृष्ठवदलोमिकेवासीत् । तत ओषधिवनस्पतयोऽजायन्त । एदेव द्योतयितुम्—

'इयं वा अलोमिकेवाग्र आसीत् ।' (ऐ० ब्रा० २४ । २२) इति 'ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि ।' (जै० ब्रा० २ । ५४) इति च श्रुतिः प्रवृत्ता । एतामेवावस्थां द्योतयितुं लोमस्थानीया समिधस्तत्र स्थाप्यन्ते ।

एवं नवम्यां ओषधिवनस्पतिरूपायां सृष्टौ प्रादुर्भूतायां वनस्पतीनां शाखानां वायुवेगेन संघर्षे सत्यग्नेः प्रथमतः प्रादुर्भावो पृथिव्याः पृष्ठे बभूव । अत एवेदं यजुराह—तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायाऽऽदधे । यजुः ३ । ५ ।।

यतः प्रथमतोऽग्नेः प्रादुर्भावो वृक्षशाखानां संघर्षणेनैवाऽभवत्, अत एवाधानेऽपि काष्ठमय्यमरणिमन्थनेनैवाग्निमुत्पादयन्ति, नाऽन्येन प्रकारेण[3] ।

एतेनाऽग्न्याधानप्रक्रियाविवरणेन विस्पष्टं भवति, यदिमे श्रौतयागाः, प्राकृतयागानामेव प्रातिनिध्यं कुर्वन्ति ।

इत्थमेव सायंप्रातः क्रियमाणोऽग्निहोत्रहोमो रात्रिदिवसयोः, दर्शपौर्णमासौ कृष्णपक्ष-शुक्लपक्षयोः, चातुर्मास्ययागस्त्रिसृणामृतूनां, गवामयनं दक्षिणायनोत्तरायणयोः, ज्योतिष्टोमः संवत्सरस्य, सहस्रसंवत्सरसाध्यो यज्ञः सहस्रचतुर्युगपरिमितस्य सृष्टिकालस्य प्रतिनिधित्वं करोति । एवमेभिः श्रौतयज्ञैः प्रकृतौ सर्गादारभ्याऽऽप्रलयं प्रवृत्ता अतीन्द्रियाः प्राकृता यज्ञाः क्रिया घटना वा चित्रमिव

---

१. अश्मनो लोहमुत्थितम् । महा० उद्योग० ।। रसज क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा । त्रिविधं जायते हेमश्चतुर्थं नोपलभ्यते ।। रसार्णवतन्त्र ७।६६।।

२. मीमांसाशाबरभाष्य (१२।१८) उद्धृता । अयमेवार्थः 'रुक्ममुपदधाति' (मै० सं० ३।२।६) इत्यस्याः श्रुतेः ।

३. अद्यापि यैर्यैरुपायैरग्निरुत्पाद्यते तत्र तत्र द्वयोः परस्परं सघर्ष एवाग्नेरुत्पादने कारणम् ।

मूर्तरूपेण पुरस्तादुपस्थाप्यन्ते बोध्यन्ते वा । एतेन श्रौतयज्ञानामत्याश्चर्यकरं परमोपयोगि प्रयोजनं व्याख्यातं भवति ।

एतेनैव पशुयागविषयिकी पशुहिंसाऽपि यथावद् व्याख्याता भवति । तथाहि—काव्यं द्विविधं भवति श्रव्यं दृश्यं च । तत्र श्रव्यरूपे काव्ये युद्धादिषु मानवादिमारणं यथावच्चित्र्यते । परन्तु यदा तदेव दृश्ये काव्ये प्रस्तूयते तदा मारणादिकं रङ्गे पटप्रक्षेपादिनैव सूच्यते, न तत्र प्रत्यक्षं शत्रोर्मारणं प्रस्तूयते । एवमेव सृष्टियज्ञे न केवलं पदार्थानामुत्पत्तिरेव भवति, किन्तु उत्पत्त्या सह केषाचित् तत्त्वानां विनाशोऽपि जायते । तत्रसर्गात्मका यज्ञा देवयज्ञाः, विनाशात्मका यज्ञा असुरयज्ञाः । तत्र श्रौतसूत्रादिसूपदिश्यमाना पशुयागा आसुरा एव । परमकवेः सृष्टिकाव्ये सर्गात्मका विनाशात्मका उभयरूपा अपि यज्ञा नित्यं प्रवर्तन्ते। तेषां तस्यैव परमकारुणिकस्य कवेः श्रुतिरूपे श्रव्यकाव्ये यथावद् वर्णनमुपलभ्यते । परन्तु यदा तेषां प्रदर्शनं दृव्यकाव्यरूपेण रंगरूपे देवयजने (वेद्यां) प्रस्तूयते तदा सर्गात्मकानां दैवयज्ञानां सर्वाः क्रिया यथावत् प्रस्तूयते, परन्तु तत्रैव यदाऽऽसुरयज्ञानां प्रदर्शनं क्रियते तदा नाटकमिव साक्षात् पशुबधादिरूपा क्रिया न प्रस्तूयन्ते । तत्र पर्यग्निकरणं पर्यन्तं क्रियाः प्रदर्श्य पशव उत्सृज्यन्ते स्म[1] । अत एव अग्निवेशकृते चरकप्रतिसंस्कृते तन्त्रे उक्तम्—आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञप्रवर्ग-कालं……पशवः प्रोक्षणमापुः ·· गवालम्भः प्रवर्तितः अतिसारः प्रथममुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे । चिकित्सा० १९।४।।

पशुयज्ञा द्विविधाः । एके यत्रारण्याः पशवो हविर्भूताः, अपरे यत्र ग्राम्याःपशवो हविर्भूता । तत्रोभयविधेषु यज्ञेष्वद्यापि आरण्यानां पशूनामालम्भं न याज्ञिकाः कुर्वन्ति । तेषां पर्याग्निकरणानन्तरमुत्सर्गं विदधति । तदुक्तम्—कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान् । कात्य० श्रौत २०।८।।

यदा श्रौतयज्ञानां सृष्टिविज्ञानमेव पृष्ठभूमिस्तदा याज्ञिकप्रक्रियया क्रियमाणोऽप्यर्थोऽन्ततः सृष्टिविज्ञानप्रतिपादक[2] एव । तस्माद् वेदानां विज्ञानमेव मुख्योऽर्थः । 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्ड' इति वचनानुसारं सृष्टिविज्ञानस्याऽपि अध्यात्मे परिणामो भवति । अत एव श्रुतिः प्रवृत्ता—

'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (ऋ० १।१६४।३०) इति ।

---

१. अत एव तत्स्थाने 'यद्दैवत्यः पशुस्तद्दैवत्यः पुरोडाशः' इति प्राचीना याज्ञिकाः पुरोडाशं निर्वपन्ति स्म ।

२. दैवते हि याज्ञमन्तर्भूतमेव तदर्थत्वात्, अतो न पृथगुच्यते । दुर्गाचार्यः निरुक्तटीकायाम् १।२०।।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठोप० २।१५) इति।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता १५।१५) इति च।

इदानीमवशिष्यते वेदार्थस्यैका प्रक्रिया, यस्या व्यावहारिकीति नाम। तस्या अपि वेदार्थे प्रामाण्यं स्वीक्रियते वेदज्ञैः। भगवता मनुना 'सेनापत्यं च राज्यं च' इत्यादिभिः पूर्वोपस्थापितैः श्लोकैः राजनीतिप्रवर्तनं वर्णाश्रमधर्माणां भूतभव्यभविष्योपयोगिनां विधानानां प्रकल्पनं च वेदेभ्य एव सम्भवतीत्युक्तम्। न साक्षात् तादृशार्थपराः केचन मन्त्रा वेदेषूपलभ्यन्ते। एतादृशां कर्मणां विधानं व्यावहारिकार्थमनुसृत्यैव विदधतिधर्मसूत्रकाराः। स च व्यावहारिकार्थः क्वचित्साक्षात् प्रयुक्तया उपमया क्वचिल्लुप्तोपमया क्वचिदन्यैरलंकारैर्द्योत्यते। तद्यथा—

'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋ० १०।७१।४) इति।

'विधवेव देवरम्' (ऋ० १०।४०।२) इति च।

अत्र प्रथमया 'जायया ऋतुकालेषु सुवासांसि धार्याणि' इति द्योत्यते। अपरया 'पत्यौ मृते विधवाया देवरेण नियोगो वा विवाहो वा संभवति' इति चार्थः प्रदर्श्यते।

ऋग्वेदस्य प्रथममण्डलस्थयोरुषःसूक्तयोर्वाचकलुप्तोपमालंकारेण उषर्वत् स्त्रियः कैः कैः शुभगुणैर्युक्ताः स्युरिति वर्ण्यते। एतस्मिन् विषये स्वामिदयानन्दकृतग्भाष्यमनुसृत्य किञ्चदुदाह्रियते—

उषर्वद्धितसंपादिके (ऋग्भाष्ये १।४८।१२)

प्रभातवद् बहुगुणयुक्ते (ऋग्भाष्ये १।४८।११)

उषर्वत् कल्माणनिमित्ते (ऋग्भाष्ये १।४९।१)

उषर्वत्पुरुषार्थनिमित्ते (ऋग्भाष्ये १।४९।३)

एतादृशा एवाभिप्रायाः मीमांसकैः पारिभाषिकेन 'दर्शन'शब्देन निर्दिश्यन्ते तथाह्युक्तं शाबरभाष्ये (१।३।२) —

(क) गुरुरनुगन्तव्यः इत्यस्मिन्विषये—"तथा च दर्शयति—'तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति।' (मै० सं० ३।१।३) इति।"

१. भार्या भर्त्रा शोभनवस्त्रादिभिः परितोष्या इति च। अन्यथा सुवासांसि सा कुतः सम्पादयेत् ?

(ख) प्रपा प्रवर्तितव्या तडागं[1] च खनितव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"तथा च दर्शनम्—'धन्वन्निव प्रपा असि'। (तै० सं० २।५।१२) इति। तथा 'स्थलयोदकं परिगृह्णन्ति।' (तै० सं० १।६।११) इति।"

(ग) शिखाकर्म कर्तव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"दर्शनं च—'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखाइव।' (ऋ० ६।७५।१७) इति च।"

अत्रोदाहृतानां सर्ववचनानां वास्तविकोऽर्थस्तु तत्तत्प्रकरणानुसारं भिन्न एव, परन्तु तैरेव लौकिककर्मणामपि विधानं शबरस्वामिना प्रदर्शितम्। एवमन्यत्राऽपि वेदानां काव्यरूपत्वाद् विविधैरलंकारैर्मन्त्राणां व्यावहारिकोप्यर्थः कर्तुं शक्यते।

वेदानां याज्ञिकाधिदैविकाध्यात्मिकास्त्वर्थाः परं सूक्ष्माः, न तत्र सर्वेषां बुद्धेः प्रवेशस्य संभवः। परन्तु वेदानां व्यावहारिकेणार्थेन साधारणजना अपि वैदिकशिक्षानुकूलं स्वजीवनं श्रेष्ठं सुखिनं च सम्पादयितुं समर्था इति विज्ञाय स्वामिदयानन्देन प्राचीनैर्मन्वादिमहर्षिभिरादृतं पन्थानमानुसृत्य मन्त्राणां व्यावहारिकोऽर्थः प्राधान्येन प्रदर्शितः। तदुक्तं स्वीयर्ग्वेदादिभाष्यभूमिकायां प्रतिज्ञाविषये—

'अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः संभवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। ··· यत्र खलु व्यावहारिकार्थो भवति······।' ऋग्भाष्य भाग १, पृष्ठ ३९० (रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस मुद्रित संस्क०)।

याज्ञिकाधिदैविकाध्यात्मिका अर्थास्तत्र तत्र प्राचीनैर्महर्षिवर्यैः स्वस्वग्रन्थेषु प्रदर्शिताः। तेषामेव पुनर्वचने पिष्टपेषणभिया त्रिविधप्रक्रियापरा मन्त्रार्था न स्वामिदयानन्देन साक्षाद् व्याख्याताः। एतदपि तत्रैवोक्तम्—

'परन्त्वैर्वेदमन्त्रैः कर्मकण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत्कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तिपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। ऋग्भाष्य भाग १, पृष्ठ ३८८, रालाकट्रप्रेस संस्क० ॥

एवं वेदार्थविषये किञ्चिदुक्त्वा वेदेषु प्रतिपादितस्य अतीन्द्रियस्यातिसूक्ष्मस्य सृष्टिविज्ञानस्य प्रतिपादकाः केचन मन्त्रा उद्ध्रियन्ते—

---

१. तडागोऽस्त्रीत्यमरः।

हिरण्यगर्भरूपस्य विराट्पुरुषस्योत्पत्तिः—परमपुरुषस्य सान्निध्या-दीक्षणाद्वा प्रकृतिरुत्तरोत्तरं विपरिणममाणा भूतोत्पत्त्यनन्तरम् अण्डभावं[1] प्राप्ता। मन्त्रेषु अयमण्ड एव गर्भशब्देन व्यपदिश्यते। अस्याण्डस्योत्पत्तिविषयका बहवो मन्त्रा वेदेषु समुपलभ्यन्ते। परन्त्विह द्वावेव मन्त्रावुदाह्रियेते—

'तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः॥'
ऋ० १०।८२।६॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥'
ऋ० १०।१२१।१॥

अनयोर्मन्त्रयोः स्मृतैः क-अज-हिरण्यगर्भशब्दैः सर्गादौ समुत्पद्यमानं महदण्डमेवाभिधीयते। स एव आदिदेव-प्रजापति-सहस्रशीर्ष-पुरुषादिपदैः स्मर्यते। द्रष्टव्योऽत्र वायुपुराणस्य सृष्टिप्रकरणस्य प्रकृतिक्षोभणनाम्नः पंचमाध्यायस्य चत्वारिंशत्तमः श्लोकः—

'आदित्वाच्चादिदेवोऽसावजातत्वादजः स्मृतः।
पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः॥'

अस्याण्डस्योत्पत्तिरप्सु अग्निप्रवेशेन भवति। तथा च मन्त्रवर्णो भवति—
"अग्निं या गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु।"
तै० सं० ५।६।१॥

एतद्विषये वायुपुराणस्याधोलिखितः श्लोकोऽपि द्रष्टुमर्हः—

'पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै॥' ४।७४॥

यदैतस्मिन्नण्डेऽण्डेष्वण्डजप्राण्यङ्गानीव पृथिव्यादयो लोकाः पूर्णतामापद्यन्ते, तदा सोऽन्तरूष्मणा पच्यमानः स्वर्णनिभः संजायते। तदुक्तं मनुना—

---

१. द्र०—प्रशस्तपादभाष्ये सर्गप्रलयप्रकरणम्। समस्तस्य ब्रह्माण्डस्योत्पत्त्या एतादृशाः संख्यातीता अण्डा समुत्पद्यन्ते। तदुक्तं विष्णुपुराणे—

अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटि शतानि च॥ २।६।२७॥

वायुपुराणेऽपि—'अण्डानामीदृशानां तु कोट्यो ज्ञेयाः सहस्रशः'। १५१।४६॥

'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।' १।९।।

तादृशावस्थापन्नः सोऽण्डरूपो गर्भो हिरण्याण्डशब्देन हिरण्यगर्भशब्देन वा व्यवह्रियते । तस्यैव वर्णनं पुरस्तान्निर्दिष्टे 'हिरण्यगर्भः' इत्यादिमन्त्र उपलभ्यते ।

द्यावापृथिव्यादीनां तस्मिन्नेवाण्डे निर्माणात् स हिरण्यगर्भ एव द्यावापृथिव्यौ दधार, इत्युक्तं तत्र । पूर्णतामापन्नोऽयमण्डः कालान्तरे यदाऽभिद्यत, तस्मिन् काले द्यावापृथिव्यौ अत्यन्तं समीपवर्तिनावास्ताम् । तथा च मन्त्रवर्णो भवति—

'जामी सयोनी मिथुना समोकसा ।' ऋ० १।१५९।४।।

अस्मिन् मन्त्रे द्यावापृथिव्योः 'जामी' विशेषणेन सहोत्पत्तिरुभयोर्द्योत्यते । 'सयोनी'पदेन महदण्डरूपैकयोनित्वं, 'मिथुना'पदेन परस्परं सहभावः, 'समोकसा'पदेन समानं निवासस्थानं च सूच्यते ।

अस्यैव समोकसा पदस्य ब्राह्मणग्रन्थेष्वित्थं व्याख्यानमुपलभ्यते—

'द्यावापृथिवी सहास्ताम् ।' तै० सं० ५।२।३; तै० ब्रा० १।१।३।२।।

'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः ।' शत० ७।१।२।२३।।

एतेनाधुनिकैर्वैज्ञानिकैर्व्यवस्थापितं सूर्यादेवेमे पृथिव्यादयो लोकाः कस्माच्चित् प्राकृतोत्पातात् पृथग्भूता इति मतं प्रत्युक्तं वेदितव्यम् ।

कालान्तरे समोकसौ द्यावापृथिव्यौ वियुतावभवताम् । सा वियुतिर्दूरता सूर्यस्य दिव्यारोहणेन सम्पन्ना । तदेतेन मन्त्रवर्णेन सूच्यते—

'अग्न आयाहि वीतये ।' साम० पू० १।१।१। इति ।।

व्याख्याता चेत्थमियमृक् शतपथे—

'अग्न आयाहि वीतये इति । तद्वेति भवति वीतय इति समन्तकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुरिति उन्मृश्या हैव द्योरास इति ।' श० १।४।१।७।।

अस्मिन् मन्त्रे द्यावापृथिव्योर्वीतिभावोऽग्निकारणेनाभवदिति प्रतिपाद्यते । सहभूतयोर्द्यावापृथिव्योर्वीतिभावे 'इमौ लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्' इति ब्राह्मणवादोऽपि भवति ।

सूर्यस्य दिव्यारोहणमनेकेषु मन्त्रेषु श्रूयते । तद् यथा—

'इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आ सूर्यं रोहयद्दिवि ।' ऋ० १।७।२।।

द्यावापृथिव्योर्वीतिभावेऽन्तरिक्षं वरीयोऽभवत् । तथा च मन्त्रवर्णो भवति—

'यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ।।
ऋ० ३।२२।२ ।।

द्यावापृथिव्योर्वियुत्याऽन्तरिक्षस्य प्रादुर्भावो ब्राह्मणग्रन्थेष्वपि श्रूयते । तद्यथा—'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः । तयोर्वियतयोरन्तरेणाकाश आसीत्, तदन्तरिक्षमभवत् ।' श० ७।१।२।२३।।

अग्निकर्मणा द्यावापृथिव्यौ वियुतौ, तयोर्वियुत्यैवान्तरिक्षं वरीयोऽजायत । अतएव मन्त्रे 'येना (अग्निना)न्तरिक्षमुर्वाततन्थ' इत्युक्तम् ।

द्यावापृथिव्योर्वियुतिभावे, सूर्यस्य दिव्यारोहणे, अन्तरिक्षस्य वरीयत्वे चान्येऽपि देवाः सहायका अभूवन् । अतो वेदेषु अन्येषामपि देवानां इदं कर्मत्रयं श्रूयते ।

मरुतां मरीचयः—पृथिवीमारभ्याऽऽदिवं मरुतां विषयः । ते चैकोन-पञ्चाशत्संख्यकाः । ते च सप्त परिवहेषु सप्तसप्तत्वेन विभक्ताः । अत एवोक्तं शतपथे—'सप्तसप्त हि मारुता गणाः' । (९ । ३ । १ । २५) इति । तेष्वेको गणो [1]मरीचिनामा । तेषां मरीचिनाम्नां मरुतां मरीचयो=रश्मयोऽपि भवन्ति । अतएव वेदेष्वनेकत्र मरुतां रुक्मवक्षसः इति विशेषणमुपलभ्यते । तेषां रश्मयः सूर्यरश्मिभिरुपमीयन्ते—'विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः' (ऋ० ५।५५।३) इति । विरोकिणो विरोचिनः सूर्यस्येति भावः । उत्तरमन्त्रे सूर्य-स्येव मरुतामपि चक्षणं दर्शनं दिदृक्षेण्यत्वेन श्रूयते—'आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्' (ऋ० ५।५५।४) इति । यजुषि —'वायुरसि तिग्मतेजाः' (१।२४) इति पठ्यते । शतपथे चास्य मन्त्रस्य व्याख्याने—'एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं पवते' (१।२।४।७) इति श्रूयते । एतदेव सर्वमभिसमीक्ष्य गीतायां भगवतो विभूतिप्रतिपादनाध्याये स्मर्यते— 'मरीचिर्मरुतामस्मि' (१०।२१) इति ।

सहस्ररश्मिः सूर्यः, सूर्ये ये रश्मयः सन्ति, ते वैदिकविज्ञानानुसारं सहस्र-

---

१. सम्भवतः षष्ठपरिवहस्था मरुतो मरीचिनामानः । तत्सान्निध्यात् पंचमसप्तमपरिवहस्थानां मरुतामपि 'रुक्मबक्षसः' विशेषणं क्वचिद्वेदेषूपलभ्यते।

प्रकाराः सन्ति । सूर्यरश्मीनां सहस्रविधत्वं ऋग्वेदे ह्येवं श्रूयते—'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश' (६।४७।१८) इति । तथा च ब्राह्मणवादो भवति—'सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः' (जै० उप० ब्रा० १।४४।५) इति । महाभारतेऽप्युक्तम् –'यस्य रश्मिसहस्रेषु' (शान्ति० ३७२।३) इति । पुराणेषु एषां सहस्ररश्मीनां शीतोष्णवर्षाविधायकत्वेन विस्तरेण तद्विभागवर्णनमुपलभ्यते । (द्र०—वायु० ५३।१६–२३; मत्स्य० २२८ । १८–२२)।

एत एव सहस्रविधा रश्मयः वर्णभेदेन सप्तधा विभज्यन्ते । अत एव सूर्यः सप्तरश्मिः सप्ताश्व आदिनामभिरपि व्यवह्रियते ।

आदित्यमण्डले कार्ष्ण्यम्—आदित्यमण्डलस्य मध्यभागे चन्द्रमस इव कृष्णाः कलङ्काः सन्ति । अतएव वेदेषु आदित्यः कृष्णपदेन बहुधा स्मर्यते । यथा—'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदन्' । (ऋ० १।७६।२) इति । अत्र कृष्णपदेन आदित्यरूपोऽग्निः स्मर्यते । 'आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति' । (ऋ० ४।१७।१४) इत्यादिषु आदित्यरूप इन्द्रः[1] । अतएव जैमिनिब्राह्मणे श्रूयते—'असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति । तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम् इति ।' जै० ब्रा० २।२८॥

इमे कृष्णाः कलङ्काः सदा परिसर्पन्ति, नैकत्र तिष्ठन्ति । अत एव इमे 'सरः' नाम्ना स्मर्यन्ते ।

एत एव चादित्यमण्डलस्थाः कृष्णाः कलङ्काः सर्पणादेव 'सर्पाः' इत्यप्युच्यन्ते । आदित्यमण्डले सर्पाणां सद्भावः—'ये वामी रोचने दिवो ······ तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः' (१३।८) इति याजुषमन्त्रे श्रूयते । अत एव ब्राह्मणवादोऽपि भवति—'सर्प्या वा आदित्याः' (तां० ब्रा० २५।१५।४) इति । सर्पा एव सर्प्याः, स्वार्थे तद्धितः । अतएव क्वचित् सर्पा वा आदित्याः इत्येव पाठ उपलभ्यते । आदित्ये भवा आदित्याः । दित्यदित्यादित्य० (अ० ४।१।८५) इत्यादिना ण्यः प्रत्ययः । अन्यत्राप्युक्तम्—

'फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम् ।
वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना ॥'[2]

---

१. नैरुक्तपक्षे इन्द्रपदेनादित्योऽपि गृह्यते । द्रष्टव्यो—वाररुचो निरुक्तसमुच्चयः ।

२. शब्दचिन्तामणिकोषे (भा० १, पृ० ७६६) गाङ्गशब्द उद्धृतमिदं पद्यम् । एषां सूर्यस्थानां कृष्णसर्पाणां फूत्कारेण सूर्यमण्डले ज्वालानां विशेषतः सद्भावे रेडियोसंचारादिषु वाधोत्पद्यते इत्याधुनिका वैज्ञानिका अपि मन्यन्ते ।

पाश्चात्यैर्वैज्ञानिकैरादित्यमण्डलस्थाः कृष्णाः कलङ्काः, तेषामेकत्रानवस्थानं चाधुनैव विज्ञातम् । वैदिका विद्वांसस्तु वेदद्वारा सिद्धान्तमिममादिकालादेव विदन्ति । सर्वविधानामतीन्द्रियविज्ञानानां बोधनादेव वेदानां वेदत्वम् । तदुक्तम्--

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।।'[1]

यस्तूपायो न बुध्यते, आधिदैविकस्याध्यात्मिकस्य चातीन्द्रियविज्ञानस्येति शेषः ।

एतादृशां विविधविद्याकरभूतानां विशेषतोऽधिदैवतस्य सर्गविज्ञानस्य प्रतिपादकानां वेदानां महत्वं वैभवं वा प्रदर्श्य तेषां पुनः प्रसारस्य केचनोपायाः प्रस्तूयन्ते—

वेदानां पुनः प्रसारोपायचिन्तनात् पूर्वमेतद्विज्ञातव्यं यत्किमत्र कारणं यस्मात् परमविद्यानां आकरभूतानां अपि वेदानां प्रसार उत्तरोत्तरं न्यूनतां भजत इति । 'नहि रोगनिदानमविज्ञाय चिकित्सा प्रवर्तते' इति न्यायानुसारं वेदप्रसारह्रासकारणविज्ञाते सत्येव तत्प्रसारोपायानां चिन्ता सम्भवति । तस्मात् प्रथमं वेदज्ञानस्य ह्रासकारणान्युच्यन्ते । तत्र कानिचित् कारणानि भारतीयपरम्पराप्रसूतानि सन्ति, कानिचिच्च साम्प्रतिकैर् ईसाई-यहूदी-मताग्रहगृहीतैः पाश्चात्यविद्वद्भिरुत्पादितानि । तत्र तावत् भारतीयपरम्पराप्रसूतानि वेदज्ञानस्य ह्रास-कारणानि—

१—वेदाध्ययनस्य श्रौतकर्मानुष्ठादिष्वदृष्टोत्पादनमेव फलम् । केवलमदृष्टार्थम्, न तस्य दृष्टफलार्थतेत्येकम् ।

एतन्मतस्य प्रसारात् केषाञ्चिद् याज्ञिकानां मते 'मन्त्रा अनर्थकाः'[2] इत्येतन्मतं प्रचारमलभत । तेन वेदानां मानवजीवनेन सह यः साक्षात् सम्बन्ध आसीत्, स प्रणष्टः । तन्नाशाद्वेदाध्ययनमनर्थकं मन्यमानास्तं प्रायेण परिहापितवन्तः ।

---

१. सायणाचार्यकृतस्य तैत्तिरीयसंहिताभाष्यस्योपोद्घात उद्धृतोऽयं श्लोकः ।

२. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्रा इति' । निरुक्ते (१।१५); पूर्वमीमांसायां (१।२।३१, ३९) च एतन्मतमुपस्थाय बहुभिर्हेतुभिर्निराकृतम् ।

२—वेदा केवलं यज्ञार्थं प्रवृत्ताः, नातोऽन्यद् किमपि तेषां प्रयोजनमिति द्वितीयम् ।

एतन्मतस्य प्रादुर्भावाद्वेदानामाधिदैविकाध्यात्मिकयोर्विज्ञानयोः साकं यः साक्षात् सम्बन्धो वर्तते, स नाशमुपगतः । तन्नाशाद् वेदा निष्प्रयोजनत्वमापन्नाः । तेन 'प्रयोजनमननुदि्दश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इति न्यायात् वेदाध्ययनाद् ग्लायन्तो वेदाध्ययनमत्यजन् ।

३—यज्ञा अपि केवलमदृष्टार्था एव, न तेषामन्यत् किमपि लौकिकं प्रत्यक्षं फलमिति तृतीयम् ।

एतन्मतस्य प्रसाराद्यज्ञानां 'सृष्टिविज्ञानपरिज्ञापनरूपस्य' मुख्यस्य प्रयोजनस्य परित्यागात् साम्प्रतिकास्तर्कप्रधानाः श्रद्धाविरहिता मानवास्ततो ग्लायन्तो यज्ञान् अत्याक्षुः । यज्ञकर्मणां लोपाद् ब्राह्मणवृत्तेर्नाशः, तन्नाशात्तेषां वेदाध्ययनप्रवृत्तिरपि संकोचं प्राप्ता ।

४—स्त्रीणां शूद्राणां च वेदश्रवणेऽपि नाधिकारः[1], कुतस्तदध्ययने धारणे चेति चतुर्थम् ।

स्त्रीणां वेदाध्ययनप्रतिषेधात् पत्न्यो वेदज्ञानविरहिता अभूवन् । तासां च वैदिकज्ञानसंस्कारराहित्यात् ता अज्ञानावृतचेतसोऽजायन्त । तेन तासामपत्यान्यपि वैदिकसंस्कारविरहितानि समभूवन् । तेन कुलान्यकुलतां गतानि । शूद्राणां वेदश्रवणाधिकारस्याप्यपहरणाद्वैदिकसंस्कारराहित्याच्च ते आर्याः सन्तोऽप्यनार्याः संवृत्ताः । एवं मनुष्यसंख्यायाः स्त्रीरूपोऽर्धो भागः शूद्ररूपश्चान्यस्तदर्धो भागोऽर्थान्मानवसंख्यायाः ३/४ पादत्रयात्मको भागो वैदिकसंस्कारराहित्यादनार्यत्वं प्राप्नोत् । तदुक्तं भगवता मनुना—

'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ।।३।६३ ।। इति ।
शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ।।' १०।४३।।इति च।

यदा क्षत्रियजातयोऽपि वेदाऽनध्ययनेन वैदिकक्रियालोपैश्च वृषलत्वं गताः, तर्हि स्त्रीणां शूद्राणां तु का कथा, यत्राऽज्ञानान्धस एव साम्राज्यं विद्यते ?

---

१. द्र०—'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणं, वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति' (वे० द० शं० भाष्ये १।३।३८) । स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम् इति च ।

५—पाश्चात्यशिक्षायाः प्रभावेण तपोज्ञानोपेतानां ब्राह्मणानामुपेक्षाऽनादर-भावश्चेति पञ्चमम् ।

जगति किलैष नियमः—'समाजे यादृशस्य पूजा भवति, सर्वो जनः तादृशमात्मानं भावयितुं यतते' इति । अतएव पाश्चात्यशिक्षाप्रभावेण पाश्चात्यभावभाषादीक्षितानां धनिनां चानार्याणामपि सम्मानभावनायाः प्रसाराद् ब्राह्मणा अपि आंग्लभाषाध्ययनेन येन केन च प्रकारेण धनोपार्जन एवात्मनः श्रेयः पश्यन्तः कुलपरंपरागतं वेदाध्ययनं पर्यत्याक्षुः ।

अथेदानीं पाश्चात्यविद्वद्भिरुत्पादितानि तानि कारणानि समुपस्थाप्यन्ते, यैर्वेदप्रचारस्य सम्प्रति विशेषतो ह्रासः संजातः—

१—बहूनाम् ईसाईयहूदीमताग्रहगृहीतानां मैक्समूलरप्रभृतीनां विदुषां 'अनुसन्धानकर्म'व्याजेन वैदिकवाङ्मयविषये अनर्गलप्रलापद्वारा तन्निन्दापुरःसरं तत्राश्रद्धोत्पादनं चेत्येकम् ।

अनेके पाश्चात्या विद्वांसः संस्कृतभाषायां वैदिकवाङ्मये च कं भावं मनसि निधाय प्रयत्नमकार्षुरित्यस्य ज्ञापकानि तेषां कतिपयवचनान्युद्ध्रियन्ते । येन पाश्चात्यविदुषां तथाकथितवेदानुसन्धान-कार्ये प्रवृत्तिर्विस्पष्टतां गमिष्यति । तत्र प्रथममतिप्रसिद्धस्य वैदिकवाङ्मये कृतपरिश्रमस्य मैक्समूलरस्यैव वचनान्युपस्थाप्यन्ते —

(क) 'वैदिकसूक्तानां एका महती संख्यैतादृशी वर्तते, या परमबालिशा जटिला अधमा साधारणी चास्ति' इति ।[1]

(ख) 'मदीयो वेदानुवादो मदीयं (सायणभाष्यसहितम् ऋग्वेदस्य) संस्करणं चोत्तरकाले भारतस्य भाग्यविधानेऽत्यन्तं प्रभविष्यति । यतोऽयं (ऋग्वेदः) तेषां धर्मस्य मूलमस्ति । अहं निश्चयेनानुभवामि यद् (भारतीयधर्मस्य) इदं मूलं कीदृगस्तीत्यस्य निदर्शनं गतत्रिसहस्रवर्षेषु समुपजायमाननां प्रभावाणां समूलोत्पाटनाय एकः प्रधानभूत उपायोऽस्ति' इति ।[2]

(ग) 'संसारस्य सर्वधर्मग्रन्थेषु नवीना-प्रतिज्ञा (ईसाप्रोक्ता बाईबल-नामा) ग्रन्थ उत्कृष्टो वर्तते । तदनु कुराननामा ग्रन्थः, य आचारशिक्षायां नवीन-

---

१. मैक्समूलरस्य भाषणम्, संख्या ४, सन् १८८२ ।

२. मैक्समूलरेण स्वपत्न्यै लिखितस्य (सन् १८६६) पत्रस्यांशः ।

प्रतिज्ञाया एव रूपान्तरमस्ति, स्थापयितुं शक्यते । तत्पश्चात् प्राचीना-प्रतिज्ञा, दाक्षिणात्यं बौद्धपिटकम्, वेदाः, अवेस्ता इत्येवमादयो ग्रन्थाः सन्ति' ।'

(घ) मैक्समूलरस्य वैदिकवाङ्मयकार्यं तन्मित्राण्यपि कया दृष्ट्याऽपश्यन्, तदर्थं ई० बी० पुसे-नामकेन तन्मित्रेण मैक्समूलराय प्रहितस्य पत्रस्य द्रष्टुमर्हमेतद्वचनम्—

'भवतामेतत् (=वेदविषयकं) कार्यं भारतीयान् ईसाईमतानुयायिनो विधातुं क्रियमाणेषु प्रयत्नेषु नवयुगप्रवर्तकं भविष्यति' इति ।

(ङ) अलबर्टवेबर नामा प्राध्यापकः प्राह—'कृष्णस्य मतं, यस्य प्रभावः सम्पूर्णे महाभारते व्याप्तोऽस्ति, द्रष्टुमर्हं वर्तते । तत्तत्र ईसाईकथाया अपरपाश्चात्यमतस्य प्रभावं चोपस्थापयति' इति ।[2]

(च) अत एव ईसाईमतपक्षपातिनोऽनेके विद्वांसः—'महाभारतग्रन्थ ईसाप्रादुर्भावादुत्तरं चतुर्थशत्यां संग्रथितः'—इति लिखन्ति ।

(छ) मोनियर विलियम्सनामा प्राध्यापको, येन संस्कृताङ्गलभाषाया महान् कोशो निर्मितः, स स्वकोशरचनाप्रयोजनं तदुपोद्घात इत्थं प्रदर्शयति—

'यदिदं संस्कृताङ्गलभाषाकोषनिर्माणकार्यं संस्कृतग्रन्थानुवादकार्य्यं च बोडननिक्षेपनिधि (ट्रस्ट) द्वारा सम्पाद्यते, तद् भारतीयान् ईसाईमते दीक्षयितुं प्रवृत्तानां साहाय्यप्रदानायैव क्रियते' इति ।

सत्येवं, को नाम विपश्चित् मैक्समूलरादीनाम् अनुसंधानमिषेण कृते कार्ये विश्वसेत् ? आधुनिकाः पाश्चात्यशिक्षादीक्षिता भगवद्वचनमिव पाश्चात्यविदुषां मतेषु श्रद्दधानाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः इति (मुण्ड० २।९) न्यायानुसारं स्वयं नष्टा अपरानपि भारतीयान् नाशयन्ति ।

२—भाषाविज्ञानमिषेण दैव्यां वाचि वैदिकवाङ्मये च भीषणप्रहारो द्वितीयम् ।

पाश्चात्यैर्विद्वद्भिः कतिपयानां भाषाणां तुलनात्मकमध्ययनं कृत्वा भाषाविज्ञाननामैकं नूतनं मतमाविष्कृतम् । यद्यपि तदत्यन्तं दोषपूर्णं विद्यते,

---

१. मैक्समूलरः स्वपुत्राय प्रहिते पत्र एतद् वचनं लिखितवान् ।

२. द्र०—संस्कृतसाहित्यस्येतिहासे (सुलभे संस्करणे, सन् १९१४) १८९ तमे पृष्ठे टिप्पणी ।

तथापि तदाश्रित्य दैव्या वाचो भारोपीय-सर्वभाषाजननीत्वे विस्पष्टं प्रतीयमानेऽपि तां सर्वभाषाजननीरूप-स्वस्थानतः प्रच्यावयितुं भारोपीयनाम्ना कल्पितामसिद्धमूलां कांचन शशशृङ्गायमाणां भाषां वर्तमानानां भारोपीयभाषाणां जननीं स्वीकृत्य ग्रीक्लेटिन्भाषादिवत् तस्याः पौत्रस्थानी दैवी वाक् इति मतमुद्घोषयांचक्रुः।

नैतावदेव, अपितु यथा प्राकृताः पांशुलपादा जना अज्ञानेन सम्यगुच्चारणाऽसामर्थ्येन वा शिष्टव्यवहृतेषु शब्देषु वर्णलोपागमविकारविपर्ययादीन् कुर्वन्ति, कालान्तरे च स एवापशब्दराशिर्भाषापदं भजते, तथैवेयं दैवी वागपि कस्यांचित् पूर्वतन्यां भाषायां विकारं प्राप्य समुत्पन्नेति ब्रुवते।

अपरे ब्रुवते—पूर्वतन्यां कस्यांचित् प्राकृत-भाषायामेव संस्कारं विधाय ब्राह्मणैरियं गीर्वाणवाणी निष्पादिता इति। तदाहाध्यापको रैप्सनः—

'भारतीयार्यलिखितं वृत्तं साहित्यिकभाषासु सुरक्षितमस्ति। या व्यावहारिकभाषाभ्यो विकासं प्रापिताः'।[1]

३—डार्विनप्रतिपादितं विकासवादमनुसृत्य सत्यापितस्य भारतीयैतिह्यस्य खण्डनं विकृतकरणं च तृतीयम्।

यावान् भारतीयेतिहासः प्राचीनेषु ग्रन्थेषूपलभ्यते,स सर्वोऽप्यैकमत्येन प्रतिपादयति—'यत् सृष्टयादौ मानवाः परम-ज्ञानिनोऽनेकविधशक्तिसम्पन्ना धर्मसत्त्वोपेताः परमदीर्घायुष आसन्। उत्तरोत्तरं ज्ञाने शक्तौ आयुषि च ह्रासः समजनि, मानवाश्चोपचीयमानरजस्तमस्काः संबभूवुः।' एतद्विपरीतं विकासवादमतं ब्रवीति—'मनुष्या आदौ पशुवत् जाङ्गलिका मांसाहारिणोऽज्ञानिनश्च आसन्। उत्तरोत्तरं ते विकसिताः सन्तः सभ्या अभूवन्।' नैतावदेव, अपितु 'मनुष्याणां पूर्वजा वनमानुषा आसन्, तेषां पूर्वजा वानराः, तेषां च पूर्वजा अन्ये, इत्येवं सर्वेऽपि प्राणिनः सर्वतः प्राक्समुत्पन्नाद् 'अमीबा' नाम्नः प्राणितः उत्तरोत्तरं विकसिताः सन्तो मनुष्यत्वमापुः।' एतं मतमाश्रित्यैव पाश्चात्या विद्वांसो वेदान् पांशुलपादानामविपालादीनां गीतानीति ब्रुवन्ति।

एतान्येव पाश्चात्यमतानि अस्मद्देशीयेषु विश्वविद्यालयेष्वद्यापि पाठ्यन्ते। तेनैतेषु विश्वविद्यालयेष्वधीतानां मनसि वैदिकवाङ्मये न केवलमश्रद्धैवोत्पद्यते, अपितु त एव कालान्तरे अनुसंधानकार्यं कुर्वन्तः वैदिकवाङ्मयविषये ततोऽपि हीनान् मतानाविष्कुर्वन्ति। एतद् द्योतयितुं द्वयोर्भारतीयविदुषोर्यास्कनिर्वचनसंबन्धिमतमुपस्थाप्यते—

---

१. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, अ० २, पृष्ठ ५६-५७।

(क) राजवाड़े इत्युपनामा काशीनाथ ग्राह—'निरुक्तस्य निर्वचनपद्धतिरेतादृशी वर्तते, यत् तद् विज्ञानं विद्यास्थानं वा नैव वक्तुं शक्यते ······ निरुक्तं विज्ञानं नास्ति, अपि तु विज्ञानस्योपहासो वर्तते·········। निरुक्तस्य निर्वचनप्रकारो भ्रममात्रं मानवमस्तिष्कस्य व्यर्थः प्रयोगो वा वर्तते ।········· अहं ससाहसं वक्तुं शक्नोमि यन्निरुक्तस्य निर्वचनपद्धतिरयुक्ता (मूर्खतापूर्णा) विद्यते। पुनरपि तदद्य यावत् स्वस्थानं (वेदाङ्गत्वं) भजते ।······निरुक्ते बहुसंख्याकानि निर्वचनानि मूर्खतापूर्णानि सन्ति, यतस्तानि अशुद्धं सिद्धान्तमाश्रयन्ति।······एतत्सिद्धान्ताश्रयेण बहूनि निर्वचनानि कल्पितानि।······ शुद्धानि निर्वचनानि त्वत्यन्तमल्पकानि विद्यन्ते इति।'[1]

(ख) अपरो भाषाशास्त्रित्वेन परमख्यातिमापन्नः सिद्धेश्वरवर्माऽऽह—

'एतेन प्रकटीभवति यद् यास्कस्य निर्वचनप्रदर्शनोत्साहः प्रमत्ततासीमां प्राप्तः' इति[2]।

"यास्कोऽतिनिर्वचनकर्त्ता आसीत्। तस्य निर्वचनमत्तता तत्कल्पनाशक्तिमुज्झितवती। तस्य कल्पनाया दरिद्रता विलक्षणा वर्तते। एतेन गम्भीरदोषेण स न केवलं व्यर्थानि शिथिलानि सारहीनानि सत्याद् दूरं गतानि निर्वचनानि करोति, अपितु प्रतीयते यत् स 'लक्षणादिभिरपि केषांचिच्छब्दानामर्थस्य विस्तरो भवति' इति नैव ज्ञातवान्। अत एव लाक्षणिकार्थद्योतनायापि स पृथक् निर्वचनानि आचष्टे इति[3]।"

एतैरुद्धरणैरतिविस्पष्टं भवति यत्पाश्चात्यैर्विद्वद्भिरीसाईयहूदीमतपक्षपातेनानुसन्धानमिषेण च वैदिकवाङ्मयविषये यः प्रलापो विहितः, तमेव विश्वविद्यालयेष्वधीत्य भारतीया अपि तथाविधा विद्वांसः कीदृशीं मानसिकीं दासतामभजन् इति ? एते खलु पाश्चात्यदृशैव सर्वं पश्यन्ति, न तेषां स्वचक्षुर्विद्यते। अतएव 'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः' (ऋ० १।१६४।१६) इति श्रुत्या सत्यमुच्यते।

एवं वेदप्रचारस्य ह्रासकारणान्युपस्थाप्य तत्प्रतीकाराय केचन उपाया निर्दिश्यन्ते—

---

१. द्र०—'काशीनाथ राजवाडे' द्वारा सम्पादितस्य निरुक्तस्य (पूनानगरस्थ-भण्डारकरप्राच्यविद्यानुसंधानसंस्थानतः प्रकाशितस्य) भूमिका, पृष्ठ ४०-४३। २. इटिमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ ३।

३. स एव ग्रन्थः, पृष्ठ ८।

१—वेदानां वैदिकवाङ्मयप्रामाण्येन तादृशी वैज्ञानिकी व्याख्या कर्तव्या, येन साम्प्रतिकास्तर्कप्रधाना अपि मानवा वेदेषु श्रद्दधीरन्, तदध्ययने च प्रवर्तेन् ।

२—यज्ञानामपि तादृश्येव वैज्ञानिकी व्याख्या विधेया, यया वैदिककर्मकाण्ड-विषये लौकिकानां पाश्चात्यशिक्षादीक्षितानां च हृदयेषु श्रद्धोत्पद्येत । यज्ञानां प्रचारेण वेदाध्ययने प्रगतिर्निश्चितैव ।

३– वेदानामध्ययने श्रवणे च सर्वेऽधिकृताः स्युः । यः खलु वस्तुतोऽन-धिकारी भविष्यति, स स्वयमेव तदध्ययनादुपरंस्यति ।

एतस्मिन् विषये दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो मतं 'वेदाध्ययने समर्था सर्वे मानवा अधिकृताः' इति नितरां सत्यं वर्तते । अतएव वेदाधिकारनिरूपणप्रसङ्गे तत्रभवान् सत्यव्रतसामश्रम्यप्याह—

"शूद्रस्य वेदाधिकारे साक्षाद्वेदवचनमपि दर्शितं स्वामिदया-नन्देन—'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः । ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च' (वा० सं० २६।२) ।" इति ।[1]

यदि हि नाम उक्तमन्त्रानुसारं शूद्राणामतिशूद्राणामपि वेदज्ञानेऽधिकारः, तर्हि स्त्रीभिः किमत्रापराद्धम् ? द्विजपत्नीत्वात्तदध्ययनं प्राप्तमेव । गार्गी-वाचक्नव्यादयो बह्व्यो ब्रह्मवादिन्यः पुराकल्पे बभवुरिति वैदिकग्रन्थेष्वतितरां प्रसिद्धमस्ति ।

पुराकाले स्त्रीणामपि उपनयनसंस्कारो भवति स्म । गुरोः सकाशाच्च ता वेदमधीयते स्म । तदुक्तम्—

'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च ।।'[2]

स्त्रीणामुपनयने मन्त्रलिङ्गमपि दृश्यते—'भीमा जाया ब्राह्मणस्योप-नीता' (ऋ० १०।१०९।४) इति ।

शूद्रकुलोत्पन्नानां मातङ्गादीनां बहूनां ब्राह्मणत्वप्राप्तिरितिहासग्रन्थेषु श्रूयते । ब्रह्मत्वप्राप्तिर्न वेदज्ञानमन्तरेण कथमपि सम्भवति । तस्माद् वेदा-ध्ययनात्तच्छ्रवणाद्वा न कश्चिदपि बलान्निरोधयितव्यः । तदैव च 'कृण्वन्तो

१. ऐतरेयालोचने, पृष्ठ ७ ।

२. श्लोकोऽयं निर्णयसिन्धोस्तृतीयपरिच्छेदे 'इति यमोक्तेः' इत्येवमुद्-धृतः ।

विश्वमार्यम् (ऋ० ९।६३।५) इति मन्त्रलिङ्गानुसारं विश्वं समस्तमपि वैदिकधर्मानुयायिनं विधातुं वयं समर्था भविष्यामः । वेदस्य सर्वत्र भूमण्डले प्रसारः स्यादित्याकाङ्क्षया स्वामिदयानन्देनार्यसमाजस्य तृतीयो नियमो विहितः — 'वेदाः सर्वसत्यविद्यानामाकरग्रन्थाः सन्ति, वेदानां पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणं च समस्तानामार्याणां परमो धर्मः' इति ।

अहो बत ! वेदवैदिकमतप्रचारार्थोत्सर्गीकृतजीवनेन स्वामिदयानन्देन प्रवर्तित आर्यसमाजोऽपि स्वस्याचार्यस्याज्ञामुपेक्ष्य स्वीयपरमधर्माद् वेदाध्ययनात्सम्प्रति पराङ्मुख इव सम्पन्नः । तस्मात् 'को वेदानुद्धरिष्यति' इति प्रश्नः सर्वदा समेषां सम्मुखं जागर्त्येव ।

४—पाश्चात्यविद्वद्भिरीसाईयहूदीमतपक्षपातेन अनुसंधानमिषेण वैदिकवाङ्मयनिन्दका ये ग्रन्था लिखिताः, तेषां विश्वविद्यालयेषु पठनं पाठनं यथा सर्वथा निरुद्धं भवेत्, अस्मत्पूर्वजैर्ऋषिमुन्याचार्यवर्यैः प्रोक्तानाम् अस्मत्सत्येतिहासादिसिद्धपक्षयुतां ग्रन्थानां च पठनपाठनं यथा सम्भवेत्, तथा सामूहिकः प्रयत्नो विधेयः । येन तत्राधीता भाविनो विद्वांसो वेदनिन्दका वेदोपेक्षका वैदिक-संस्कृति-विरहिता वा नोत्पद्येरन् ।

५—पाश्चात्यैर्विद्वद्भिः भाषाविज्ञान-वैदिकदेवशास्त्र-वैज्ञानिकेतिहासादि-विषयान् विकासवादं वा पुरस्कृत्य भारतीयभाषा-संस्कृति-साहित्येतिहासादि-विषयेषु यद्यदन्यथा प्रलपितमस्ति, तस्य तस्य प्रचारस्य निरोधाय स्वीयया भारतीयविज्ञानसिद्धदृष्ट्या भाषाविज्ञानादिविषयका ग्रन्था निर्मातव्याः । पाश्चात्यानां मतानां सम्यगालोचना बलवत् खण्डनं च विधेयम् ।

६—वेदानां वैदिकवाङ्मयस्य च प्रचाराय प्राचीनानां ग्रन्थानां मुद्रणाय तादृश उपायो विधेयः, येनेमे ग्रन्थाः सर्वदा सर्वत्र सुलभाः स्युः । तत्तद्ग्रन्थोपोद्घातेषु तस्य तस्य ग्रन्थस्य विषये पाश्चात्यैस्तदनुसारिभिश्च पौरस्त्यैर्यत् किञ्चिन्मिथ्या प्रलपितम्, तस्य तस्य सप्रमाणम् आलोचना विपक्षमुखमर्दन-समर्थं खण्डनं चावश्यमुट्टंकितं भवेत् ।

७—वेदप्रसाराय सुरभारतीप्रसार आवश्यकः । नहि तदन्तरेण वेदप्रचारः कथमपि सम्भविष्यति । अतः संस्कृतभाषाप्रचाराय तादृशो यत्नो विधेयः, येन पुनरियमस्माकीना राष्ट्रभाषा स्वीयं वास्तविकं पदमलङ्कुर्यात् । तदर्थं च सुगमरीत्या संस्कृतभाषाशिक्षका ग्रन्था निर्मातव्याः । स्थाने-स्थाने च संस्कृत-पाठशालानां स्थापना कार्या । स कृतभाषामध्येतुमुत्साहवर्धनाय छात्रेभ्यः पुरस्कारा वृत्तयो वा प्रदेयाः ।

आशासे पुरस्तान्निर्दिष्टैः कतिपयैरुपायैर्वेदानां पुनः प्रसाराय साहाय्यं लप्स्यते ।

श्रौतमार्गसमुदिश्य श्रौतयज्ञस्य प्रक्रियाः ।
व्याख्याता लेशतो ह्यत्र वेदविद्याप्रसिद्धये ॥
प्रसाराय च वेदानाम् उपायाश्चेह दर्शिताः ।
न तु मीमांसकख्यातिं गतोऽस्मीत्यभिमानतः ॥

अन्ते च

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

इति भट्टकुमारिलवचनमनुस्मरन् बिरम्यते मया ।

—०—

संशोधनम्

द्वितीये पृष्ठे **'न वेदशास्त्रादन्यत्तु'** इत्युद्धृतं वचनं बृहद्योगियाज्ञवल्क्य-स्मृतौ द्वादशाध्यायस्यादौ (श्लोक १) तृतीये चरणे **सर्वं विनिःसृतं शास्त्रं'** इति पाठ भेदेनोपलभ्यते । द्र० स्मृतिसन्दर्भ,भाग ४, पृष्ठ २३३४, 'मोर' संस्करण ।

तृतीये पृष्ठे **'दुर्बोधं तु भवेद् यस्मात्'**इत्युद्धृतं वचनं बृहद्योगियाज्ञवल्क्य-स्मृतौ द्वादशाध्यायस्यादौ (श्लोक २) उपलभ्यते । द्र० स्मृतिसन्दर्भ, भाग ४, पृष्ठ २३३४, 'मोर' संस्करण ।

वेदों का महत्त्व और उनके प्रचार के उपाय

ओ३म् बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ।।

ऋ० १० । ७१ । १ ।।

यह सब विद्वानों को विदित ही है कि हम वैदिक धर्मानुयायियों के लिए वेद ही परम प्रमाण है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त सब संस्कार, अभ्युदय और निःश्रेयस् संवन्धी सब व्यवहार वेदों पर ही आश्रित हैं। अब भी धर्मप्रधान लोगों के लिये वेद ही परम प्रमाण हैं। इसीलिये हमारे ब्राह्मणों ने अभी तक बड़े प्रयत्न से उनको ऐसे कण्ठस्थ करके सुरक्षित रखा है कि जिससे उनमें एक स्थान पर भी स्वर-मात्रा-वर्ण का विपर्यास नहीं मिलता।

ऐसा होने पर यह विचार पैदा होता है कि—ऐसा क्या कारण है, जिससे वैदिक मत के अनुयायी प्रधानता से वेदों का ही आश्रय लेते हैं? यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर विचार करें, तो हमें यह ज्ञात होता है कि पूज्य महर्षि बह्मा से लेके स्वामी दयानन्द सरस्वती[1] पर्यन्त जो ऋषि मुनि और आचार्य हुये, उन्होंने—'वेद सब विद्याओं की, और वर्तमान भूत भविष्यत् के लिये उपयोगी ज्ञान की खान हैं' ऐसा माना है। वेदों में जिस प्रकार का सूक्ष्म और अनिन्द्रियगोचर (=जो इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता) ज्ञान है, उस प्रकार का और कहीं नहीं है।[2] इसीलिये भगवान् मनु ने कहा है—

---

१. द्र०—'संस्कृत-साहित्य का आरम्भ ऋग्वेद से होता है, और उसकी समाप्ति स्वामी दयानन्द की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पर होती है ('हम भारत से क्या सीखें'—इसके तृतीय भाषण में, पृष्ठ १०२)।

२. द्र०—पदार्थ-ज्ञान के विषय में वेदों में बड़ी दक्षता है। पूना प्रवचन, पृष्ठ ४४ (स्वामी दयानन्द का वेदविषयक पांचवां व्याख्यान)।

'सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥
बिभर्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यमप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥'

मनुस्मृति १२ । १००, ६७, ६६, ६४ ॥

'अर्थात्—सेनापतित्व, राज्य-शासन, दण्ड का विधान, चक्रवर्ती-राज्य का शासन इन सब के लिये वही योग्य होता है, जो वेदशास्त्र को जानता है । भूत वर्तमान और भविष्यत् सब वेदों से ही सिद्ध होते हैं । जो सनातन वेदशास्त्र है, वही संसार के सब प्राणियों के लिये परम साधन है । पितर अर्थात् ज्ञानी और वयोवृद्ध विद्वान् और साधारण मनुष्य इन सब के लिये वेद ही सनातन चक्षु है । उसकी इयत्ता असीम है, यह वेदशास्त्र की स्थिति है ।'

इन सब विषयों को जानकर ही भगवान् मनु ने अन्यत्र भी घोषणा की है—'**सर्वज्ञानमयो** हि सः' (२।७), अर्थात् 'वेद सब ज्ञान से परिपूर्ण है'[1] ।'

इसी सिद्धान्त का भगवान् कृष्णद्वैपायन मुनि ने भी प्रतिपादन किया है—

'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः ।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥'

महाभारत, अनु० १२२ । ४ ॥

'अर्थात्—लोक में जितने भी आगमशास्त्र (=विभिन्न विषयों के आद्य मूलग्रन्थ), और लोक-प्रवृत्तियां देखी जाती हैं, वे सब वेद के आधार पर ही क्रमानुसार आरम्भ हुई हैं ।'

परम ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य मुनि ने भी कहा है—

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात्' ॥

बृहद् योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२।१॥

'अर्थात्—वेदशास्त्र से भिन्न कोई शास्त्र प्रमाण नहीं है । समस्त शास्त्र सनातन वेद से ही निकले हैं ।'

---

१. द्र०—मेधातिथि वा गोविन्द राज की मनुटीका ।

यदि इस तरह से वेद ही सब तरह के ज्ञान के निधि हैं, तो किस कारण महर्षिगण उन-उन शास्त्रों का प्रवचन कर गये ? तो कहते हैं—

जब सर्गादि में अपरिमित शक्ति के प्रभाव से प्रभावित सामर्थ्यवाले, धर्म-सत्त्व-शुद्ध तेज से युक्त[१], अपरिमित बुद्धिवाले, धर्म का साक्षात् किये हुये मानव थे, तब वे वेदों से ही सीधा सब तरह का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। उस समय वेद को छोड़कर अन्य कोई शास्त्र न था। जब उत्तरकाल में मानव क्रमशः सत्त्वहीन, प्रवर्धमान रजोगुण और तमोगुण से युक्त, अल्पमतिवाले, उपदेशों के द्वारा भी वेदों के मन्त्रों में विद्यमान विविध विद्याओं को जानने में असमर्थ हो गये, तब उस तरह के अल्प मेधावाले मनुष्यों को विविध विद्याओं का ज्ञान कराने के लिये विविध शास्त्रों का प्रवचन महर्षि लोगों ने किया।

इसी शास्त्रावतारूप इतिहास का भगवान् यास्कमुनि ने निरुक्त में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषु[२]-र्वेदं च वेदाङ्गानि च। निरुक्त १। २०॥

'अर्थात्—सृष्टि के आरम्भ में साक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ का साक्षात् दर्शन करनेवाले) ऋषि हुये थे। उन्होंने असाक्षात्कृतधर्मा (=मन्त्रार्थ को साक्षात् न जाननेवाले) मनुष्यों के लिये उपदेश से मन्त्रों के अर्थ जताए। उत्तरकाल के अथवा हीनमेधावाले, उपदेश से ग्लानि करते हुये (=हमें उपदेशमात्र से वेद समझ में नहीं आता, ऐसा समझनेवाले) लोगों ने इस निघण्टु-निरुक्त ग्रन्थ का, और वेद तथा वेदाङ्गों का अभ्यास[२] किया।'

इसी इतिहास के अनुसार भगवान् याज्ञवल्क्य ने भी कहा है—

'दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्॥'

बृहद्योगि याज्ञवल्क्य स्मृति १२।२॥

---

१. द्र०—पाराशरीय ज्योतिषसंहिता का वचन—'पुरा खलु अपरिमित-शक्तिप्रभाप्रभाववीर्या ······धर्मसत्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमाद-पचीयमानसत्वानां उपचीयमानरजस्तमस्कानां ···।' (भट्ट उत्पल कृत बृहत्संहिताटीका, पृष्ठ १५ पर उद्धृत)।

२. मूलधात्वर्थानुसारी पदार्थ। यही अर्थ निरुक्तश्लोकवार्तिक में उप-लब्ध होता है। अन्यों ने 'वेदों तथा वेदाङ्गों को बनाया' ऐसा अशुद्ध अर्थ किया है।

'जिनके लिये ज्ञान दुर्बोध्य हुआ, और जो वेदों का अध्ययन न कर पाये, उनके लिये सब वेदों से ज्ञान लेकर ऋषि लोगों ने शास्त्र बनाये।'

महाभारत (शान्ति० २८४।९२) में भी भगवान् वेदव्यास जी ने लिखा है—**'वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य'**, अर्थात् 'वेदों से वेदाङ्गों की रचना की।'

और भी—सम्प्रति शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थविज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुशास्त्र इत्यादि विषयों के जो मुख्य ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब अपने-अपने विषयों की वेदमूलकता की मुक्तकण्ठ से घोषणा करते हैं। विस्तारभय से कुछ ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(१) ज्योतिषाचार्य आर्यभट्ट अपने ग्रन्थ के अन्त में 'ज्योतिषशास्त्र का मूल वेद है', ऐसा कहते हैं।

(२) आयुर्वेदशास्त्र अथर्ववेद का उपाङ्ग है, ऐसा भगवान् सुश्रुत कहते हैं—**'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य।'** सू० अ० १॥

(३) पदार्थविज्ञानप्रतिपादक वैशेषिकशास्त्र भी वेद-मूलक है, ऐसी भगवान् कणाद मुनि प्रतिज्ञा करते हैं। जैसे—**'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्।'** वै० १।१।३॥

इसका अर्थ इस प्रकार है—**'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'**, अर्थात् 'अब धर्म का व्याख्यान करेंगे' ऐसी प्रतिज्ञा करके **तद्वचनात्**=वैशेषिकप्रतिपाद्य पदार्थधर्म का प्रतिपादन करने से **आम्नाय**=वेद का प्रामाण्य है।

यहां यह भी जानना चाहिये कि भगवान् कणाद ने केवल **'वेद पदार्थधर्म के प्रतिपादक हैं'** यह प्रतिज्ञामात्र ही नहीं की, अपितु कई प्रकरणों में विभिन्न पदार्थों के धर्मों का प्रतिपादन करने के लिये श्रुति-प्रामाण्य भी दर्शाया है। जैसे—

(क) ओलों की उत्पत्ति तेज के सयोग से होती है, ऐसा प्रतिपादन करके आकाश के पानी में तेज का संयोग होता है, इसका प्रतिपादन करते हुये **'वैदिकं च'** (५।२।१०) सूत्र से वैदिक वचनों का प्रमाण दर्शाया है। यथा—

'या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु'।
तै० सं० ५।६।१॥

'आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।'
ऋ० १०।१२१।७॥

'वृषाऽग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् ।' यजु० १५।४६ ।।

'योऽनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः ।' ऋ० १०।३०।४ ।।

इन मन्त्रों में जलों में दिव्य अग्नि का संयोग दर्शाया है। इस विषय का प्रतिपादन वेदों के अनेक मन्त्रों में मिलता है।

(ख) शरीर दो प्रकार के हैं—योनिज और अयोनिज, ऐसा बताते हुये अतीन्द्रिय जो अयोनिज शरीर है, उसका प्रतिपादन करते हुये **'वेदलिङ्गाच्च'** (४।२।११)इस सूत्र से अयोनिज शरीर के प्रामाण्य के लिये निम्न वैदिक मन्त्र का संकेत किया है—

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।।' ऋ० १०।९०।१२ ।।

इस मन्त्र में **'अस्य'** इस पद से **'विराट्'** नामक पुरुष का परामर्श होता है। वही विराट् पुरुष वैदिकग्रन्थों के सर्ग-प्रकरणों में प्रजापति—हिरण्यगर्भ—सुवर्णाण्ड – महदण्ड आदि शब्दान्तरों से कहा गया है।

(४) न्यायसूत्रकार भगवान् गोतम भी अतीन्द्रियविषयक विज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले वेदभाग के प्रामाण्य को बताने के लिये कहते हैं—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्याच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ।।'

न्याय० २।१।६८ ।।

मन्त्रों में जो आयुर्वेद प्रत्यक्षरूप से उपदिष्ट किया गया है, उसके प्रामाण्य की सत्यता लोक में प्रसिद्ध है। उसके प्रमाणित होने से अतीन्द्रिय विज्ञान का प्रतिपादक वेदभाग भी प्रमाणित हो जाता है। क्योंकि जो आप्त ईश्वर प्रत्यक्षविषयभूत आयुर्वेद, जो वेद का ही एक विभाग है, का कर्ता है, वही इन्द्रियातीत विषय के प्रतिपादन करनेवाले भाग का भी है। इसलिये एक कर्ता होने से अतीन्द्रियविषयक वेदभाग का भी प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ता है।

ऐसा सिद्ध होने पर यदि सब विद्याओं के आकरभूत वेदों को वैदिक-धर्मानुयायी प्राणों से भी प्रिय मानते हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

अब वेदार्थ के विषय में कुछ लिखा जाता है। बहुत समय से वैदिक विद्वानों का वेद-प्रतिपाद्य विषय में मतभेद है। सायणाचार्य यजुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में लिखते हैं—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्याख्यो

ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम् । तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात् ।
काण्वसंहिता-भाष्य के उपोद्घात में ।

'अर्थात् उस यजुर्वेद में दो काण्ड हैं—एक कर्मकाण्ड, दूसरा ब्रह्मकाण्ड । वृहदारण्यक नामक जो ग्रन्थ है, वह ब्रह्मकाण्ड है । उसके अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण और संहिताभाग कर्मकाण्डविषयक हैं । इन दोनों में आधान अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमासादि कर्मों का प्रतिपादन होने से ।'

इसी प्रकार अन्य वेदों के विषय में भी जानना चाहिये । वेदाङ्ग ज्योतिष में भी कहा है—**'वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः'** इति । अर्थात् 'वेद का प्रयोजन यज्ञ है ।' इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि मन्त्र-संहिताओं में केवल कर्मकाण्ड ही प्रतिपादित है ।

यदि वेद का प्रयोजन केवल द्रव्ययज्ञों का ही सम्पादन करना है, तो प्राचीन महर्षियों ने वेद के सर्वविद्यामूलकत्व होने की जो घोषणा की थी, वह समाप्त हो जाती है । इसलिये पूर्वनिर्दिष्ट प्रमाणों के आधार पर **'वेद सब विद्याओं के आकर (=खान) ग्रन्थ हैं'** इस मत की रक्षा के लिये 'वेद-मन्त्रों में अनेकार्थप्रतिपादन-शक्ति है' यह स्वीकार करना चाहिये । ऐसा होने पर ही वेदों का वास्तविक महत्त्व प्रकट हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

वह मन्त्रों की अनेकार्थता स्वच्छन्द नही है, अपितु व्यवस्थित है । और वह व्यवस्था प्राचीन महर्षियों ने त्रिविध प्रक्रियाओं के रूप में स्थापित की है । उनके अनुसार एक अर्थ याज्ञिक, दूसरा आधिदैविक, और तीसरा आध्यात्मिक होता है ।

प्राचीन महर्षि और वैदिक विद्वान् वेद के पूर्व-निर्दिष्ट त्रिविध अर्थ करते थे । इस विषय में कुछ प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं—

१—भगवान् यास्क—**'वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्'** (ऋ० १०।७१।५) इस ऋग्वेद के अंश की व्याख्या करते हुये कहते हैं—

'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा ।'
निरुक्त १ । १६ ॥

इस यास्कीय वचन से दिव्यवाणी वेद के याज्ञिक, आधिदैविक, और आध्यात्मिक ये त्रिविध अर्थ होते हैं, ऐसा स्पष्ट है ।

२—भगवान् यास्क ने केवल प्रतिज्ञा ही नहीं की, अपितु वे निरुक्त में वर्णित हुये सब मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या करते हुये 'सब मन्त्रों का

आधिदैविकार्थ ही प्रधानभूत है' ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। यास्क अनेक स्थानों पर आध्यात्मिक अर्थ और याज्ञिक अर्थ का भी निर्देश करते हैं। जैसे--

(क) **'एकया प्रतिधा पिबत् साकं सरांसि —काणुका'** (ऋ० ८।७७।४) इस ऋचा की व्याख्या करते हुये कहा है—

'तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते—त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवने एकदेवतानि। तान्येतस्मिन् काले एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति। तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशद-परपक्षस्याहोरात्राः, त्रिंशत्पूर्वपक्षस्येति नैरुक्ताः। तद् या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति।' निरुक्त ५।११॥

'अर्थात्—याज्ञिकों के मत में मन्त्र-निर्दिष्ट 'तीस सर' तीस उक्थसंज्ञक सोम ग्रह (=पात्र विशेष) हैं, और नैरुक्तों के मत में ३० पूर्व पक्ष तथा ३० अपर पक्ष के अहोरात्र हैं।'

(ख) **'गौरमीमेदनु'** (ऋ० १।१६४।२८), और **'उपह्वये सुदुघां धेनु-मेताम्'** (ऋ० १।१६४।२६) इन ऋचाओं के व्याख्यान में निरुक्तकार ने कहा है—

'वागेषा (गौः धेनुः) माध्यमिका, धर्मधुगिति याज्ञिकाः।'

निरुक्त ११।४२॥

'अर्थात्—'यह (गौ धेनु) माध्यमिक वाक् गौ है। याज्ञिकों के मत में यज्ञार्थ दोहन की जानेवाली गाय है।'

(ग) **'यत्रा सुपर्णाः'** (ऋ० १।१६४।२१) मन्त्र के व्याख्यान में यास्क-मुनि ने कहा है—

'यत्र सुपर्णा सुपतना आदित्यरश्मयः ···इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि···इत्यात्मगतिमाचष्टे।' निरु० ३। १२॥

'अर्थात्—अधिदैवत पक्ष में 'सुपर्ण' आदित्य की रश्मियां हैं, और अध्यात्म में 'सुपर्ण' इन्द्रियां हैं।'

(घ) **'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'** (यजु० ३४।५५) इस मन्त्र के व्याख्यान में यास्क ने कहा है—

'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, रश्मयः आदित्ये इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, षडिन्द्रियाणि विद्या सप्त-म्यात्मनि इत्यात्मगतिमाचष्टे।' निरुक्ते १२। ३७॥

'अर्थात्—अधिदैवत में 'सप्त ऋषि' सप्त सूर्य-रश्मियां हैं,और अध्यात्म में ६ इन्द्रियां (=५ ज्ञानेन्द्रियां और मन) और सातवीं विद्या है।'

इसी प्रकार अन्यत्र भी अधिदैवत के साथ याज्ञिक तथा आध्यात्मिक व्याख्यान को भी भगवान् यास्क ने प्रदर्शित किया है। निरुक्त के १३ वें तथा १४ वें अध्याय के प्रायः सभी मन्त्रों का आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्यान मिलता है। इससे यास्क के मत में मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ प्रामाणिक होते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

३—पूर्वनिर्दिष्ट यास्कीय मत को ही निरुक्त टीकाकार श्री स्कन्द स्वामी(=महेश्वर)विस्तार से प्रतिपादन करके उपसंहार करते हुये कहते हैं—

"सर्वदर्शनेषु (पूर्वनिर्दिष्टेषु याज्ञिकाधिदैवताध्यात्मिकेषु) च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।"

निरुक्तटीका ७।५॥

"अर्थात्—सब पक्षों(=याज्ञिक, अधिदैवत, और अध्यात्म)में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये। क्योंकि स्वयं भाष्यकार (=निरुक्तकार यास्क) ने सब मन्त्रों के तीन प्रकार के विषय बताने के लिये 'अर्थ को मन्त्ररूपी वाक् का पुष्प फल' कहा है। और यज्ञ आदि को पुष्प वा फल माना है।"

४—निरुक्त के व्याख्याता दुर्गाचार्य ने भी 'मन्त्रों के तीन प्रकार के अर्थ हैं' ऐसा स्पष्ट कहा है। जैसे—

क. 'आध्यात्मिकाधिदैवताधियज्ञाभिधायिनां मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते।

निरुक्तटीका १।१८॥

'आध्यात्मिक अधिदैवत और अधियज्ञ इन तीन विषयों को कहनेवाले मन्त्रों के अर्थ विदित हैं।'

ख. 'तत्र-तत्र एक एव ह्यसौ आदित्यमण्डले चाधिदैवते चाध्यात्मे च बुद्ध्यधिदेवताभूतः, स एव तत्रतत्रोपेक्षितव्यः।··· अध्यात्मेऽपि हृदयाकाशाद् यानीन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति त एव रश्मयः, अधिदैवते च त एव विश्वेदेवा इत्युक्तम्। एवं तत्र-तत्र योज्यम्। प्रकारमात्रमेवेदमुपप्रदर्शितं भाष्यकारेण।'

निरुक्तटीका ३।१२॥

'[जहां-जहां विष्णु का कथन है,]वहां-वहां अधिदैवत में आदित्यमण्डल, और अध्यात्म में बुद्धि के देवतारूप आत्मा को ही जनाना चाहिये। ···अधिदैवत में आदित्य की रश्मियां ही विश्वेदेव हैं, और अध्यात्म में हृदयाकाश

से जो इन्द्रियां निकलती हैं, वे ही रश्मियां हैं। इस प्रकार मन्त्रार्थ की योजना करनी चाहिये। भाष्यकार ने यहां प्रकारमात्र का निर्देश किया है।'

ग. 'तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् आधिदैविकाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्ति।' निरुक्तटीका २।८॥

'आधिदैविक आध्यात्मिक और अधियज्ञ के आश्रित जितने अर्थ उपपन्न हो सकते हैं, उन सब की योजना करनी चाहिये। ऐसा करना कोई अपराध नहीं है।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थानों पर दुर्गाचार्य ने मन्त्रों की त्रिविध प्रक्रिया दर्शाई है।

५—वेदज्ञों में अलंकारभूत, शब्दशास्त्र के प्रमाणभूत आचार्य भर्तृहरि भी मन्त्रों के त्रिविध प्रक्रियागम्य अर्थ को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं—

"यथा 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (ऋ० १।२२।१७) इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते।" महाभाष्यदीपिका ह० ले०, पृष्ठ २६८॥

"अर्थात्—**'इदं विष्णुर्विचक्रमे'** (ऋ० १।२२।१७) मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेक शक्तिवाला होने से अधिदैवत अध्यात्म और अधियज्ञ में क्रमशः आत्मा (सूर्य) नारायण और चषाल में स्वशक्ति से प्रवृत्त होता है।"

इसी तरह अन्य आचार्यों का मत भी इस विषय में प्रकाशित किया जा सकता है। पर विस्तारभय से रुकना पड़ता है।

कई मन्त्रों के बहुविध अर्थ भी पूर्वाचार्यों ने दर्शाये हैं। यथा—

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि' (ऋ० १।१६४।४५) इस ऋचा के छः प्रकार के अर्थ यास्क मुनि ने दर्शाये हैं—

'कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्पाणां वाग् वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः॥' निरुक्त १३।९॥

'अर्थात्—चार प्रकार की वाक्—(१) ओंकार और तीन महाव्याहृति, यह ऋषियों का मत है। (२) नाम--आख्यात--उपसर्ग--निपात, यह वैयाकरण मानते हैं। (३) मन्त्र, कल्प, ब्राह्मणग्रन्थ, व्यावहारिकी भाषा, यह याज्ञिक

मानते हैं। (४) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और व्यावहारिकीभाषा, यह नैरुक्तों का मत है। (५) सर्पों की, पक्षियों की, क्षुद्र जन्तु सरीसृपों की, और व्यावहारिकी, यह कुछ आचार्य मानते हैं। (६) पशुओं की, तूणवों की, मृगों की और आत्मा की यह अध्यात्मवादियों का कथन है।'

इन सब बातों की अच्छे प्रकार समीक्षा करके निरुक्त की व्याख्या करनेवाले दुर्गाचार्य ने कहा है—

(क) **'अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्तीति।'** निरुक्तटीका १।२०॥

'वैदिक शब्दों की अभिधान-शक्ति क्षीण होनेवाली नहीं है। पुरुषों की प्रज्ञाशक्ति जैसी होती है, वैसे वैदिक शब्द अर्थों में परिणत होते हैं। वे सर्वतोमुख अनेक अर्थों को कहते हैं।'

(ख) **'नह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति। महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति॥'**

निरुक्तटीका २।८॥

'मन्त्रों में अर्थों की सीमा नहीं है। ये महार्थ (=अनेक अर्थों से) युक्त हैं, और कठिनता से आते हैं। जैसे घोड़े पर चढ़नेवाले की विशेषता के अनुसार घोड़े तेज और तेजतर होते हैं, वैसे अर्थ करनेवालों की प्रज्ञाशक्ति के अनुसार मन्त्र साधु और साधुतर अर्थ को प्रकट करते हैं।'

इन पूर्वाचार्यों के प्रमाणों से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि—वेद केवल द्रव्यमय यज्ञ के लिये ही प्रवृत्त नहीं हुये हैं। वे सर्वविद्याओं और सर्वविध ज्ञानों की खान हैं। वहां जो आधिदैविक अर्थ है, वह साक्षात् विज्ञानपरक है, और वह भी अनेकविध है। उसका निदर्शन आगे किया है। आध्यात्मिक अर्थ भी आत्मा—शरीर—परमात्मा सम्बन्ध से तीन प्रकार से विभक्त हैं।

शेष जो याज्ञिक अर्थ है, वह भी बड़े महत्त्व का है। परन्तु जैसे आजकल के याज्ञिक लोग यज्ञ की व्याख्या करते हैं, उस तरह से इस तर्कप्रधान युग में वे अर्थ उनके महत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकते। वस्तुतः इसका कारण यज्ञप्रक्रिया के मूल के परिज्ञान का अभाव ही है। इसलिये यहां निर्शनमात्र नित्यरूप से विहित श्रौतयज्ञों का वास्तविक प्रयोजन बताया जाता है—

वैदिक वाङ्मय के अनेक वार के परिशीलन से मैंने यह समझा है कि नित्यरूप से विहित अग्न्याधान से लेकर सहस्रसंवत्सरपर्यन्त साध्य (=होनेवाले) जितने श्रौतयज्ञ हैं, वे इस ब्रह्माण्ड में सर्ग से लेकर प्रलयपर्यन्त जो अतीन्द्रिय यज्ञ निष्पन्न हुये वा हो रहे हैं, उनके स्वरूपों का ज्ञापन कराने के लिये प्रवृत्त हुये हैं। इस विराट् पुरुष=ब्रह्माण्ड में देवों=प्राकृतिक तत्वों के द्वारा जो यज्ञ किये गये वा किये जा रहे हैं, उनको ही आधार बनाकर पुरुषसूक्त का यह मन्त्र प्रवृत्त हुआ कि—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

ऋ० १०। ९०। १६॥

इस आधिदैविकयज्ञप्रतिपादक मन्त्र की व्याख्या यास्क मुनि ने इस प्रकार की है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः, अग्निनाऽग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनाजयन्त इति च ब्राह्मणम्। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः संसेव्यन्त। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः साधनाः। द्युस्थानो देवगण इति नैरुक्ताः।' निरुक्त १२।४१॥

'अर्थात्—देवों ने यज्ञ से यज्ञ किया, देवों ने अग्नि से अग्नि का यजन किया। अग्नि पशु था, उसका आलम्भन किया, उससे यजन किया, यह ब्राह्मण का कथन है। वे यज्ञ ही प्रधान कर्म थे। उनसे देवों ने स्वर्ग पाया। जहां पूर्वकालिक यज्ञ करानेवाले देव थे। ये देव द्युस्थानीय देवगण हैं, ऐसा नैरुक्तों का मत है।'

जैसे वर्तमान काल में भूगोल-खगोलशास्त्र के ज्ञान के लिये उनके अनेक प्रकार के चित्र बनाये जाते हैं, अथवा अतीन्द्रिय प्राचीन घटना व कथा का बोध कराने के लिये रंगमञ्च पर नाटक खेले जाते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्ड के विज्ञान को प्राप्त कराने के लिये विविध श्रौतयज्ञों के विधान प्रवृत्त हुये हैं। इसलिये श्रौतयज्ञों के विधान को ठीक प्रकार से जानकर उनके प्रकृतिभूत ब्रह्माण्ड का विज्ञान अच्छे प्रकार जाना जा सकता है।

इसी परमोपयोगी श्रौतयज्ञतत्त्व को स्पष्ट करने के लिये याज्ञिक आधान-कर्म की क्रिया को बताकर वैदिक ग्रन्थों के उद्धरणों से ही उस आधान कर्म की व्याख्या की जाती है—

अग्न्याधान के लिये प्रथमतः वेदि का निर्माण किया जाता है। वेदि

के निर्माण में यह प्रक्रिया है—यज्ञोपयोगी स्थान का निश्चय करके उस भूमि को थोड़ा खोदकर वहां प्रथम जल सींचा जाता है। तदनन्तर क्रम से वराह-विहत मृत् (=वराह से खोदी हुई मिट्टी), वल्मीक (=दीमक की बांबी)
की मिट्टी, ऊष अर्थ
बिखेर, ईटों को जोड़
अग्नि का उत्पादन क

यह अग्न्याधान
आई, उस काल से ले
उस समय तक, यह
को पार करके प्रथम
विषय संक्षेप से बता

सलिलमयी (=
परिवर्तन) हुये। इस

'स श्रान्तस्तेप
सिकतं शर्करां अश्म अयो
प्राच्छादयत्।' श०

'अर्थात्—फे
सुवर्ण, ओषधि-वनस्
ने पृथिवी को ढक

जो यहां जल
में उपयोग नहीं कि
प्रक्रियानुसार वर्णन

१—जब यह
उसका स्वरूप सलि
सलिलमेवास' (शतप
को बताने के लिये
वेदि में पहिले जलसेचन किया जाता है।

२—अग्नि के संयोग से सलिल में फेन उत्पन्न हुआ। वही मरुतों के संयोग से घना[1] होकर मृद्भाव को प्राप्त हुआ। उस समय पृथिवी स्वल्प

---

१. सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते। महा० शान्ति० १८२।१५॥ गरम दूध को ढक दिया जाये, तो मलाई नहीं जमती। इससे स्पष्ट है कि मलाई के जमने में वायु का संयोग कारण होता है।

वैदिक वाङ्मय के अनेक वार के परिशीलन से मैंने यह समझा है कि नित्यरूप से विहित अग्न्याधान से लेकर सहस्रसंवत्सरपर्यन्त साध्य (=होनेवाले) जितने श्रौतयज्ञ हैं, वे इस ब्रह्माण्ड में सर्ग से लेकर प्रलयपर्यन्त जो अतीन्द्रिय यज्ञ […] ा ज्ञापन कराने […] =प्राकृतिक तत्वों […] आधार बनाकर

[…] ।

[…]ः ।।

[…]० । ९० । १६ ।।

[…]स्क मुनि ने इस

[…]अग्निः पशुरासीत्
[…]ान्यासन् । ते ह
[…] देवा […]धनाः । द्युस्थानो

[…] अग्नि का यजन
[…]जन किया, यह
[…] ने स्वर्ग पाया ।
ज[…]स्थानीय देवगण
है[…]

[…]लये उनके अनेक
प्र[…]ना व कथा का
वे[…] ही ब्रह्माण्ड के
वि[…] प्रवृत्त हुये हैं ।
इ[…]उनके प्रकृतिभूत
ब्रह्माण्ड का विज्ञान अच्छे प्रकार जाना जा सकता है ।

इसी परमोपयोगी श्रौतयज्ञतत्त्व को स्पष्ट करने के लिये याज्ञिक आधान-कर्म की क्रिया को बताकर वैदिक ग्रन्थों के उद्धरणों से ही उस आधान कर्म की व्याख्या की जाती है—

अग्न्याधान के लिये प्रथमतः वेदि का निर्माण किया जाता है । वेदि

के निर्माण में यह प्रक्रिया है—यज्ञोपयोगी स्थान का निश्चय करके उस भूमि को थोड़ा खोदकर वहां प्रथम जल सींचा जाता है । तदनन्तर क्रम से वराह-विहत मृत् (=वराह से खोदी हुई मिट्टी), वल्मीक (=दीमक की बांबी) की मिट्टी, ऊष अर्थात् क्षारयुक्त मिट्टी, बालू, शर्करा (=रोड़ी) इनको बिखेर, ईटों को जोड़, सुवर्ण को रख, समिधाओं को रख, अरणी को घिस अग्नि का उत्पादन कर, वेदि में अग्नि का आधान किया जाता है ।

यह अग्न्याधान-प्रक्रिया, जब यह भूमि महान् अण्ड से अपनी सत्ता में आई, उस काल से लेकर जब तक पृथिवी के पृष्ठ पर अग्नि का प्रादुर्भाव हुआ उस समय तक, यह भूमि उत्तरोत्तर परिवर्तन को पाकर किन-किन अवस्थाओं को पार करके प्रथमतः अपने ऊपर अग्नि को प्रकट करने में समर्थ हुई, यह विषय संक्षेप से बताया है ।

सलिलमयी (=द्रवरूपी) भूमि में क्रमशः नव ९ सर्जन (अर्थात् विकार या परिवर्तन) हुये । इसका कथन ब्राह्मण ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

'स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत । ···स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापं ऊषं सिकतं शर्करां अश्मानं अयोहिरण्यं ओषधिवनस्पत्यसृजत । तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत् ।' श० ६।१।१।१३ ।।

'अर्थात्—फेन, सूखा द्रव्य, क्षार, बालू शर्करा (=रोड़ी), पत्थर, लोहा, सुवर्ण, ओषधि-वनस्पति ये क्रम से नव ९ सृष्ट किये गये । इन ओषधि-वनस्पतियों ने पृथिवी को ढक दिया ।'

जो यहां जल में नव ९ सृष्टि गिनाई हैं, उनमें फेनरूप सृष्टि का आधान में उपयोग नहीं किया जाता । अतः उसको छोड़कर अन्य द्रव्यों का आधान प्रक्रियानुसार वर्णन किया जाता है—

१—जब यह भूमि महदण्ड से अलग हुई और स्व सत्ता में आई, तब उसका स्वरूप सलिल=द्रवरूप था । इसलिये कहा है—'**आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास**' (शतपथ ११।१।६।१) 'अर्थात् आप ही पहले सलिलरूप थे' इस अवस्था को बताने के लिये यह वचन हुआ । भूमि की इसी अवस्था को बताने के लिये वेदि में पहिले जलसेचन किया जाता है ।

२—अग्नि के संयोग से सलिल में फेन उत्पन्न हुआ । वही मरुतों के संयोग से घना[1] होकर मृद्भाव को प्राप्त हुआ । उस समय पृथिवी स्वल्प

१. सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते । महा० शान्ति० १८२।१५ ।। गरम दूध को ढक दिया जाये, तो मलाई नहीं जमती । इससे स्पष्ट है कि मलाई के जमने में वायु का संयोग कारण होता है ।

(=थोड़ी सी) ही थी। इसीलिये कहा है—

'स (फेनः) यदोपहन्यते मृदेव भवति।' श० ६।१।३।३॥

'यावद्वै वराहस्य चषालं तावतीयमग्र आसीत्। यद्वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते।' मै० सं० १।६।३॥

इस श्रुति-बोधित अवस्था को दिखाने के लिये जल-सेचन के बाद वराह से खोदी हुई मिट्टी बिखेरी जाती है।

३—उसके बाद जब सूर्य के तेज से भूपृष्ठ ऊपरवाला मृद्द्रव्य शुष्क हो गया, तब शुष्कापोरूप सृष्टि हुई। इस अवस्था में उसके नीचे केवल जल ही था। उस अवस्था को जताने के लिये—वल्मीक की मिट्टी को बिखेर कर अग्नि का आधान किया जाता है—**'यद्वल्मीकवपामुपकीर्याग्निमाधत्ते'** (मै० सं० १।६।३)।

वल्मीक की बांबी के नीचे जल रहता है। यह निश्चित सिद्धान्त है। इसीलिये धन्ववेश (=मरु-भूमि) में जल-गवेषक वल्मीक की बांबी के स्थान पर ही प्रायः कुआं खोदना बताते हैं।

४—तत्पश्चात् सूर्य के तेज से वही शुष्काप मृद्द्रव्य ऊषत्व (=क्षारत्व) को प्राप्त हुआ। वही ऊष=क्षाररूपी सृष्टि हुई। इसलिये ऊष को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—**'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते।'** मै० सं० १।६।३॥

५—तत्पश्चात् वही ऊष=क्षार सूर्य के तेज से तप्त होकर बालू[1] बना। इसीलिये बालू को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—**'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते।'** मै० सं० १।६।३॥

६—उसके पश्चात् वही बालू सूर्य के तेज से और भीतर की ऊष्मा से शर्करा (=रोड़ी) बनी। तब वह शर्करारूप सृष्टि हुई। इसीलिये शर्करा को बिखेरकर अग्नि का आधान किया जाता है—**'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते।'** मै० सं० १।६।३॥

शर्करा की उत्पत्ति से पृथिवी में जो वैशिष्ट्य उत्पन्न हुआ, वह भी वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार दर्शाया गया है—'यह [पृथिवी] पहले शिथिल

---

१. द्र०—एष वा अग्निर्वैश्वानरो यदसावादित्यः। स यदिहासीत् तस्यैतद् भस्म यत् सिकताः। मै० सं० १।६।३॥

(=ढीली) थी। उसको प्रजापति ने शर्करा से दृढ़ किया—**'शिथिरा वा इयं (पृथिवी) अग्र आसीत्, तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत।'** मै० सं० १।६।३॥

यह पृथिवी की दृढ़ता—**'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा··'** (ऋ० १०। १२१।५) इस मन्त्र में उपदिष्ट है।

७—तत्पश्चात् वही शर्करा अन्तरूष्मा से तप्त होकर 'अश्मत्व[1] (=पत्थरभाव) को प्राप्त हुई। वही अश्मसृष्टि हुई। इसीलिये चयन में—इष्टकाएं (=ईंटें) रखने का निर्देश है—**'इष्टका उपदधाति'**। तै० सं० ५।२।८॥

नियत प्रकारवाली वेदी में सुगमता के लिये ईट का उपयोग किया जाता है। पत्थर को नियत आकार में परिणत करना कष्टसाध्य है। इसलिये पत्थर के स्थान में ईटें रखी जाती हैं।

८—पश्चात् वही पत्थर अन्दर की गर्मी से तप्त होकर लोहे से लेकर सुवर्ण तक की धातुओं को उत्पन्न करनेवाले हुये[2]। वही हिरण्यरूपा सृष्टि हुई। इसलिये (हिरण्य=सुवर्ण) रखकर अग्नि का चयन करना चाहिये—**'हिरण्यं निधाय चेतवाम्[3]।'**

९—इस तरह पृथिवी की रचना पूर्ण होने पर भी वह कछुये के पृष्ठ भाग (=पीठ) के समान विना बाल की थी। पश्चात् ओषधि वनस्पतियों का उत्पादन हुआ। ओषधि-वनस्पतियां पृथिवी के लोम थे—

'इयं वा अलोमिकेवाग्र आसीत्।' ऐ ब्रा० २४। २२॥

'ओषधिवनस्पतयो वै लोमानि।' जै० ब्रा० २।५४॥

पृथिवी की इसी अवस्था को बताने के लिये वेदी में लोम-स्थानीय समिधाएं रखी जाती हैं।

इस तरह नवमी ओषधि-वनस्पतिरूपिणी सृष्टि के पैदा होने पर वायु के वेग से वनस्पतियों की शाखाओं की रगड़ से पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथमतः अग्नि

---

१. शर्कराया अश्मानम्, तस्मात् शर्करा अश्मैव भवति। शत० ६।१।३।३॥

२. अश्मनो लोहमुत्थितम्। महा० उद्योग०॥ रसजं क्षेत्रजं चैव लोहसंकरजं तथा। त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते॥ रसार्णव तन्त्र ७। ९९॥

३. मीमांसा शाबर भाष्य १२।१८ में उद्धृत। यही अर्थ **'रुक्ममुपदधाति'** (मै० सं० ३।२।६) वचन का है।

उत्पन्न हुआ। इसीलिये आधानार्थक यजुः का पाठ है—**'तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे'** (यजुः ३।५)।

इसी तत्त्व को बताने के लिये अग्न्याधान में अरणी [दो काष्ठों] की रगड़ से ही अग्नि का उत्पादन करते हैं। अन्य साधन से अग्नि को उत्पन्न नहीं करते।

इस अग्न्याधानप्रक्रिया के विवरण से स्पष्ट होता है कि ये श्रौतयाग प्रकृति के यागों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं।

इसी प्रकार सायं-प्रातः किया जानेवाला अग्निहोत्र रात्रि-दिन का, दर्शपौर्णमास यज्ञ कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का, चातुर्मास्य याग तीन ऋतुओं का, गवामयन यज्ञ दक्षिणोत्तरायण का, ज्योतिष्टोम संवत्सर का, सहस्रसंवत्सरसाध्य यज्ञ सहस्र चतुर्युग से सीमित सृष्टिकाल का प्रतिनिधित्व करता है। इस तरह इन श्रौतयज्ञों द्वारा अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय प्राकृतिक यज्ञ या क्रिया या घटनाचित्र के समान मूर्तरूप से आंखों के सामने उपस्थापित की जाती है, अथवा समझाई जाती है। इससे इन श्रौतयज्ञों के अत्याश्चर्य-कारक परमोपयोगी प्रयोजन की व्याख्या स्पष्ट हो जाती है।

श्रौतयज्ञों को सृष्टियज्ञ के व्याख्यान वा नाटक मानने से **पशुयज्ञविषयक पशुहिंसा** की समस्या भी भली प्रकार सुलझ जाती है। जैसे—काव्य दो प्रकार के होते हैं—श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य=नाटक। श्रव्यकाव्य जो इतिहासरूप होते हैं, उनमें युद्ध आदि के प्रसङ्ग,वा उनमें शत्रु का मारना आदि यथावत् प्रस्तुत किया जाता है। परन्तु जब श्रव्यकाव्यगत ऐतिहासिक अंश दृश्य काव्य=नाटक में तथा रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है, तब वधादि हिंसाकर्म का साक्षात् निरूपण वा दर्शन नहीं कराया जाता है। बध आदि पटप्रक्षेप आदि द्वारा सूचित किये जाते हैं। यह नाटक की अपनी विद्या है। सृष्टि यज्ञ में केवल पदार्थों का सर्जन ही नहीं होता, सर्जन के साथ किन्हीं का नाश भी होता है। इनमें सर्जनात्मक देवयज्ञ कहाते हैं, और ध्वंसनात्मक आसुर यज्ञ। श्रौतसूत्र-निर्दिष्ट पशुयाग सृष्टिगत आसुर यागों के ही निदर्शक हैं। इसलिये परम कवि मनीषी स्वयम्भू के श्रव्यकाव्यरूप सृष्टिकाव्य=वेद में सर्जनात्मक देवयज्ञों का और विनाशात्मक आसुरयज्ञों का यथावत् निदर्शन है। परन्तु जब उन्हें यज्ञरूपी नाटक के रूप में यज्ञवेदिरूप रंगमञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है, तब लौकिक नाटकों के तुल्य ही उनमें साक्षात् पशुवध की क्रिया नहीं की जाती है। पर्यग्निकरण पर्यन्त कर्म करके उन्हें छोड़ दिया जाता है। इसीलिये आयुर्वेदीय चरक-संहिता में लिखा है—

'आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः । नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म । ततो दक्षयज्ञप्रवरकालं ·· पशवः प्रोक्षणमापुः ··· गवालम्भः प्रवर्तितः ···अतिसारः प्रथममुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे ।' चिकित्सास्थान १९।४ ॥

पशुयज्ञों में आरण्य और ग्राम्य दोनों प्रकार के पशु होते हैं । उनमें आरण्य पशुओं का पर्यग्निकरण के अनन्तर उत्सर्जन आज तक याज्ञिक करते चले आ रहे हैं। लिखा भी है—**कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्** । का० श्रौ० २०।८। इसी प्रकार पुराकाल में ग्राम्य पशुओं का भी उत्सर्ग होता था। यह ऊपर लिखे चरकसंहिता के वचन से स्पष्ट है ।

जब श्रौतयज्ञों की 'सृष्टि-विज्ञान' ही पृष्ठभूमि है, तब याज्ञिक-प्रक्रिया के द्वारा किये जानेवाले अर्थ भी सृष्टि-विज्ञान के प्रतिपादक ही होते हैं। **इसलिये वेदों का वैज्ञानिक अर्थ ही मुख्यार्थ है । 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'** (= जो पिण्ड में है,वही ब्रह्माण्ड में है)वचनानुसार सृष्टिविज्ञान की भी अध्यात्म में ही परिणति होती है । इसीलिये यह श्रुति प्रवृत्त हुई—**'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति'** (ऋ० १।१६४।३०) । उपनिषद् और गीता में भी कहा है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' । कठोप० २।१५ ॥

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' । गीता १५।१५ ॥

अब शेष रह जाती है वेदार्थ की एक प्रक्रिया, जो 'व्यावहारिकी' कहालाती है । उसको भी वेदार्थ में वेदज्ञ प्रमाण मानते है । भगवान् मनु ने **'सेनापत्यं च राज्यं च'** इत्यादि पूर्व कहे हुये श्लोकों से राजनीति प्रवर्तन, वर्णाश्रमधर्म, वर्तमान भूत भविष्यत् के उपयोगी विधानों की कल्पना वेदों से ही सम्भव होती है, ऐसा कहा है। इन बातों को साक्षात् सीधे तौर पर बतानेवाले मन्त्र वेदों में नहीं मिलते । इन कर्मों के विधान को बतानेवाले अर्थ वेदों के व्यावहारिक अर्थ को लेकर ही संभव हैं। वह व्यावहरिकार्थ कहीं-कहीं साक्षात् प्रयुक्त उपमाओं के द्वारा, कहीं-कहीं लुप्तोपमा द्वारा, तथा कहीं-कहीं अन्य अलंकारों द्वारा प्रकट होता है। जैसे—

'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (ऋ० १०।७१।४); **'विधवेव देवरम्'** (ऋ० १०।४०।२) ।

यहां प्रथम मन्त्र में 'पत्नी ऋतुकाल में [शुद्ध होने पर] अच्छे कपड़े पहने[1]' ऐसा द्योतित किया है । दूसरे मन्त्र में यह बताया है कि 'पति के मरने पर विधवा अपने देवर से नियोग या विवाह कर सकती है ।'

---

१. भार्या भर्त्रा शोभनवस्त्रादिभिः परितोष्या इति च । अन्यथा सुवासांसि सा कुतः सम्पादयेत् ?

ऋग्वेद के प्रथममण्डलस्थ दो उषा के सूक्तों में वाचकलुप्तोपमालंकार द्वारा 'उषा के समान स्त्रियां कौन-कौन शुभगुणों से युक्त होवें' यह वर्णन किया गया है। इस विषय में स्वामी दयानन्द कृत ऋग्भाष्य से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

उषर्वद्धितसम्पादिके—ऋग्भाष्य १।४८।१२। उषा के समान हित का सम्पादन करनेवाली।

प्रभातवद्बहुगुणयुक्ते—ऋग्भाष्य १।४८।११। प्रभात के समान बहुगुण-युक्त।

उषर्वत्कल्याणनिमित्ते—ऋग्भाष्य १।४६।१। उषा के समान कल्याण की निमित्त।

उषर्वत्पुरुषार्थनिमित्ते—ऋग्भाष्य १।४६।३। उषा के समान पुरुषार्थ की निमित्त।

इस तरह के ही सामाजिक अभिप्राय शास्त्रों में 'पारिभाषिक दर्शन' शब्द से कह जाते हैं। यथा शाबर भाष्य (१।३।२) में लिखा है—

(क) गुरुरनुगन्तव्यः, इत्यस्मिन्विषये—

"तथा च दर्शयति—'तस्माच्छ्रेयांसं पूर्वं यन्तं पापीयान् पश्चादन्वेति।' (मै० सं० ३।१।३) इति।"

गुरु का अनुगमन करना चाहिये। इस विषय में इस वचन से ज्ञात होता है कि—'उत्तम के पीछे अधम चलता है।'

(ख) प्रपा प्रवर्तितव्या तडागं[1] च खनितव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"तथा च दर्शनं—'धन्वन्निव प्रपा असि'। (तै० सं० २।५।१२) इति। तथा 'स्थल-योदकं परिगृह्णन्ति।' (तै० सं० १।६।११) इति।"

प्रपाओं (प्याऊ) का प्रवर्तन करना चाहिये, तालाब खुदवाने चाहिएं। इस विषय में—'इस मरुभूमि में प्याऊ के समान हो', तथा 'कृत्रिम ऊंची भूमि से जल का ग्रहण करते हैं' इन वचनों से उक्त अर्थ कहे जाते हैं।

(ग) शिखाकर्म कर्तव्यम्, इत्यस्मिन्विषये—"दर्शनं च—'यत्र बाणाः संपतन्ति कुमारा विशिखाइव।' (ऋ० ६।७५।१७) इति च।"

शिखा रखनी चाहिये। इस विषय है—'जहां बाण गिरते हैं, विविध शिखावाले कुमारों के समान' इस वचन से परिज्ञान होता है।

---

१. तडागोऽस्त्रीत्यमरः।

ऊपर उदाहृत वचनों के वास्तविक अर्थ तो उस-उस प्रकरण के अनुसार भिन्न-भिन्न ही हैं, परन्तु उन्हीं के द्वारा लौकिक कर्मों का भी विधान शबर स्वामी ने बताया है। इस तरह विविध अलंकारों के द्वारा वेदों के व्यावहारिक अर्थ भी किये जा सकते हैं।

वेदों के याज्ञिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक अर्थ तो बड़े सूक्ष्म हैं। उनमें सब की बुद्धि प्रवेश नहीं कर पाती। परन्तु वेदों के व्यावहारिक अर्थ से तो साधारण लोग भी वैदिक शिक्षा के अनुकूल अपने जीवन को श्रेष्ठ और सुखी बना सकते हैं। इसको जानकर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्राचीन मन्वादि ऋषियों से स्वीकृत मार्ग का आश्रय लेकर मन्त्रों का **व्यावहारिक अर्थ प्रधानता से बताया है**। इसलिये उन्होंने अपनी 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रतिज्ञा-विषय में कहा है—

'अथाऽत्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालंकारादिना सप्रमाणः संभवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते।······यत्र खलु व्यावहारिकार्थो भवति···।' ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ३६२।

'अर्थात्—जिस-जिस मन्त्र के पारमार्थिक और व्यावहारिक दो अर्थों का श्लेषादि अलंकारों से सप्रमाण संभव है, वहां-वहां उसके दो-दो अर्थ लिखेंगे। ···जहां निश्चय ही केवल व्यावहारिक अर्थ है ···।'

याज्ञिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक अर्थ प्राचीन महर्षिवर्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में जहां-तहां प्रदर्शित किये हैं। इसलिये उस तरह के अर्थ स्वामी दयानन्द ने साक्षात् नहीं किये। यह भी उन्होंने वहीं कहा है—

'परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत्कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः ? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथने-नानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तिपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।'

ऋ० भा० भू०, पृष्ठ ३६२॥

'अर्थात्—कर्मकाण्ड में विनियुक्त इन वेदमन्त्रों से अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त जो-जो कर्तव्य कर्म करना होता है, उसका यहां (=इस वेदभाष्य में) विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। क्योंकि कर्मकाण्ड के अनुष्ठान का ऐतरेय शतपथ आदि ब्राह्मण, पूर्वमीमांसा और श्रौतसूत्रादि ग्रन्थों में यथार्थ विनियोग बता दिया है। उसके पुनः कथन से अनार्ष ग्रन्थों के समान पुनरुक्ति और पिष्टपेषण दोष की प्राप्ति होती है।'

इस प्रकार वेदार्थ के विषय में कुछ कहकर, वेदों में प्रतिपादित किये गये अतीन्द्रिय, अतिसूक्ष्म सृष्टि-विज्ञान के प्रतिपादक कुछ मन्त्र उद्धृत किये जाते है।

महदण्ड = विराट् पुरुष की उत्पत्ति—परम पुरुष के सान्निध्य या ईक्षण से प्रकृति उत्तरोत्तर विपरिमाण को प्राप्त होकर भूतोत्पत्त्यनन्तर अण्डभाव[1] को प्राप्त हुई। मन्त्रों में यह अण्ड ही 'गर्भ' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। इस अण्डोत्पत्ति-विषयक अनेक मन्त्र वेदों में मिलते हैं। परन्तु यहां दो ही मन्त्र उदाहृत किये जाते हैं—

'तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवा समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वा भुवनानि तस्थुः॥
ऋ० १०।८२।६॥

'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥
ऋ० १०।१२१।१॥

इन मन्त्रों में स्मृत क-अज-हिरण्यगर्भ शब्दों से सर्ग के आरम्भ में उत्पन्न होनेवाला महद् अण्ड कहा जाता है। वही आदिदेव-प्रजापति-सहस्रशीर्ष-पुरुष आदि पदों से स्मृत है। इस विषय में वायुपुराण के सृष्टि-प्रकरण के 'प्रकृति-क्षोभण' नामक पञ्चमाध्याय का चालीसवां श्लोक द्रष्टव्य है—

'आदित्वाच्चादिदेवोऽसावजातत्वादजः स्मृतः।
पाति यस्मात्प्रजाः सर्वाः प्रजापतिरतः स्मृतः॥'

अर्थात्—प्रकृति का आदि = प्रथम विकार होने से 'आदिदेव', प्रकृतिरूप से अनादि होने से 'अज', और सब प्रजाओं (= अपने अन्तर्गत निष्पन्न होने-वाले सब लोकों) का पालक होने से 'प्रजापति' कहा जाता है।

इस अण्ड की उत्पत्ति आप (= जलतत्त्व) में अग्नि के प्रवेश से होती है। यह भी मन्त्र स्पष्ट कहता है—

---

१. समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में इस प्रकार के संख्यातीत अण्ड उत्पन्न होते हैं विष्णु पुराण में कहा है—

अण्डानां तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।
ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटिशतानि च॥ वि० पु० २।६।२७॥

वायुपुराण में भी—अण्डानामीदृशानां तु कोटचो ज्ञेयाः सहस्रशः।
१५१।४९॥

'अग्नि या गर्भं दधिरे विश्वरूपास्ता न आपः शंस्योना भवन्तु ।'
तै० सं० ५।६।१ ॥

'अर्थात्—जिन विश्वरूप धारण करनेवाले आपों ने अग्नि को गर्भ में धारण किया, वे सुखकारक होवें ।'

इस विषय में वायुपुराण का निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य है—

'पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च अव्यक्तानुग्रहेण च ।
महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै ।।' ४।७४ ।।

'अर्थात्—पुरुष=परब्रह्म से अधिष्ठित होने से, तथा अव्यक्त=प्रकृति के अनुग्रह से 'महत्' से लेकर 'विशेष'=पञ्चतन्मात्रा पर्यन्त=विकार अण्ड को उत्पन्न करते हैं ।'

जब उस अण्ड में पृथिव्यादि लोक पूर्णता को प्राप्त होते हैं, तब वह अण्ड अन्तरूष्मा के कारण तप्त होकर स्वर्ण समान हो जाता है । यही मनुजी ने कहा है—**'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।' १।९ ।।**

उस अवस्था को प्राप्त हुआ वह अण्डरूप गर्भ हिरण्याण्ड वा हिरण्यगर्भ शब्द से व्यवहृत होता है । उसी का वर्णन पूर्व उद्धृत **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे०'** मन्त्र में मिलता है ।

पूर्णता को प्राप्त हुआ वह अण्ड कालान्तर में जबफूटा, उस समय द्यावापृथिवी दोनों अत्यन्त समीप में वर्तमान थे । इसी का कथन निम्न मन्त्र में किया है—

'जामी सयोनी मिथुना समोकसा ।' ऋ० १।१५९।४ ।।

इस मन्त्र में **'जामी'** इस विशेषण से द्यावापृथिवी की सहोत्पत्ति प्रकट होती है । **'सयोनी'** पद से महदण्डरूप के एकयोनित्व, **'मिथुना** शब्द से परस्पर सहभाव, और **'समोकसा'** पद से समान-निवासस्थान प्रकट होता है ।

इसी मन्त्रगत 'समोकसा' पद का ब्राह्मणग्रन्थों में निम्न प्रकार व्याख्यान मिलता है—

'द्यावापृथिवी सहास्ताम् ।' तै० सं० ५।२।३; तै० ब्रा० १।१३।२ ।।
'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः ।' शत० ७।१।२।२३ ।।

'अर्थात्—उस समय द्यौ और पृथिवी दोनों लोक साथ-साथ थे ;'
कालान्तर में ये समान-निवास-स्थानवाले (द्यावापृथिवी) अलग हुये ।

उनकी पृथक्ता वा दूरी सूर्य के आकाश में चढ़ने से हुई। इसका वर्णन इस मन्त्र में किया है—**'अग्न आयाहि वीतये।'** साम० पू० १।१।१ ॥

इस मन्त्र की शतपथ में ऐसी व्याख्या की गई है—

'अग्न आयाहि वीतये इति। तद्वेति भवति वीतय इति समन्तकमिव ह वा इमे अग्रे लोका आसुरिति उन्मृश्या हैव द्यौरास इति।' श० १।४।१।७ ॥

'अर्थात्—हे अग्ने! आओ [द्यावापृथिवी को] दूर करने के लिये। 'वीतये' से दूर होना अर्थ कहा है। आरम्भ (=उत्पत्तिकाल) में ये लोक समीप थे। द्युलोक छूने योग्य था।'

इस मन्त्र में द्यावापृथिवी का दूर होना अग्नि के कारण हुआ है, ऐसा प्रतिपादन किया है। साथ-साथ वर्तमान द्यौ और पृथिवी इन दोनों का अलग होना—**'इमौ लोकौ सह सन्तौ व्यैताम्'** इस ब्राह्मणग्रन्थ के वचन से भी विदित होता है।

सूर्य के द्यु अर्थात् आकाश में चढ़ने का वर्णन अनेक मन्त्रों में मिलता है। जैसे—**'इन्द्रो दीर्घाय चक्षसे आसूर्यं रोहयद् दिवि।'** ऋ० १।७।२ ॥

'अर्थात्—इन्द्र ने विस्तृत प्रकाश के लिये सूर्य को द्युलोक में स्थानान्तरित किया।'

सूर्य और पृथिवी के दूर होने पर मध्य में अन्तरिक्ष बढ़ा। जैसा कि निम्न मन्त्र इसी तत्त्व का कथन करता है—

'यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः॥' ऋ० ३।२२।२॥

'अर्थात्—हे अग्ने! जो तुम्हारा द्युलोक में तेज है, और जो ओषधियों वा जलों में यजनीय अंश है, जिससे यह अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ है, वह प्रकाश-रूप अर्णव (=समुद्र) प्राणियों की दृष्टि को देनेवाला है।'

द्यावापृथिवी के अलग होने से अन्तरिक्ष का प्रादुर्भाव होना ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वर्णित है—

'सह हैवेमावग्रे लोकावासतुः। तयोर्वियतयोरन्तरेणाकाश आसीत्, तदन्तरिक्षमभवत्।' श० ७।१।२।२३ ॥

'अर्थात्—ये द्यु और पृथिवी लोक पहले साथ-साथ थे। उनके दूर-दूर होने पर जो मध्य में आकाश था, वही अन्तरिक्ष हुआ।'

अग्नि के कर्म से द्यावापृथिवी अलग हो गये। उनके अलग होने से

अन्तरिक्ष विस्तृत हुआ। इसीलिये उक्त मन्त्र में कहा है कि **'येना (अग्निना) न्तरिक्षमुर्वाततन्थ'** (ऋ० ३।२२।२)।

द्यावापृथिवी के अलग होने में, 'सूर्य के दिव्यारोहण में, तथा अन्तरिक्ष के विस्तार में अन्य देवता भी सहायक हुये। इसलिये वेदों में अन्य देवताओं के भी ये कर्मत्रय कहे गये हैं।

मरुतों की किरणें—पृथिवी से लेकर द्यु पर्यन्त मरुतों का स्थान है। वे ४९ (=उंचास) संख्यावाले हैं। वे सात परिवहों (सात घेरों) में विभक्त हैं। एक-एक गण में सात-सात संख्या में रहते हैं। इसलिये शतपथ में कहा गया है—**"सप्तसप्त हि मारुतां गणाः"** (श० ९।३।१।२५)। उनमें एक गण **'मरीचि** नाम का है। उन मरीचि नाम के मरुतों के किरणें भी होती हैं। इसीलिये वेदों में अनेक स्थलों पर मरुतों का **'रुक्मवक्षसः'** ऐसा विशेषण पाया जाता है। उनकी किरणों की सूर्य-रश्मियों के साथ उपमा की जाती है—**'विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः'** (ऋ० ५।५५।३)। उत्तर मन्त्र में सूर्य के समान ही मरुतों की चक्षण=दर्शनक्रिया कही गई है। जैसे—**'आभूषेण्यं वो मरुतो महित्वनं दिदृक्षेण्यं सूर्यस्येव चक्षणम्'** (ऋ० ५।५५।४)। यजुर्वेद में **'वायुरसि तिग्मतेजाः'** (१।२४) ऐसा पाठ है। शतपथ में इसकी व्याख्या में—**'एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यदयं पवते'** (१।२।४।७) 'यह तेजों में अधिक तेजवाला है, जो वायु वहता है' ऐसा कहा है। इस वैदिक तत्त्व का निदर्शन ही गीता के **'मरीचिर्मरुतामस्मि'** १०।२१ (='मरीचियों=रश्मियों में मैं मरुतों की मरीचि हूं') वचन कहा गया है।

सहस्ररश्मि सूर्य—सूर्य में जो किरणें हैं, वे सहस्र प्रकार की हैं। सूर्य-रश्मियों का सहस्रविधत्व ऋग्वेद में कहा गया है—**'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश'** (६।४७।१८)। वैसे ही ब्राह्मण भी कहता है—**'सहस्रं हैत आदित्यस्य रश्मयः'** (जै० उप० ब्रा० १।४४।५)। महाभारत में भी कहा है—**'यस्य रश्मिसहस्रेषु'** (शान्ति० ३७२।३)। पुराणों में इन सहस्र रश्मियों का विस्तार से वर्णन मिलता है। (देखें—वायुराण ५३।१९-२३; मत्स्यपुराण १२८।१८-२२)।

ये ही सहस्रविध किरणें स्थूल रूप से सात विभागों में विभक्त की जाती

---

१. सम्भवतः छठे परिवह के मरुत् मरीचि नामवाले हैं। उनके सान्निध्य से नीचे ऊपर के पञ्चम और सप्तम परिवह में रहनेवाले मरुतों का भी वेद में 'रुक्मवक्षसः विशेषण मिलता है।

हैं। इसीलिये सूर्य **'सप्तरश्मि'** **'सप्ताश्व'** आदि नाम से व्यवहृत होता है।

आदित्य-मण्डल में कालापन—आदित्य मण्डल के मध्य भाग में कालापन या कलङ्क हैं। इसीलिये वेदों में आदित्य को बहुधा **"कृष्ण"** शब्द से स्मरण किया गया है। जैसे—**'कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदन्'** (ऋ० १।७९।२)। यहां 'कृष्ण' पद से आदित्यरूप अग्नि का निर्देश है। और **'आ कृष्ण ईं जुहुराणो जिघर्ति'** (ऋ० ४।१७।१४) इत्यादि में आदित्यरूप इन्द्र। इसीलिये जैमिनि ब्राह्मण में कहा है—

'असावेव संवत्सरो योऽसौ तपति। तस्य यद् भाति तत् संवत्, यन्मध्ये कृष्णं मण्डलं तत्सर इत्यधिदैवतम् इति।' जै० ब्रा० २।२८॥

"अर्थात्—जो यह तपता है, वह संवत्सर है। उसका जो प्रकाश करने-वाला भाग है वह 'संवत्' है। और जो 'कृष्ण' भाग है वह 'सर' है।"

ये काले धब्बे या कलङ्क सदा गतिशील रहते हैं, एक जगह स्थिर नहीं रहते। इसीलिये इनको[1] **'सर'** नाम से पुकारा गया है।

ये ही आदित्य-मण्डल में रहनेवाले काले कलङ्क चलते रहने से ही **'सर्प'** कहलाते हैं। 'सर्पण' का अर्थ भी चलना है। आदित्य-मण्डल में सर्पों की सत्ता—**'ये वामी रोचने दिवो……तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः'**(यजु० १३।८)इस मन्त्र में कही है। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थ भी कहता है—**'सर्प्या वा आदित्याः'** (तां० ब्रा० २५।१५।४)। कहीं-कहीं **'सर्पा वा आदित्याः'** ऐसा पाठ भी है। अन्यत्र भी कहा है—

'फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम्।
वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना'॥[2]

'अर्थात्—व्योम=आकाश में विरचण करनेवाले नागों के फूत्कार के विष से वर्षा में बरसनेवाला दिव्य जल भी अश्वि नक्षत्र के योग (=आश्विन मास) के विना विषयुक्त होता है, अर्थात् आश्विन मास का जल शुद्ध होता है, इसे गङ्गाजल भी कहते हैं।'

पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अभी-अभी सूर्य-मण्डल में रहनेवाले कालेपन को जाना है। वैदिक विद्वान् तो वेदों द्वारा इस सिद्धान्त को आदि काल से ही जानते हैं। इसलिये कहा गया है कि सब तरह के अतीन्द्रिय ज्ञान को बोध

---

१. सरन्तीति सराः। पचाद्यच्।

२. शब्दचिन्तामणिकोषः (भा० १, पृ० ७९९) में गाङ्ग शब्द पर उद्धृत पद्य।

कराने के कारण ही वेदों का वेदत्व है। जैसा कि सायण ने अपने तै० सं० भाष्य के उपोद्घात में कहा है—

'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥'[1]

'अर्थात्—प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जो [आध्यात्मिक वा आधिदैविक अतीन्द्रिय रूप] अर्थ नहीं जाना जाता है, वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।'

इस तरह वेद-ज्ञान का महत्त्व और उसके वैभव को बताकर, अब हम वेदों के प्रचार-प्रसार के कुछ उपाय बताते हैं—

वेदों के पुन: प्रसारण के उपायों पर विचार करने से पहिले यह जानना चाहिये कि इसका क्या कारण है कि परम विद्याओं की खान होते हुये भी वेदों का प्रसार उत्तरोत्तर कम होता जा रहा है? रोग के निदान के बिना चिकित्सा नहीं होती। इसलिये वेद-प्रसार का ह्रास क्यों हुआ, यह जानना आवश्यक है। इन कारणों में कुछ कारण भारतीय परम्परा-जन्य हैं, और कुछ पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्पादित हैं। उनमें भारतीय परम्पराजन्य कारण ये हैं—

प्रथम—वेदाध्ययन केवल अदृष्ट के लिये है, न कि किसी दृष्ट फल को प्राप्त करने के लिये।

इस मत का प्रसार होने से **'मन्त्र अनर्थक हैं'**[2] इस मत का प्रादुर्भाव हुआ। इससे जो वेदों का मानव-जीवन के साथ साक्षात् सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से वेदाध्ययन को अनर्थक मानकर लोगों ने वेद का पठन-पाठन छोड़ दिया।

द्वितीय—वेद केवल यज्ञों के लिये प्रवृत्त हुये हैं। उनके अतिरिक्त वेदों का और कोई प्रयोजन नहीं है।

इस मत के प्रादुर्भाव से वेदों के आधिदैविक आध्यात्मिक अर्थों के साथ विज्ञान का जो साक्षात् सम्बन्ध था, वह नष्ट हो गया। उसके नाश से

---

१. सायणाशार्यकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्य के उपोद्घात में उद्धृत श्लोक।

२. द्र० यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनायानर्थकं भवतीति कौत्स:, अनर्थका हि मन्त्रा इति। निरुक्त (१।१५), पूर्वमीमांसा (१।२।३१-३९) में इस मत को उपस्थित करके प्रौढ युक्तियों से इस मत का खण्डन किया है।

निष्प्रयोजनभाव को प्राप्त हुये वेदाध्ययन को 'प्रयोजन के बिना मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता' इस न्याय के अनुसार लोगों ने छोड़ दिया।

तीसरा—यज्ञ भी केवल अदृष्ट के लिये है, उसका अन्य कोई लौकिक फल नहीं है।

इस मत के प्रसार से वेद का 'सृष्टि-विज्ञान का ज्ञापन करना' रूप मुख्य प्रयोजन छूट गया। और आजकल के श्रद्धारहित, केवल तर्कप्रधान लोगों ने उनसे विमुख होकर यज्ञों को छोड़ दिया। यज्ञकर्मों के लोप से ब्राह्मणवृत्ति का नाश, उसके नाश से वेदाध्ययन की प्रवृत्ति भी संकुचित हो गई।

चौथा—स्त्रियों और शूद्रों को वेदों के सुनने का भी अधिकार नहीं,[1] तो फिर उनके अध्ययन की तो क्या कथा ?

स्त्रियों के लिये वेदाध्ययन का प्रतिषेध करने से पत्नियां वेदज्ञान-रहित हो गईं। उनके वैदिक-ज्ञानरूप संस्कार के अभाव से वे अज्ञान आवृत्त हो गईं। इससे उनकी सन्तान भी वैदिक संस्कार से रहित हो गई। इससे कुल नष्ट हो गये। शूद्रों के वेदों के श्रवणाधिकार को छीन लेने से वे भी वैदिक-संस्कारों से रहित होकर आर्य होते हुये भी अनार्य बन गये। इस प्रकार मानव-संख्या का स्त्रीरूप अर्धभाग तथा शूद्ररूप अन्य अर्ध भाग अर्थात् कुल मानव संख्या में ३/४ भाग ने वैदिक संस्कारराहित्य के कारण अनार्यत्व को प्राप्त कर लिया। भगवान् मनु ने चेतावनी दी थी—

'कुविवाहैः क्रियालोपैर्वेदाऽनध्ययनेन च।
कुलान्यकुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च॥ ३।६३॥

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥' १०।४३॥

'अर्थात्—कुत्सित विवाहों, वर्णाश्रम की क्रिया के लोप, वेद के अनध्ययन, और ब्राह्मणों=वेदविद् विद्वानों के निरादर से कुल नष्ट हो जाते हैं। धीरे-धीरे क्रियालोप से और वेदविद् ब्राह्मणों के अदर्शन से ये अंग बंग कलिङ्ग क्षत्रिय जातियां वृषल बन गईं।

जब क्षत्रिय जाति ने भी वेदों के अनध्ययन से, और वैदिक क्रिया के लोप

---

१. अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणं, वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदः, धारणे शरीरभेद इति (वेदान्त-शाङ्कर-भाष्ये १।३।३८)। स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम् इति च।

से वृषलत्व (शूद्रत्व) प्राप्त कर लिया, तब स्त्रियों की तो क्या ही कथा, जहां अज्ञान का ही एकछत्र साम्राज्य है।

पांचवां—पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से तपोनिष्ठ ज्ञानी ब्राह्मणों की उपेक्षा तथा अनादर।

जगत् में यह साधारण नियम है कि 'समाज में जिस तरह के मनुष्य की पूजा होती है, उसी तरह का सब लोग अपने आपको बनाने में प्रवृत्त होते हैं'। इसलिये पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से पाश्चात्य भाव वा भाषा में दीक्षित धनी अनार्यों के प्रति सम्मान की भावनाओं के उदय होने से ब्राह्मण भी 'आंग्ल भाषाध्ययन से किसी न किसी तरह धनोपार्जन ही हमारे लिये श्रेयस्कर है ऐसा मानकर कुल-परम्परागत वेदाध्ययन को छोड़ बैठे।

अब पाश्चात्य विद्वानों द्वारा उत्पादित कारणों को, जिनसे वेद के प्रसार में विशेष ह्रास हुआ, प्रस्तुत करते हैं—

प्रथम—अनेक ईसाईमत पक्षपाती मैक्समूलर प्रभृति विद्वानों द्वारा अनुसंधान के बहाने से वैदिक वाङ्मय के विषय में कल्पित अनर्गल प्रलापों के द्वारा उसकी निन्दा और उसके विषय में अश्रद्धा उत्पन्न करना।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृतभाषा और वैदिक वाङ्मय के विषय में किस भाव को मन में रखकर प्रयत्न किया, इस विषय को स्पष्ट करने के लिये उनके कुछ वचनों को प्रस्तुत करते हैं। पहिले प्रसिद्ध तथा वैदिक वाङ्मय में विशेष परिश्रम करनेवाले मैक्समूलर के वचन देखिये—

(क) 'वैदिक सूक्तों की एक बड़ी संख्या ऐसी है, जो छोटे बच्चों की बात के समान मूर्खतापूर्ण हैं। अनेक जटिल, अधम और साधारण हैं[1]।'

(ख) 'मेरा अनुवाद, मेरा (सायणभाष्य सहित ऋग्वेद का) संस्करण उत्तरकाल में भारत के भाग्य के विधान में अत्यन्त प्रभावशाली होगा। क्योंकि यह (=ऋग्वेद) उनके धर्म का मूल है। मैं निश्चय से यह अनुभव करता हूं कि भारतीय धर्म का यह मूल कैसा है, इसका बताना गत तीन सहस्र वर्षों से पैदा हुये प्रभावों को समूल उखाड़ देने में प्रधान उपाय है[2]।'

(ग) "संसार के सब धर्मों में 'नई प्रतिज्ञा' (ईसाप्रोक्त बाईबल) ग्रन्थ ही उत्कृष्ट है। उसके बाद आता है कुरान नामक ग्रन्थ, यह तो आचार-शिक्षा

---

१. मैक्समूलर का भाषण संख्या ४, सन् १८८२।
२. मैक्समूलर का स्वपत्नी को लिखे (सन् १८६६) पत्र का अंश।

में 'नई प्रतिज्ञा' का रूपान्तर ही है। उसके बाद आती है 'प्राचीन प्रतिज्ञा' (=यहूदी बाईबल), दाक्षिणात्य बौद्ध पिटक, वेद और अवेस्ता ग्रन्थ।''[1]

(घ) मैक्समूलर के वैदिक वाङ्मय के कार्य को उनके मित्र किस दृष्टि से देखते थे, उसको बताने के लिये मैक्समूलर के ई० बी० पुसे नाम के मित्र ने जो पत्र मैक्समूलर को लिखा था, उस का निम्न वचन देखने योग्य है—

'आपका यह (वेदविषक) कार्य भारतीयों को ईसाई मतानुयायी बनाने के लिये क्रियमाण प्रयत्नों में नवयुग का प्रवर्तक होगा।'

(ङ) अलबर्ट वेबर नामक प्राध्यापक ने लिखा—'कृष्ण का मत, जो संपूर्ण महाभारत में व्याप्त है, वह देखने योग्य है। वह ईसाई मत की कथाओं और अन्य पाश्चात्य मत के प्रभाव को स्थापित करता है। अर्थात् कृष्ण के मत पर ईसाई मत की कहानियों तथा अन्य पाश्चात्य मत का प्रभाव दिखाई देता है।'[2]

(च) इसीलिये ईसाईमत पक्षपाती विद्वान् लोग 'महाभारत ग्रन्थ ईसा के बहुत पश्चात् लिखा गया' ऐसा लिखते हैं।

(छ) मोनियर विलियम्स नामक प्राध्यापक, जिसने संस्कृतआंग्ल-भाषा का बृहद् कोश बनाया है, वह स्वकोश-रचना का प्रयोजन बताते हुये उसके उपोद्घात में लिखता है—

'यह जो संस्कृतांग्लभाषा-कोश के निर्माण का कार्य, तथा संस्कृत ग्रन्थों का अनुवादकार्य बौडन ट्रस्ट द्वारा संपादित किया जाता है, वह भारतीयों को ईसाई मत में दीक्षित करने के लिये प्रवृत्त हुये हमारे देशवासियों की सहायता के लिये किया जा रहा है।'

जब पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा किये कार्यों की ऐसी स्थिति है, तो कौन मूर्ख अनुसन्धानव्याज से किये गये मैक्समूलर आदि के कार्यों में विश्वास करेगा ?

द्वितीय—भाषाविज्ञान के बहाने दैवी भाषा तथा वैदिकवाङ्मय पर भीषण प्रहार करना।

पाश्चात्य विद्वानों ने कई भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके 'भाषा-

---

१. यह अंश मैक्समूलर ने स्वपुत्र को भेजे पत्र में लिखा है।

२. द्र०—संस्कृतसाहित्य का इतिहास (सुलभ संस्करण, सन् १९१४) पृष्ठ १८९ टिप्पणी।

विज्ञान' नामक एक नये मत का आविष्कार किया। यद्यपि वह अत्यन्त दोष पूर्ण है, तथापि उसके आश्रय को लेकर सर्व-भाषा-जननी दैवी भाषा को उसके गौरवमय स्थान से पदच्युत करके के लिये 'भारोपीय भाषा' (Indo Europeon language) नामक एक नई भाषा की कल्पना की। उसके असिद्ध होने अर्थात् उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण न होने पर भी उसे वर्तमान भारोपीय भाषाओं की जननी मानकर ग्रीक लैटिन भाषाओं के समान उस'कल्पित भाषा की पौत्री स्थानी दैवी वाक् है', ऐसे मत की घोषणा की है।

इतना ही नहीं—जैसे सामान्य मूर्ख लोग अज्ञान से वर्णों के ठीक-ठीक उच्चारण में सामर्थ्य न रखने के कारण शिष्टव्यवहृत शब्दों में वर्ण-लोप-आगम-विकार-विपर्यय आदि करते हैं, और कालान्तर में वही अपशब्दराशि भाषाभाव को प्राप्त हो जाती है, इसी प्रकार दैवी वाक् भी किसी पुरातन भाषा से विकृत होकर बनी है, ऐसा कहते हैं।

कुछ अन्य लोग कहते हैं कि पुरानी किसी प्राकृत भाषा का ही संस्कार करके ब्राह्मण लोगों ने इस देववाणी (संस्कृत-भाषा) की रचना की है। अध्यापक रैप्सन कहता है—

'भारतीय आर्यों का लिखा हुआ वृत्तात्त उन साहित्यिक भाषाओं में सुरक्षित है, जो व्यावहारिक भाषाओं से विकसित हो चुकी थीं।

तृतीय—डार्विन प्रतिपादित विकासवाद के अनुसार सत्य भारतीय इतिहास का खण्डन करना वा उसे तोड़ना-मोड़ना।

जितना भारतीय इतिहास प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह सब एक मत से प्रतिपादन करता है कि—'सृष्टि के आदि में मानव परम ज्ञानी व अनेकविध शक्तियों से सम्पन्न थे, धर्म सत्त्व से युक्त और अत्यन्त दीर्घायु थे। उत्तरोत्तर ज्ञान शक्ति आयु में ह्रास होने लगा। लोग रजोगुण और तमोगुण से युक्त हो गये।' इसके विपरीत विकासवाद मत यह कहता है कि मनुष्य आदि काल में पशुओं के समान जंगल में रहनेवाले, मांसाहारी और अज्ञानी थे। उत्तरोत्तर वे विकास को प्राप्त हो कर सभ्य बन गये। इतना ही नहीं मनुष्यों के पूर्वज वनमानुष थे, उनके पूर्वज बन्दर, उनके पूर्वज और कोई। इस तरह से सब प्राणी 'अमीधा' नामक प्राणी से उत्तरोत्तर विकसित होकर बने।' इस मत का आश्रय लेकर ही पाश्चात्य विद्वान् वेदों को साधारण लोगों=गडरियों के गीत बताते हैं।

---

१. कोम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, अ० २, पृष्ठ ५६-५७।

ये ही पाश्चात्य विकृत मत हमारे विश्वविद्यालयों में आज भी पढ़ाये जाते हैं। इस कारण विश्वविद्यालयों में पढ़े हुये लोगों को वैदिक वाङ्मय में न केवल अश्रद्धा उत्पन्न होती है, अपितु वे ही कालान्तर में अनुसन्धान कार्य करते हुये वैदिक वाङ्मय के विषय में पाश्चात्य विद्वानों से भी हीनतर मतों को व्यक्त करते हैं। इसको बताने के लिये हम दो भारतीय विद्वानों का यास्क-निर्वचन-सम्बन्धी मत उपस्थित करते हैं—

(क) राजवाडे इस उपनाम से प्रसिद्ध काशीनाथ लिखते हैं—"निरुक्त की निर्वचन पद्धति ऐसी है कि उसे न विज्ञान कह सकते हैं, और न विद्या-स्थान —…। निरुक्त विज्ञान नहीं है, अपितु विज्ञान का उपहास है।…निरुक्त का निर्वचन प्रकार केवल भ्रम है, अथवा मानव-मस्तिष्क का व्यर्थ प्रयोग है।……मैं साहसपूर्वक कह सकता हूं कि निरुक्त की निर्वचन-पद्धति अयुक्त (=मूर्खतापूर्ण) है। फिर भी वह आज तक वेदाङ्गत्व स्थान को प्राप्त है। ··निरुक्त में बहुसंख्यक निर्वचन मूर्खता-पूर्ण हैं, क्योंकि वे अशुद्ध सिद्धान्त पर आाश्रित हैं। ·· ···इस सिद्धान्ताश्रय के कारण अनेक निर्वचन काल्पनिक हैं। शुद्ध निर्वचन तो बहुत ही अल्पसंख्यक है।"[1]

(ख) एक भाषाशास्त्री के रूप में ख्याति को प्राप्त हुये सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं—

"इससे ज्ञात होता है कि यास्क का निर्वचनप्रदर्शनोत्साह पागलपन की सीमा को प्राप्त हो चुका है।"[2]

"यास्क निर्वचनशास्त्र का उल्लङ्घनकर्ता था। उसके निर्वचन के पागलपन ने उसकी कल्पनाशक्ति को नष्ट कर दिया था। उसकी कल्पना की दरिद्रता विलक्षण है। इस गम्भीर दोष से वह न केवल व्यर्थ, शिथिल, सार-हीन, अयुक्त निर्वचन ही करता है, अपितु यह भी विदित होता है कि वह इसको भी नहीं जानता था कि 'लक्षणादि से भी किन्हीं शब्दों के अर्थों का विस्तार होता है।' इसलिये उसने लाक्षणिक अर्थों के द्योतन के लिये भी पृथक् निर्वचन किये है।"[3]

इन उद्धरणों से अत्यन्त विस्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विद्वान् ईसाई मत के पक्षपात से अनुसन्धान के बहाने वैदिकवाङ्मय के विषय में जो

---

१. द्र०—'काशीनाथ राजवाडे' द्वारा सम्पादित निरुक्त (पूनानगरस्थ भण्डारकर प्राच्यविद्यानुसंधानसंस्थान से प्रकाशित) भूमिका, पृष्ठ ४०-४३।

२. इटिमोलोजी आफ यास्क, पृष्ठ ३। ३. वही ग्रन्थ, पृष्ठ ८।

प्रलाप कर गये, उसी के अध्ययन से भारतीय विद्वान् कैसी विचित्र मानसिक दासता को प्राप्त हो गये। ये विश्वविद्यालयों में पढ़े हुये विद्वान् पाश्चात्य आखों से ही वैदिक वाङ्मय को देखते हैं, इनकी अपनी आंख नहीं है। इसलिये ऋग्वेद में सत्य ही कहा है—**'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः'**(ऋ० १।१६४।१६)।

इस तरह वेद-प्रचार के ह्रास के कारणों को बताकर, उनके प्रतिकार के लिये कतिपय उपाय बताते हैं—

(१) वेदों की वैदिकवाङ्मय के प्रमाणों से ऐसी वैज्ञानिकी व्याख्या की जाये, जिससे आधुनिक तर्कप्रधान लोग वेदों में श्रद्धावान् होवें, और उसके अध्ययन में प्रवृत्त होवें।

(२) यज्ञों की भी ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या करनी चाहिये, जिससे वैदिक कर्मकाण्ड के विषय में पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षित सभी प्रकार के लोगों के हृदयों में विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो। यज्ञों के प्रचार से वेदाध्ययन में प्रगति होना निश्चित है।

(३) वेदों के अध्ययन और श्रवण का सब को अधिकार हो (जो वस्तुतः अधिकारी नहीं है, वह स्वयं ही उसके अध्ययन से दूर रहता है)।

इस विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत **'वेदाध्ययन में सब को अधिकार है'** अत्यन्त प्रामाणिक है। इसीलिये वेदाधिकारनिरूपण प्रसङ्ग में श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने भी लिखा है—

"शूद्र के वेदाधिकार में साक्षात् वेदवचन भी स्वामी दयानन्द ने प्रदर्शित किया है—**'यथेमां वाचं०'** (वा० सं० २३।२) इत्यादि।"[1]

उक्त मत के अनुसार यदि शूद्रों और अतिशूद्रों को भी वेदज्ञान में अधिकार है, तो स्त्रियों ने क्या अपराध किया? द्विजपत्नी होने के कारण उनको वेदों के अध्ययन का अधिकार प्राप्त ही है। गार्गी, मैत्रेयी, वाचक्नवी आदि अनेक ब्रह्मवादिनी हो चुकी हैं, ये ब्रह्मवादिनियां वैदिक ग्रन्थों में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

"पूर्व काल में स्त्रियों का उपनयन संस्कार होता था, और वे गुरुजनों से वेदों का विधिवत् अध्ययन भी करती थीं। यथा—

'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्ययनं च वेदानां भिक्षाचर्यं तथैव च॥'[2]

---

१. ऐतरेयालोचन, पृष्ठ ७।

२. यह श्लोक निर्णयसिन्धु के तृतीयपरिच्छेद में 'इति यमोक्तेः' लिखकर उद्धृत किया है।

स्त्रियों के उपनयन में मन्त्रप्रमाण भी है—**'भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता'** (ऋ० १०।१०९।४)।

शूद्र कुलोत्पन्न मातङ्गादि अनेक ऋषियों की ब्राह्मणत्व प्राप्ति इतिहास-ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। ब्राह्मणत्व-प्राप्ति वेदज्ञान के विना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। इसलिये वेदाध्ययन से किसी को भी बलात् रोकना ठीक नहीं है। तभी **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** (ऋ० ९।६३।५) इस मन्त्रानुसार सारे विश्व को वैदिक धर्मानुयायी बनाने में हम समर्थ हो सकते हैं। वेद का समस्त भूमण्डल में प्रसार हो,इस आकांक्षा से स्वामी दयानन्द ने सरस्वती आर्यसमाज का तीसरा नियम बनाया—

'वेद सब सत्य विद्याओं का [आकर] ग्रन्थ हैं। वेदों का पढ़ना-पढाना सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।'

अहो ! दुःख की बात है ! वेद तथा वैदिक मत के प्रसार के लिये जिन्होंने स्व-जीवन का भी उत्सर्ग किया,ऐसे स्वामी दयानन्द के द्वारा जो आर्य-समाज प्रवर्तित हुआ, वही अपने आचार्य की आज्ञा की उपेक्षा करके अपने परमधर्म, जो कि वेदाध्ययन है, उससे अब पराङ् मुख हो गया है। इसलिये **'को वेदानुद्धरिष्यति'** वेदों का कौन उद्धार करेगा ? यह प्रश्न अब विशेष रूप से उपस्थित है।

(४) पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ऐसाई मत के पक्षपात से अनुसन्धान के बहाने वैदिक वाङ्मय की निन्दा करनेवाले जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनको विश्वविद्यालयों में पढ़ाना जिस प्रकार सर्वथा बन्द हो जाये, उस प्रकार का विशेष प्रयत्न करना चाहिये। जिससे वहां अध्ययन करनेवाले भावी विद्वान् वेदनिन्दक तथा वेदों की उपेक्षा करनेवाले न बनें।

(५) पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा लिखे गये भाषाविज्ञान, वैदिक देव-शास्त्र, वैज्ञानिक इतिहासादि विषयों और विकासवाद को दृष्टि में रखकर भारतीय भाषा-संस्कृति-साहित्य-इतिहास-इत्यादि विषयों में पाश्चात्य विद्वानों वा उनके अनुयायी भारतीयों ने जो अन्यथा प्रलाप किया है, उसके प्रचार के निरोध के लिये अपनी भारतीय दृष्टि से भाषा-विज्ञानादि। विषयक ग्रन्थ निर्माण करने चाहियें। और पाश्चात्य मतों की प्रौढ आलोचना एवं उनका खण्डन करना चाहिये।

(६) वेदों तथा वैदिक वाङ्मय के प्रचार के लिये प्राचीन ग्रन्थों को छपवाने के लिये ऐसे उपाय किये जायें, जिनसे ये ग्रन्थ सुगमता से प्राप्त हों।

(७) वेद-प्रसार के लिय सुरभारती (संस्कृतभाषा) का प्रचार आवश्यक

है। उसके विना वेद का प्रचार कभी नहीं हो सकता। अतः संस्कृतभाषा के प्रचार के लिये महान् यत्न करना चाहिये, जिससे कि यह हमारी राष्ट्रभाषा (संस्कृत) अपने वास्तविक पद को अलंकृत करे। इस हेतु सुगम रीति से संस्कृत-भाषा-शिक्षक ग्रन्थ निर्मित किये जावें, स्थान-स्थान में संस्कृत-पाठशालाओं की स्थापना हो और संस्कृतभाषा के अध्ययन करनेवाले छात्रों के लिये छात्रवृत्ति तथा पुरस्कारादि का प्रबन्ध हो।

श्रौतमार्गं समुद्दिश्य श्रौतयज्ञस्य प्रक्रियाः।
व्याख्याता लेशतो ह्यत्र वेदविद्याप्रसिद्धये॥

प्रसाराय च वेदानां उपायाश्चेह दर्शिताः।
न तु मीमांसकख्यातिं प्राप्तोऽस्मीत्यभिमानतः॥

मैं आशा करता हूं कि उपरिनिर्दिष्ट कतिपय उपायों से वेद के पुनः प्रसार में अवश्य सहायता मिलेगी।

मैंने श्रौतमार्ग को सन्मुख रखकर श्रौतयज्ञों की प्रक्रियाओं का यहां संक्षिप्तसा व्याख्यान वेदविद्या की प्रसिद्धि के लिये किया है। और वेदों के प्रसार के लिये उपाय भी दिखाये हैं। यह सब 'मैं मीमांसक नाम से प्रसिद्ध हूं' इस ख्याति के अभिमान से नहीं लिखा।

और अन्त में—

आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥

मैं वेदमार्ग का अनुयायी हूं, इसलिये कहीं मेरे द्वारा स्खलन प्रमाद वा भ्रान्ति होने पर भी मैं निन्दा के योग्य नहीं हूं। सन्मार्ग पर चलते हुये व्यक्ति से स्खलन होने पर भी सत्पुरुषों द्वारा उसकी निन्दा नहीं की जाती है, अपितु उसका समाधान किया जाता है।

॥ ओं शम्॥

वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा

यह निर्विवाद है कि जब से वेद[1] का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से वेदार्थ के समझने-समझाने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। आरम्भ में वेदार्थ का बोध वेद से ही करा दिया जाता था। तदनन्तर जब मतिमान्द्यादि के कारण वेद से वेद का अर्थ समझना-समझाना दुरूह हो गया, तब ऋषियों ने वेदार्थ का ज्ञान करने-कराने के लिये वेदाङ्गों की रचना और उनके अभ्यास द्वारा वेदार्थ-बोध कराने का उपक्रम किया[2]। यतः यज्ञकर्मविधायक कल्पसूत्र वेदाङ्गों के अन्तर्गत हैं, अतः

---

१. 'वेद' शब्द मूलतः मन्त्र-संहिताओं का वाचक है। **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** परिभाषा औत्तरकालिक तथा एकदेशी है। देखो—हमारा "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः" नामक 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन' के लखनऊ अधिवेशन (संवत् २००८) में पढ़ा गया संस्कृत-निबन्ध अथवा **'वेदसंज्ञामीमांसा'** निबन्ध।

२. 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च'। निरुक्त १।२०॥

निरुक्त के इस सन्दर्भ की व्याख्या निरुक्तश्लोकवार्तिककार ने इस प्रकार की है—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथाविधि।
उपदेशेन सम्प्रादुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च॥
अशक्तास्तूपदेशेन ग्रहीतुमपरे तथा।
वेदमभ्यस्तवन्तस्ते वेदाङ्गानि च यत्नतः॥

हमारा हस्तलेख पृष्ठ १३७।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (ऋग्वेद-

इसी काल में परम्परा से परिज्ञात वेदार्थ को सुरक्षित रखने और उसे सुगमता से हृदयङ्गम कराने के लिये यज्ञों[1] और उपाख्यानों[2] की प्रकल्पना हुई।

आरम्भ[3] से अद्य यावत् सुदीर्घकाल को हम वेदार्थ की दृष्टि से प्रधानतया चार विभागों में विभक्त कर सकते हैं—

प्रथम काल—कृतयुग के अन्त तक, दूसरा—त्रेता से द्वापर के अन्त तक, तीसरा– कलि के प्रारम्भ से विक्रम की १९वीं शताब्दी तक। चौथा—विक्रम की २०वीं शती से वेदार्थ के चतुर्थ काल का आरम्भ होता है।

इस कालविभाग का निर्देश हम इस प्रकार भी कर सकते हैं—प्राग् याज्ञिक काल, पूर्व याज्ञिक काल, अपर याज्ञिक काल, और आधुनिक काल।

इतने सुदीर्घकाल में देश काल और परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ वेदार्थप्रक्रिया की दृष्टि में भी समय-समय पर परिवर्तन होता रहा। उसमें अनेक वाद उत्पन्न हुए। उन्हीं सब वादों की हम यहां भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत कर रहे हैं। यह भी ध्यान रहे कि हम इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में भारतीय इतिहास के अनुसार ही कालगणना और ग्रन्थरचनाकाल का निर्देश करेंगे।

१—प्राग्याज्ञिक काल (=कृतयुग) का वेदार्थ

हम आगे लिखेंगे कि यज्ञों का प्रादुर्भाव कृतयुग के अन्त अथवा त्रेता के प्रारम्भ (अर्थात् सन्धिकाल) में हुआ। अतः कृतयुग के आरम्भ से लेकर उसके अन्त तक वेदार्थ की क्या परिस्थिति रही, इसका परिज्ञान इस समय

भाष्य भाग १, पृष्ठ ३९६, ४४७) में इसकी लगभग ऐसी ही व्याख्या की है। निरुक्त के उस सन्दर्भ की दुर्ग, स्कन्दस्वामी तथा आधुनिक व्याख्याकारों की व्याख्याएं अशुद्ध हैं।

१. यज्ञों की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, इसकी विवेचना आगे की जायेगी।

२. ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता। निरुक्त १०।१०, ४६॥
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। महाभारत आदि० १।२६७॥

३. कालविभाग-विषयक टिप्पणी इसी निबन्ध के अन्त में परिशिष्ट में देखें।

पूर्णतया नहीं हो सकता। क्योंकि वर्तमान समय में जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध होता है, वह सब प्रायः भारत युद्ध से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ३०० वर्ष पश्चात् तक प्रोक्त है।[1] प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में एकमात्र मनुस्मृति ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसका मूल रूप से प्रवचन कृतयुग के अन्तिम चरण में, और भृगु द्वारा प्रवचन त्रेता में हुआ[2]। इसी समय में नारद ने मानव धर्मशास्त्र के राजधर्म अंश का पृथक् रूप से प्रवचन किया। कृतयुग के द्वितीय चरण में आदि विद्वान् ब्रह्मा द्वारा विभिन्न शास्त्रों का अति विस्तृत शासन हुआ। उसके पश्चात् ऋषियों ने ब्रह्मा द्वारा शासित सुदीर्घ शास्त्रों का क्रमशः संक्षिप्त, संक्षिप्ततर और संक्षिप्ततम प्रवचन किया। इसीलिये ऋषियों द्वारा किये गये शास्त्रों के समस्त प्रवचन अनुशासन कहाते हैं। वर्तमान काल में विभिन्न शास्त्रों के जितने भी आर्ष ग्रन्थ उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब प्रायः उन-उन विषयों के अन्तिम एवं संक्षिप्ततम आर्ष संस्करण हैं[3]। हमारे देश में ग्रन्थ-प्रवचन की एक ऐसी अद्भुत विधा है, जिसके कारण देश काल और परिस्थिति के अनुसार उत्तरोत्तर प्रवचनों में परिवर्तन परिवर्धन निष्कासन होने पर ग्रन्थ का नवीनीकरण हो जाता है। और प्राचीन उपयोगी अंश भी जैसे के तैसे सुरक्षित हो जाते हैं। यह ग्रन्थ-प्रवचन की विधा नीरजस्तम (=रजोगुण तमोगुण से रहित) भारतीय मनीषियों की अनुपम

---

१. सम्प्रति उपलभ्यमान ब्राह्मण ग्रन्थों में 'ऐतरेय ब्राह्मण' ही एकमात्र ऐसा ब्राह्मण है, जिसका मूल प्रवचन कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों के प्रवचन काल से १५०० वर्ष पूर्व का है। परन्तु इसका भी वर्तमान रूप महाभारतकालीन शौनक द्वारा प्रोक्त है। पाणिनि ने ब्राह्मण ग्रन्थों एवं कल्पसूत्रों के प्रवचन को पुराण और नवीन दो विभागों में बांटा है—**पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु** (अ० ४।३।१०५)। कृष्ण द्वैपायन व्यास तथा उनके शिष्य प्रशिष्यों के प्रवचन से पूर्व के ब्राह्मण और कल्पसूत्र पुराण माने गये हैं।

२. महाभारत आश्वमेधिक पर्व २९।१३-१६ के अनुसार जब जामदग्न्य परशुराम ने अमर्श में आकर मेदिनी को निःक्षत्रिय कर दिया, और द्रविड़ आभीर पुण्ड्रादि वृषल बन गये ('वृषलत्वं गता लोके' मनु१०।४३)। उसके पश्चात् भृगु ने मानव धर्मशास्त्र का प्रवचन किया।

३. द्र०—हमारा संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २२५, सं० २०३० वि०।

देन है। इसी कारण सम्प्रति उपलभ्यमान परम्परागत आर्ष ग्रन्थों में प्राचीन आद्यकालीन वेदार्थ सम्बन्धी कतिपय निर्देश सुरक्षित रह गये हैं। अतः हम मनुस्मृति तथा अन्य आर्ष वाङ्मय के आधार पर प्राग्याज्ञिक काल के वेदार्थ पर कुछ प्रकाश डालेंगे।

मनुस्मृति के १२वें अध्याय में लिखा है—

सेनापत्यं[1] च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥१००॥

अर्थात्—संग्राम में सेना का संचालन, राज्यपालन, प्रजा के संरक्षण के लिये उचित दण्डव्यवस्था, और सार्वभौम आधिपत्य वा सर्वलोक=पृथिवी, जल और अन्तरिक्ष का प्रभुत्व पाने के लिये वेदरूपी शास्त्र का जाननेवाला ही समर्थ हो सकता है।

आगे पुनः कहा है—

ऋग्वेदविद् यजुर्विच्च सामवेदविदेव च।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥११२॥

अर्थात्—प्रत्येक देश काल में व्यवहर्तव्य 'धर्म'=कर्तव्य कर्म[2] के संशय के निर्णय के लिये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के ज्ञाता तीन विद्वानों की परिषद् बनावे।

इसी प्रसङ्ग में और लिखा है—

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥९७॥
बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ॥९८॥

अर्थात्—चारों वर्णों और चारों आश्रमों के भूत वर्तमान और भविष्य[3]

---

१. प्राचीन पाठ **'सेनापत्यम्'** ही है। **'सैनापत्यम्'** पाठ पाणिनीय वैयाकरणों द्वारा कल्पित है।

२. 'धर्म' शब्द का मूल अर्थ है—**"धरति लोकं, धार्यते वा जगद् येन, सः"** जिससे संसार की सम्यक्रूप से स्थिति बनी रहे। इस प्रकार धर्म शब्द मानवीय कर्तव्य कर्मों का वाचक है। इसीलिये वेद में श्रेष्ठतम=यज्ञस्वरूप कर्मों के लिये (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म। शत० १।७।१।५) धर्मशब्द का व्यवहार मिलता है—**"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्"** (यजु० ३१।१६)।

३. अनेक विद्वान् हिन्दी भाषा में प्रयुक्त 'भविष्य' शब्द को संस्कृत के

तीनों कालों में कर्तव्य कर्मों का पूर्ण ज्ञान वेद से होता है। सारे प्राणियों की रक्षा करनेवाला सनातन वेद ही है।

मनुस्मृति के राजधर्म (७।४३) प्रकरण में लिखा है –

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां च वार्तारम्भांश्च लोकतः॥

अर्थात्—राजा त्रैविद्य=तीन प्रकार की विद्याओं के जाननेवालों[1] से (१) दण्डनीति=राजनीति, (२) आन्वीक्षिकी=पदार्थविज्ञान[2], तथा (३) अध्यात्म=शरीर आत्मा और परमात्मा-सम्बन्धी तीन विद्याओं को, और लोक से वार्तारम्भ=शिष्टाचार[3] को सीखे।

'भविष्यत्' शब्द का अपभ्रंश अर्थात् 'तद्भव' मानते है, परन्तु यह मन्तव्य अयुक्त है। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'भविष्य' शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है।

१. 'त्रैविद्य' शब्द पर टिप्पणी इसी निबन्ध के अन्त में परिशिष्ट में देखें।

२. आन्वीक्षिकी के मुख्य ग्रन्थ हैं—गौतमीय न्यायशास्त्र, तथा कणादीय वैशेषिक। इन दोनों का प्रतिपाद्य विषय है—पदार्थों का स्वरूप और उनके गुणों का वर्णन। प्रमाण आदि का प्रतिपादन प्रमेयविज्ञान=पदार्थ-विज्ञान के लिये किया है, अर्थात् प्रमेयज्ञान प्रमाणज्ञान का साधन हैं। प्रमेय का ज्ञान कराना इन शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन है। अतएव हमने आन्वीक्षिकी का अर्थ पदार्थ-विज्ञान किया है। कौटिल्य ने **'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी'** में सांख्य और योग को भी आन्वीक्षिकी में गिना है। वह भी हमारे मत का पोषक है, क्योंकि सांख्य सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करता है, और योग का सम्बन्ध शरीर-विज्ञान से है।

३. टीकाकारों ने **'वार्तारम्भ'** का अर्थ कृषि वाणिज्य तथा पशुपालन आदि लिखा है। हमें वह ठीक नहीं जँचता, क्योंकि प्राचीनकाल में इन विद्याओं के भी शास्त्र विद्यमान थे। अतः इन विद्याओं को भी अन्य विद्याओं के समान तत्तत् शास्त्रों से सीखा जा सकता है, लोक की शरण लेना अनावश्यक है। वार्ता शब्द का अर्थ बोलचाल भी होता है। स्वयं हिन्दी का बात शब्द भी वार्ता का अपभ्रंश है। अतः वार्तारम्भ का सीधा अर्थ 'बातचीत आरम्भ करने का ढंग' अर्थात् **'शिष्टाचार'** है। शिष्टाचार की मर्यादा देश वा काल के भेद से भिन्न-भिन्न होती है। अतः विभिन्न देशों वा कालों के शिष्टाचारों का

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि भगवान् मनु के मतानुसार वेदों में (१) संग्राम में सेना का संचालन, (२) राज्य का पालन, (३) दण्डव्यवस्था = प्रजा को दुःख देनेवालों का दमन, (४) आधिभौतिक तथा आधिदैविक पदार्थों का विज्ञान, (५) अध्यात्म[1] विद्या अर्थात् शरीर का नैरोग्य, आत्मा के स्वरूपज्ञान से सांसारिक दुःखों से निवृत्ति, और परमात्मा के ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति आदि आदि अनेक विद्याओं का वर्णन है। अर्थात् वेद में इन विद्याओं का वर्णन होने से मनु के मत में वेद का अर्थ इन विद्याओंपरक करना चाहिये।

इसीलिये मनु ने वेद के विषय में अन्यत्र भी लिखा है—

'सर्वज्ञानमयो हि सः'।२।७॥

अर्थात्—वेद समस्त विद्याओं का आकर है।[2]

मनु के उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि एक अन्य दिशा से भी होती है, जो कि अत्यन्त प्रबल है। इस समय संस्कृत वाङ्मय में जितने विषयों के ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे सब अपने विषयों को वेदमूलक कहते हैं। अर्थात् उनके मतानुसार वेद में उन-उन विद्याओं का वर्णन है। इस दृष्टि से वेद में—

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, साहित्य, कला, शिल्प, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद = संगीत, तथा नाटच, कर्म, ज्ञान और उपासना[3]

वास्तविक ज्ञान लोक-व्यवहार से ही हो सकता है। शास्त्र से तो साधारण शिष्टाचार का ही शासन होता है। राजा को लोकव्यवहार में अवश्य प्रवीण होना चाहिये, अतएव मनु ने 'वार्ता' को लोक से सीखने का आदेश दिया है।

१. आत्मा शब्द शरीर जीव और ईश्वर तीनों के लिये प्रयुक्त होता है। आत्मा का जीव और ईश्वर अर्थ सर्वप्रसिद्ध है। **'हन्ति आत्मानमात्मना'**, तथा **'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वद्'** (अथर्व १०।२।३२) आदि में आत्मा शब्द शरीर अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।

२. द्र०—मेधातिथि गोविन्दराज आदि की प्राचीन टीकाएं।

३. व्याकरण की वेदमूलकता के लिये देखिये—संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५४-५५, सं० २०३० वि०। आर्यभट्टीय के अन्त में ज्योतिष शास्त्र को वेद से निःसृत कहा है। सुश्रुत में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद कहा है—'इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपाङ्गमथर्ववेदस्य' सूत्र स्थान अ० १॥

आदि आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन मानना होगा। तभी उन-उन विषयों की वेदमूलकता स्वीकार की जा सकती है। दूसरे शब्दों में वेद का अर्थ इन सभी विद्याओं की दृष्टि से करना चाहिये, तभी तत्तद् ग्रन्थकारों का उन उन विषयों की वेदमूलकता का कथन उपपन्न हो सकता है।

महर्षि कणाद वेद की प्रामाणिकता का उपपादन पदार्थविज्ञान की दृष्टि से करते हैं। उनके वचन हैं—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ।।
यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।।
तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् ।।
धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।। वैशे० १।१।१—४।।

अर्थात्—अब हम यहां से आगे धर्म का व्याख्यान करेंगे। जिससे लौकिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति हो, वह धर्म है। उसी धर्म का प्रतिपादन करने से वेद का प्रामाण्य है (अपौरुषेय या ईश्वरवचन होने से नहीं)। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य द्वारा धर्मविशेष के ज्ञान से उत्पन्न तत्त्वज्ञान से पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है।

वैशेषिक के इन सूत्रों में 'धर्म' शब्द का अभिप्राय पदार्थों के गुणों से है, किसी पुण्य या अदृष्ट से नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रतिपाद्यविषय

सभी शास्त्रों की सामान्यरूप से वेदमूलकता के लिये देखिये—
'यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्चित् प्रवृत्तयः।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम्'।। महा० अनु० १२२।४।।

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते।
सर्वं विनिःसृतं शास्त्रं वेदशास्त्रात् सनातनात्।।

दुर्बोधं तु भवेद्यस्मादध्येतुं नैव शक्यते।
तस्मादुद्धृत्य सर्वं हि शास्त्रं तु ऋषिभिः कृतम्'।।

बृहद्योगियाज्ञवल्क्य स्मृति अ० १२, श्लोक १-२। स्मृतिसन्दर्भ भाग ४, पृष्ठ २३३४, मनसुखराय मोर संस्क०।

पदार्थों के गुणों की मीमांसा करना ही है। यदि यहां धर्म से अभिप्राय अदृष्ट का होता, तो ग्रन्थकार—"दृष्टानां दृष्टिप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय" (१०।२।९) सूत्र के अनन्तर पुनः "तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" सूत्र न बनाते।

महर्षि कणाद के उपर्युक्त सूत्रों से स्पष्ट है कि वे वेद में न केवल पदार्थविज्ञान का ही प्रतिपादन मानते हैं, अपितु वे वेदप्रतिपादित पदार्थविज्ञान[1] की सत्यता के आधार पर ही वेद का प्रामाण्य भी सिद्ध करते हैं। इस के लिये वे दो स्थानों पर वैदिकं च (४।२।१०) तथा वेदलिङ्गाच्च (४। २।११) सूत्रों द्वारा साक्षात् वेद का प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।[2]

न्यायसूत्रकार भगवान् गौतम भी मन्त्रान्तर्गत (=मन्त्रप्रतिपादित) आयुर्वेद (=चिकित्साविज्ञान) के प्रामाण्य द्वारा वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते हैं। उनका इस विषय का प्रसिद्ध सूत्र है—

'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्'।२।१।६८॥

अर्थात्—वेदमन्त्रों में जिस आयुर्वेद=चिकित्साविज्ञान का प्रतिपादन है, वह लोक में सत्य घटित होता है। इसलिये मन्त्रायुर्वेदरूपी एक देश के प्रत्यक्ष से वेद के उस भाग का भी प्रामाण्य समझना चाहिते, जिसमें आयुर्वेद का प्रतिपादन नहीं है। क्योंकि वेदोक्त आयुर्वैदिक प्रत्यक्ष विज्ञान द्वारा वेद के रचयिता का आप्तत्व सिद्ध है। वही आप्त उस भाग का भी रचयिता है, जिसमें आयुर्वेद का साक्षात् प्रतिपादन नहीं है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में क्रमशः अर्थशास्त्र, धनुःशास्त्र, संगीतशास्त्र और चिकित्साशास्त्र[3] का विशेषरूप से प्रतिपादन है, इसलिये ये शास्त्र क्रमशः चारों वेदों के उपवेद माने जाते हैं।

---

१. वेद के मन्त्रों में बहुत्र पदार्थविज्ञान के स्पष्ट संकेत हैं। यथा—'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' (यजु० २३।१०, ४६); 'अप्स्वन्तरममृतमप्सु भेषजम्' (अथर्व० १।४।४); 'क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे' (अथर्व ४।१७।६)। सौर और चान्द्र वर्ष के भेद को मलमास द्वारा दूर करने का निर्देश—'वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उप जायते (ऋ० १।२५।८) में मिलता है। इत्यादि।

२. इसके लिये द्रष्टव्य—'वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' निबन्ध पृष्ठ ४।

३. कई आचार्य चिकित्साशास्त्र को ऋग्वेद का उपवेद मानते हैं (देखो—

इन सब संकेतों से स्पष्ट है कि अति प्राचीन काल के महर्षि "वेद में लोकोपयोगी समस्त विद्याओं, आधिदैविक तथा आधिभौतिक पदार्थों के विज्ञानों और आध्यात्मिक तत्त्वों की विस्तार से विवेचना की है" ऐसा समझते थे। भारतयुद्धकालीन विविधरूपेण परिवर्तित परिवर्धित, तथा मूल उद्देश्य से बहुत दूर गई हुई याज्ञिक प्रक्रिया[1] के अनुसार लिखे गये ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित वेदार्थ से इन विषयों पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता।

पञ्चविध वेदार्थ-प्रक्रिया

तैत्तिरीय उपनिषद् (१।३।१) में वेदार्थ के पांच अधिकरण (=प्रक्रिया) का निर्देश मिलता है। यथा—

'अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकम्, अधिज्यौतिषम्, अधिविद्यम्, अधिप्रजम्, अध्यात्मम्॥

त्रिविध वेदार्थ-प्रक्रिया

कृतयुग के तृतीय चरण में मनुष्य-समाज में क्रमशः सत्त्वगुणों की न्यूनता और रजोगुण की वृद्धि के साथ-साथ मनुष्यों की मेधाशक्ति घटने लगी[2]। इस प्रकार जब मेधाशक्ति के ह्रास के कारण प्राचीन विविध ज्ञान-विज्ञानपरिगुम्फित वेदार्थ भूलने लगा, तब ऋषियों ने विविध प्रक्रियानुसारी बहुविध प्राचीन वेदार्थ को "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः" न्याय के अनुसार आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक[3] इन तीन

चरणव्यूह; ब्रह्मोक्त याज्ञवल्क्य संहिता—स्मृतिसन्दर्भ भाग ४, पृष्ठ २३४३; संस्कारविधि वेदारम्भ संस्कार के अन्त में)। परन्तु सुश्रुत (सूत्रस्थान १।३); काश्यप (विमान स्थान, पृष्ठ ४२) आदि संहिताओं में आयुर्वेद को अथर्ववेद का ही उपवेद कहा है।

१. याज्ञिक प्रक्रिया का मूल उद्देश्य, तथा उसमें किस प्रकार परिवर्तन हुए, इनका वर्णन अनुपद ही किया जायेगा।

२. 'पुरा खलु अपरिमितशक्तिप्रभाप्रभाववीर्य ··· धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवुः। तेषां क्रमादपचीयमानसत्त्वानाम् उपचीयमानरजस्तमस्कानां··· तेजोऽन्तर्दधे।' पराशरकृत ज्योतिषसंहिता का वचन, भट्ट उत्पलकृत बृहत्संहिता की टीका (पृष्ठ १५) में उद्धृत, तथा श्री पं० सूरमचन्द्र जी वैद्यवाचस्पतिकृत 'आयुर्वेद का इतिहास' (पृष्ठ १९८) में निर्दिष्ट।

३. इनका निर्देश दुर्गाचार्य ने निरुक्त टीका ४।१९ में किया है—

प्रक्रियाओं के अन्तर्गत सीमित कर दिया। तदनुसार पदार्थविज्ञान का समावेश आधिभौतिक प्रक्रिया में, ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति गति और उनके चराचर जगत् पर होनेवाले प्रभाव अर्थात् ज्योतिषविज्ञान कालविज्ञान ऋतुविज्ञान आदि बहुविध विज्ञानों का समावेश आधिदैविक प्रक्रिया में, तथा शरीरविज्ञान जीवविज्ञान और ईशविज्ञान का समावेश आध्यात्मिक प्रक्रिया में किया गया।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित पञ्चविध प्रक्रिया में से अधिलोक अधिज्योतिष का आधिदैविक प्रक्रिया में, अधिविद्य का आधिभौतिक प्रक्रिया में, तथा अधिप्रज और अध्यात्म का आध्यात्मिक प्रक्रिया में अन्तर्भाव जानना चाहिये।

कृतयुग के चतुर्थ चरण में उत्तरोत्तर मेधाशक्ति के ह्रास के कारण पूर्वोक्त चहुंमुखी त्रिविध वेदार्थप्रक्रिया भी दुरूह होने लगी। इसी समय में मनुष्यों में रजागुण की वृद्धि और तमोगुण की उत्पत्ति के कारण लोभ का प्रादुर्भाव हुआ।[1] बलवान् और साधन-सम्पन्न व्यक्ति लोभ के वशीभूत होकर प्रजा को सताने लगे।[2] इस मात्स्यन्याय[3] से प्रजा का त्राण करने के लिये ऋषियों ने वर्णव्यवस्था और राजव्यवस्था[4] के साथ-साथ पदार्थविज्ञान के

'मन्त्रार्थपरिज्ञानादेव ह्यग्नेरध्यात्माधिदैवाधिभूताधियज्ञेष्ववस्थानम्' वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया के अनुसार अधिदेव अधिभूत अध्यात्म एक त्रिक है। दूसरा त्रिक अधिदेव अधियज्ञ अध्यात्म है। दुर्गाचार्य ने दोनों त्रिकों को मिलाकर चार वाद के रूप में लिखा है।

१. 'भ्रश्यति तु कृतयुगे.........लोभः प्रादुरासीत् ॥ २८ ॥ ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः, अभिद्रोहाद् अनृतवचनम्, अनृतवचनान् कामक्रोधमानद्वेष-पारुष्याभिघातभयतापशोकचिन्तोद्वेगादयः प्रवृत्ताः' ॥ २९ ॥ चरक-संहिता विमानस्थान अ० ३ ॥

२. बड़ी और बलवान् मछली छोटी वा निर्बल को खा जाती है। यह मात्स्यन्याय कहाता है। देखो—अगली टि० ३।

३. जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः। अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्। परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ महा० शान्ति० अ० ६७, श्लोक १६, १७ ॥

४. 'मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे'।
अर्थशास्त्र १।१३॥

अध्ययनाध्यापन तथा उसके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिये ।[1] इस प्रकार पदार्थविज्ञान के क्षेत्र में संकोच के साथ-साथ वेदार्थ का क्षेत्र भी बहुत संकुचित होगा ।

वेदार्थ में दो नये वादों का प्रादुर्भाव

इसी समय में अर्थात् कृतयुग के अन्त में अथवा त्रेता के प्रारम्भ में वेदार्थप्रक्रिया में दो नये वादों ने जन्म लिया । जिनमें एक था– दैवतवाद, और दूसरा – याज्ञिकवाद । इन वादों का उत्तरकालीन वेदार्थप्रक्रिया पर भारी प्रभाव पड़ा ।

नये दैवतवाद ने प्राचीन आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों प्रक्रियाओं का सम्मिलितरूप से प्रतिनिधित्व किया । तदनुसार अग्नि जल वायु विद्युत् सूर्य चन्द्र आदि पदार्थों को देवता का रूप दिया गया । इस देवतावाद की शनैः-शनैः परिसमाप्ति अधिष्ठातृवाद में हुई ।

इन तीन प्रक्रियाओं के निर्देश के लिये देखिये—

न श्रुतमतीयात् —
अधिदैवमथाध्यात्ममधियज्ञमिति त्रयम् ।
मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु चैव श्रुतमित्यभिधीयते ॥
शाङ्खायन गृह्य १।२।१८, १९ ॥
अधियज्ञं ब्रह्म जपेद् आधिदैविकमेव च ।
आध्यात्मिकं च सततं वेदान्ताभिहितं च यत्[2] ॥ मनु० ६।८३॥

---

१. पुराकाल में भयानक जनसंहारक अस्त्रों के निर्माण और प्रयोग पर विशेष प्रतिबन्ध था, यह पुराने इतिहास से स्पष्ट है । बेकारी के बढ़ाने और ग्रामों की आत्मनिर्भरता के नाशक होने से मनुस्मृति ११, ६३ में 'महायन्त्र-प्रवर्तन' को भी उपपातकों में गिना है ।

२. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—'अधियज्ञ ब्रह्म जो ओंकार, उसका जप=उसका अर्थ जो परमेश्वर उसमें नित्य चित्त लगावे । और आधिदैविक इन्द्रियां और अन्तःकरण उसके दिशादि देवता श्रोत्रादिकों के उनका जो परस्पर संबन्ध उसको योग से साक्षात् करे । और आध्यात्मिक जीवात्मा और परमात्मा का यथावत् ज्ञान, और प्राणादिकों का निग्रह इसको यथावत् करे । तब उस पुरुष का मोक्ष हो सकता है, अन्यथा नहीं ।' सत्यार्थ-प्रकाश, प्रथम संस्करण, वि०सं० १९३२ (सन् १८७५),

यज्ञों की उत्पत्ति क्यों और कब हुई, उनमें किस प्रकार उत्तरोत्तर परिवर्तन तथा परिवर्धन हुए, और उनका उत्तरोत्तर वेदार्थप्रक्रिया पर क्या प्रभाव पड़ा, इनकी विवेचना हम अनुपद करेंगे।

२—याज्ञिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कृतयुग के अन्तिम चरण में आधिभौतिक वेदार्थ लुप्त होने लगा, आधिदैविक वेदार्थ की दिशा परिवर्तित हो गई, तथा काम क्रोध लोभ मोह आदि दोषों के कारण आध्यात्मिक भावना न्यून हो हो गई। उस काल में आधियाज्ञिक प्रक्रिया का प्रादुर्भाव हुआ। उसने न केवल मृतप्राय आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का स्थान ही लिया, अपितु प्रारम्भ में आधिदैविक और आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ की रक्षा में भी हाथ बंटाया।

यज्ञों की कल्पना का प्रयोजन

सृष्टि के आरम्भ में सत्त्वगुणविशिष्ट योगजशक्तिसम्पन्न परावरज्ञ ऋषि लोग अपनी दिव्य मानसिक शक्ति से इस चराचर जगत् के परमाणु से लेकर परममहत् तत्त्व पर्यन्त समस्त पदार्थों का हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष कर लेते थे। उनके लिये कोई भी पदार्थ अप्रत्यक्ष नहीं था। उत्तरोत्तर सत्त्वगुण की न्यूनता, एवं रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण काम क्रोध लोभ और मोह आदि उत्पन्न हुए। उनके वशीभूत होकर मानवी प्रजा ने सुख विशेष की इच्छा से प्राजापत्य शाश्वत नियमों का उल्लंघन करके कृत्रिम जीवनयापन करना प्रारम्भ किया। ज्यों-ज्यों आवश्यकताएं बढ़ती गईं, त्यों-त्यों जीवनयापन के साधनों में भी कृत्रिमता बढ़ने लगी। इसके साथ ही साथ मानव की मानसिक दिव्य शक्तियों का भी ह्रास होने लगा। उनके ह्रास के कारण सूक्ष्म, दूरस्थ और व्यवहित पदार्थ अज्ञेय बन

पृष्ठ १६८ ॥ दिशादि देवता श्रोत्रादिकों के—दिशः श्रोत्राद्…… अकल्पयन्। यजु० ३१।१३।।

उक्त श्लोक का अर्थ करते हुए कुल्लूक भट्ट ने अधियज्ञ अधिदैवत अध्यात्म और वेदान्ताभिहित ये चार भेद किये हैं। अध्यात्म=जीव-सम्बन्धी, वेदान्ताभिहित—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेदान्त=वेद का सिद्धान्त, उसमें कहा गया अधियज्ञ अधिदैव अध्यात्म' इस रूप में व्याख्या की है।

गये। अतः ब्रह्माण्ड और पिण्ड (अध्यात्म=शरीर) की रचना कैसी है, यह जानना जटिल समस्या बन गई। इस कारण आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ भी दुरूह हो गया। ऐसे काल में तात्कालिक साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ ऋषियों ने ब्रह्माण्ड तथा अध्यात्म की रचना का ज्ञान कराने और तत्परक प्राचीन वेदार्थ को सुरक्षित करने-कराने के लिये यज्ञरूपी नाटकों की कल्पना की। यज्ञ का प्रयोजन दैवत और अध्यात्म का ज्ञान कराना है, इस बात की ओर आचार्य यास्क ने निरुक्त १।१९ में संकेत किया है—याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा। तदनुसार यज्ञ और देवता का ज्ञान क्रमशः पुष्प और फल स्थानीय है, अर्थात् जैसे पुष्प फल की निष्पत्ति में कारण होता है, वैसे ही याज्ञिक प्रक्रिया का ज्ञान दैवत (=ब्रह्माण्ड) के ज्ञान में कारण होता है। जब दैवतज्ञान हो जाता है, तब वह याज्ञिकप्रक्रिया की दृष्टि से फलस्थानीय होता हुआ भी अध्यात्मज्ञान की दृष्टि से पुष्पस्थानीय होता है, अर्थात् अध्यात्म में दैवत-ज्ञान कारण बनता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए अनेक स्थानों में 'इत्यधियज्ञम्' कह कर 'अथाधिदैवतम्, अथाध्यात्मम्' के निर्देश द्वारा तीनों की परस्पर समानता दर्शाई है। इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र के भी तीन विभाग हैं। पूर्व-उत्तर-मीमांसा तो लोक में प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु दोनों के मध्य में दैवत मीमांसा का भाग भी था, जो इस समय लुप्तप्रायः है। तदनुसार १२ अध्याय जैमिनि प्रोक्त कर्ममीमांसा, ४ चार अध्याय दैवतमीमांसा[1] और अन्त के ४ चार अध्याय कृष्ण द्वैपायन व्यास प्रोक्त ब्रह्ममीमांसा के हैं। इस प्रकार २० बीस अध्यायात्मक मीमांसा शास्त्र में भी क्रमशः यज्ञ दैवत और ब्रह्म का विचार किया है। इन सब निर्देशों से व्यक्त है कि यज्ञों की कल्पना ब्रह्माण्ड और पिण्ड की सूक्ष्म रचना का ज्ञान कराने के लिये ही की गई है, अर्थात् भौगोलिक मानचित्रों के समान यज्ञ साधन मात्र हैं, साध्य नहीं।

यज्ञों की कल्पना का आधार

विराट् पुरुष (ब्रह्म) ने अपने सखा[2] शारीर पुरुष (जीव) के

१. दैवतमीमांसा के चार अध्यायों के प्रवक्ता के विषय में मतभेद है। कोई इन्हें काशकृत्स्न प्रोक्त मानता है, तो कोई जैमिनिप्रोक्त। देखो—हमारा 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १०८ (सं० २०३० वि०) तथा 'प्रपञ्चहृदय' पृष्ठ ३८, ३९।

२. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया। ऋ० १। १६४। २०॥

शरीर की रचना में अपने ही विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) की रचना का पूरा-पूरा अनुकरण किया है, अर्थात् यह मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड की ही एक लघु प्रतिकृति है। परावरज्ञ ऋषियों ने अपनी दिव्य योगजशक्ति से इसी रचना-साम्य का अनुभव करके उसी के आधार पर दोनों के प्रतिनिधि रूप यज्ञों की कल्पना की। इसे दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार भूमण्डल और नक्षत्रमण्डल के विभिन्न अवयवों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान कराने के लिये उनके मानचित्रों की वा प्राचीन काल की किसी परोक्ष घटना का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिये नाटक की कल्पना की जाती है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की रचना का ज्ञान कराने के लिये यज्ञों की कल्पना की गई, अर्थात् यज्ञों की कल्पना भी भूगोल आदि के मानचित्रों के समान सत्य वैज्ञानिक आधार पर की गई है। अतएव जिस प्रकार नगर, जिला, प्रान्त, देश और महादेश आदि के क्रम से भूगोल का क्रमिक ज्ञान कराने के लिये विभिन्न छोटे बड़े प्रदेशों के मान चित्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्ड की स्थूल, सूक्ष्म रचना का क्रमशः ज्ञान कराने के लिये अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि विभिन्न छोटे मोटे यज्ञों की कल्पना की गई। इसी कल्पना के कारण यज्ञों का एक नाम कल्प भी है—कल्पनात् कल्पः। अतएव यज्ञों के व्याख्यान[1] करनेवाले सूत्रग्रन्थ कल्पसूत्र कहाते हैं। यज्ञों की प्रकल्पना सृष्टियज्ञ का ज्ञान कराने के लिये हुई थी, इस बात को हृदयंगम कराने के लिये दोनों यज्ञों की कुछ तुलना उपस्थित करते हैं।

यज्ञों की अधिदैवत सृष्टियज्ञों से तुलना

द्रव्ययज्ञों और सृष्टियज्ञों की तुलना के लिये हम श्रौतयज्ञों के अग्न्याधान प्रकरण को उपस्थित करते हैं। अग्न्याधान की विधि संक्षेप में इस प्रकार है—

सबसे पूर्व वेदिनिर्माणार्थ यज्ञोपयोगी भूमि का निरीक्षण किया जाता है। तत्पश्चात् उस भूमि पर वेदि की रचना के लिये भूमि के ऊपर की कुछ मिट्टी खोदकर हटाई जाती है, जिस से अशुद्ध मिट्टी वा घास फूस की जड़ें निकल जायें। तत्पश्चात् उस स्थान में निम्न क्रियाएं[2] क्रमशः की जाती हैं—

१—जल का सिञ्चन किया जाता है। तत्पश्चात्

२—वराह-विहत (=सूवर से खोदी गई) मिट्टी बिछाई जाती है। उसके पश्चात्

---

१. यज्ञं व्याख्यास्यामः। का० श्रौ० १।२।१॥

२. ये सामान्य आधान और अग्निचयन की सम्मिलित क्रियाएं हैं।

३—दीपक की बांबी की मिट्टी बिछाई जाती है। तत्पश्चात्

४—ऊसर भूमि की मिटटी (रेह—पंजाबी में) फैलाई जाती है। तत्पश्चात्

५--सिकता (=बालू) बिछाई जाती है। तत्पश्चात

६ – शर्करा (=रोड़ी) बिछाते हैं। तत्पश्चात्

७—ईंटें बिछाई जाती हैं। तत्पश्चात्

८—सुवर्ण रखा जाता है। तत्पश्चात्

९—समिधाएं रखी जाती हैं। तत्पश्चात्

अश्वत्थ (=पीपल) की अरणियों (=दो काष्ठों) को मथकर (=रगड़ कर) अग्नि उत्पन्न करके समिधाओं पर धरते हैं।

अग्न्याधान में वेदि निर्माण की उक्त क्रियाएं की जाती हैं, वे हिरण्यगर्भाख्य महदण्ड से पृथिव्यादि के पृथक् होने के समय पृथिवी की जो सलिलमयी स्थिति थी, उससे लेकर पृथिवी के पृष्ठ पर अग्नि की प्रथम उत्पत्ति तक पृथिवी की विविध परिवर्तित स्थितियों का बोध कराने के लिये हैं। क्योंकि वेद स्वयं कहता है—'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः' (यजु० २३।६२)। शतपथ ब्राह्मण में नौ प्रकार का सर्ग (=सृष्टि) कहा है। यथा—

स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत।.......... स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषं सिकतं शर्करा अश्मानम् अयोहिरण्यम् ओषधिवनस्पत्यसृजत। तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्। शत० ६।१।१।१३।।

यहां जो नौ प्रकार की सृष्टि कही है। उनमें फेन के आपः-प्रधान होने से वेदि निर्माण प्रक्रिया में उसको सम्मिलित नहीं किया हैं। अब हम वैदिक ग्रन्थों के आधार पर वेदि निर्माण और पृथिवी के विविध सर्गों का वर्णन करते हैं, जिससे हमारे उक्त विचार स्पष्ट हो जायगे।

१—आरम्भ में पृथिवी सलिलमयी थी। आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास (शतपथ ११।६।१।६)। इस स्थिति को दर्शाने के लिये वेदि के स्थान में जलसिंचन किया जाता है।

२—अग्नि के संयोग से सलिलों में फेन उत्पन्न हुआ जैसे दूध गरम करने पर उबाल के समय उत्पन्न होते हैं। वही फेन वायु के संयोग से घनत्व को प्राप्त होकर मृद्भाव को प्राप्त होता है। जैसे दूध की मलाई जमती

है (पर दूध को ढक देने से वायु का संयोग न होने से मलाई नहीं जमती) । इसके लिये शतपथ ६।१।३।३ में कहा है— स (फेन:) यदोपहन्यते मृदेव भवति । इस मृद् की उत्पत्ति में सूर्य की किरणों का विशेष महत्त्व होता है । ये सूर्य की आङ्गिरस नाम किरणें वराह भी कहाती हैं ।[1] उस समय पृथिवी का रूप वराह के मुख के सदृश छोटा सा होता है । अत एव वेदि निर्माण में वराह (=सूअर) द्वारा खोदी गई बारीक मिट्टी बिछाई जाती है । इसलिये मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यावद् वै वराहस्य चषालं तावतीय-मग्र आसीत् । यद् वराहविहतमुपास्याग्निमाधत्ते ।

३ - जब वही मृत् सूर्य की किरणों से सूख जाती है, तब उसे शुष्काप (= सूख गये हैं जल जिसके) कहते हैं । उसके नीचे जल होता है । यह सूखी हुई पपड़ी रूपी मृत् मसलने पर भुरभुरी हो जाती है । इसी शुष्काप रूप अवस्था का बोध कराने के लिये दीमक की बाम्बी की मिट्टी बिछाई जाती है । दीमक पृथिवी के अन्दर से गीली मिट्टी लाती है[2] और हवा तथा धूप से सूख जाने पर मलने में भुरभुरी होती है । इसी लिये मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यद् वल्मीकवपामुत्कीर्याग्निमाधत्ते' ।

४—वही शुष्काप सूर्य की किरणों से तपकर ऊष भाव (क्षारत्व) को प्राप्त होते हैं । इसलिये वेदि में ऊसर भूमि की मिट्टी 'रेह' बिछाई जाती है । मैत्रायणी संहिता १।६।३ में कहा है—'यदूषानुपकीर्याग्निमाधत्ते' ।

५—वही ऊष=क्षार मिट्टी पुनः सूर्य किरणों से तथा पृथिवी गर्भस्थ अग्नि से तप्त होकर सिकता=बालू का रूप धारण करती है[3] । इसीलिये

---

१. पुराणों में अनुश्रुति है कि विष्णु ने वराह का रूप धारण करके जल से पृथिवी को निकाला । वेद में विष्णु सूर्य का नाम है, उसकी अङ्गिरस नामक किरणें वराह हैं । इन्हें जाति रूप एकवचन में **एमूष वराह** भी कहते हैं । शतपथ १४।१।२।११ में कहा है—**तामेमूष इति वराह उज्जघान ।**

इस एमूष वराह का वर्णन ऋग्वेद में (८।७७।१०) भी आता है । एमूष का अर्थ है—**आ**=सब ओर से, **इम्**=जलों को (=ईम् उदकनाम, निघण्टु १।१२) **ऊष**=तपानेवाला ।

२. दीमक की बाम्बी के नीचे जल अवश्य होता है । इसीलिये राज-स्थान में जलगवेषक दीमक की बाम्बी के स्थान में कुंआ खोदने को कहते हैं ।

३. सिकता पृथिवी के ऊपर भी उपलब्ध होती है, जैसे राजस्थान में ।

वेदी में भी सिकता बिछाई जाती है—'यत्सिकतामुपकीर्याग्निमाधत्ते' (मै० सं० १।६।३)।

६ —यही अन्तःस्थित सिकता भूगर्भस्थ अग्नि से तपकर शर्करा=रोड़ी[1] बन जाती हैं। इस अन्तः परिवर्तन का बोध कराने के लिये वेदि में शर्करा=रोड़ी बिछाई जाती है। इसीलिये मै० सं० १।६।३ में कहा है—'यच्छर्करा उपकीर्याग्निमाधत्ते'।

पृथिवी गर्भ में शर्करा की उत्पत्ति से भूमि में दृढ़त्व आता है। इस तथ्य को वैदिक ग्रन्थों इस प्रकार दर्शाया है—'शिथिरा वा इयमग्र आसीत्। तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत (मै० सं० १।६।३)।

इसी क[2]=अग्निरूप प्रजापति के कर्म का वर्णन ऋग्वेद १०।१२२।५ में किया है 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'।

७—यही शर्करा अन्तस्ताप से तप्त होकर पाषाणरूप को धारण करती है। इसलिये चयन संज्ञक याग में वेदि में पाषाण के स्थान में प्रतिनिधिरूप ईंटें[3] बिछाई जाती हैं। तैत्तिरीय संहिता ५।२।८ में कहा है—'इष्टका उपदधाति।

८ –यही पाषाण भूगर्भस्थ अग्नि से तप्त होकर लोह से सुवर्ण पर्यन्त धातुरूप में परिणत होता है।[4] इसी धातूत्पत्ति कालिक पृथिवी की स्थिति का वर्णन करने के लिये चयन याग में कहा है—'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्'।[5] तथा 'रुक्ममुपदधाति' (मै० सं० ३।२।६)।

और पृथिवी के अन्दर भी बनती है। आज भी कच्चे पहाड़ों में उपलब्ध कच्चे पत्थरों को मसलने पर बालू के कण पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

१. छोटे-छोटे पत्थर।

२. ब्रह्माण्ड में यह 'क' अग्निरूप प्रजापति है। शरीर में 'क' अग्निरूप जीवात्मा प्रजापति है।

३. नियत श्येन आकारवाली वेदी में विभिन्न आकारवाली ईंटे बिछाई जाती हैं। विभिन्न इष्ट आकारों में पत्थरों को घड़ना कष्ट-साध्य है। इसलिये यहां प्रतिनिधि रूप में ईंटे बिछाने का निर्देश किया गया है।

४. द्र०—'अश्मनो लोहसमुत्थितम्'। महा० उद्योग०। रसावर्णव तन्त्र ८।९९ में लोहसंकरज सुवर्ण का वर्णन मिलता है।

५. शाबर भाष्य १।२।१८ में उद्धृत श्रुति।

६—पृथिवी-गर्भ में अयोहिरण्य पर्यन्त निर्माण हो जाने तक पृथिवी कूर्म पृष्ठ (कछुए की पीठ) के समान लोम रहित थी। उसके पीछे पृथिवी पर ओषधि वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई। पृथिवी की इस स्थिति को बताने के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—

'इयं वाऽलोमिकेवाग्र आसीत्'। ऐ० ब्रा० २४।२२॥

'ओषधिवनस्पयो वा लोमानि'। जै० ब्रा० २ ५४॥

इसीलिये वेदि में हिरण्य रखकर समिधाएं अथवा तत्स्थानीय आरण्य उपले (=कण्डे) रखे जाते हैं।

वनस्पति रूप बड़े-बड़े वृक्षों के उत्पन्न होने पर वायु के वेग से वृक्ष शाखाओं की रगड़ से पृथिवी पर सबसे प्रथम अग्नि की उत्पत्ति हुई।[1] अतएव वेद में कहा है—तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नाद्यमादधे (यजु० ३।५)।

पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्नि के प्रादुर्भाव का बोधन कराने के लिये वेदि में जिस अग्नि का आधान किया जाता है, उसे पीपल के काष्ठ से निर्मित अरणियों को मथकर ही उत्पन्न किया जाता है।

पूर्व संख्या ३ में शुष्काप रूप जिस पार्थिव स्थिति का वर्णन किया है, उस समय पार्थिव भाग जल पर वायु के वेग से पुष्करपर्ण (=कमल के पत्ते) के समान इधर-उधर डोलता था। ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है— 'सा हेयं पृथिव्यलेलायत यथा पुष्करपर्णम्' (शत० २।१।१।८)। इसी का वर्णन वायुरूपी इन्द्र के कर्म के रूप में किया है 'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा' (ऋ० १०।११९।९) अर्थात् इन्द्र=वायु कहता है कि मैं इतना बलशाली हूं कि मैं जहां चाहूं इस पृथिवी को रख दूं।

इस पुष्करपर्णवत् स्थिति का निदर्शन चयन याग में पुष्करपर्ण को रखकर कराया है 'तस्मिन् पुष्करपर्णम् अपां पृष्ठम् इति' (का० श्रौत १६।२।२५)। मत्स्य पुराण (१६८।१६ 'मोर' संस्क०) में इस विषय में लिखा है—

एतस्मात् कारणात् तज्ञैः पुराणैः परमर्षिभिः।
यज्ञियैर्वेददृष्टान्तैर्यज्ञे पद्मविधिः स्मृतः॥

---

१. महावनों में वृक्ष-शाखाओं की रगड़ से दावाग्नि की उत्पत्ति प्रायः होती रहती है।

अर्थात् इसी कारण प्राचीन ऋषियों ने यज्ञ सम्बन्धी वेद के दृष्टान्त से यज्ञ में पशु-विधि का विधान किया है ।

निरुक्तकार यास्क ने भी सृष्टियज्ञ का अनुकरण श्रौत यज्ञों में माना है । वे लिखते हैं —

अथासावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः । एषां लोकानां रोहेण सवनानां रोह आम्नातः । रोहात्प्रत्यवरोहश्चिकीर्षितः । तामनुकृतिं होताग्निमारुते शस्त्रे वैश्वानरीयेण सूक्तेन प्रतिपद्यते' (निरुक्त ७।२३) ।

अर्थात् -- प्राचीन याज्ञिक आदित्य को वैश्वानर मानते थे । इन [पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यु] लोकों के आरोह (=चढ़ने) के द्वारा प्रातः-सवन माध्यन्दिन-सवन और तृतीय सवन का आरोह कहा गया है, अर्थात् प्रातः-सवन में यजमान पृथिवीस्थानीय होता है, माध्यन्दिन-सवन में अन्तरिक्ष-स्थानीय एवं तृतीय सवन में द्युस्थानीय हो जाता है । द्युलोक में पहुंचे हुए यजमान को यज्ञ की समाप्ति से पूर्व पृथिवी पर लाना आवश्यक है । वापस उतार की अनुकृति (=अनुकरण) को होता वैश्वानरीय आदित्य-देवताक सूक्त से आरम्भ करता है ।

वेदि-निर्माण, अग्न्याधान पुष्करपर्ण-निधान और सवनों के आरोहादि के अनुकरण के द्वारा सृष्टियज्ञ से जो तुलना ब्राह्मणादि ग्रन्थों में दर्शाई है, उससे स्पष्ट है कि श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ के ही रूपक हैं । और सृष्टियज्ञ अर्थात् आधिदैविक जगत् का अध्यात्म के साथ सम्बन्ध है । आधिदैविक जगत् के ज्ञान से अध्यात्म का अर्थात् शारीरयज्ञ का परिज्ञान होता है । इसीलिये निरुक्तकार यास्क ने देवताऽध्यात्मे वा [पुष्पफले] (निरुक्त १।१९) कहकर अधिदैविक ज्ञान को अध्यात्म ज्ञान में कारण बताया है । यही अभिप्राय लोक-प्रसिद्ध यद् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे लोकोक्ति से भी प्रकट होता है ।

यद्यपि इस प्रकार के वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित श्रौत यज्ञों की समस्त क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ क्या सादृश्य है, इसका साक्षात् विस्तृत उल्लेख वर्तमान में उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में नहीं मिलता, तथापि ब्राह्मण ग्रन्थों में याज्ञिक क्रियाओं तथा तद्गत पदार्थों के निर्देश के साथ-साथ यत्र-तत्र उल्लिखित 'इत्यधिदैवतम्' तथा 'इत्यध्यात्मम्' आदि निर्देशों से उक्त सादृश्य का अनुमान बड़ी सरलता से किया जा सकता है । सौभाग्यवश दर्शपौर्णमास की सभी मुख्य-मुख्य क्रियाओं

और पदार्थों की आधिदैविक अथा आध्यात्मिक जगत् के साथ दर्शाई गई तुलना शतपथ ब्राह्मण (११।२।४।१ से ११।२।७।३३ तक) में सुरक्षित है। उसके अनुशीलन से भी ऊपर दर्शाई गई यज्ञों की कल्पना के मूलभूस आधार का ज्ञात भले प्रखार हो जाता है।

उपर्युक्त साम्यता के आधार पर प्रारम्भ में जब यज्ञों की कल्पना की गई उस समय यज्ञ की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों का पूर्ण प्रतिनिधित्व करते थे। इसी नियम पर प्रारम्भ में प्रकल्पित अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य आदि यज्ञों में उत्तरोत्तर बहुत कुछ परिवर्तन होने पर आज भी इनकी क्रियाओं और पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं और पदार्थों से अत्यधिक सादृश्य उपलब्ध होता है।

यज्ञों के प्रादुर्भाव का काल

भारतीय इतिहास के अनुसार सर्ग के आरम्भ में मानवों को वैदिक ज्ञान की उपलब्धि हो जाने पर भी जैसे वेदों में वर्णित वर्णाश्रम-व्यवस्था राज्य-व्यवस्था आदि व्यवहारों का प्रचलन सर्ग के आरम्भ में ही नहीं हुआ था, सद्वत् ही द्रव्यमय यज्ञों का भी प्रचलन नहीं हुआ था। क्योंकि उस समय सभी मानव सत्त्वगुण सम्पन्न साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ परममेधावी थे[1]। महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थों के अनुसार उस समय सारा जगत् ब्राह्ममय था।[2] यज्ञों के विषय में शांखायन आरण्यक (४।५, पृष्ठ १५) में स्पष्ट लिखा है—

'तद्ध स्मैतत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं च जुह्वां चक्रुः।'

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी अनेकत्र 'य उ चैनं वेद' कह कर यज्ञ करने और उसको तत्त्वतः जानने का समान फल दर्शाया है। यही बात स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी वि० सं० १९३२ में प्रकाशित संस्कार-विधि (प्रथम संस्करेण, पृष्ठ ११८) के गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है—'उपासना अर्थात् योगाभ्यास करनेवाला, ज्ञानी=सब पदार्थों का जाननेवाला, ये दोनों होमादि बाह्य क्रिया न करें।"

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने

---

१. द्रष्टव्य—पृष्ठ ६९, टि० २; पृष्ठ ७०, टि० १, ३, ४।

२. सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। महा० शान्ति० १८८।१०॥

उक्त बात गृहस्थाश्रम प्रकरण में लिखी है। संन्यासी अर्थात् ज्ञानी को बाह्य होमादि न करने का जो विधान सभी शास्त्रों में विद्यमान है, उसका भी मूल करण यही है।

अन्य सभी सामाजिक व्यवस्थाओं के समान याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव कृतयुग और त्रेता युग के सन्धि काल में हुआ। इसीलिये कहीं पर यज्ञों की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में, और कहीं त्रेता युग के आरम्भ में कही है।[1] प्रारम्भ में केवल एकाग्निसाध्य यजुर्वेदमात्र से सम्पन्न होनेवाले अग्निहोत्रादि होमों का ही प्रचलन हुआ। तदनन्तर महाराज पुरुरवा ऐल के काल में त्रेताग्निसाध्य (=तीन अग्नियों में किये जानेवाले) दो वेदों (=यजुः

---

१. 'इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा॥' महा०शान्ति० ३४०।८२॥
इस श्लोक में कृतयुग में यज्ञों की विद्यमानता कही है।

'त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।' महा०शान्ति०२३८।१४॥

'त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।'महा०शान्ति० २३२।३२॥

'यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्।' वायु० ५७।८६॥

'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।' मुण्डक उप० १।२।१॥

इत्यादि की पारस्परिक संगति से उपर्युक्त परिणाम ही निकलता है।

मत्स्य पुराण १४३।४२ में स्वायम्भुव मन्वन्तर में यज्ञ-प्रवर्तन का उल्लेख मिलता है—'यज्ञप्रवर्तनमेवासीत् स्वायम्भुवेऽन्तरे।'

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि मनु के जलप्लावन के पीछे पुरानी परम्परा को सुरक्षित रखने के लिये जो मन्वन्तरादि कल्पना की गई, उसके अनुसार कृतयुग में स्वायंभुव मन्वन्तर समाप्त होता है, और त्रेता से वैवस्वत मन्वन्तर आरम्भ होता है। द्रष्टव्य—भरत नाट्य शास्त्र १।८॥ महाभारत शान्तिपर्व ३४८।५१ में भी लिखा है—'त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।' यह मनु वैवस्वत मनु ही है। इस सारी भारतीय ऐतिहासिक कालगणना को समझना सम्प्रति अत्यन्त कठिन है। हमारा भारतीय ऐतिहासिक काल-गणना पर ग्रन्थ लिखने का विचार है। उसमें यथासम्भव इस काल-गणना का स्पष्टीकरण करेंगे।

ऋक्) से किये जानेवाले दर्शपौर्णमासादि, तथा तीन वेदों (=यजुः ऋक् साम) से किये जानेवाले ज्योतिष्टोमादि[1] यज्ञों की, और तत्पश्चात् पञ्चाग्नि-साध्य विविध क्रियाकलाप की प्रकल्पना हुई ।

प्रारम्भिक यज्ञ

यतः प्रारम्भ में यज्ञों की कल्पना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि से वैज्ञानिक आधार पर की गई थी, अतः प्रारम्भ में कल्पित यज्ञों का आधिदैविक जगत् के साथ साक्षात् सम्बन्ध था । यथा अग्निहोत्र का अहोरात्र के साथ, दर्श पौर्णमास का कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष के साथ, तथा चातुर्मास्य का तीनों ऋतुओं के साथ । अग्निहोत्र और दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ के ११ वें काण्ड में मिलती है । चातुर्मास्य के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है—

'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि । तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते । ऋतुसन्धिषु हि व्याधिर्जायते ।' कौषीतकि ब्रा० ५।१ ।।

इसी प्रकार गोपथ उत्तरार्ध १।१९ में भी कहा है ।

महाभारत शान्तिपर्व २६९।२० में अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास और चातुर्मास्य इन तीन यज्ञों को ही प्राचीन यज्ञ कहा है । यथा—

---

१. 'यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं वितेनिरे । अथर्चाऽथ साम्ना तदिदमप्येतर्हि यजुषा एवाग्रे यज्ञमतन्वत, अथर्चाऽथ साम्ना ।' शतपथ ४।६।७।१३।।

'अङ्गिरसां वा एकोऽग्निः ।' ऐ० ब्रा० ६।२४।।

तुलना करो—'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा त्रेताग्नि समकल्पयत् ।
एकोऽग्निः पूर्वमासीद् ऐलस्त्रेतामकल्पयत् ।।'
हरिवंश १।१२६।४७।।

'······ त्रेतायां स महारथः (ऐलः) ।
एकोऽग्निः पूवमासीद्वै ऐलस्त्रींस्तानकल्पयत् ।।
वायु पु० ९१।४८।।

'गन्धर्वेभ्यो वरं लब्ध्वा'— क्या ये गन्धर्व 'गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु' याजुष मन्त्र (२।३) में उक्त दैवी शक्तियां हैं ? वायु पुराण अ० ९१, श्लोक ४८ से ५१ भी द्रष्टव्य हैं ।

तीन अग्नियों के नाम शतपथ १।३।३।१७ में इस प्रकार लिखे हैं—'एतानि वै तेषां नामानि—यद् भुवपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिः ।'

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः ।
चातुर्मास्यानि चैवासन् तेषु धर्मः सनातनः ।।

प्रारम्भिक यज्ञों की सादगी तथा सात्त्विकता

प्रारम्भ में जिन यज्ञों की कल्पना की गई, वे यज्ञ अत्यन्त सादे तथा सात्त्विक थे। उनमें बाह्य आडम्बर (=दिखावा) तथा मांस मदिरा आदि तामसिक पदार्थों का किञ्चिन्मात्र सम्बन्ध नहीं था। इसके लिये हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—'यज्ञो हि वा अनः। तस्मादनस एव यजूंषि सन्ति, न कोष्ठस्य, न कुम्भ्यै। भस्त्रायै ह स्मर्षयो गृह्णन्ति। तद्वृषीन् प्रति भस्त्रायै यजूंष्यासुः। तान्येतर्हि प्राकृतानि।' शत० १।१।२।७।।

अर्थात्—शकट (गाड़ी) से ही हवि का ग्रहण करे। शकट ही यज्ञ है। इसलिये हविग्रहण के याजुष मन्त्र शकट सम्बन्धी ही हैं। कोष्ठ (अन्न रखने का कोठा=कुसूल) या भस्त्रा (चमड़े की थैली, जैसी आटा आदि रखने के लिये पहाड़ी वर्तते हैं) सम्बन्धी नहीं हैं। पुराने ऋषि भस्त्रा से हवि का ग्रहण करते थे। उन ऋषियों के लिये ये ही हविग्रहण के याजुष मन्त्र भस्त्रा-सम्बन्धी थे। इसलिये ये याजुष मन्त्र सामान्य हैं (कहीं पर भी इनका विनियोग हो सकता है)।

इस उद्धरण से दो बातें स्पष्ट हैं। एक—याज्ञिक क्रियाओं में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है। निरुक्त ७।२३ में भी—"असावादित्यः (वैश्वानरः) इति पूर्वे याज्ञिकाः" लिखकर अगले खण्ड (२४) में पूर्वयाज्ञिकों की क्रिया का उल्लेख किया है। यहां 'पूर्व' विशेषण से स्पष्ट है कि निरुक्त में दर्शाई याज्ञिक क्रिया यास्क के समय उस रूप में नहीं होती थी। द्वितीय—पुराकाल में यज्ञों में बाह्याडम्बर नहीं था, उत्तरोत्तर उस आडम्बर में वृद्धि हुई।

पौर्णमासेष्टि में तीन प्रधानाहुतियों के लिये केवल १२ मुठी जौ या व्रीहि (धान) की आवश्यकता होती है।[1] इतने थोड़े से अन्न के लिये यज्ञस्थान में गाड़ी भर कर अन्न लाने का क्या प्रयोजन? इसे बाह्य आडम्बर (अपनी सम्पन्नता का दिखावा) ही तो कहा जायेगा। इसीलिये प्राचीन ऋषि अपनी

१. प्रत्येक आहुति के लिये चतुर्मुष्टि अन्न की आवश्यकता होती है—'चतुरो मुष्टीन् निर्वपति।'

अनाज रखने की चमड़े की थैली अथवा घड़े से ही हविग्रहण करते थे। उत्तरकालीन याज्ञिक शकट से हविग्रहण का प्रयोजन केवल अदृष्ट की उत्पत्ति समझ कर एक वितस्ति (बिलांत) भर प्रमाण की गाड़ी बनाकर उससे हविर्द्रव्य का स्पर्शमात्र करके कार्य चलाने लगे। इसी प्रकार सोमयाग के समय सम्पन्न किये जानेवाले हविर्धान मण्डप का निर्माण पहले ही कर लेते हैं। याग काल में उस का स्पर्शमात्र करके कार्य चलाते हैं।[1]

२—'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावाद् गवालम्भः प्रवर्तितः···· अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।' चरक चिकित्सा० १९।४॥

अर्थात् आदि काल (कृतयुग के अन्तिम चरण)[2] में यज्ञों में पशु इकट्ठे किये जाते थे, मारे नहीं जाते थे।[3] उसके पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में) मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु, शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में "वेदों में पशु मारने का आदेश है" ऐसा मानकर पशुओं का प्रोक्षण (तथा आलम्भ) प्रारम्भ हुआ।[4] उसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र (नहुष[5]) ने पशुओं की न्यूनता के कारण यज्ञ में गौ का आलम्भ (वध)

---

१. 'अद्यत्वे तु पूर्वकृतस्य मण्डपस्य यागकाले स्पर्शमात्रं क्रियते।'
का० श्रौ० ८।३।२४ टीका।

२. तुलना करो—'इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः। अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन् न तदन्यथा॥' महा० शान्ति० ३४०।८२॥

३. इस पर टिप्पणी परिशिष्ट में देखें।

४. तुलना करो—ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति।
प्रोक्षिता यत्र पशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे॥
महा० शान्ति० ३४०।८३, ८४॥

५. एक **'पृषध्र'** मनु का पुत्र नाभाग इक्ष्वाकु आदि का भाई था। चरक वर्णित पृषध्र उससे अर्वाचीन है, यह चरक के इसी वचन से स्पष्ट है। महाभारत शान्ति पर्व अ० २६८, श्लोक ६ में **नहुष** को प्रथम गवालम्भ-प्रवर्तयिता लिखा है—**'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्।'** महाभारत शान्ति-

प्रारम्भ[1] किया।………उससे पृषध्र के यज्ञ में सर्व प्रथम अतिसार[2] की उत्पत्ति हुई।

चरक-संहिता के वचन में पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात् **(=पशुओं को मारने की आज्ञा है ऐसा जानकर) जिस कारण का निर्देश किया है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ही संकेत महाभारत शान्तिपर्व (२६३।६) में मिलता है –**

पर्व अ० २६२, श्लोक ४७ के नीलकण्ठ टीकाकार द्वारा उद्धृत पाठान्तर–– **'महच्चकाराकुशलं पृषध्रो गां लभन्निव'** का अगले ४८-५० श्लोकों के साथ सम्बन्ध जोड़ने से **पृषध्र नहुष का ही नामान्तर प्रतीत होता है** (नीलकण्ठ की टीका अशुद्ध है)। वायु पुराण ८६।११ में मानव पृषध्र को गोहिंसक कहा है। वह ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि मानव पृषध्र तो नाभाग और इक्ष्वाकु का समकालिक था। चरक में पृषध्र को नाभाग इक्ष्वाकु आदि से अवरकालिक लिखा है। वायु पुराण में नामैक्य से भ्रम हुआ होगा। नहुष नाम के दो राजा हैं। एक चन्द्रवंश में, दूसरा सूर्यवंश में (वाल्मीकीय रामायणानुसार)। महाभारत में **'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्'** (शान्ति० ३६८।६) श्लोक में श्रुत 'त्वष्टा' द्वादश आदित्यों में एकतम है। अतः उसके साथ स्तुत नहुष चन्द्रवंश का नहुष (पुरुरवा का पौत्र) ही है, यह निश्चित है। सूर्यवंश का नहुष बहुत उत्तरकालीन है। वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता।

१. महाभारत शान्ति पर्व अ० २६२, श्लोक ४९ में नहुष द्वारा प्रवर्तित गवालम्भ से ९८ नये रोगों की उत्पत्ति का उल्लेख है। उस से भी हमारे पूर्व-लिखित 'पृषध्र नहुष का पर्याय है' मत की पुष्टि होती है।

२. महाभारत शान्ति पर्व अ० २६२ ४९ में नहुष द्वारा प्रवर्तित गवालम्भ से ९८ नये रोगों को उत्पत्ति कही है। वसिष्ठ धर्मसूत्र (२१।१३) में लिखा है––

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
पृषध्रस्तनयं (?स्त्वघ्नियां) हत्वा अष्टानवतिमा हरेत् (? माहरत्)।।

ब्राह्मण धम्मिय सुत्त २८ में भी यही तत्त्व निर्दिष्ट है––

तयो रोगा पुरे आसुं इच्छा अनशनं जरा।
पसूनं च समारम्भा अट्ठना कुतिमाणगमुं।।

'लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन् नास्तिकैः संप्रवर्त्तितम् ।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥'

इस वचन में लोभी धनैषणावाले नास्तिकों द्वारा वेदवाद (वेद के कथन)को न जानकर पशुहिंसा प्रवर्तन का उल्लेख किया है । ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १८, १९ में भोगों से लुब्ध ब्राह्मणों द्वारा झूठे मन्त्र बनाकर इक्ष्वाकु[1] के पास जाकर यज्ञ कराने का उल्लेख है । इसी सुत्त के २७-२८ श्लोक में इक्ष्वाकु द्वारा गवालम्भ प्रवर्तन, और उससे ९८ रोगों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है । ब्राह्मण धम्मिय सुत्त के भाष्य अट्ठकथा में भी झूठे मन्त्र बनाकर इक्ष्वाकु के पास जाकर पशु-यज्ञ करने के लिये प्रेरित करने का निर्देश है ।

अति पुरातन काल में यज्ञों में पश्वालम्भ नहीं होता था । इसका उल्लेख महाभारत तथा पुराणों में वर्णित उपरिचर बसु की कथा में भी मिलता है ।[2]

याज्ञिक-प्रक्रिया में परिवर्तन तथा नये-नये यज्ञों की कल्पना

संसार का नियम है कि जिस विषय में जन साधारण की रुचि अधिक हो जाती है, व्यवहारकुशल समझे जानेवाले व्यक्ति उस जनरुचि का सदा अनुचित लाभ उठाया करते हैं । उनकी सदा यही चेष्टा रहती है कि जन-साधारण की वह रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जाये, जिससे उनका काम बनता रहे । इसी नियम के अनुसार जब जन-साधारण की रुचि यज्ञों के प्रति बढ़ने लगी, तब लोभ आदि के वशीभूत[3] होकर याज्ञिक लोगों ने भी यज्ञों की रोचकता

---

१. ते तत्थ मन्ते गन्थे त्वा ओक्कासं तदुपागमुं ।
पहूत धन धञ्ञोऽसि यजस्सु बहु ते धनम् ॥

यहां ओक्कास=इक्ष्वाकु का निर्देश किया है । यह हमें चिन्त्य प्रतीत होता है ।

२. महा० शान्ति० अ० ३३७, अनु० ६।३४; ११६।५६-५८ तथा वायु पुराण अ० ५७, श्लोक ९१-१२५ ॥

३. तुलना करो—'लोभाद् वास आदित्समाना औदम्बरीं कृत्स्नां वेष्टितवन्तः ।' शाबरभाष्य मीमांसा १।३।४॥

द्रष्टव्य—इसी पृष्ठ पर उद्धृत महाभारत शान्तिपर्व २६३।६ का वचन, तथा टि० १ का ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १८-१९ श्लोक ।

बढ़ाने के लिये उनमें उत्तरोत्तर बाह्य आडम्बर की वृद्धि की, और शुभ या अशुभ प्रत्येक अवसर पर करने योग्य विविध नये-नये यज्ञ होम आदि की सृष्टि की। इस प्रकार यज्ञों में उत्तरोत्तर सादगी और सात्त्विकता की हानि, तथा बाह्याडम्बर की वृद्धि हुई। नये यज्ञों की कल्पना से अन्त में याज्ञिक कल्पना का प्रारम्भिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण आखों से सर्वथा ओझल हो गया। अतः इस काल में कल्पित अधिकांश यज्ञों की क्रियाओं तथा पदार्थों का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहा। हमारे विचार में प्रायः समस्त काम्येष्टियां इसी कोटि की हैं।

याज्ञिक प्रक्रिया और वेदार्थ

भारतीय इतिहास से स्पष्ट है कि वेदों का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि अर्थात् कृतयुग के प्रारम्भ में हुआ। और यज्ञों की कल्पना का उदय कृतयुग और त्रेतायुग के सन्धिकाल में हुआ। यज्ञों की कल्पना से पूर्व वेद का अर्थ किस प्रकार सर्वविद्याविषयक किया जाता था, उसका किस प्रकार उत्तरोत्तर ह्रास हुआ, तथा यज्ञों की कल्पना क्यों और कब हुई, इनका संक्षिप्त वर्णन हम पूर्व कर चुके हैं। अब हम इस बात पर प्रकाश डालेंगे कि वेद का यज्ञों के साथ सम्बन्ध कैसे हुआ ?

जब प्रारम्भ में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् के साम्य के आधार पर यज्ञों की कल्पना की गई, तब आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् की क्रियाओं तथा पदार्थों का वर्णन करनेवाले वेदमन्त्रों का अभिप्राय समझाने के लिये उन-उन मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञों की तत्तत् क्रियाओं के साथ किया गया। जिस प्रकार नाटक करनेवाले व्यक्ति किसी पूर्वकालीन ऐतिहासिक घटना का प्रदर्शन करते हुए उन-उन ऐतिहासिक व्यक्तियों के मध्य हुए संवाद का अनुकरण करते हैं, उस संवाद के साथ उन नटों का कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता, ठीक इसी प्रकार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् का वर्णन करनेवाले वेदमन्त्रों का उन-उन की प्रतिनिधिभूत याज्ञिक क्रियाओं तथा पदार्थों के साथ कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में, याज्ञिकप्रक्रियानुसार किया गया वेदार्थ वेद का मुख्य अर्थ नहीं है। वह तो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक वेदार्थ को समझाने का निमित्तमात्र है।

यज्ञों के आरम्भिक काल में याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की यही स्थिति

थी। इसलिये उस समय याज्ञिक क्रियाकलापों में वे ही मन्त्र विनियुक्त किये जाते थे, जो आधिदैविक तथा आध्यात्मिक अर्थ के साथ-साथ उनके प्रतिनिधि-रूप याज्ञिक क्रियाओं का भी शब्दशः वर्णन करने में समर्थ थे।[१] उत्तरकाल में जैसे-जैसे यज्ञों की प्रधानता होती गई, वैसे-वैसे वेद का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी मुख्यार्थ गौण बनता गया, और याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की प्रधानता बढ़ती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सारा वेदार्थ याज्ञिकप्रक्रिया तक ही सीमित हो गया। अर्थात् "यज्ञार्थं वेदाः प्रवृत्ताः"[२] का वाद प्रवृत्त हो गया। और इस की अन्त्य परिणति मन्त्रानर्थक्य वाद[३] में हुई।

काल्पनिक विनियोग

उत्तरकाल में जब देश में यज्ञों का मान तथा प्रभाव बढ़ा, और प्रत्येक कामना की सिद्धि के लिये यज्ञों की सृष्टि हुई, तब उन समस्त यज्ञों की विविध क्रियाओं के अनुरूप वेदमन्त्र उपलब्ध न होने पर मन्त्रार्थ की उपेक्षा करके याज्ञिक क्रियाओं के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ना अर्थात् मन्त्रार्थ के विपरीत विनियोग का आरम्भ हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में इस प्रकार के अनेक कल्पनिक विनियोग उपलब्ध होते हैं। यथा—

मैत्रायणी संहिता ३।२।४ में लिखा है—

'निवेशनः संगमनो वसूनाम् इत्यैन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते।'

अर्थात् अग्निचयन में 'निवेशनः संगमनो वसूनाम्' (मै० सं० १।७।१२ (१५१) इस इन्द्रदेवतावाली ऋचा से गार्हपत्याग्नि का उपस्थान करे।[४]

---

१. 'एतद वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाभि-वदति।' गोपथ २।२।६॥ तुलना करो—ऐ० ब्रा० १।४॥

२. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः' (वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में) ॥ 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्......।' मीमांसा १।२।१॥

३. इस वाद के विषय में हम आगे लिखें।

४. मीमांसा ३।३।१४ के समस्त व्याख्याग्रन्थों में श्रुति और लिङ्ग के विप्रतिषेध में 'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते' वचन उद्धृत है। और ऐन्द्री ऋचा से अभिप्राय 'कदाचन स्तरीरसि' (ऋ० ८।५१।७) मन्त्र से है, यह व्यक्त

याज्ञिकों के मत में जब इन्द्र से विशेषण-विशिष्ट महेन्द्र, वृत्रहा इन्द्र, पुरन्दर इन्द्र आदि भी भिन्न-भिन्न देवता हैं[1], तब इन्द्र और अग्नि के भिन्न-भिन्न देवता होने में कोई सन्देह ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में इन्द्र देवता-वाली ऋचा से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान भला अभिधावृत्ति से कैसे हो सकता है? यहां निश्चय ही इन्द्र शब्द के मुख्यार्थ का त्याग करके गौणी कल्पना करनी पड़ेगी।[2] इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के विनियोग 'यत्कर्म क्रियमाणमृग्यजुर्वाऽभिवदति' रूपी विनियोग की परिभाषा की दृष्टि से काल्पनिक ही कहे जायेंगे।

इसी प्रकार के अनेक काल्पनिक विनियोग श्रौतसूत्रों में मिलते हैं। यथा—

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति वा संबुभूषन् दधिभक्षम्।'
शांख्या० श्रौत ४।१३।२॥

'दधिक्राव्णो अकारिषम् इति अग्नीध्रीये दधिद्रप्सान् प्राश्य[3]।'
आश्व० श्रौत ६।१३॥

किया है। 'कदाचन स्तरीरसि' इस ऐन्द्र मन्त्र से गार्हपत्य का उपस्थान करना चाहिये, ऐसा साक्षात् वचन हमें उपलब्ध संहिता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं नहीं मिला। तैत्तिरीय संहिता १।५।६ के सायणभाष्य में यह मन्त्र आहवनीयाग्नि के उपस्थान में विनियुक्त है। तैत्तिरीय संहिता के इस अनुवाक में निर्दिष्ट मन्त्रों के विनियोग के विषय में सायण और भट्टभास्कर में पर्याप्त मतभेद है, वह भी द्रष्टव्य है।

१. तुलना करो—'तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः।' शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६॥ 'अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे।' निरुक्त ७।१३॥

२. मीमांसा ३।२।४ सूत्रस्थ शाबरभाष्य में इसी वचन पर विचार करते हुए लिखा है—'गुणसंयोगाद् गौणमिदमभिधानं भविष्यति। भवति हि गुणादप्यभिधानम्। यथा सिंहो देवदत्तः, अग्निर्माणवक इति। एवमिहाप्यनिन्द्रे गार्हपत्ये इन्द्रशब्दो भविष्यति।' यही अभिप्राय सायणाचार्य ने अथर्व १।१।१ के भाष्य में इस प्रकार लिखा है—'बलीयस्या श्रुत्या लिङ्गं बाधित्वा गुणकल्पनयापि विनियोगसम्भवात्। तत्र हि ऐन्द्रमन्त्रे इन्द्रशब्दस्य गौणीं वृत्तिमाश्रित्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः कृतः।'

३. तुलना करो—'दधिक्राव्णो प्राङ् मुखो दधि प्राश्य।' काश्यप (आयुर्वेदीय) संहिता, पृष्ठ ३६।

अर्थात्—'दधिक्राव्णो अकारिषम्' से दही का भक्षण करे। मन्त्रगत 'दधिक्रावा' पद अश्व का वाची है। देखो—निघण्टु १।१४॥ 'दधिक्रावा' पदान्तर्गत 'दधि' अवयव का 'दही' वाचक 'दधि' शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव यास्क ने दधिक्रावा सदृश तथा समानार्थक 'दधिक्राः' पद का निर्वचन 'दधत् क्रामतीति वा, दधत् क्रन्दतीति वा, दधद् आकारी भवतीति वा' (निरुक्त २।२६) दर्शाया है। तदनुसार 'दधि' शब्द 'कि' या 'किन्' (अष्टा० ३।२।१७१) प्रत्ययान्त है। औत्तरकालिक याज्ञिकों ने न केवल 'दधिक्रावा' पद के, अपितु सम्पूर्ण मन्त्र के अर्थ की उपेक्षा करके दहीवाचक 'दधि' शब्द के साथ अक्षरवर्णसादृश्य-मात्र के आधार पर इस मन्त्र का 'दधिप्राशन' में विनियोग कर दिया।[1]

निरुक्त ७।२० में भी लिखा है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'जातवेदाः' देवतावाला एक ही 'गायत्र तृच' है। यज्ञों में 'जातवेदाः' देवतावाली अनेक गायत्रीछन्दस्क ऋचाओं की आवश्यकता होती है। इसलिये 'जातवेदाः' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में जो कोई 'अग्नि' देवतावाली गायत्रीछन्दस्क ऋचाएं होती हैं, वे विनियुक्त हो जाती हैं[2]।"

निरुक्त १२।४० में पुनः लिखा है—"ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में 'विश्वेदेव' देवतावाला एक ही गायत्र तृच उपलब्ध होता है। अतः उनके स्थान में जो कोई 'बहुदेवता'वाली गायत्र ऋचाएं हैं, वे विनियुक्त होती हैं। शाकपूणि 'विश्वेदेव' देवतावाली ऋचाओं के स्थान में 'विश्व' पद घटित ऋचाओं का विनियोग मानता है।"[3]

---

१. इसी विनियोग से भ्रान्त होकर पाश्चात्य विद्वानों ने इस मन्त्र के आधार पर दो कल्पनाएं की हैं—(क) आर्य लोग पहले दूध दही के लिए घोड़ियां पालते थे। (ख) घोड़ियों के लिये उपयुक्त लम्बी-लम्बी घास के मैदान मध्य एशिया के आसपास हैं। अतः पहले आर्य लोग वहीं निवास करते थे।

२. 'तदेतदेकमेव जातवेदसं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते, यत्तु किञ्चिदाग्नेयं तज्जातवेदसानां स्थाने विनियुज्यते।'

३. 'तदेतदेकमेव वैश्वदेवं गायत्रं तृचं दशतयीषु विद्यते। यत्तु किञ्चिद् बहुदैवतं तद्वैश्वदेवानां स्थाने विनियुज्यते। यदेव विश्वलिङ्गमिति शाकपूणिः।'

निरुक्त के इन उद्धरणों से 'काल्पनिक विनियोग क्यों प्रारम्भ हुए' इस विषय पर भले प्रकार प्रकाश पड़ता है।[1]

उपलब्ध ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण सब से प्राचीन है।[2] उसमें यज्ञ में क्रियमाण तत्तत् क्रियाकलाप को साक्षात् कहनेवाले मन्त्र विनियोग को यज्ञ की समृद्धि (श्रेष्ठता) कहा है।[3] इससे स्पष्ट है कि उसके काल में तत्तत् यज्ञीय क्रियाकलाप को साक्षात् या परम्परा से कथंचित् भी प्रतिपादन न करनेवाले मन्त्रों का पद या अक्षरवर्ण के सादृश्य से विनियोग[4] करने की परि-

---

१. यज्ञ-कर्मों में केवल देवता-विषय में ही काल्पनिक विनियोग नहीं किया गया, अपितु छन्दों के विषय में भी काल्पनिक छन्दों की सृष्टि रचकर मन्त्रों का किया गया अयथार्थ विनियोग ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौतसूत्रों में उपलब्ध होता है। इस विषय के लिये हमारे 'वैदिक छन्दोमीमांसा' ग्रन्थ का अन्तिम अठारहवां अध्याय देखना चाहिये।

२. ऐतरेय ब्राह्मण को पुराण-प्रोक्त मानकर 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' (अष्टा० ४।३।१०५) पाणिनीय नियमानुसार 'ऐतरेयिणः' पद निष्पन्न होता है। (द्र०—महाभाष्य तथा काशिकादि)। इस विषय पर हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' (भाग १, पृष्ठ २४९-२५२, वि० सं० २०३०) में विस्तार से लिखा है। ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारम्भिक ३० अध्याय मूलतः महीदास ऐतरेय-प्रोक्त हैं, और अन्तिम १० अध्याय आचार्य शौनक-प्रोक्त है (परन्तु आचार्य शौनक ने महीदास ऐतरेय के ३० अध्यायों का भी प्रवचन करते हुए उनमें कुछ परिवर्तन किया है), इसी भेद को स्पष्ट करने के लिये आश्वलायन गृह्य ३।४।४; कौषीतकि गृह्य २।५, तथा शांखायन गृह्य ४।६ के तर्पण प्रकरण में **ऐतरेय महैतरेय** का निर्देश मिलता है। इसी प्रकार ऐतरेय आरण्यक के प्रथम तीन आरण्यकों का प्रवचन ऐतरेय ने किया था। चतुर्थ आरण्यक का आश्वलायन ने, और पञ्चम आरण्यक का शौनक ने। देखो—वैदिक वाङ्मय का इतिहास, ब्राह्मण-आरण्यक भाग, पृष्ठ २२६ (लाहौर सं० १)।

३. 'एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूपसमृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति।'
१।४, १३, १६ इत्यादि।

४. पदसादृश्य से, यथा—'दधिक्राव्णो अकारिषमिति ·· दधिभक्षम्' (शां० श्रौत ४।१३।२); अक्षरवर्णसादृश्य से, यथा—'शन्नो देवी' का शनैश्चर की पूजा में, 'उद्बुध्यस्व' का बुध की पूजा में। अग्निवेश्य गृह्य अ० ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खण्ड १३, १४ इत्यादि।

पाटी आरम्भ हो चुकी थी। और ऐसा असम्बद्ध विनियोग भी प्रामाणिक माना जाने लग गया था। अतएव ऐतरेय ब्राह्मणकार उसे स्पष्ट शब्दों में अयुक्त घोषित न कर सके।

भारतीय कालगणना के अनुसार महीदास ऐतरेय का काल याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के ३५०० वर्ष पश्चात्, और भारतयुद्ध से लगभग १५०० वर्ष पूर्व है।[1] अतः पद अक्षर वर्णमात्र के सादृश्य से काल्पनिक विनियोगों का आरम्भ निश्चय ही भारत युद्ध से २००० वर्ष पूर्व हो चुका था। परन्तु उस काल तक उनका आधिक्य नहीं था, यह भी ऐतरेय के वचन से स्पष्ट है।

काल्पनिक मन्त्र

जब विभिन्न प्रकार के यज्ञों की मात्रा बहुत बढ़ी, तब उन सब यज्ञों में क्रियमाण विविध क्रिया-कलाप के अनुरूप (जो अर्थतः उस क्रिया को कह सकते हों) मन्त्रों के उपलब्ध न होने पर मन्त्रकल्पना का आरम्भ हुआ[2]। इस प्रकार के अनेक काल्पनिक मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और श्रौतसूत्र आदि में उपलब्ध होते हैं। गृह्यसूत्रों में तो इस प्रकार के काल्पनिक मन्त्रों की बहुतायत है (उत्तर काल में ऐसे काल्पनिक मन्त्रों को लुप्त शाखाओं में पठित समझा जाने लगा)।

हमारे विचारानुसार काल्पनिक मन्त्रों की रचना का आरम्भ भारत युद्ध से लगभग दो ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था।[3] आरम्भ में वेदमन्त्रों को

---

१. यह हमारी कालगणना के अनुसार है। ऐतरेयब्राह्मण कृष्णद्वैपायन के शिष्य प्रशिष्यों के शाखा-प्रवचन से पूर्व का है, इतना तो निश्चित है। द्र०—पूर्व पृष्ठ ६१ की टि० २।

२. द्र०—ब्राह्मण धम्मिय सुत्त १६ का पूर्व पृष्ठ ८६, टि० १ में उद्धृत वचन। निरुक्त ७।३ में लिखा है—'तदेद् बहुलम् आध्वर्यवे याज्ञेषु च मन्त्रेषु।' अर्थात् आशीः से रहित स्तुतिमात्र का प्रयोग आध्वर्यव=यजुर्वेद में और यज्ञ-प्रयोजनवाले मन्त्रों में बहुतायत से मिलता है। याज्ञेषु=यज्ञ एव प्रयोजनं येषां मन्त्राणां तेषु, अर्थात् यज्ञार्थं सृष्टेषु मन्त्रेषु।

३. यज्ञों की अत्यधिक कल्पना द्वापर में हुई—"संरोधादायुषस्त्वेते व्यस्यन्ते द्वापरे युगे" (महा० शा० २३८।१४)। यज्ञों की विविध कल्पना होने पर ही मन्त्रों की कल्पना करने की आवश्यकता हुई। अतः मन्त्रकल्पना का आरम्भ द्वापर के प्रारम्भ में या उससे कुछ पूर्व मानना होगा।

अपने-अपने कर्मों के अनुरूप बनाने के लिये उनमें साधारण परिवर्तन किया गया।[1] तत्पश्चात् मन्त्रों के विभिन्न स्थानों के विभिन्न वाक्य जोड़कर मन्त्रों की रचना की गई[2]। तदनन्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों का सन्निवेशमात्र करके (जिससे वे वैदिक मन्त्रवत् प्रतीत हों) मन्त्र रचे गये।[3] अन्त में यही मन्त्र-कल्पना 'नमो भगवते वासुदेवाय' सदृश साम्प्रदायिक, तथा 'ओं ह्रीं ह्रुं फट् स्वाहा' आदि सर्वथा अर्थरहित तान्त्रिक मन्त्रों की रचना में परिणत हुई।

मन्त्रानर्थक्य-वाद

याज्ञिक काल में वेद के उपयोग का एकमात्र केन्द्र यज्ञ बन गये।[4] कर्मकाण्ड में साक्षात् अविनियुक्त वेदभाग निष्प्रयोजन न माना जावे[5], इसलिये वेद के समस्त मन्त्रों का कर्मकाण्ड के साथ येन-केन प्रकारेण बलात् सम्बन्ध जोड़ा गया।[6] मन्त्रों की मुख्यता समाप्त होकर विनियोजक ब्राह्मण ग्रन्थ ही

---

१. तुलना करो—राजसूयप्रकरण के **'एष वो अमी राजा'** (माध्य० संहिता ९।४०; १०।१८) के सामान्यवाचक **'अमी'** पद के साथ **'एष वो भरता राजा'** (तै० सं० १।८।१०।१२); **एष वः कुरवो राजा, एष पञ्चाला राजा'** (मैत्रा० सं० २।६.९; काठक सं० १५।१७) मन्त्रों में आये **भरत कुरु पञ्चाल** आदि विशिष्ट वाचक पदों की।

२. इसके लिये ऋग्वेद के खिलपाठ के मन्त्रों का अनुशीलन करना चाहिये।

३. यथा—सावित्री मन्त्र के 'धियो यो नः प्रचोदयात्' के 'नः प्रचोदयात्' पदों का सन्निवेश करके रचे गये कल्पित ११ मन्त्र मैत्रायणी सं० २।९।१ में उपलब्ध होते है। यथा—'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥' इसी प्रकार के नारायण गरुड़ दन्ती दुर्गा आदि के ११ मन्त्र तै० आर० १०।१ में मिलते हैं। वीर मित्रोदय भक्तिप्रकाश पृष्ठ १०६ पर एक राम-गायत्री उद्धृत है—'दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि। तन्नो रामः प्रचोदयात्' इति रामगायत्र्या पुष्पाञ्जलिर्देया।

४. 'वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः'। वेदाङ्गज्योतिष के अन्त में॥
'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् ·········'। मीमांसा १।२।१॥

५. देखो–'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'(मीमासा १।२।१) पूर्वपक्षोपस्थापन।

६. 'आश्विने सम्पत्स्यमाने सूर्यो नोदेयाद् अपि सर्वा दाशतयीरनुब्रूयात्'।

मुख्य बन गये। ब्राह्मण ग्रन्थों की मुख्यता यहां तक बढ़ी कि 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रों में विद्यमान साक्षात् विधायक लोट् लिङ् और लेट् लकारों को विधायक न मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों के 'प्रथयति' आदि पदों को ही विधि अर्थवाला (=विधायक) माना गया।[1] अर्थात् प्रारम्भ में मन्त्र के किसी पद विशेष के मुख्य अर्थ की उपेक्षा की गई, परन्तु उत्तरकाल में पूरे मन्त्र को ही अनर्थक मानकर उसके पदमात्र के सादृश्य से विनियोग की कल्पना की पई। 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' तथा 'वक्ष्यन्ति वेदागनीगन्ति-कर्णम्' आदि मन्त्रों का कर्णवेध-संस्कार में किया गया विनियोग[2] ऐसा ही है। इन मन्त्रों में कोई भी ऐसा पद नहीं है, जो कर्ण के वेधन करने का वाचक हो। मन्त्रों में पठित कर्ण पदमात्र को देखकर आंख मीचकर कर्णवेधन में इनका विनियोग कर दिया गया। उत्तरकाल में पदैकदेशमात्र के सादृश्य से विनियोग होने लगा। यथा 'दधिक्राव्णो अकारिषम्' का दधिभक्षण में।[3] तत्पश्चात् अक्षरमात्र के सादृश्य से विनियोगों की कल्पना हुई। यथा 'शन्नो देवी' का शनैश्चर की, और 'उद् बुध्यस्व' का बुध की पूजा में।[4]

द्र०—आप० श्रौत १४।१।२।। तथा—'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमे पारिप्लवे शंसति।' सायण ऋग्भाष्योपोद्घात में उद्धृत।

१. 'अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्' (मीमांसा २।१।३१)। अर्थात् प्रयोग= ब्राह्मणवचन के सामर्थ्य से (ब्राह्मणवचन अनर्थक न हो जावे, इसलिये) मन्त्र के विध्यर्थक लोट् लेट् लिङ् आदि लकार अभि-धानवाची=यज्ञ में क्रियमाण कर्म के स्मरणमात्र करनेवाले होते हैं, विधायक नहीं होते, अर्थात् विधायकत्व ब्राह्मणवचनों में ही है, मन्त्रों में नहीं है।

२. देखो—कात्यायन गृह्य—कर्णवेध संस्कार। पारस्कर गृह्य की टीका में उद्घृत। तथा संस्कारभास्कर बम्बई संस्क० पत्रा १४१ ख। संस्कारभास्कर के रचयिता ने इसी गृह्य के अनुसार यह विनियोग लिखा है।

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ ८६ पर शांख्यायन श्रौत ४।१३।२; तथा आश्व० श्रौत ६।१३ के वचन।

४. द्रष्टव्य—अग्निवेश्य गृह्य ५; वैखानस गृह्य अ० ४, खं० १३, १४; बौधायन गृह्य शेष अ० १६, १७ में नवग्रह पूजा के मन्त्र।

उक्त नवग्रह पूजा में विनियुक्त मन्त्रों के विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश प्रथम संस्करण (संवत् १६३२, सन् १८७५) के

इस प्रकार उत्तरोत्तर काल्पनिक विनियोगों के आधिक्य से प्रभावित होकर कौत्स जैसे कर्मकाण्डी ने स्पष्ट घोषणा कर दी—"मन्त्र अनर्थक हैं।"[1] अर्थात् मन्त्रों का यज्ञों में क्रियमाण कर्मों के साथ कोई आर्थिक सम्बन्ध नहीं है। उनका यज्ञान्तर्गत किसी भी कर्मविशेष में प्रयोग होने से अदृष्ट (=धर्म विशेष) उत्पन्न होता है।

इस प्रकार याज्ञिकों द्वारा उद्भावित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रभाव वेदों की तात्कालिक शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में स्पष्ट लक्षित होता है। यही कारण है कि इन शाखाओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में (शतपथ को छोड़कर) विनियोग (=इस मन्त्र से यज्ञ का अमुक कर्म करे) का ही उल्लेख प्रायः मिलता है। अतएव ब्राह्मण का लक्षण ही 'विनियोजकं ब्राह्मणम्'[2] ऐसा याज्ञिकों में प्रसिद्ध हो गया। इन ब्राह्मण ग्रन्थों में जहां-कहीं मन्त्रों के अर्थ उपलब्ध होते हैं, वे प्रायः आनुषङ्गिक हैं, अर्थात् मन्त्रार्थ के परिज्ञान के लिये ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना नहीं हुई। अतः इन ब्राह्मण ग्रन्थों (शतपथ को छोड़कर) से वेद के याज्ञिक अर्थ का भी बोध नहीं होता। केवल ब्राह्मण-प्रदर्शित विनियोग के आधार पर याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ की कल्पना की जाती है।

पृष्ठ ३३३ में इस प्रकार लिखा है—"शन्नो देवी…, उद्बुध्यास्वाग्ने इत्यादि मन्त्रों में कहीं शनैश्चर मंगल और बुधादि ग्रहों के नाम भी नहीं हैं। परन्तु विद्याहीन होने से आजीविका के लोभ से ब्राह्मणों ने जाल रच रखा है—ए ग्रह की काण्डी (=कण्डिका) है। सो किसी ने ऐसा विचारा कि ग्रहों का मन्त्र पृथक् निकालना चाहिये, सो मन्त्रों का अर्थ तो नहीं जानता, किन्तु अटकल से उसने युक्ति रची कि शनैश्चर शब्द के आदि में तालव्य शकार है, इससे यही शनैश्चर का मन्त्र है। देखना चाहिये कि शं सुख का नाम है। (मूल में यह वाक्य आगे-पीछे है) तथा **पृथिव्या अयम्** इससे परमेश्वर का ग्रहण होता है। इस शब्द से मंगल को ले लिया, **उद्बुध्यस्व** क्रिया से बुध को ले लिया। उद्बुध्यस्व 'बुध अवगमने' धातु की क्रिया है।

१. 'यदि मन्त्रार्थप्रत्यायनाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः, अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेनोपेक्षितव्यम्।' निरु० १।१५॥

२. तै० सं० भाष्य भट्टभास्कर भाग १, पृष्ठ ३; तथा 'कर्मचोदका ब्राह्मणानि।' आप० श्रौ० परि० १।३८॥

मन्त्रानर्थक्यवाद का खण्डन

कौत्स आदि याज्ञिकों द्वारा पल्लवित मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रतिवाद जैमिनि[1] और यास्क[2] ने बड़े प्रयत्न से किया है। सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर, अथवा स्वयं तर्कजीवी[3] होने के कारण याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में याजुष मन्त्रों का विनियोग दर्शाते हुए शुक्ल यजुर्वेद के लगभग १८ अध्यायों के मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ भी दर्शाया है।

अति प्राचीन काल के वेदार्थ के संकेत

वेदों के केवल यज्ञ के लिये पर्यवसित हो जाने, पर तथा प्राचीन वैज्ञानिक यज्ञों में उत्तरोत्तर पर्याप्त परिवर्तन और नये-नये यज्ञों के उद्भव के कारण वेदमन्त्रों के अनर्थक बन जाने पर भी भारत युद्धकाल तक वेदार्थ के प्रारम्भिक दृष्टिकोण का सर्वथा लोप नहीं हुआ था। इसलिये तात्कालिक वैदिक शाखा, ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में प्राचीन वेदार्थ के कुछ सङ्केत सुरक्षित रह गये हैं। यदि उन संकेतों को ध्यान में रखकर आज भी वेदार्थ करने का प्रयत्न किया जाये, तो अनेक अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है। इसी प्रकार यदि यज्ञों की सूक्ष्म विवेचना द्वारा उनकी प्रकल्पना के पौर्वापर्य का ज्ञान हो जाये, तो प्राचीन वैज्ञानिक आधार पर प्रकल्पित यज्ञों के द्वारा आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के समझने समझाने में हम समर्थ हो सकते हैं।

---

१. पूर्वमीमांसा अध्याय १, पाद २, अधिकरण १।

२. निरुक्त १।१६॥

३. याज्ञवल्क्य अपने समय के तर्कजीवी व्यक्ति थे। उन्होंने अनेक प्राचीन याज्ञिक मतों का तर्क के आधार पर खण्डन किया है। यथा – 'तदु ह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति प्राणाः पृषदाज्यमिति वदन्तः, तदु ह याज्ञवल्क्यं चरकाध्वर्युरनुव्याजहारानैवं कुर्वन्तं प्राणं वा अयमन्तरगादध्वर्युः प्राण एनं हास्यतीति। स (याज्ञवल्क्यः) ह स्म बाहू अन्वेक्ष्याह – इमौ पलितौ बाहू, क्वस्विद् ब्राह्मणस्य वचो बभूव, इति न तदाद्रियेत'। शत० ३।८।२।२४, २५॥ इसी प्रकार—'अवसभा अह देवानां पत्नीः करोति, परः पुंसो हास्य पत्नी भवतीति, तदु होवाच याज्ञवल्क्यो यथादिष्टं पत्न्या अस्तु, कस्तदाद्रियेत यत्परः पुंसो वा पत्नी स्यादिति'। शत० १।३।४।२१॥

इस विवेचना से स्पष्ट है कि याज्ञिक प्रक्रियाओं में हुए उत्तरोत्तर परिवर्तन और परिवर्धन का वेदार्थ पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। और जो याज्ञिक प्रक्रिया प्रारम्भ में वेदार्थ का ज्ञान कराने के लिये कल्पित की गई थी, उसने अन्त में वेदों को भी अर्थरहित बना दिया। यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य के प्रभाव से मन्त्रानर्थक्यवाद का यद्यपि कुछ प्रतिवाद हुआ, तथापि उससे प्राचीन या तत्समकालीन ग्रन्थों में मन्त्रार्थ से असम्बद्ध जो याज्ञिक मन्त्रविनियोग हो चुका था, उसका परिमार्जन न हुआ, अर्थात् उसका खण्डन नहीं किया गया। अत: याज्ञिक लोग उसी प्रकार मन्त्रार्थ से असम्बद्ध नये-नये विनियोग उत्तर काल में भी करते रहे। हमारा विचार है कि—यदि यास्क जैमिनि और याज्ञवल्क्य आदि मन्त्रानर्थक्यवाद का प्रबल खण्डन न करते, तो जो कुछ याज्ञिकप्रक्रियानुसारी टूटा-फूटा वेदार्थ उपलब्ध होता है, वह भी न मिलता और वेदमन्त्र सर्वथा तान्त्रिक मन्त्रों के समान निरर्थक समझे जाते। अस्तु।

३—आधिदैविक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

याज्ञिक प्रक्रिया के अनन्तर आधिदैविक प्रक्रिया का स्थान है। याज्ञिक प्रक्रिया का इस प्रक्रिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। यास्क के शब्दों में याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ पुष्प-स्थानीय है और आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ फल-स्थानीय[1]। इससे स्पष्ट है कि याज्ञिक वेदार्थ की अपेक्षा आधिदैविक वेदार्थ प्रधान है।

याज्ञिक प्रक्रिया से पूर्व की वेदार्थ की त्रिविप्रक्रिया

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का अभिप्राय समझने से पूर्व 'देव' शब्द का अर्थ जान लेना आवश्यक है। जब यज्ञों की प्रकल्पना नहीं हुई थी, तब वेदार्थ की आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये तीन प्रक्रियाएं विद्यमान थी। उस समय की आधिदैविक प्रक्रिया और यज्ञप्रकल्पना के अनन्तर काल की आधिदैविक प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर है। प्राग्यज्ञप्रकल्पना-काल में ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थों को द्यु और पृथिवी इन दो विभागों में बांटा गया था। उन्हें ही तात्स्थ्य उपाधि से देव और भूत कहा जाता था।[2] तदनुसार समस्त पार्थिव पदार्थों का वर्णन आधिभौतिक प्रक्रिया का अङ्ग था और पृथिवी से ऊपर के समस्त पदार्थों का वर्णन आधिदैविक प्रक्रिया का अङ्ग। उस

---

१. 'अर्थं वाचः(वेदवाण्याः) पुष्पफलमाह—याज्ञदैवते पुष्पफले।' नि० १।२०॥

२. 'देवो द्युस्थानो भवतीति वा'। निरुक्त ७।१५॥ 'अयं वै (पृथिवी) लोको भूतम्।' तै० ब्रा० ३।८।१८।५॥

समय देव शब्द का अर्थ 'देवो द्युस्थानो भवति' इतना ही समझा जाता था। उत्तर काल में यज्ञप्रकल्पना के साथ-साथ नये दैवतवाद का भी उदय हुआ, और देव शब्द के प्राचीन अर्थ 'देवो द्यु स्थानो भवति' के साथ 'दानाद्वा द्योतनाद्वा'[1] अंश और जोड़ा गया। तदनुसार अग्नि जल वायु नदी पर्वत वृक्ष ओषधि वनस्पति आदि पदार्थों की भी गणना देवों में की गई। क्योंकि मनुष्य इन पदार्थों से कुछ न कुछ लाभ उठाता ही है। अतः प्राग्याज्ञिक काल के आधिभौतिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का बहुतसा अंश नूतन परिबृंहित आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के अन्तर्गत हो गया, और आधिभौतिक प्रक्रिया की स्वतन्त्र सत्ता लुप्त हो गई। परन्तु याज्ञिक प्रक्रिया के उद्भव के कारण आधिभौतिक वेदार्थ प्रक्रिया के लुप्त होने पर भी वेदार्थप्रक्रिया का त्रिविधत्व बना रहा।

आरम्भ में (त्रेता के तृतीय चरण तक) आधिदैविक प्रक्रिया का अभिप्राय ब्रह्माण्ड की किसी क्रिया वा पदार्थ का वर्णन करना समझा जाता था। इसके संकेत निरुक्त[2] और ब्राह्मण[3] ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलते हैं। उत्तर काल (त्रेता के अन्त) में आधिदैविक प्रक्रिया में अधिष्ठातृवाद की उत्पत्ति हुई। तदनुसार अग्नि वायु सूर्य चन्द्र ओषधि वनस्पति आदि समस्त पदार्थों में चेतनस्वरूप देवविशेषों की कल्पना की गई। उस समय आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ का प्रयोजन अग्नि वायु सूर्य आदि देवों से स्व-अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति के लिये उनकी प्रार्थना करना मात्र रह गया[4]। दूसरे शब्दों में अत्युत्कृष्ट विज्ञान से युक्त मन्त्रों की स्थिति चारण भाट आदि के स्तुति-वचनों के समान बन गई। इसी कारण प्राचीन काल में आधिदैविक प्रक्रिया के अनुसार वेद का जो वैज्ञानिक अर्थ किया जाता था, वह उत्तर काल में शनैः-शनैः लुप्त होता गया।

देवता के स्वरूप में किस प्रकार परिवर्तन हुआ, और उसमें कौन-कौन से वाद उत्पन्न हुए, इनका संक्षिप्त निदर्शन यास्क ने दैवतमीमांसा प्रकरण (निरु० अ० ७) में कराया है।

आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ को समझने के लिये इस समय एक-

---

१. निरुक्त ७।१५॥ २. यथा ३।१२—'यत्रा सुपर्णा' मन्त्र की व्याख्या।

३. ब्राह्मणों में अनेकत्र। ४. 'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।' निरुक्त ७।१॥

मात्र सहारा यस्कीय निरुक्त ही है। हां, ब्राह्मण ग्रन्थों विशेषकर शतपथ ब्राह्मण से इस विषय में कुछ सहायता मिल सकती है।

नैरुक्तप्रक्रिया के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति

यास्कीय निरुक्त में मन्त्रों की आधिदैविक व्याख्या उपलब्ध होने से लोक में नैरुक्त-प्रक्रिया का अभिप्राय आधिदैविक-प्रक्रिया ही समझा जाता है, परन्तु यह एक भारी भ्रम है। वस्तुतः निरुक्त शब्द निर्वचन का पर्याय है।[1] वह निर्वचन भी अर्थ-निर्वचन है, शब्द-निर्वचन नहीं है।[2] तदनुसार निर्वचन को प्रधानता देकर जो भी मन्त्रव्याख्या की जायेगी, चाहे वह याज्ञिक हो, चाहे आधिदैविक, वा चाहे आध्यात्मिक; सभी व्याख्या नैरुक्त प्रक्रियानुसारी समझी जायेगी। यास्कीय निरुक्त के दैवत प्रकरण से विदित होता है कि कुछ प्राचीन निरुक्तकार याज्ञिक प्रक्रियानुसार भी मन्त्र-व्याख्या करते थे।[3] इसी प्रकार निरुक्त के परिशिष्ट प्रकरण से विदित होता है कि कतिपय निरुक्त ग्रन्थ आध्यात्मिक प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर भी लिखे गये थे।[4] अतः

---

१. 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥' द्र०—काशिका ६।३।१०९॥

२. व्याकरण शब्दनिर्वचनशास्त्र=शब्दव्युत्पत्तिशास्त्र है। और निरुक्त अर्थ-निर्वचन=शब्दप्रवृत्तिनिमित्त का बोधक शास्त्र है। इस भेद को न जानकर आधुनिक योरोपीय और उनके अनुगामी भारतीय विद्वानों ने यास्क ने निर्वचनों को अधिकतर अशुद्ध मूर्खतापूर्ण एवं निरर्थक कहा है। द्र०—सिद्धेश्वरवर्मा कृत एटोमोलोजि आफ यास्क, तथा राजवाड़े सम्पादित निरुक्त (पूना सं०) की भूमिका।

३. यद्दैवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति (नि०७।४)। अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने, इन्द्राय वृत्रतुरे, इन्द्रायांहोमुचे, तानप्येके समामनन्ति (नि० ७।१३)। इन्द्र से वृत्रहा इन्द्र, वृत्रतुर इन्द्र, अंहोमुक् इन्द्र को पृथक् मानकर इन विशेषणयुक्त पदों का निघण्टु में परिगणन करना याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ही उपपन्न होता है। क्योंकि याज्ञिक प्रक्रिया में विभिन्न विशेषणविशिष्ट देवता पृथक्-पृथक् माने जाते हैं। देखो—**तस्माद् देवतान्तरमिन्द्रान्महेन्द्रः'** (शाबरभाष्य मीमांसा २।१।१६)।

४. निरुक्त अ० १३, १४ में आध्यात्मिक अर्थ की प्रधानता है। अध्यात्मस्तुतियों की ही प्राचीन संज्ञा 'अतिस्तुति' है। अतिस्तुतिरूप से व्याख्या

नैरुक्त प्रक्रिया का अर्थ केवल आधिदैविक प्रक्रिया समझना भूल है ।[1]

आधिदैविक-प्रक्रिया पर याज्ञिक प्रक्रिया का प्रभुत्व

भारतयुद्ध काल तक वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया याज्ञिक प्रक्रिया से अभिभूत होकर भी कथंचित् जीवित रही। परन्तु उसके अनन्तर याज्ञिक प्रक्रिया ने उसे सर्वथा समाप्त कर दिया। याज्ञिक प्रक्रिया का इतना प्रभाव हुआ कि यास्कीय निरुक्त के आधिदैविक प्रक्रियानुसारी होने पर भी दुर्ग और स्कन्द ने निरुक्तान्तर्गत मन्त्रों की व्याख्या भी याज्ञिकविनियोगों का निदर्शन कराते हुए याज्ञिक प्रक्रियानुसार ही की है। यही अवस्था निरुक्त-समुच्चयकार आचार्य वररुचि की है। इतना होने पर भी वररुचि दुर्ग और स्कन्द की व्याख्याओं में विशुद्ध आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ के संकेत अवश्य उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार यास्कीय निरुक्त, उसकी व्याख्याओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में यत्र तत्र उल्लिखित 'इत्यधिदैवतम्' आदि संकेतों के आधार पर वेदमन्त्रों का आधिदैविक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ समझा जा सकता है। इसमें प्राचीन यज्ञों की प्रक्रिया से भारी सहायता मिल सकती है। वर्तमान भौतिक विज्ञान तथा ज्योतिष विज्ञान से भी पर्याप्त सहायता प्राप्त हो सकती है।

४—आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की आधिदैविक प्रक्रिया के अनन्तर आध्यात्मिक प्रक्रिया का

करनेवाले नैरुक्त भी देवताप्रकरण में अग्नि का ही प्रथम निर्देश करते थे (अ० १३, खण्ड १)। अध्याय १४ में स्पष्टतया लिखा है—'अथातमनो महतः प्रथमं भूतनामधेयाननुक्रमिष्यामः' (खण्ड २३); 'अथैतं महान्तमात्मानमेतानि सूक्तानि, एता ऋचोऽनुप्रवदन्ति' (खण्ड २४)। तुलना करो—'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः०' (शत० १४।५।४।१०)।

१. निरुक्त के टीकाकार दुर्गस्कन्द-महेश्वर आदि, तथा निरुक्त-समुच्चयकार वररुचि नैरुक्त प्रक्रिया का अभिप्राय केवल आधिदैविक प्रक्रिया ही समझते हैं। वे जहां भी ऐतिहासिक प्रक्रिया के विरोध में नैरुक्त प्रक्रियानुसारी अर्थ दर्शाते हैं, वहां सर्वत्र आधिदैविक अर्थ ही उपस्थित करते हैं। सम्भवतः इस भूल का कारण यास्कीय निरुक्त का आधिदैविक प्रक्रियानुसारी होना ही है।

स्थान है। यास्क के मतानुसार आधिदैविक वेदार्थ पुष्प-स्थानीय है,और आध्यात्मिक वेदार्थ फल-स्थानीय।[1] अर्थात् याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ से आधिदैविक वेदार्थ श्रेष्ठ है, और आधिदैविक वेदार्थ से आध्यात्मिक वेदार्थ। दूसरे शब्दों में अध्यात्म का ज्ञान करना वेद का मुख्य अर्थात् अन्तिम प्रयोजन है।

वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया का वास्तविक अभिप्राय समझने के लिए प्रथम अध्यात्म शब्द का अर्थ समझ लेना आवश्यक है। आत्मा शब्द का अर्थ है - शरीर[2] जीव और ईश्वर। जो आत्मा के विषय में कहा जाय, वह 'अध्यात्म' कहाता है[3]। इस प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ में शरीर जीव और ईश्वर सम्बन्धी सभी विज्ञान का अन्तर्भाव हो जाता है। शरीरविज्ञान आयुर्वेद का एक अवान्तर विषय है। आयुर्वेद का वेद के साथ सीधा संबन्ध है, यह हम पूर्व प्रतिपादन कर चुके हैं। अतः वेद को शरीर-विज्ञान का प्रतिपादन करना ही चाहिये। वेद का सम्पूर्ण ज्ञान है ही जीव के निःश्रेयस और अभ्युदय के लिये। अतः वेद के साथ जीव का साक्षात् या परम्परा से सम्बन्ध होना अवश्यंभावी है। अब रहा ईश्वर का सम्बन्ध, सो जिस प्रकार वेद में संसार के विविध पदार्थों का विज्ञान दर्शाया है, उसी प्रकार वेद में ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान का निर्देश होना भी आवश्यक है। इतना ही नहीं, प्राचीन भारतीय सम्प्रदाय के अनुसार वैदिक विज्ञान ईश्वरप्रदत्त माना गया। है[4]। अतः वेद का ईश्वर के साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये अनेक आचार्यों का कहना है कि वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता।[5] इस प्रकार वेद के आध्यात्मिक-प्रक्रियानुसारी अर्थ का अभिप्राय

---

१. 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।' निरु० १।२०॥

२. 'द्वावात्मानौ—अन्तरात्मा शरीरात्मा च।' महाभाष्य १।३।६७॥ अथर्व १०।२।३२ तथा १०।८।४३ में यक्ष=जीव के लिये प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' विशेषण में आत्मा शब्द का अर्थ शरीर ही है।

३. आत्मानमधिकृत्य इत्यध्यात्मम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः।

४. 'शास्त्रयोनित्वात्'। वेदान्त १।१।३॥ 'अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः····।' शत० १४।५।४।६॥

५. 'नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति।' ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका पृष्ठ ३६३, संस्क० ३।

है—शरीर जीव तथा ईश्वर सम्बन्धी किसी न किसी विज्ञान का प्रतिपादन करना।[1]

अति प्राचीन काल में वेद का आध्यात्मिक अर्थ किस प्रकार का किया जाता था, यह इस समय निश्चयात्मक रीति से नहीं बताया जा सकता। क्योंकि इस समय जितना भी वैदिक वाङ्मय उपलब्ध हो रहा है, वह सब भारत युद्ध-काल के आस-पास का है। इसके अतिरिक्त कोई ऐसा प्राचीन आर्ष ग्रन्थ भी नहीं मिलता, जिसमें किसी वेद के किसी भी भाग का आनुपूर्वी से आध्यात्मिक अर्थ दर्शाया हो। इतना होने पर भी उपलभ्यमान आर्ष वाङ्मय में आध्यात्मिक अर्थ के अनेक ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं, विशेषकर आरण्यक ग्रन्थों में, जिनसे इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

निरुक्त ७।४ में लिखा है—

'महाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।'

अर्थात् देवता के अत्यन्त ऐश्वर्यशाली होने से एक ही देवता की बहुत प्रकार से स्तुति होती है।

अब प्रश्न होता है कि वह एक देवता कौनसी है? इसका उत्तर निरुक्त के परिशिष्ट (जिसमें मुख्यतया वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया दर्शाई है[2]) में इस प्रकार दिया है—

'अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणः, तत्परं, तद् ब्रह्म।'

अर्थात् वह महानात्मा पर (=परमात्मा) है, वह ब्रह्म है।

कात्यायन के मत में इस महानात्मा का नाम सूर्य है।[3] वेद की दृष्टि में इस महानत्मा का नाम अग्नि है—

---

१. यास्क ने निरुक्त ७।१, २ में ऋचाओं के त्रिविधत्व का प्रतिपादन करते हुए परोक्षकृत और प्रत्यक्षकृत के साथ जिस आध्यात्मिक का निर्देश किया है, वह इस आध्यात्मिक से सर्वथा भिन्न है।

२. 'व्याख्यातं दैवतं यज्ञाङ्गं च। अथात ऊर्ध्वगतिं व्याख्यास्यामः'। निरुक्त १४।१॥

३. 'एकैव वह महानात्मा देवता, स सूर्य इत्याचक्षते, स हि सर्वभूतात्मा।' ऋक्सर्वानुक्रमणी।

"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।" ऋ० ३।२६।७॥

इसी एक अग्निरूपी महानात्मा के अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त होने से अध्यात्म-चिन्तक उसे अनेक नामों से स्मरण करते हैं। इसका निर्देश भगवती श्रुति में भी उपलब्ध होता है—

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः'॥[२]
ऋ० १।१६४।४६॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
शु० यजुः ३२।१॥

इन श्रौत प्रमाणों के अनुसार वेद में इन्द्र वरुण आदि जितने नाम प्रयुक्त हुए हैं, वे सब आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार एक ही महानात्मा के वाचक हैं।[३] इसलिये वेद में जितने भी देवतावाचक पद हैं, आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार उन सबका अर्थ ब्रह्म ही होगा।

याज्ञिकप्रक्रियानुसारी वेदार्थ से पराहत बुद्धिवाले समझते हैं कि वेद का

---

१. इसीलिये ऋग्वेद के आरम्भ में 'अग्नि' पद का ही निर्देश किया है।

२. इस मन्त्र में इन्द्र मित्र आदि पद एक केवल बार प्रयुक्त हुए हैं, और 'अग्नि पद दो बार। इससे स्पष्ट है कि अग्नि पद में उद्देश्यता है, और इन्द्र मित्र आदि में विधेयता। कात्यायन ने एक महानात्मा का नाम 'सूर्य' लिखकर उसी की विभूतियां अन्य देव हैं, इसके प्रतिपादन के लिये यही मन्त्र उद्धृत किया है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि इस मन्त्र में साक्षात् 'सूर्य' का निर्देश ही नहीं है। यदि 'सुपर्ण' को सूर्य का वाचक मान भी लें, तब भी उसमें मन्त्र निर्देशानुसार उद्देश्यता नहीं है, विधेयता है। आधुनिक सदैक्यवादी इस मन्त्र के 'सत्' शब्द में उद्देश्यता, और इन्द्र आदि के समान अग्नि में भी विधेयता मानते हैं, वह भी ठीक नहीं है। अग्नि पद का दो बार प्रयोग होने से उसमें विधेयता किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती। अतः 'एकं सद् अग्निं विप्रा बहुधा वदन्ति' यही अन्वय होगा।

३. मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥' १२।१२३॥

मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञ (=कर्मकाण्ड) ही है, अध्यात्म विषय तो उपनिषदों का है[1] (ईशावास्य अध्याय की भी उपनिषद् संज्ञा होने से उसे उपनिषदों में ही गिनते हैं)। यह धारणा सर्वथा मिथ्या है। आध्यात्मिक प्रक्रियानुसार सम्पूर्ण वेद का प्रतिपाद्य विषय एकमात्र ब्रह्म है। इस विषय में हम कतिपय प्रमाण उपस्थित करते हैं—

'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति तपांसि च सर्वाणि यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥'
कठो० १।१५॥

इससे स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वेद का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय 'ओम्' है। इसी कठ श्रुति की प्रतिध्वनि गीता के निम्न श्लोक में सुनाई पड़ती है—

'यदक्षरं ब्रह्मविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥' ८।११॥

यही तत्त्व गीता में अन्यत्र भी प्रकट किया है—

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। १५।१५॥

भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास अपने पुत्र शुकदेव को अध्यात्मविद्या का उपदेश करके अन्त में कहते हैं—

'दशेदमृक्सहस्राणि निर्मथ्यामृतमद्भुतम्।
नवनीतं यथा दध्नः काष्ठादग्निर्यथैव च।
तथैव विदुषां ज्ञानं पुत्रहेतोः समुद्धृतम्॥'
महाभारत शान्ति० २४६।१४, १५॥

अर्थात् जैसे दही को मथकर मक्खन निकाला जाता है, या लकड़ियों को रगड़ कर अग्नि को प्रकट किया जाता है, उसी प्रकार दश सहस्र ऋचाओं को मथकर मैंने यह अध्यात्म ज्ञान निकाला है।

व्यास जी ने यहां जो दो उपमाएं दी हैं, वे विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

---

१. 'तस्मिश्च वेदे द्वौ काण्डौ—कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डः, तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपादितत्वात्।' काण्वसंहिता सायणभाष्योपक्रमणिका (काशी संस्करण, पृष्ठ १०६)। इस लेख में सायण ने सम्पूर्ण यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन माना है। इसी प्रकार अन्य वेदों के लिये भी समझना चाहिये। यह निदर्शनमात्र है।

इन उपमाओं से स्पष्ट है कि जैसे दहि के प्रत्येक भाग में से नवीनत सूक्ष्म रूप से विद्यमान है और जैसे काष्ठ के प्रत्येक अवयव में अग्नि सूक्ष्म रूप से विद्यमान है, वैसे ही दश सहस्र ऋचाओं (के समूह ऋग्वेद) की प्रत्येक ऋचा में सूक्ष्मरूप से अध्यात्म ज्ञान निहित है। इस तथ्य को स्वीकार किये विना दोनों उपमाएं व्यर्थ हो जाती हैं—

महाभारत शान्तिपर्व २६३, १९-२० में इसी तत्त्व का उपदेश इस प्रकार किया है—

ब्राह्मं वेदमधीयन्तस्तोषयन्त्यपरानपि।
अखिलं दैवतं सर्वं ब्रह्म ब्रह्मणि श्रितम्॥

ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने भी लिखा है—

ओङ्कारः सर्वदेवत्यः पारमेष्ठयो वा ब्राह्मो दैव आध्यात्मिकः।

अर्थात् अध्यात्म में सब ऋचाओं का ओङ्कार देवता है, अथवा परमेष्ठी वा ब्रह्म।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों के मत में वेद के प्रत्येक मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ हो सकता है। इसी भाव को स्कन्दस्वामी ने निरुक्त-टीका में यास्क का प्रमाण देकर इस प्रकार दर्शाया है —

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्य-कारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्यविषयस्य प्रदर्शनाय 'अर्थं वाचः पुष्पफलमाह' इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। निरुक्त टीका ७।५॥

अर्थात्—अध्यात्म, नैरुक्त तथा याज्ञिक तीनों प्रक्रियाओं में सब मन्त्रों की योजना करनी चाहिये, क्योंकि भाष्यकार (यास्क) ने स्वयं सब मन्त्रों का विषय तीन प्रकार का है, यह दर्शाने के लिये यज्ञ दैवत और अध्यात्म को वेद-वाणी के पुष्प और फल कहा है।

आचार्य भर्तृहरिने भी महाभाष्य की व्याख्या में प्रसङ्गवश लिखा है—

यथा इदं विष्णुर्विचक्रमे इत्यत्र एक एव विष्णुशब्दोऽनेकशक्तिः सन् अधिदैवतमध्यात्ममधियज्ञं चात्मनि नारायणे चषाले च तया शक्त्या प्रवर्तते। महाभाष्यदीपिका पृष्ठ २६८, हमारा हस्तलेख।

अर्थात् 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' इस मन्त्र में एक विष्णु शब्द ही अनेक अर्थों का वाचक होने से अधिदैवतप्रक्रिया में आत्मा (=सूर्य, 'सूर्य आत्मा जगस्त-

स्थुषश्च') अध्यात्म में नारायण और अधियज्ञ में चषाल (=यूप के ऊपर का ढक्कन) को कहता है।

इससे स्पष्ट है कि वेदके समस्त देवतावाचक पद विविध प्रक्रियाओं में अर्थो को कहने में पूर्ण समर्थ हैं। अतः वेद के प्रत्येक देवतावाचक पद का अध्यात्म प्रक्रियापरक अर्थ हो सकता है।

इतना ही नहीं, वेदके अनेक मन्त्रों में अग्नि आदि के कतिपय ऐसे विशिष्ट विशेषण प्रयुक्त हैं, जो अभिधावृत्ति से केवल अध्यात्म प्रक्रिया में ही उपपन्न हो सकते हैं। यथा—'कविमग्निमुपस्तुहि' (ऋ० १।१२।७) में अग्नि का कवि विशेषण। भौतिक अग्नि का कवि विशेषण विना लक्षणा के कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।

अनेक अध्यात्मदर्शनविहीन पण्डितम्मन्य आशंका करते हैं कि भला अन्त्येष्टि में विनियुक्त मन्त्रों का आध्यात्मिक अर्थ कैसे होगा ? ओषधि आदि भौतिक पदार्थों के वाचक पद अध्यात्मप्रक्रिया में कैसे संगत होंगे ?

इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इस प्रकार की शंका करनेवाले महानुभावों को अध्यात्म शब्द का वास्तविक अर्थ ही ज्ञात नहीं है। ये लोग अध्यात्म का अर्थ केवल ब्रह्म का प्रतिपादन मात्र समझ बैठे हैं। हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं कि अध्यात्म शब्द का अर्थ है—शरीर, जीव और ईश्वर सम्बन्धी विज्ञान का प्रतिपादन। इस दृष्टि से विचार करने पर अन्त्येष्टि मन्त्रों में शरीर और जीव का साक्षात् वर्णन होने से उनका प्रतिपाद्य विषय तो अध्यात्म के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। संसार के समस्त पदार्थ जीवों के सुख के लिये रचे गये हैं, अतः सांसारिक पदार्थों के गुणवर्णन द्वारा उनके सदुपयोग का विधान करना भी आत्मकल्याणार्थ ही है। ओषधियों का तो शरीर के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, उनके सेवन द्वारा शरीर निरोग रहता है और उस नैरोग्य से आत्मा को सुख मिलता है। इसलिये ओषधि विज्ञान के मन्त्रों का शरीर से साक्षात् और आत्मा के साथ परम्परा से सम्बन्ध विस्पष्ट है। इस प्रकार वेद के सभी मन्त्रों का शरीर आत्मा और परमात्मा के साथ साक्षात् या परम्परा से सम्बन्ध होने से उनका आध्यात्मिक अर्थ होने में कोई कठिनाई ही नहीं है। कठिनाई तो तब होती है जब अध्यात्मिक का अर्थ केवल परमात्मा सम्बन्धी समझा जाये।

इतना ही नहीं, जिन मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग है, उनका तो आध्यात्मिक अर्थ अवश्य स्वीकार करना होगा, क्योंकि वैदिक परम्परा के अनुसार

यज्ञ ब्रह्माण्ड और पिण्ड के प्रतिनिधि हैं, यह हम पूर्व कह चुके हैं। शतपथकार याज्ञवल्क्य ने भी दर्शपौर्णमास की आध्यात्मिक व्याख्या करके अन्त में लिखा है—

तदाहु—आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी ३ इति। आत्मयाजीति ब्रूयात्। स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते, इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयत इति। शत० ११।२।६।१३॥

अर्थात् देवयाजी और आत्मयाजी में आत्मयाजी श्रेष्ठ है। आत्मयाजी उसको कहते हैं जो यज्ञ करते हुए जानता है कि यज्ञ की किस क्रिया से मेरे शरीर का कौन सा अङ्ग संस्कृत हो रहा है वा वृद्धिको प्राप्त हो रहा है।

इससे स्पष्ट है कि यज्ञों में विनियुक्त तत्तन्मन्त्रों का सम्बन्ध अध्यात्म प्रक्रिया में शरीर के विभिन्न अङ्गों के साथ है। इसलिये जब यज्ञक्रिया का ही अध्यात्म में पर्यवसान हो जाता है, तब यज्ञों में विनियुक्त मन्त्रों के अर्थो का भी अध्यात्म-प्रक्रिया में पर्यवसान होना अवश्यंभावी है।

इस विवेचना से यह भी व्यक्त है कि जो लोग वेद को केवल यज्ञ कर्म के लिये ही मानते है,[1] वे वस्तुतः यज्ञ कर्म के मर्म को भी नहीं जानते।

आध्यात्मिक प्रक्रिया में परिवर्तन

जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया में उत्तरोत्तर अनेक परिवर्त्तन हुए, उसी प्रकार वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी महान् परिवर्तन हुए।

सबसे प्रथम अध्यात्म प्रक्रिया से शरीर विज्ञान का सम्बन्ध छूटा, तदनन्तर आत्मविज्ञान का नाता टूटा और अध्यात्म का अर्थ केवल परमात्म-चिन्तन रह गया। इस परिवर्तन का प्रभाव उपनिषदों में भी स्पष्ट लक्षित होता है। ईश कठ आदि उपनिषदों में शरीर, आत्मा और परमात्मा तीनों का वर्णन मिलता है, मुण्डक में आत्मा और परमात्मा दो का ही उल्लेख है और

---

१. देखो पूर्व पृष्ठ ८८ की बिप्पणी २ तथा पृष्ठ १०४ की टिप्पणी १ में सायण का लेख। इस विषय में जो सायण का मत है, वही सभी याज्ञिकों का है।

माण्डूक्य में अकेले ब्रह्म का ही प्रतिपादन है[1]। हमारे विचार में यही एकाङ्गी ब्रह्मविचार उत्तरकाल में अद्वैतवाद के रूप में परिणत हो गया।

इस परिवर्तन का प्रभाव वेदार्थ की आध्यात्मिक प्रक्रिया पर भी पड़ा। उत्तरकाल में 'मन्त्र के अर्थ में येन केन प्रकारेण ईश्वर का सम्बन्ध जोड़ देना' आध्यात्मिक अर्थ समझा जाने लगा। मध्वाचार्य तथा उनके सम्प्रदाय के विद्वानों के किये वेदभाष्य इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसी प्रकार आर्यसमाज के विद्वान् भी मन्त्रार्थ के प्रारम्भ में 'हे ईश्वर' ऐसा सम्बोधनमात्र करके अपने को वेद के आध्यात्मिक भाष्यकार समझते हैं।

वेद का कर्मकाण्ड के साथ विशेष सम्बन्ध हो जाने से अथवा 'वेद केवल यज्ञों के लिये प्रवृत्त हुए हैं' ऐसी मिथ्या धारणा बन जाने से शनैः-शनैः वेद का अध्यात्म विद्या से सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया, और जैसे याज्ञिक प्रक्रिया में शनैः शनैः वेद की मुख्यता नष्ट होकर ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्य बन गये, उसी प्रकार आध्यात्म विद्या का वेद से सम्बन्ध छूट जाने पर उपनिषदें ही अध्यात्म विद्या के मुख्य ग्रन्थ बन गये। इसी कारण उत्तरकाल (द्वापर के चतुर्थ चरण) में वेद की अपरा विद्या में गणना होने लगी[2]। तदनन्तर उपनिषदों की प्रधानता से लाभ उठाकर उनके नाम पर अनेक ऐसी पुस्तकों की रचना हुई, जिनमें अध्यातम विद्या का लेश भी नहीं है। रामतापिनी आदि शतशः नामधारी उपनिषदें इसी प्रकार की हैं। और तो और मुस्लिम सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखनेवाली एक अल्लोपनिषद् भी कल्पित कर ली गई।

जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया में शनैः शनैः वेद मन्त्र अनर्थक = अर्थ-रहित बन गये उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रक्रिया में भी मन्त्र अनर्थक समझे जाने लगे। इसी कारण मन्त्र के जपमात्र को प्रधानता प्राप्त हुई अर्थात् मन्त्र का अभिप्राय समझो वा मत समझो, केवल उसके जप से ही कल्याण हो जायगा, ऐसी भावना का उदय हुआ। उत्तरकाल में वैदिक मन्त्रों का जप भी छूट गया उनका स्थान 'राधाकृष्णाभ्यां नमः' 'सीतारामाभ्यां नमः' आदि

---

१. यदि इस उपनिषद् में ब्रह्म शब्द से जीव का भी ग्रहण माना जाये तो इसमें जीव और ईश्वर दोनों का निर्देश होगा।

२. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डक १।१।५॥

साम्प्रदायिक मन्त्राभासों तथा राम कृष्ण आदि नामों के जप ने ले लिया। अन्त में नाम जप का माहात्म्य इतना बढ़ा कि उलटे नाम के जप से भी कल्याण समझा जाने लगा। लोक में प्रसिद्धि है कि वाल्मीकि राम राम के स्थान पर मरा मरा जप कर ही प्रभु के भक्त बन गये[1]। इसी प्रकार वेद के 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया[2]' आदि मन्त्रों में जीव और ब्रह्म के जिस नाम साम्यरूपी समान-ख्यानत्व[3] का उल्लेख हुआ है, उसका भाव न समझकर वल्लभ आदि सम्प्रदायों में गोपी-कृष्ण आदि की रासलीला का उदय हुआ।

इस प्रकार अत्यन्त उच्चकोटि के अध्यात्म-विचार का परिवर्तन होते-होते उसका कितना निष्कृष्ट स्वरूप बन गया, यह इस विवेचन से स्पष्ट है।

५—ऐतिहासिक-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

जिस समय वेदार्थ की आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं का लोप हो रहा था, उस समय वेदार्थ की एक नई प्रक्रिया का उदय हुआ। उसका नाम है—ऐतिहासिक प्रक्रिया।

ऐतिहासिक प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण

जब रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि के कारण मनुष्यों की बुद्धि मन्द होने लगी, वे वेद के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक गूढ़ तत्त्व साक्षात् समझने में असमर्थ होने लगे, तब ऋषियों ने मन्त्रगत गूढ़ तत्त्वों को समझाने के लिये मन्त्रगत पदों के आश्रय से तद्विषक आख्यायिकाओं की कल्पना की। यास्क ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन निरुक्त में दो बार किया—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।१०।१०,४६।

अर्थात्—अर्थ के साक्षात् कर्त्ता ऋषि को आख्यान से संयुक्त करके [कहने की] प्रीति होती है।

---

१. उलटे नाम जपा जग जाना, बाल्मीकी भये ब्रह्मसमाना।

२. ऋग्वेद १।१६४।२०॥

३. सखा शब्द का अर्थ है समान-ख्यान (निरुक्त ७।३०) अर्थात् समान नामवाले। आत्मा, ब्रह्म, यक्ष, हंस आदि अनेक नाम जीव और ईश्वर दोनों के समान हैं। इसलिये जीव से ईश्वर को पृथक् करने के लिये इन्हीं में परम बृहत्, महत्, ख, व्योमन् आदि विशेषण लगाये जाते हैं।

इस प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया के उद्भव का मल आधार आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रक्रियाएं ही है।

इतिहास शब्द का अर्थ

इतिहास शब्द का मूल अर्थ है—इति+ह+आस' अर्थात् ऐसा ही था। इसी अर्थवाला इतिहास शब्द भूतकाल की सत्य घटना का वर्णन करता है। परन्तु गौणी वृत्ति से इस इतिहास शब्द का व्यवहार उन कल्पनिक पशु-पक्षियों की आख्यायिकाओं के लिए भी होता है, जिनका वर्णन 'अथाप्युदाहरन्तीमम् इतिहासं पुरातनम्' कहकर भूतकालिक घटनाओं के रूप में किया जाता है। इसी प्रकार की काल्पनिक कहानियों के लिए इतिहास शब्द का प्रयोग रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों में बहुत पाया जाता है। इसलिए किसी भी ग्रन्थ में इतिहास पद के उपलब्ध होने मात्र से उसे भूतकाल की वास्तविक घटना नहीं समझ लेना चाहिये। सबसे प्रथम यह विचारना चाहिये कि यह इतिहास शब्द यहां पर मुख्यार्थ में प्रयुक्त हुआ है वा गौणार्थ में अर्थात् सत्य घटना के लिये प्रयुक्त हुआ है अथवा काल्पनिक वर्णन के लिये।

वेद और इतिहास

समस्त प्राचीन संस्कृत वाङ्मय चाहे वह वैदिक हो, वा दार्शनिक, वैज्ञानिक हो वा लौकिक, सभी एक स्वर से वेद को अपौरुषेय अथवा महाभूत[१]-निःश्वसित कहते हैं, परन्तु इन्हीं ग्रन्थों में वेदार्थ से सम्बन्द्ध इतिहास आख्यान आदि पदों का असकृत् निर्देश उपलब्ध होता है। निरुक्त में कई स्थानों पर मन्त्रार्थ दर्शाने से पूर्व "तत्रेतिहासमाचक्षते" का प्रयोग मिलता है[२]। भगवान् वेद व्यास ने तो स्पष्ट घोषणा कर दी है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। आदिपर्व १।२६७॥

इसलिए यह विचारणीय हो जाता है कि वेदार्थ विषयक 'इतिहास' पद का क्या अर्थ है? क्या वस्तुतः वेद में ऐतिहासिक व्यक्तियों, नगरों, नदियों, पर्वतों का वर्णन है वा एतद्विषयक इतिहास पद गौणी वृत्ति से मन्त्र के किन्हीं पदों के आधार पर कल्पित आख्यायिकाओं के वाचक हैं। इस बात का निर्णय करने के लिए हमें इन्हीं ग्रन्थों को टटोलना होगा और उन्हीं के

---

१. महाभूत शब्द ज्येष्ठ ब्रह्म परमातमा का वाचक है। एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो……। शत० १४।५।४।१०॥

२. यथा २।१०॥२।२४॥ इत्यादि।

आधार पर इस 'इतिहास' पद के वास्तविक अभिप्राय को समझाने की चेष्टा करनी होगी।

यास्कीय निरुक्त में 'इतिहास' और 'आख्यान' दो पदों का एकार्थ में प्रयोग उपलब्ध होता है। निरुक्त के अनुशीलन से विदित होता है कि उसमें प्रयुक्त 'इतिहास' और 'आख्यान' पद वास्तविक (सत्य) इतिहास के वाचक नहीं हैं।

निरुक्तकार यास्क ने 'त्वष्टा दुहित्रे' (ऋ० १०।१७।१) मन्त्र के उपक्रम में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' लिखकर मन्त्रार्थ का उपसंहार "महतो जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्य, आदित्योदये अन्तर्धीयते" पदों से किया है। इससे स्पष्ट है कि यास्क द्वारा यहां प्रयुक्त इतिहास पद किसी वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वाचक नहीं है, अपितु मन्त्रप्रतिपादित अहोरात्र-विज्ञान को सुगमता से समझाने के लिए मन्त्रार्थ से पूर्व लिखी गई काल्पनिक आख्यायिका का बोधक है। अन्यथा उपक्रम और उपसंहार में एकवाक्यता नहीं बन सकती। द्र० —निरुक्त १२।१०, ११॥

यास्क ने मन्त्रार्थ से पूर्व इस प्रकार के काल्पनिक इतिहास वा आख्यायिका के लिखने का प्रयोजन दो स्थानों पर इस प्रकार स्पष्ट किया है—

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता।
निरुक्त १०।१०,४५॥

अर्थात् मन्त्रार्थ-द्रष्टा ऋषि की स्वदृष्ट मन्त्रार्थ को समझाने के लिए उसे कथा से संयुक्त करके कहने में प्रीति होती है। यही अभिप्राय निरुक्त के टीकाकार दुर्ग ने इतिहास शब्द के अर्थ का निरूपण करते हुए इस प्रकार लिखा है—

यः कश्चिदाध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिको वाऽर्थ आख्यायते दिष्टचुदितार्थावभासनार्थं स इतिहास इत्युच्यते। निरुक्त टीका १०।२६, पृष्ठ ८५८ (आनन्दाश्रम संस्करण) अर्थात् जो कोई भी आध्यात्मिक आधिदैविक अथवा आधिभौतिक अर्थ भाग्य से बुद्धि में प्रकट हुआ, उसे प्रकट करने के लिये जो कथन होता है, वह इतिहास कहाता है।

मनुष्य का स्वभाव ह कि जब उसे किसी विषय का अपूर्व ज्ञान होता है,

तब उसे दूसरों पर प्रकट करने के लिए उसके मन में एक प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न होती है। जब तक वह उस अपूर्वज्ञान को दूसरों पर प्रकट नहीं कर देता, तब तक उसके मन को शान्ति नहीं होती। इसी मनुष्य स्वभाव के अनुसार जब किसी ऋषि को किसी मन्त्र के अपूर्व अर्थ का प्रतिभान होता है, तब वह उसे प्रकट करने के लिये आतुर हो जाता है। यतः वह विज्ञान अतिशय गूढ़ होता है, उसे सीधे-साधे शब्दों में कहने मात्र से वह साधारण व्यक्ति को हृदयङ्गम नहीं हो सकता, अतः उसे हृदयङ्गम कराने के लिये उसमें नमक मिर्च मसाला लगाकर अर्थात् आख्यायिका का रूप देकर कहने की इच्छा होती है। इसी भाव से भगवान् वेदव्यास ने भी 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' में 'समुपबृंहयेत्' पद का निर्देश किया है। अर्थात् वेद के गूढ़ अभिप्राय को हृदयङ्गम कराने के लिये वेदार्थानुकूल किसी आख्यायिका का आश्रयण लेना ही होगा और उस वेदार्थानुकूल आख्यायिका की कल्पना विना पुरातन इतिहास जाने नहीं हो सकती और उसके विना मन्त्रार्थ में रोचकता तथा सरलता नहीं आ सकती। अतः वेदार्थ का बोध कराने के लिये पुरातन इतिहास का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

वेद में अनेक ऐसे वर्णन उपलब्ध होते हैं, जो आपाततः ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तव में वह ऐतिहासिक रूप के नहीं होते। यथा वेद का इन्द्र-वृत्र-युद्ध।

यास्क ने निरुक्त २।१६ में इन्द्र वृत्र युद्ध प्रतिपादक एक मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

अपां ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते, तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति।

अर्थात् मेघस्थ जल के साथ विद्युत् का सम्बन्ध होने से वृष्टि होती है, वेद में एतद्विषयक जो इन्द्र वृत्र युद्ध का वर्णन है, वह उपमारूप से है। अर्थात् इन्द्रनाम विद्युत् का है और वृत्र नाम मेघ का। विद्युत् का मेघ पर प्रहार होने से वह छिन्न-भिन्न होता है, और उससे वृष्टि होती है।

इसके आगे यास्क ने इसी मत को स्पष्ट करने के लिए लिखा है—

अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्धया शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः। तदभिवादिन्येषर्ग्भवति दासपत्नीरहिगोपा……।

अर्थात् इन्द्र वृत्र का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में अहि=मेघ के समान

उपलब्ध होता है। अहि (मेघ) शरीर को बढ़ा कर जल के स्रोतों को रोक देता है। उसके हत होने=नष्ट होने पर जल गिर पड़ते हैं। इसी 'अहिवत्तु खलु ······ तस्मिन् हते प्रसस्यन्दिर आपः' अर्थ को कहनेवाली अगली 'दासपत्नीरहिगोपाः' ऋचा होती है।

इस प्रसङ्ग से स्पष्ट है कि यास्क के मत में मन्त्र प्रतिपादित इन्द्रवृत्र युद्ध वस्तुतः ऐतिहासिक घटना नहीं है, अपि तु वह इस जगत् में सदा होनेवाली वर्षा की घटना है। युद्ध का वर्णन तो औपमिक है।

मन्त्रों में इतिहास की कल्पना का एक उदाहरण

मन्त्रों में किसी प्रकार का इतिहास न होते हुए भी उत्तर कालीन आचार्यों ने प्ररोचना के लिये किस प्रकार इतिहास की कल्पना की, इसका हम एक विस्पष्ट उदाहरण नीचे देते हैं—

ऋग्वेद ८-३-२१ का मन्त्रांश है—"पाकस्थामा कौरयाणः"। इसमें 'कौरयाण' पद विवेचनीय है। निघण्टु के प्रवक्ता (चाहे वह यास्क हो, चाहे अन्य प्राचीन व्यक्ति) ने इस मन्त्र के 'कौरयाण' पद को अनवगत संस्कार (जिसके प्रकृति प्रत्यय विभाग का सरलता से ज्ञान न हो) समझकर निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में पढ़ा।[1] यास्क ने इस अनवगत संस्कार पद का अर्थ "कृतयान" किया है[2] अर्थात् जिसने शत्रु के ऊपर चढ़ाई की हो ऐसा व्यक्ति। इस से स्पष्ट है कि निरुक्तकार यास्क "कौरयाण" का अर्थ 'कुरयाणस्यापत्यम्' नहीं समझता। यदि निघण्टु का प्रवक्ता यास्क से भिन्न कोई व्यक्ति हो तो मानना होगा कि वह भी 'कौरयाण' पद का अर्थ 'कुरयाणस्यापत्यम्' नहीं समझता था, क्योंकि 'कुरयाणस्यापत्यम्' अर्थ मानने पर 'कौरयाण' पद अन्य औपगव आदि अपत्य-प्रत्ययान्तों के समान विस्पष्ट अपत्यार्थ का बोधक होगा, अनवगत संस्कार नहीं रहेगा। अस्तु, निघण्टु और निरुक्त के पाठ से यह स्पष्ट है कि इन दोनों के प्रवक्ता 'कौरयाण' पद का ऐतिहासिक व्यक्ति-परक 'कुरयाणस्यापत्यम्' अर्थ नहीं समझते थे। दूसरे शब्दों में इनके प्रवचन काल तक इस पद का ऐतिहासिक अर्थ नहीं किया जाता था।

---

१. यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमान्। निरुक्त ४।१॥

२. कौरयाणः कृतयानः—पाकस्थामा कौरयाण इत्यपि निगमो भवति। निरुक्त ५।१५॥

निरुक्त के पश्चाद्वर्ती आचार्य शौनक ने बृहद्देवता (६।४५) में लिखा है—

पाकस्थाम्नस्तु भोजस्य चतुर्भिर्यमिति स्तुतम् ।

अर्थात् ऋ० मं० ८, सू० ३, मं० २१-२४ तक का देवता 'पाकस्थामा भोज' की दानस्तुति है।

आचार्य शौनक ने 'पाकस्थामा' पद को तो व्यक्ति परक बना दिया, परन्तु 'कौरयाण' पद को नहीं छुआ। सम्भव है, उसे यास्क का 'कृतयान' अर्थ स्मरण रहा हो। अतएव उसे 'कौरयाण' पद में अपत्यार्थ की गन्ध भी नहीं आई। यदि वह 'कौरयाण' पद को अपत्यप्रत्ययान्त समझता तो वह स्पष्ट लिखता कि इन मन्त्रों में 'कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा के दिये दान का वर्णन' है।

शौनक की इतिहास कल्पना में रही सही न्यूनता की पूर्ति शौनक के शिष्य[1] कात्यायन ने कर दी। उसने स्पष्ट लिख दिया—

अन्त्याः कौरयाणस्य पाकस्थाम्नो दानस्तुतिः। ऋक्सर्वा०।

अर्थात्—अन्त्य की चार ऋचाएं कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा नाम के राजा की दानस्तुतियां हैं।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि निघण्टु के प्रवक्ता तथा निरुक्त के प्रवक्ता यास्क के मत में 'पाकस्थामा कौरयाणः' मन्त्र में कोई पद व्यक्ति विशेष का वाचक नहीं है, परन्तु यास्क से उत्तरवर्ती बृहद्देवताकार शौनक ने 'पाकस्थामा' पद को व्यक्तिविशेष वाचक बना दिया। उससे भी उत्तरवर्ती कात्यायन ने पाकस्थामा के साथ-साथ 'कौरयाण' पद को भी अपत्यार्थवाचक बनाकर पूरा ऐतिहासिक प्रसाद खड़ा कर दिया और उसके पश्चात् यह समझा जाने लगा कि इन मन्त्रों में किसी कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा नाम के राजा के दिये दान की स्तुति मेधातिथि काण्व ने की है।

कौरयाण पद वस्तुतः अपत्यप्रत्ययान्त नहीं है

निघण्टु में 'कौरयाण' पद के साथ 'तौरयाण' 'अह्रयाण' और 'हरयाण' ये तीन अनवगत संस्कारपद और पढ़े हैं। चारों में 'यान' उत्तरपद

१. ननु एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् कात्यायनः, कथं बहुवचनम् । ऋक्सर्वा० टीका, षड्गुरुशिष्य ।

समान है और चारों में बहुव्रीहि समास का पूर्वपदप्रकृतिस्वर विद्यमान है[1]। इसलिये यास्क ने इन चारों का अर्थ क्रमशः 'कृतयान' 'तूर्णयान' 'अह्नीतयान' और 'हरमाणयान' किया है। यदि कथंचित् कौरयाण पद में अपत्यार्थ की कल्पना की भी जावे तो भी वह ठीक नहीं होगी, क्योंकि कौरयाण के सर्वथा समान 'तौरयाण' पद जिस मन्त्र[2] में आया है, उसमें अपत्यार्थ (तुरयाण का पुत्र) कथंचित् भी उपपन्न नहीं हो सकता। कौरयाण और तौरयाण पद समस्त उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में एक ही स्थान पर प्रयुक्त हैं, अतः स्थान भेद से भी अर्थ भेद की कल्पना उपपन्न नहीं हो सकती।

इससे व्यक्त है कि 'कौरयाण' पद का मूल अर्थ 'कुरयाण का अपत्य' नहीं है। यह अर्थ पुरोवचना के लिये पीछे से कल्पित किया गया है।[3]

इस प्रकार यह विस्पष्ट है कि प्रारम्भिक काल में वेदार्थ की ऐतिहासिक प्रक्रिया के मूल में किन्हीं वास्तविक ऐतिहासिक घटनाओं का सम्बन्ध नहीं समझा जाता था। शनैः शनैः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में भी परिवर्तन हुआ। वेदार्थ को समझाने के लिये उद्भावित सर्वथा काल्पनिक आख्यानों में लौकिक ऐतिह्य का विशेष रूप से सम्मिश्रण होने लगा। उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक ऐसे निर्देश मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में अनेक आचार्य वेद का अर्थ लौकिक ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर करने लग गये थे। निरुक्त में 'तत्रेतिहासमाचक्षते' का जिस ढंग से प्रयोग उपलब्ध होता है उससे भी यही जाना जाता है कि निरुक्त के प्रवचन काल में यह काल्पनिक वाद सत्य ऐतिहासिकवाद का रूप ग्रहण कर रहा

---

१. निरुक्त ५।१५ में 'तौरयाण' पद का जो निगम उद्धृत किया है, उसमें तौरयाण पद पूर्वपद अन्तोदात्त उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में 'तौरयाण' पद पूर्वपदाद्युदात्त पढ़ा है और दुर्गटीका के पाठ में सर्वत्र पूर्वपद आद्युदात्त ही मिलता है। अतः निश्चय ही मूल निरुक्त के मन्त्र पाठ के स्वर में अशुद्धि हुई है। कौरयाण पद भी पूर्वपदाद्युदात्त है। इससे भी तौरयाण पद के पूर्वपदाद्युदात्त स्वर की पुष्टि होती है।

२. जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन्महे भराय पुरुहूत विश्वे। स तौरयाण उप याहि यज्ञं मरुद्भिरिन्द्र सखिभिः सजोषाः। दुर्गटीका ६।१५ में उद्धृत।

३. इस दानस्तुति पर तथा एतत् सदृश्य अन्य कतिपय दानस्तुतियों पर हमने 'ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार' नामक निबन्ध में किया है।

था। जैमिनि ने विशेषरूप से और यास्क ने सामान्य रूप से इस सत्य ऐति-हासिक वाद का खण्डन किया है। देखो पूर्वमीमांसा १।१।२७-३२ तथा निरुक्त २।१६॥

शतपथ ब्राह्मण में भी एक स्थान पर वेद में वर्णित देवासुर संग्राम को लौकिक ऐतिहासिक देवासुर संग्राम से भिन्न कहा है। यथा—

तस्मादाहुर्नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वदुद्यते इति-हासे त्वत्। शतपथ ११।१।६।६॥

अर्थात् ऊपर प्रतिपादित देवासुर संग्राम वह नहीं है जो अन्वाख्यान में कहा जाता है वा इतिहास में कहा जाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी प्रचीन संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि वेद के जो अनेक शब्द उत्तर काल में व्यक्ति विशेष के वाचक समझे जाने लगे, वे प्राचीन काल में व्यक्ति विशेष के वाचक नहीं समझे जाते थे। यथा—

१—यजु: १३।५४ में श्रूयमाण 'वसिष्ठ' पद के व्याख्यान में—प्राणो वै वसिष्ठः। शत० ८।१।१।६॥

२—यजु: १३ ५६ में श्रूयमाण 'जमदग्नि' पद के व्याख्यान में—चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यति, अथो मनुते। शत० ८।१।२।३॥

३—यजु: १३।५७ में श्रूयमाण 'विश्वामित्र' पद के व्याख्यान में—'श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोति, यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति। शत० ८।१।२।३॥

अर्थात् यजुर्वेद के इन मन्त्रों में प्रयुक्त वसिष्ठ जमदग्नि और विश्वामित्र पद क्रमशः प्राण, चक्षु और श्रोत्र के वाचक हैं।[1]

यद्यपि यास्क, जैमिनि और और याज्ञवल्क्य ने वेद में सत्य इतिहास मानने का प्रतिवाद किया है, तथापि उत्तर काल में यह वाद बहुत प्रबल हो गया। अत एव जिस प्रकार याज्ञिक प्रक्रिया से पराभूत होकर दुर्ग स्कन्द आदि नैरुक्त आचार्यों ने निरुक्तान्तर्गत मन्त्रों की व्याख्या याज्ञिक प्रक्रियानुसार

१. तुलना करो—बृहदारण्यक २।२।४ में इन्द्रियों लिये प्रयुक्त गोतम भरद्वाज आदि पदों के साथ।

की, उसी प्रकार इस इतिहासवाद से पराभूत होकर इन्हीं निरुक्तटीकाकारों ने सिद्धान्तरूप से ऐतिह्यवाद का खण्डन करते हुए भी मन्त्रों की व्याख्या इस इतिहासवाद को मान कर ही की है। यही दशा याज्ञिकप्रक्रियानुगामी स्कन्द, वेङ्कट माधव, भट्टभास्कर और सायण आदि भाष्यकारों की हुई। उन्होंने भी पदे पदे याज्ञिक प्रक्रिया का उल्लङ्घन करके मन्त्रों की ऐतिहासिक व्याख्या की है। सायण ने ऋग्वेदभाष्य की भूमिका में इतिहास का खण्डन तो किया, पर वेदभाष्य करते हुए वह उसे छोड़ नहीं सका।

जिस प्रकार वेदार्थ की अन्य प्रक्रियाओं की अन्त में दुर्गति हुई, उसी प्रकार इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की भी महती दुर्गति हुई। मन्त्रों में शाब्दिक समानता को लेकर वेद में विभिन्न व्यक्तियों के चरित्रों की खोज होने लगी, और नाम मात्र की समानता से अनेक काल्पनिक इतिहास लिखे गये। इस प्रकार की ऐतिहासिक प्रक्रिया के उत्कृष्ट उदाहरण 'मन्त्ररामायण' और 'मन्त्र-भागवत' ग्रन्थ हैं।

आधुनिक पश्चात्य विद्वानों ने वेदों को पौरुषेय ग्रन्थ मानकर उनमें प्राचीन भौगोलिक तथा मानवीय इतिहास खोजने का बड़ा भारी प्रयत्न किया है। हम समझते हैं कि प्राचीन काल में वेद में वास्तविक इतिहास माननेवाले व्यक्तियों ने भी इस विषय में इतना महान् प्रयास नहीं किया था, क्योंकि उस समय का सत्य इतिहासवाद भी प्राचीन काल्पनिक इतिहासवाद का एक परि-वर्तित रूप था। यदि उस समय सत्य इतिहासवाद की इतनी प्रबलता होती, जितनी की आज है, तो वेद के अपौरुषेय बाद के खण्डन में बौद्ध और जैन विद्वान् इस वाद का विशेषरूप से आश्रयण करते, परन्तु बौद्ध और जैन दार्श-निक ग्रन्थों में इस बात का उपयोग उसी साधारण रूप में किया है, जिस रूप में जैमिनि ने इस का पूर्वपक्ष में निर्देश किया है।

शाखागत ऐतिहासिक पदों का सामान्य अर्थ करने की शैली

वेद की समस्त शाखाएं वेद के रूपान्तर हैं। वर्तमान में उपलब्ध शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि इन शाखाओं के रूपान्तरीकरण में दो प्रधान कारण थे। एक—अप्रसिद्धार्थ पद के स्थान में प्रसिद्धार्थ पद का निर्देश करके अर्थ का बोध कराना और दूसरा--याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिये सुविधा उत्पन्न करना।

इन शाखाओं के विभिन्न मन्त्रों की तुलना से यह भी स्पष्ट होता है कि कई स्थानों में उनमें मन्त्र के सामान्यार्थवाचक शब्द के स्थान में याज्ञिक

प्रक्रिया आदि की सुगमता के लिये व्यक्ति, जाति, देश विशेष वाचक शब्द भी रख दिये जाते हैं। हम अपने भाव को प्रकट करने के लिये एक मन्त्र के उपलब्ध शाखाओं के पाठान्तर नीचे दर्शाते हैं—

एष वोऽमी राजा	माध्यन्दिन
एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा	काण्व
एष वो भरता राजा	तैत्तिरीय
एष ते जनते राजा	काठक
एष ते जनते राजा	मैत्रा०

इन पाठों को आपाततः देखने से ही स्पष्ट विदित होता है कि माध्यन्दिनी संहिता का पाठ प्राचीन है। यहां सर्वनाम 'अमी' शब्द का व्यवहार किया गया है, जिसका किसी जाति वा देश विशेष से सम्बन्ध नहीं है। अन्य संहिताओं में 'कुरवः' 'भरताः' पञ्चालाः' आदि जाति विशेष वाचक पद प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दों से स्पष्ट है कि जिस शाखा का जिस देश में विशेष प्रचार था, उस-उस देश के निवासियों को सम्बोधन करके अभिषिक्त राजा का निर्देश किया है। काठक और मैत्रायणी में यद्यपि जातिविशेष का वाचक पद नहीं है, तथापि 'जनते' का निर्देश यह स्पष्ट करता है कि जिन देशों में वास्तविक रूप में कोई व्यक्ति विशेष आजन्म राजा नहीं होता था अर्थात् प्रजातन्त्रराज्य[1] था, वहां 'जनता' को ही संबोधन किया है।

ऐसे विशिष्ट पदों का अर्थ भी प्राचीन आचार्य सामान्य ही किया करते थे अर्थात् जैसे 'एष वोऽमी राजा' मन्त्र का राज्याभिषेक में उच्चारण करते हुए 'एष' पद के स्थान में अभिषक्त राजविशेष के नाम का उच्चारण किया जाता है (एष युधिष्ठरो वो भरता राजा) और वह नाम विशेष मन्त्र का अवयव नहीं बनता। ऐसे ही 'अमी' सर्वनामपद के स्थान में प्रयुक्त 'कुरवः' 'भरताः 'पञ्चलाः' आदि पद भी उस मन्त्र के अवयव नहीं हैं। राजा के नाम प्रति राज्याभिषेक में बदलते रहते हैं, परन्तु जातियां चिरस्थायी होती हैं, अतः शाखाकारों ने राजनाम-स्थानापन्न 'एष' सर्वनाम पद ही रहने दिया, परन्तु 'अमी' के स्थान के 'पञ्चालाः' आदि जातिवाचक पद रख दिये। इस

---

१. काठक और मैत्रायणी के पाठ से यह स्पष्ट है कि भारत में अति प्राचीन काल में प्रजातन्त्र राज्य स्थापित हो चुके थे। प्रजातन्त्रराज्य पाश्चात्य देशों की ही देन है, यह समझना सर्वथा मिथ्या है।

से स्पष्ट है कि जैसे 'एष युधिष्ठरो वो भरता राजा' में युधिष्ठिर व्यक्ति विशेष का मन्त्रार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही 'कुरवः, भरताः, पञ्चालाः' पदों का मन्त्रार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः या तो इन पदों को उपलक्षणार्थ मानकर इनका सामान्य अर्थ किया जाये या इनके धात्वर्थ को लेकर इन्हें सामान्यार्थ का वाचक समझा जाये, ये दो ही मार्ग हो सकते हैं। भारतीय आचार्यों ने शाखाओं में रूपान्तरित हुए मन्त्रों के ऐतिहासिक जाति, व्यक्ति और देश परक नामों का धात्वर्थ के आधार पर सामान्यार्थ कल्पना का मार्ग स्वीकार है। इसीलिये भारतीय आचार्य मन्त्रों में पाठान्तर होने पर भी उन में अर्थभेद स्वीकार नहीं करते। भगवान् पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है—

यद्यप्यर्थो नित्यो या त्वसौ वर्णानुपूर्वी सानित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं, कालापकं, मौदकं, पैप्पलादकम् इति।

अर्थात् छन्दों=शाखाओं में वर्णानुपूर्वी के भेद होने पर भी अर्थ नित्य है अर्थात् एक है, अर्थ में भेद नहीं है। केवल वर्णानुपूर्वी का भेद होने से ही उनमें मौदकं पैप्पलादकम् आदि व्यवहार होता।

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वायुपुराण में इस प्रकार किया है—

सर्वास्ता हि चतुष्पादा सर्वाश्चैकार्थवाचिकाः।
पाठान्तरे पृथक् भूता वेदशाखा यथा तथा ॥६१।५६॥

अर्थात् उस चतुष्पाद् एक पुराण की ही प्रवचन भेद से अनेक संहिताएं बनी, उनमें पाठान्तरों के अतिरिक्त कोई भेद नहीं था, सब का एक ही अर्थ था, जैसे की वेद की शाखाओं में पाठान्तर होने पर भी अर्थ एक ही होता है।

इसी विषय में आगे पुनः कहा है—

प्राजापत्या श्रुतिर्नित्या तद्विकल्पास्त्विमे स्मृताः। ६१।७१॥

अर्थात् प्रजापति से प्राप्त श्रुति का पाठ नित्य है। शाखाभेद से विभिन्न पाठ उसी प्राजापत्य नित्य श्रुति के विकल्प=पाठान्तर मात्र है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि शाखाओं के विभिन्न पाठान्तरों का अर्थ समान है। इस दृष्टि से शाखामन्त्रों में जहां-जहां ऐतिहासिक नाम आये हैं, मन्त्रार्थ की दृष्टि से उनका तात्पर्य भी सामान्य ही लेना होगा, अन्यथा 'कुरवः, भरताः, पञ्चालाः' का एक अर्थ कैसे हो सकता है ? एकार्थ की

उपपत्ति के लिये इनका धात्वर्थ के अनुसार अर्थ किया जाये तो ये मनुष्य-सामान्य के वाचक बन जायेंगे। इस का यह अभिप्राय नहीं कि शाखामन्त्रों में पाठान्तर रूप में आये ऐतिहासिक पदों का कोई मूल्य नहीं। ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा भारी मूल्य है, परन्तु वेदार्थ की दृष्टि से इन ऐतिहासिक व्यक्ति वा जाति वाचक पदों का कोई मूल्य नहीं है।

उत्तर काल में जब शाखाएं ब्राह्मणग्रन्थ और उपनिषदें ये सब वेद माने जाने लगे और इन्हें भी अपौरुषेय या महाभूत निःश्वसित समझा जाने लगा, तब शाखामन्त्रों में पाठान्तररूप से आये ऐतिहासिक पदों के समान ब्राह्मण भाग में श्रुत ऐतिहासिक पदों का भी सामान्य अर्थ किया जाने लगा। मीमांसा के व्याख्याता शबर स्वामी आदि ने 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' (तै० सं० ७।२।१०।२) इत्यादि पदों का इसी प्रकार का अर्थ दर्शाया है[1]। अर्थात् जो सिद्धान्त प्राचीन काल में केवल शाखामन्त्रों के विशिष्ट पदों के अर्थ करने में स्वीकार किया जाता था, उसका अतिदेश उन्होंने ब्राह्मण वचनों में भी कर दिया, जो कि न केवल अनुचित ही है, अपि तु याज्ञिक प्रक्रिया के इतिहास के विरुद्ध भी है।

६—भाषाविज्ञान-प्रक्रियानुसारी वेदार्थ

वेदार्थ की अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है—भाषाविज्ञान। इस प्रक्रिया के अनुसार वेद के विभिन्न सन्दिग्ध पदों का अर्थ करने के लिये विभिन्न देशों की भाषाओं की शाब्दिक, आर्थिक और व्याकरण सम्बन्धी साम्यता को मुख्य आधार रूप में स्वीकार किया जाता है। यद्यपि इस प्रक्रिया का उद्भव विक्रम की २० वीं शताब्दी में माना जाता है, परन्तु यह प्रक्रिया एतद्देशीय विद्वानों के लिये नवीन नहीं है,[2] यह अनुपद ही व्यक्त हो जायेगा। हां, मध्यकाल में जब भारतीय भाषा परिवार से भिन्न म्लेच्छभाषा के अध्ययनाध्यापन पर धार्मिक प्रतिबन्ध लगा दिया गया,[3] तब यह प्रक्रिया लुप्त हो गई।

---

१. मीमांसाभाष्य १।१।३१॥

२. इस विषय के देखिये हमारे लेख—(क) **भारतीयं भाषाविज्ञानम्** (गुरुकुल पत्रिका, मई, जून, जुलाई १९६१), (ख) **भाषाविज्ञान और स्वामी दयानन्द** (वेदवाणी, वेदाङ्क संवत् २०१७) तथा स्वामी दयानन्दकृत 'सत्यार्थप्रकाश' प्रथम संस्करण पृष्ठ २५०-२५१, तथा 'पूना प्रवचन' (पांचवां प्रवचन) पृष्ठ ३८।

३. न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि। इस विषय में स्वामी

सम्प्रति जिसे भाषाविज्ञान कहा जाता है, उस के तीन अङ्ग हैं—उच्चारण, शब्दों का स्वरूप और उस के अर्थ। भारतीय मनीषियों ने भाषा-शास्त्र के तीनों अङ्गों के निरूपण के लिये क्रमशः शिक्षा व्याकरण और निरुक्त शास्त्र का अन्वाख्यान किया है। निरुक्त शास्त्र का मुख्य प्रयोजन वैदिक शब्दों के निश्चित अर्थों का[1] ज्ञान कराना है। दूसरे शब्दों में अमुक अर्थ क्यों हो गया, इसकी उपपत्ति दर्शाना ही निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन है।[2] शब्दों की वर्णानुपूर्वी समान होते पर भी उनके अर्थों में महद् अन्तर होता है, इसलिये उनके विभिन्न अर्थों के मूल कारणों को व्यक्त करने के लिये ही निरुक्त शास्त्र में एक शब्द के अनेक धातुओं के निर्देश द्वारा अर्थों का उपपादन किया है।[3]

यास्कीय निरुक्त के 'अथ निर्वचनम्' प्रकरण (२।१४) की तुलना आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों से करने पर स्पष्ट विदित होता है कि यास्क ने साम्प्रतिक भाषाविज्ञान के न केवल उन सभी नियमों का आश्रयण किया है जिन्हें विक्रम की २० वीं शताब्दी की उपज समझा जाता है, अपितु ध्वनिविकार के कई ऐसे नियम दिए हैं, जिन्हें आधुनिक भाषाशास्त्री अभी तक स्वीकार नहीं कर पाये, किन्तु भाषा में वे ध्वनिविकार स्पष्ट देखे जाते हैं[4]।

दयानन्द सरस्वती का सत्यार्थप्रकाश, (प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६७) का लेख द्रष्टव्य है।

१. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। निरुक्त १।१५।।

२. यथा——'पाद' शब्द का प्रयोग मनुष्य-पशु-पक्षी आदि का पैर, मनुष्य आदि के पैर का मिट्टी में पड़ा चिह्न (द्र० 'सोमक्रयिण्याः सप्तमं पदं गृह्णाति' मी० शा० भाष्य ४।१।२५ में उद्धृत), चतुर्भाग और भागमात्र (मी० दर्शन के अ० ३, ६, १० में ८ पाद हैं) अर्थों में होता है। इन विभिन्न अर्थों का कारण निरुक्तकार ने इस प्रकार दर्शाया है—'पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्, पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः, प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि।

३. टिप्पणी परिशिष्ट में देखें।

४. यथा—अथाप्याद्यन्तव्यापत्तिर्भवति—ओघः मेघः नाधः वधू मधु इति (निरुक्त २।१, २)। यहां सब उदाहरणों में यास्क ने 'ह' को 'घ' और 'ध' होना लिखा है। यास्क की वर्तमान व्याख्यानुसार ये शब्द क्रमशः उह, मिह, णह=नह, गाहू, वह, मह धातु से बने हैं। नैरुक्तों के मतानुसार ऋ० १।११।३ में धनवाची 'मघ' शब्द की निरुक्ति 'मंह' धातु से दर्शाई है—

जहां तक हमने आधुनिक भाषाविज्ञान के नियमों का अनुशीलन किया है, उसके अनुसार कहा जा सकता है कि यास्क के भाषाविज्ञान = निर्वचन-शास्त्र के नियम अधिक व्यापक और पूर्ण हैं। हम भारतीय विचारक उनको गहराई से न देखें, तो यह हम लोगों का दोष है।

अर्वाचीन और प्राचीन भाषाविज्ञान में एक मौलिक भेद हैं। आधुनिक भाषाविज्ञानवादी अति पुरातन काल में अर्थात् किसी समय भी समस्त मानव जाति की एक भाषा स्वीकार नहीं करते। उन्होंने आधुनिक समस्त भाषाओं को भारतयोरोपीय, सेमिटिक, हैमटिक आदि अनेक विभागों में बांटकर उसकी मूलभूत अनेक विभिन्न भाषाओं की कल्पना की है। भारतीय प्राचीन भाषा-तत्त्वविदों का मत है कि समस्त मानव जाति का मूल एक है।[1] एक स्थान से ही समस्त विश्व में मानव जाति का विस्तार हुआ है। इसलिए समस्त मानव जाति की आदि मूल भाषा एक है और वह है प्राजापत्या दैवी वाक् अर्थात् संस्कृत भाषा। उसी दैवी वाक् में राजसिक-तामसिक पदार्थों के अतिसेवन तथा देशकाल के परिवर्तन के कारण जिह्वाशक्ति में विकलता आ जाने से तथा वर्णोच्चारण शास्त्र पर विशेष ध्यान न देने के कारण ध्वनि में परिवर्तन होकर "म्लेच्छ" भाषा की उत्पत्ति हुई। म्लेच्छ शब्द का मूल अर्थ अव्यक्तोच्चारण ही है—"म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे"। इसी अव्यक्तोच्चारण ही के कारण अव्यक्तोच्चारण करनेवाले भी म्लेच्छ कहाये। अतएव भारतीय वाङ्मय के सर्वातिप्राचीन ग्रन्थ मनुस्मृति में भाषा के केवल दो ही विभाग लिखे हैं—आर्यवाक् और म्लेच्छवाक्।[2] इस दृष्टि से समस्त संसार की भाषाएं प्राजापत्या दैवी वाक् के अपभ्रंश = म्लेच्छ = म्लिष्ट उच्चारण से उत्पन्न हुई हैं। अतः सब भाषाओं में शाब्दिक आर्थिक और व्याकरण सम्बन्धी नियमों की कुछ साम्यता होना अवश्यंभावी है। पाश्चात्य भाषाविज्ञानवित् जिन सेमेटिक भाषाओं का मूल भारतयोरोपीय भाषाओं के मूल से पृथक् मानते हैं, उनमें से अरबी भाषा में संस्कृत भाषा के साथ एक ऐसी समानता मिलती है जो

"स्तोतृभ्यो मंहते मघम्"। पाश्चात्यभाषाविज्ञानवादी 'ह' के स्थान में वर्गीय द्वितीय और चतुर्थ वर्ण की व्यापत्ति (परिवर्तन) स्वीकार नहीं करते। देखो--श्री डा० मंगलदेवजी शास्त्री कृत भाषाविज्ञान प्र० सं०, पृष्ठ १८२। हमने इस पाश्चात्य मत का सप्रमाण खण्डन अपने संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास" भाग १, पृष्ठ १४-१५ (संवत् २०३०) पर किया है।

१. म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः। १०।४५॥

२. बाइबल तौरेत उत्पत्ति० ११। आ० १।

भारतयोरोपीय भाषा परिवार की किसी भाषा में उपलब्ध नहीं होती। वह समानता है - एकवचन, द्विवचन और बहुवचन तीन वचनों की। संस्कृत से विकृत प्राकृत तथा आधुनिक प्रान्तीय भाषाओं से भी द्विवचन नष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त अरबी और संस्कृत के व्याकरण के नियमों में भी कई समानताएं हैं। इन समानताओं के कारण मानना होगा कि सेमेटिक परिवार की अरबी भाषा और भारतयोरोपीय परिवार की संस्कृत भाषा का परम्परा से कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। चाहे वह सम्बन्ध प्रकृति विकृत रूप हो,चाहे दोनों का मूल कोई अन्य भाषा हो।

अतः प्राचीन भारतीय विद्वान् सप्तद्वीपा वसुमती की मूल भाषा संस्कृत ही मानते थे[1], इसलिए स्वदेश में प्रचलित वैदिक शब्दों का अर्थ करने के लिए म्लेच्छ प्रसिद्ध अर्थों को भी स्वीकार करते थे। इसी दृष्टि से जैमिनि ने अपने मीमांसाशास्त्र में "म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्य" नामक एक अधिकरण रचा है[2]। यास्क ने भी निरुक्त के "अथ निर्वचनम्" (निर्वचननियमप्रदर्शक) प्रकरण (२।१-४) में स्वदेश में अव्यवहृत, किन्तु देशान्तर में प्रसिद्ध धातुओं से स्वदेशीय शब्दों के निर्वचन करने का विधान किया है। यथा—

अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाषन्ते, विकृतय एकेषु। शवतिगति-कर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति ······ (२।२)।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्य वर्तमान भाषाविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों का वेदार्थ में उपयोग करना जानते थे। इतना ही नहीं, अपितु समस्त विश्व की मूल भाषा एकमात्र प्राजापत्या दैवी वाक् संस्कृत को मानने के कारण उनके शब्दार्थ साम्यता का क्षेत्र साम्प्रतिक भाषाविज्ञानवादियों अपेक्षा की कहीं अधिक विस्तृत था, क्योंकि आधुनिक-भाषा-विज्ञानवादी संस्कृत-भाषा का सेमिटिक आदि अन्य परिवार की भाषाओं के साथ कोई सम्बन्ध नहीं मानते। पाश्चात्य भाषाविज्ञानवादियों ने अनेक निराधार कल्पनाओं के

---

१. सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदा······ आदि प्रकरण। महाभाष्य १।१ प्रथमाह्निक।

२. अ० १ पाद ३ अधि० १०। इसका दूसरा नाम **'पिकनेमाधिकरण'** भी है। इस अधिकरण पर हमने 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिठास' भाग १, पृष्ठ ४५-४६ (संवत् २०३०) में विशेष विचार किया है।

कारण भाषाविज्ञान का स्वरूप बहुत विकृत कर दिया है। इस कारण जहां इस विज्ञान के यथार्थ प्रयोग से वेदार्थ में सहायता हो सकती थी, वहां इसके दुरुपयोग से वेदार्थ का नाश हो रहा है। श्रेष्ठ पर्याय 'आर्य' शब्द का लिथोनियन भाषा के आधार[1] पर 'कृषक' अर्थ करना, "कस्मै देवाय हविषा विधेम[2]" में 'कस्मै' पद को प्रश्नार्थक बनाना[3], "उषो वाजेन वाजिनी" (ऋ० ३।६१।१) का *The Goddess of Dawn haveing flet horses*[4] अर्थ करना इसी प्रकार का है।

वेदार्थ की अन्य प्रक्रियाएं

इन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त वेदार्थ की कुछ अन्य प्रक्रियाओं का निर्देश यास्कीय निरुक्त में उपलब्ध होता है। यथा—

१—आख्यानसमयः (७।७)
२—नैदानाः (७।१२)
३—नैरुक्ताः (बहुत्र)
३—परिव्राजकाः (२।८)

इनमें से आख्यान समय का ऐतिहासिक प्रक्रिया में, परिव्राजकों का अध्यात्म प्रक्रिया में अन्तर्भाव हो जाता है। नैदान और नैरुक्त दोनों निर्वचन प्रधान हैं (दोनों में साधारण अन्तर है)। इनकी प्रक्रिया कोई वेदार्थ की मूल-भूत स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं है। शब्दविर्वचन द्वारा इस प्रक्रिया का सम्बन्ध आधियाज्ञिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि सभी प्रक्रियाओं के साथ है।

७—वेद के समस्त पद यौगिक हैं

वेदार्थ प्रक्रिया में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है—वेदार्थ की जितनी प्रक्रियाएं हैं, उनमें केवल ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़ कर अन्य सभी

---

१. लिथोनियन भाषा में 'ऋ' (=अर्) कृष्यर्थ में प्रयुक्त होती है।

२. ऋ० १०।१२१ में असकृत्॥

३. भण्डारकर अभिनन्दन ग्रन्थ, पूना, सन् १९१७।

४. देखो—श्री डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल कृत 'उरुज्योति' ग्रन्थ, पृष्ठ ५९ में उद्धृत।

प्रक्रियाओं में समस्त वैदिक नामों=प्रतिपदिकों को धातुज=यौगिक माना जाता है। इसलिये नैदान और समस्त नैरुक्त आचार्य सभी नाम पदों को यौगिक मानते हैं। अति पुरातन काल में जब यदृच्छा शब्दों की उत्पत्ति नहीं हुई थी[1] तब समस्त लौकिक नाम पद भी यौगिक माने जाते थे। इस प्रक्रिया को शाकटायन ने अपने व्याकरण में सुरक्षित रक्खा था।[2] उत्तर काल में अपभ्रंश की देखा-देखी संस्कृतभाषा में भी जब यदृच्छा शब्द सम्मिलित हो गये,[3] तब उनको अव्युत्पन्न मानना पड़ा। क्योंकि उनके यदृच्छोत्पन्न होने के कारण उनमें धात्वर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती थी। इसके अनन्तर जब संस्कृत भाषा के कतिपय मूल शब्द भी अर्थ विशेष में रूढ़ हो गये और उनके योगिक अर्थ की प्रतीति नष्ट हो गई, तब संस्कृत भाषा के उन मूलभूत शब्दों को भी यदृच्छा शब्दवत् रूढ़ मान लिया गया। प्राचीन वैयाकरणों ने ऐसे रूढ़ शब्दों के भी मूल अर्थ का स्मरण कराने के लिये उनको सामान्य कृदन्त=धातुज शब्दों से पृथक् उणादिगण में पढ़ा है। उणादिसूत्रों के व्याख्याकार औणादिक शब्दों को रूढ़ ही मानते हैं।[4] इससे भी उत्तर काल में जब वृक्ष अश्व पुरुष आदि नामों के समान पाचक याजक शब्द भी विशेषार्थ में रूढ़ हो गये[5], उनके भी धात्वर्थ की प्रतीति नष्ट

---

१. यदृच्छा शब्द संस्कृत भाषा के अङ्ग हैं या नहीं, इस विषय में वैयाकरणों में मतभेद है। कई उन्हें अपशब्द कहते हैं। देखो—ऋलृक् सूत्र का महाभाष्य "न सन्ति यदृच्छा शब्दाः"।

२. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च। निरुक्त १।१४।। नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। महाभाष्य ३।३।१।।

३. द्र०—पूर्व टिप्पणी १।

४. उणादिप्रत्ययान्ताः संज्ञाशब्दाः। तेन तेषामत्र स्वरूपसंवेदनस्वरवर्णानुपूर्वीमात्रफलमन्वाख्यानम्। श्वेतवनवासी उणादिवृत्ति १, १, पृष्ठ १। प्रायेणोणादिषु परोक्षवृत्तयः शब्दाश्चिन्त्यन्ते। दुर्ग निरुक्त टीका १।१, पृष्ठ ७, पं० २८ (आनन्दाश्रम सं०)।

५. सम्प्रति लोक में पाक क्रिया के प्रत्येक कर्त्ता को पाचक नहीं कहते। पाचक शब्द पाककर्मार्थ रखे गये भृत्य मात्र में रूढ़ हो गया है। इसी प्रकार याजक शब्द भी ऋत्विक् मात्र में रूढ़ समझा जाता है। दुर्गसिंह तद्धितान्त शब्दों को भी रूढ़ मानता है—संज्ञाशब्दत्वात् तद्धितान्ताम्। कातन्त्र परिभाषावृत्ति, पृष्ठ ५२ (परिभाषा संग्रह-पूना)।

हो गई तब समस्त कृदन्त शब्दों को रूढ़ मान लिया गया और उनकी धातु से कल्पना करना निष्प्रयोजन समझा गया अर्थात् कृदन्त भाग को व्याकरण में से निकाल दिया गया। इस भाव को कालाप (कातन्त्र) व्याकरण के व्याख्याता दुर्गसिंह ने बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है—

वृक्षादिवदमी रूढा कृतिना न कृता कृतः।
कात्यायनेन ते सृष्टा विबुधप्रतिपत्तये ॥

अर्थात् कृदन्त शब्द भी वृक्ष आदि के समान रूढ़ हैं। इसलिये कालाप व्याकरण के रचयिता (शर्ववर्मा) ने कृदन्त प्रकरण की रचना नहीं की। विद्वानों के ज्ञान के लिये (साधारण पुरुषों को अर्थमात्र से प्रयोजन होता है, प्रकृति प्रत्यय से नहीं) कात्यायन (विक्रम-समकालिक) ने यह कृदन्त प्रकरण रचा है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा के समस्त नाम पद आदि-काल में यौगिक अर्थात् धातुज माने जाते थे। उत्तरोत्तर उनमें अर्थ विशेष में सीमित हो जाने पर उनमें रूढ़त्व बुद्धि का प्रसार हुआ और अन्त में समस्त कृदन्त शब्द रूढ़ मान लिये गये। यतः वेद का प्रादुर्भाव भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि के आदि में हुआ। अतः उनमें कोई भी शब्द रूढ़ नहीं है। इस कारण वेद के समस्त शब्दों का अर्थ यौगिक=धातु के अर्थ के अनुकूल करना चाहिये। प्रकरणादि से उसका अर्थ विशेष में पर्यवसान होगा।

८—वेदों के भाष्य

प्राचीन भारतीय भाष्य

सम्प्रति सायण, महीधर, उव्वट, भट्टभास्कर, माधव, वेङ्कटमाधव, स्कन्द और उद्गीथ आदि-आदि के जितने भी वेदभाष्य उपलब्ध हो रहे हैं, वे सब याज्ञिक प्रक्रियानुसारी हैं। उनके ऊपर कल्पसूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ और अपने समय की परिस्थिति का अत्यधिक प्रभाव है। उनका मस्तिष्क इनके भार से इतना दबा हुआ है कि वे स्वतन्त्रता से कुछ नहीं लिख सकते। अतएव ये भाष्यकार सिद्धान्तरूप से किसी बात को स्वीकार करके भी उसको निभा नहीं सके। इन सब विद्वानों ने अपने भाष्य 'वेदा यज्ञार्थं प्रवृत्ताः' इस को केन्द्र बना कर रचे हैं। मध्वाचार्य तथा उनके कतिपय अनुयायियों ने ऋग्वेद के प्रारम्भिक ढाई अध्याय (४० सूक्तों) की आध्यात्मिक प्रक्रिया से टीका टिप्पणी करने का प्रयास किया है। यह प्रयास स्तुत्य होते हुए भी सम्प्रदाय विशेष की

दृष्टि से किया हुआ है। इस कारण उसमें वह प्रौढ़ता नहीं है, जो स्वतन्त्र विचारक की कृति में हुआ करती है। आत्मानन्द का अस्यवामीय सूक्त (ऋ० १।१६४) का अध्यात्मभाष्य भी इसी कोटि का है। ये सब टीका टिप्पणीकार अध्यात्म शब्द विषयक प्राचीन आर्ष विस्तृत दृष्टि नहीं समझते थे।[1] मन्त्र में कथंचित् भी विष्णु का संबन्ध जोड़ देना, इनके आध्यात्मिकत्व का लक्षण था[1]। अतः इन के लिये आध्यात्मिक शब्द का व्यवहार करना भी अनुचित है। इसके अतिरिक्त इन वेदभाष्यकारों ने वेद का सब से महत्त्वपूर्ण अर्थ जिससे मनुष्यों की ज्ञान- विज्ञान और उसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती थी, उसकी ओर किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया। इसलिये इन प्राचीन वेदभाष्यों के अनुसार वेद या तो केवल शुष्क[2] कर्मकाण्ड के विषय बन गये या मूड़मुड़ाये लोगों के लिये हरिस्वरण के।

योरोपियन भाष्य

विक्रम की २०वीं शताब्दी में योरोपदेशवासियों ने वेद पर अनुसन्धान करना आरम्भ किया। अनेकों ने जर्मन और इंगलिश भाषा में वेद के अनुवाद किए। इनके लिये संस्कृत भाषा विदेशी भाषा थी, इसलिये उनका उसमें अप्रतिहत गति प्राप्त करना असम्भव था, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने अपने दृढ़ अध्यवसाय के बल पर वैदिक साहित्य पर गत डेढ़ शताब्दी में जितना कार्य किया है, उसका दशांश भी भारतीयों ने नहीं किया। पाश्चात्य विद्वानों के इतने दृढ़ अध्यवसायी होने पर भी वे तीन कारणों से वेद की गहराई तक नहीं पहुंच सके। प्रथम—उन्हें वेदार्थ समझने के लिये एकमात्र सायणभाष्य का ही आश्रय मिला, जो स्वयं वेद के ऊपर-ऊपर डोलता है। दूसरा—पाश्चात्य विद्वानों का ईसाइयत का पक्षपात[3]। तीसरा—बिना सिर पैर के मिथ्यावादों की कल्पना। इन तीन प्रमुख कारणों से

---

१. साम्प्रतिक आर्यसमाजी वेदभाष्यकार भी 'हे ईश्वर' सम्बोधन जोड़ देनेमात्र से आध्यात्मिक अर्थ हो जाता है, ऐसा मानते हैं।

२. अर्थात् पूर्व प्रदर्शित यज्ञोत्पत्ति के मूल प्रयोजन से रहित, अदृष्टमात्र विषयक।

३. देखो—श्री पं० भगवद्दत्त जी कृत "भारतवर्ष का बृहद् इतिहास" भाग १, पृष्ठ ३५-४८ (प्रथम सं०)। इतिहास प्रेमियों को इस ग्रन्थ का तृतीय अध्याय अवश्य पढ़ना चाहिये।

योरोपीय विद्वानों से किये गये वेद के अनुवाद कैसे होंगे, इसका अनुमान सहज ही हो सकता है। हम यहां निदर्शनार्थ दो छोटे से उदाहरण उपस्थित करते हैं—

१. इन्द्र के लिये प्रयुक्त "वृषभो रोरवीति" (ऋ० ३।५५।१७) का अर्थ *Indra The Great Roaring Bull* किया है।[1]

२. "उषो वाजेन वाजिनी" (ऋ० ३।६१।१) का अर्थ *The Goddess of Dawn Having Fleet horses* किया है।[2]

अतः योरोपीय विद्वानों से यह आशा रखना कि वे वेद के वास्तविक अर्थ को प्रकट करेंगे, सर्वथा दुराशा है। इसी प्रकार जो भारतीय विद्वान् पाश्चात्यों के पदचिन्हों पर चलकर वेद में परिश्रम कर रहे हैं, उनसे भी किसी प्रकार की आशा रखना अनुचित है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का वेदभाष्य

जिस समय योरोपीय देशों में वेदार्थ जानने के लिए प्रयत्न हो रहा था, उसी समय भारत में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने एक सर्वथा नई दृष्टि से वेदार्थ करने का उपक्रम किया। स्वामी दयानन्द का वेदार्थ इन दोनों प्रकार के वेदार्थों से भिन्न था। स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ की प्राचीन और अर्वाचीन सभी प्रक्रियाओं का भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन किया और इस बात का निर्णय किया कि वेद और उसके अर्थ की वह स्थिति नहीं है, जो यज्ञों के प्रादुर्भाव के पीछे उत्तरोत्तर परिवर्तन होकर बन गई है। अपितु जिस समय यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, उस समय वेदों की जो स्थिति थी और जिस आधार पर वेद का अर्थ किया जाता था, वही उसका वास्तविक अर्थ था। इसके लिये उन्होंने समस्त वैदिक और लौकिक, आर्ष और अनार्ष, सर्वविध संस्कृत वाङ्मय का आलोडन किया। मनुस्मृति, षड्दर्शन, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् और महाभारत आदि ग्रन्थों में जहां कहीं भी उन्हें प्रसङ्ग प्राप्त प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी संकेत उपलब्ध हुए उनके अनुसार प्राग्यज्ञ-कालीन वेदार्थ करने के जो नियम स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निर्धारित किए, वे इस प्रकार हैं—

१. वेद अपौरुषेय वा मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य वा देवाधिदेव की

---

१. देखो—'उरु ज्योति' (श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल कृत) पृष्ठ ५७। २. उरु ज्योति पृष्ठ ५६।

दैवी वाक् वा ज्येष्ठ ब्रह्म की ब्राह्मी वाक् वा प्रजापति की श्रुति वा महाभूत का निःश्वास होने से अजर अमर अर्थात् नित्य है। अतएव

२. वेद में किसी देश जाति और व्यक्ति का इतिवृत्त नहीं है। इस कारण

३. वेद के समस्त नाम पद (=प्रातिपदिक) यौगिक (=धातुज) हैं, रूढ़ नहीं। अतएव उनके सर्वविधप्रक्रियानुगामी होने से

४. वेद सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। इसलिए

५. वेद में आधिभौतिक तथा आधिदैविक समस्त पदार्थ विज्ञान का सूत्र रूप से वर्णन है। इसके साथ ही आध्यात्मिक दृष्टि से

६. वेद के किसी भी मन्त्र में ईश्वर का परित्याग नहीं होता अर्थात् सम्पूर्ण वेद का वास्तविक तात्पर्य अध्यात्न में है। अतएव

७. वेद के अग्नि वायु इन्द्र आदि समस्त देवता वाचक पद उपासना प्रकरण (=अध्यात्म) में परमेश्वर के वाचक होते हैं और अन्यत्र भौतिक पदार्थ के। याज्ञिक क्रिया का पर्यवसान आधिदैविक विज्ञान में होने से

८. युक्ति प्रमाणसिद्ध याज्ञिक क्रिया कलाप, मन्त्रार्थानुसृत विनियोग और तदनुसारी याज्ञिक अर्थ भी ग्राह्य है, अन्य नहीं।

९. वेद मनीषी स्वयंभू कवि का काव्य होने से उसकी वाक्यरचना बुद्धि-पूर्वक है। अतएव

१०. वेद में भौतिक जड़ पदार्थों से अभिलषित पदार्थों की याचना, अश्लीलता, वर्ग-द्वेष और पशु-हिंसा आदि-आदि असम्भव तथा अनर्थकारी बातों का उल्लेख नहीं है।

११. वेद स्वतः प्रमाण हैं, अन्य समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल होने से मान्य है। अतएव

१२. वेद की व्याख्या करने में व्याकरण, निरुक्त, छन्दः, ज्योतिष, पदपाठ, प्रातिशाख्य, आयुर्वेदादि उपवेद, मीमांसा वेदान्त आदि दर्शन, कल्प (श्रौत, गृह्य, धर्म) सूत्र, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि आदि समस्त वैदिक, लौकिक, आर्ष और अनार्ष वाङ्मय से सहायता ली जा सकती है (क्योंकि इनमें प्राचीन वेदार्थ सम्बन्धी अनेक रहस्यों के संकेत विद्यमान हैं), परन्तु कोई भी मन्त्र-व्याख्या इन ग्रन्थों के अनुकूल न होने वा विपरीत होने से अमान्य नहीं हो सकती, जब तक वह स्वयं वेद के विपरीत न हो।

इन नियमों के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के साढ़े छः मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य रचा। उन्होंने अपने भाष्य में इन मूलभूत सिद्धान्तों का सर्वत्र अनुगमन किया है। जैसे सायण और स्कन्द

स्वामी आदि भाष्यकारों ने सिद्धान्त रूप से वेद का नित्यत्व और उसमें अनित्येतिहास के अभाव का प्रतिपादन करके भी अपने वेदभाष्यों में इन मूल सिद्धान्तों का अनुगमन करने में असमर्थ रहे, ऐसा दोष स्वामी दयानन्द के भाष्य में कहीं नहीं है।

उपसंहार

इस प्रकार वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों के प्रादुर्भाव से पूर्व वेदार्थ की क्या स्थिति थी और किन प्रक्रियाओं के आधार पर वेदार्थ समझा वा समझाया जाता था, यज्ञों के प्रादुर्भाव के अनन्तर उसका वेदार्थ पर क्या प्रभाव पड़ा, याज्ञिक तथा अन्य प्रक्रियाओं में किस प्रकार शनैः शनैः परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों का वेद और उसके अर्थ पर अन्त में क्या प्रभाव हुआ।

आज से लगभग ११-१२ सहस्र वर्ष पूर्व से वेदार्थ की वास्तविक प्रक्रिया में परिवर्तन तथा ह्रास का आरम्भ हुआ (यही काल यज्ञों के प्रादुर्भाव का है) और वेदार्थ उत्तरोत्तर विकृत होता चला गया। इतने सुदीर्घ काल में स्वामी दयानन्द सरस्वती के अतिरिक्त किसी भी अन्य आचार्य ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि जब तक यज्ञों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था तब (यज्ञों से पूर्व) भी वेद का कोई अर्थ समझा-समझाया जाता था वा नहीं ? (वेद का प्रादुर्भाव सृष्टि के आरम्भ में और यज्ञों का त्रेता के आदि में माना जाता है), यदि समझा जाता था तो उस वेदार्थ की क्या प्रक्रिया थी ? इस सुदीर्घ काल में जितने भी पुरातन आचार्यों ने वेदार्थ के विषय में जो कुछ लिखा है उन सब पर अपने-अपने समय की वेदार्थ प्रक्रिया का कितना भारी प्रभाव था, यह भी इस विवेचना से स्पष्ट है।

वेदार्थ प्रक्रियाओं की इस ऐतिहासिक विवेचना से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दृष्टि से वेद और उसके अर्थ की वही वास्तविक स्थिति है, जो यज्ञों की प्रकल्पना से पूर्व समझी जाती थी और जिसके कतिपय संकेत मनुस्मृति आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। स्वायम्भुव मनु के पश्चात् सम्भवतः स्वामी दयानन्द ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति हुआ, जिसने वेद के विषय में स्वायम्भुव मनु के "सर्वज्ञानमयो हि सः"[1] के समान "वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है" ऐसी स्पष्ट घोषणा की[2] और इसी सर्वप्राचीन

---

१. मनुस्मृति २।७ मेधातिथि गोविन्दराज आदि की प्राचीन टीकाओं के अनुसार।

२. देखो—आर्यसमाज का तृतीय नियम—"वेद सब सत्य विद्याओं का

दृष्टि से ऋग्वेद के साढ़े छ मण्डल और सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य करके दर्शा दिया कि वेद वास्तविक रूप में सब सत्य विद्याओं के पुस्तक हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रति मन्त्र व्याख्या के सम्बन्ध में चाहे कितना ही मत-भेद क्यों न हो, परन्तु उन्होंने जिस दृष्टि से वेद का अर्थ किया है, भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी वह वेदार्थ प्रक्रिया वा वेदार्थ की दृष्टि सर्वथा ठीक है, यह तो स्वीकार करना ही होगा। और इससे यह भी मानना होगा कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की मेधा अत्यन्त विमल और सूक्ष्म थी, उसके लिये न देश का व्यवधान था और न काल का, न उस पर किसी प्राचीन ऋषि-मुनि वा सम्प्रदाय का प्रभाव था और न अपने समय का। अत-एव उस महापुरुष ने वेदार्थ की समस्त काल्पनिक प्रक्रियाओं का उल्लङ्घन करके अति पुरातन काल की वेदार्थ प्रक्रिया का आश्रयण कर वेद और वेदार्थ की प्रक्रिया का विशुद्ध स्वरूप संसार के सामने उपस्थित किया।

यद्यपि काम क्रोध लोभ मोह, मद, अहंकार और अविद्या से ग्रस्त संसार अभी तक स्वामी दयानन्द सरस्वती के इस महत्तम कार्य का मूल्याङ्कन नहीं कर पाया, तथापि जब उसकी बुद्धि विमल होगी और मन पवित्र होगा, तब वीतराग योगिराज अरविन्द के समान भगवान् दयानन्द के अवर्णनीय तपःप्रभाव-निर्झरित वेदार्थप्रक्रिया के महत्त्व को समझेगा[1] और एक स्वर से कहेगा—नमः परमर्षये! नमः परमर्षये!!

पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" यद्यपि स्वामी शङ्कराचार्य ने भी "शास्त्रयोनित्वात्" (१।१।३) ब्रह्म-सूत्र के भाष्य में "ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य अनेकविद्योपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म" लिखा है, परन्तु यहां ये सब विशेषण ऋग्वेदादि वेदचतुष्टय के ही नहीं हैं, अपि तु समस्त शास्त्रों की अपेक्षा से लिखे गये हैं। क्योंकि इस भाष्य और उक्त ब्रह्मसूत्र का मूल बृहदारण्यक की "एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि अस्यैवेतानि निःश्वसितानि" (२।४।१०) श्रुति है। स्वयं शङ्कराचार्यजी ने भी उक्त प्रसङ्ग में इस श्रुति का निर्देश किया है।

१. द्र०—टिप्पणी परिशिष्ट में।

परिशिष्ट

पृष्ठ ६२ की तीसरी टिप्पणी—

हमने इस लेख में जो ऐतिहासिक काल लिखे है, वे हमारे अपने **मन्तव्य** के अनुसार हैं। उस मन्तव्य का संक्षेप इस प्रकार है—

पृथिवी की उत्पत्ति से अबतक लगभग दो अरब सौर वर्ष व्यतीत हुए हैं। इस सुदीर्घ काल में अनेक बार खण्ड प्रलय हुई, उनसे अनेक बार मनुष्य-सृष्टि का क्रम-भङ्ग हुआ। आज से लगभग १७ सहस्र सौर वर्ष पूर्व भी एक ऐसा ही जलौघ आया था (इसका संकेत संसार की समस्त प्राचीन धर्म पुस्तकों में है)। जिससे पूर्व मनुष्य सृष्टि का क्रम-भङ्ग हुआ और नये रूप से मनुष्य सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। वर्तमान मनुष्य सृष्टि को प्रादुर्भूत हुए लगभग १६ सहस्र वर्ष हुए हैं। इन वर्षों की गणना इस प्रकार है— कृत ४८००, त्रेता ३६००, द्वापर २४०० और कलि १२०० दिव्य वर्ष अर्थात् सब मिलाकर १२००० सहस्र दिव्य वर्ष हुए। ऐतिहासिक काल गणना में दिव्य वर्ष का अर्थ सौर वर्ष है (मानव वर्ष से ३६० गुना बड़ा नहीं)। भारतयुद्ध के ३६ वर्ष के अनन्तर कलि का आरम्भ हुआ और वह भारतयुद्ध के १२३६ वर्ष के (३६+१२००) के अनन्तर समाप्त हो गया। कलि-समाप्ति के समय लोक में प्रसिद्ध कृतयुग के शुभ लक्षण दिखाई न पड़ने और उत्तरोत्तर कलि के अशुभ लक्षणों की वृद्धि के कारण कलिकाल की वृद्धि मानी गई। यथा—**"तदा नन्दात् प्रभृत्येव कलिर्वृद्धिं गमिष्यति'** तथा **'शूद्रा कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः'** (जर्नल आफ दि बिहार एण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी जि० ३, पृष्ठ ३४६ में उद्धृत)। **प्रत्येक युग के २८ अवान्तर विभाग होते हैं** (पुराणों में इसका बहुत्र उल्लेख है)। इस प्रकार उक्त कलिवृद्धि भी कलि के २८वें अवान्तर कलि काल की हुई। इसीलिये संकल्प में पढ़ा जाता है—**"अष्टाविंशतितमे कलियुगे"**। जिस प्रकार हमारे यहा २८वें अवान्तर कलि के काल की वृद्धि मानी गई, उसी प्रकार मुसलमानों में १४वीं शताब्दी की इयत्ता नहीं मानी जाती। मुसलमानों में मानी गई १४ शताब्दियां, भारतीय १४ मन्वन्तर गणना का विकृत रूप हैं।

आज कलि को प्रारम्भ हुए ५०७७ वर्ष हुए हैं। उनमें से १२०० वर्ष मुख्य कलि के न्यून करके ३८५४ वर्षों में चतुर्युगी के पूर्वोक्त १२००० वर्ष मिलाने पर १५८७७ सौर वर्ष मानव जल प्लावन (नूह की जल प्रलय) के पश्चात् बीत चुके हैं अर्थात् वर्तमान मनुष्य सृष्टि को उत्पन्न हुए हैं। इतने वर्षों

का प्रायः शृङ्खलाबद्ध इतिहास भारतीय वाङ्मय में सुरक्षित है।

इस सब विषयों पर हम **"भारतीय प्राचीन इतिहास की कालगणना"** पुस्तक में विस्तार से विवेचना करेंगे।

पृष्ठ ६५ की पहली टिप्पणी—मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि ने 'त्रैविद्य' का अर्थ किया है—**तिसृणां विद्यानां समाहारः त्रैविद्यम्, तदधीतिनः।** धर्मसूत्रों में प्रयुक्त 'त्रैविद्य' का ऐसा ही अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने किया है, पर यह व्याकरणषास्त्र से असिद्ध है। महाभाष्य ४।२।६० में उदाहृत 'त्रैविद्य' की व्याख्या में कैयट ने लिखा है—**त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या, तामधीत इति प्रत्ययः कार्यः। तिस्रो विद्या वेद इति तु क्रियमाणे द्विगोर्लुग् (अ० ४।१।८८) इति लुक् प्रसंगः।** अर्थात् तीन अवयववाली=तीन प्रकार की विद्या ऐसा अर्थ करना उचित है। 'तीन विद्याओं को जाननेवाला' ऐसा अर्थ करने पर तद्धितार्थ में द्विगु होगा और द्विगु से उत्तर प्रत्यय का लुक् हो जायेगा। अर्थात् त्रैविद्य शब्द नहीं बनेगा।

ये तीन प्रकार की विद्याएं हैं—दण्डनीति, आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्या। वेद में इन तीनों का प्राधान्येन वर्णन होने से चारों वेद त्रिविद्या वा त्रयी कहाते हैं। ऋक् यजुः और साम का क्रमशः पद्य, गद्य और गीति (गान) अर्थ करके चारों वेदों के लिये त्रयी शब्द का व्यवहार उत्तरकालीन है। उससे भी उत्तरकालीन आचार्यों ने ऋक् यजुः और साम के पद्य गद्य और गीति अर्थों की उपेक्षा करके त्रयी शब्द से केवल ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद का ग्रहण मानकर अथर्ववेद को त्रयी से पृथक् कर दिया है। इसी भाव से आचार्य कौटिल्य ने लिखा है—**"सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयी, अथर्ववेदेतिहास-वेदौ च वेदाः"** (१।३)। त्रयी के इसी अवरकालीन अर्थ को मुख्य मानकर पाश्चात्य विद्वान् ऋक्, यजुः और साम, इन तीन को ही प्राचीन वेद मानते हैं और अथर्ववेद को अर्वाचीन कहते हैं। कौटिल्य ने स्वमत में त्रयी को आन्वीक्षिकी और दण्डनीति से पृथक् माना है—'आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः' (१।२) और मानवों के मत में त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये तीन विद्याएं कही हैं—'त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति मानवाः, त्रयीविशेषो ह्यान्वीक्षिकी' (१।२)। यदि यहां कौटिल्य का मानवों से अभिप्राय भृगुप्रोक्त मनुस्मृति के अनुयायियों से है, तब उसे अशुद्ध कहना होगा, क्योंकि मनु के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म तीनों विद्याओं को या तो त्रयी के अन्तर्गत माना जा सकता है (जैसा कि हमने माना है) या तीनों को त्रयी से पृथक् मानना होगा (जैसा कि मनु के

टीकाकार मानते हैं) । यह नहीं हो सकता कि समान कोटि में पढ़ी हुई दण्डनीति आन्वीक्षिकी अध्यात्म विद्याओं में से दण्डनीति को त्रयी से पृथक् माना जाये और आन्वीक्षिकी का त्रयी में अन्तर्भाव कहा जाये तथा अध्यात्म-विद्या की सर्वथा उपेक्षा की जाये । अतः सम्भव है यहां कौटिल्य को मानवों से स्वायम्भुव के अनुयायी अभिप्रेत न हों । पुराकाल में वैवस्वत मनु तथा प्राचेतस मनु के भी धर्मशास्त्र विद्यमान थे । इनके अनेक उद्धरण धर्मशास्त्रों की प्राचीन टीकाओं में उपलब्ध होते हैं ।

यदि मनुस्मृति के उपर्युक्त श्लोक में दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्मविद्या को 'त्रिविद्या' से पृथक् माना जाये, तो उक्त श्लोक के अर्थ में एक महान् दोष उत्पन्न हो जाता है, वह यह है—त्रिविद्या को त्रैविद्यों (=वेदों के जाननेवालों) से सीखने और वार्तारम्भ को लोक से सीखने का निर्देश श्लोक में मिल जाता है, परन्तु दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्याएं किससे सीखी जायें इसका कोई निर्देश नहीं मिलता । अतः दण्डनीति आन्वीक्षिकी और अध्यात्म विद्या को 'त्रिविद्याः' से पृथक् करना भ्रान्ति है ।

इस प्रसङ्ग में हमें कौटिल्य की एक बात विशेष रूप से खटकती है और वह है विद्या प्रसङ्ग में अध्यात्मविद्या का उल्लेख न करना । क्या राजाओं के लिये अध्याम विद्या आवश्यक नहीं है ? यदि नहीं है, तो मनु ने दण्डनीति के समान ही अध्यात्म विद्या सीखने का आदेश राजा के लिये क्यों दिया ? कौटिल्य के लेख से तो यही विदित होता है कि वह अध्यात्म विद्या केवस संन्यासियों के लिये ही आवश्यक समझता है । इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तेन ।

पृष्ठ ८४ की टिप्पणी ३—

चरक के इस पाठ में **समालभनीया** और **'आलम्भाय'** पदों के प्रयोगों से स्पष्ट है कि आङ्पूर्वक 'लभ' का अर्थ 'प्राप्त करना' और आङ्पूर्वक 'लम्भ' का अर्थ 'मारना' है । **'आलम्भ्या बड़वा'** तथा **'ज्योतिष्टोम आलभ्यः'** इत्यादि (काशिका ७।१।६५ में निर्दिष्ट) प्रयोगों की तुलना से भी यही विदित होता है । वस्तुतः 'लम्भ' स्वतन्त्र धातु है । वह 'लभ' का ही रूपान्तर नहीं है । अन्यथा 'समालभनीया' और 'अग्निष्टोम आलभ्यः' इत्यादि प्रयोगों में पाणिनीय शब्दानुशासन (६।१।६४, ६५) से नुम् का आगम होकर 'समालम्भनीया' और अग्निष्टोम आलम्भ्यः' प्रयोग बनने चाहिये (इसी प्रकार अन्वयव्यतिरेक से प्रकृत्यन्तर का निश्चय होता है । देखो—महाभाष्य ६।४।२४ 'बृहिः प्रकृत्यन्तरय्' प्रकरण । अतः जो लोग **'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते'** (तै० ब्रा० ३।४।१) इत्यादि प्रकरण में **'आलभते'** का अर्थ संज्ञपन (मारना) करते

हैं, वह अशुद्ध है । निघण्टु ३।१४ में अर्चतिकर्मा धातुओं में **रञ्जयति रजयति** दो धातुओं का निर्देश भी लभ लम्भ दो स्वतन्त्र प्रकृत्यन्तरों का ज्ञापक है ।

पृष्ठ १२१ की टिप्पणी ३—

निरुक्तकार ने जहां अनेक प्रकार के निर्वचन दर्शाये हैं वहां उसने 'वा' शब्द का भी प्रयोग किया है । उसे देख कर आधुनिक विद्वान् कहते हैं कि निरुक्तकार को जहां पदों का वास्तविक निर्वचन ज्ञात नहीं था, वहां उसने अटकलपच्चू निर्वचन करके अपने सन्देह को व्यक्त करने के लिये 'वा' पद का प्रयोग कर दिया । आधुनिक विद्वानों का यह मत नितान्त अयुक्त है । निरुक्तकार ने अनेक धातुओं मे व्युत्पत्ति वहीं दर्शाई है, जहां उन अर्थों के मूल कारण पृथक्-पृथक् थे । उन पृथक्-पृथक् कारणों को बतलाने के लिये यास्क यदि व्युत्पत्त्यन्तर न दिखता तो और क्या करता । इस बात को स्पष्ट करने के निये हम हिन्दी के दो शब्द उपस्थित करते हैं—काम, घण्टी । हिन्दी में काम शब्द के अर्थ हैं—कामना=विषयवासना और कर्म=क्रिया । इन दो अर्थों का मूल कारण बताने के लिये 'कमु कान्तौ' और 'डुकृञ् करणे' इन दो धातुओं से व्युत्पत्ति दर्शानी ही होगी, क्योंकि हिन्दी के काम शब्द के दो मूल हैं । एक संस्कृत का 'कमु कान्तौ' धातु से निष्पन्न 'काम' शब्द और दूसरा 'डुकृञ् करणे' से निष्पन्न 'कर्म' शब्द । संस्कृत का एक 'काम' शब्द विना किसी परिवर्तन के हिन्दी में पहुंच गया और दूसरा संस्कृत का 'कर्म' शब्द प्राकृत में 'कम्म' होकर 'काम' रूप में परिवर्तित हुआ (प्राकृत का 'कम्म' हिन्दी के 'निकम्मा' शब्द में तथा पंजाबी में अभी तक प्रयुक्त होता है) इसी प्रकार हिन्दी में 'घण्टी शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—छोटी लुटिया तथा शब्द करने का छोटा साधन । इन दोनों अर्थों का मूल पृथक्-पृथक् है । लुटिया अर्थवाला घण्टी शब्द संस्कृत के घट शब्द के अल्पार्थवाची घटी (छोटा घड़ा) शब्द में णकार का उपजन होकर बना है । अतः इसका निर्वचन 'घट' धातु से करना होगा । और शब्दार्थक घण्टी शब्द का मूल है बृहद्गुणविशिष्ट 'घण्टा' । संस्कृत में 'घण्टा' शब्द स्त्रीलिंग है परन्तु हिन्दी में यह पुंलिङ्ग है । संस्कृत में ह्रस्वार्थ में प्रयुक्त होनेवाला 'ई' प्रत्यय जोड़ने से घण्टा से घण्टी शब्द निष्पन्न हुआ है । अतः इसका निर्वचन शब्दार्थक 'घटि'='घण्ट' धातु से करना होगा । इस प्रकार जब समान वर्णानुपूर्वीवाले शब्द के विभिन्न अर्थ हों तो वहां अनेक धातुओं से निर्वचन करना अवश्यंभावी है । यास्क ने स्वयं अपनी इस शैलीं का प्रतिपादन किया है । वह लिखता है—"एवमन्येषामपि सत्त्वानां सन्देहा विद्यन्ते, तानि चेत् समानकर्माणि समान-

निर्वचनानि, नानाकर्माणि चेन्नानानिर्वचनानि, यथार्थं निर्वक्तव्यानि" ।२।१०।। उन नाना निर्वचनों का समुच्चय दर्शाने के लिये निरुक्तकार ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है। 'वा' शब्द संस्कृत में समुच्चयार्थक भी है, केवल विकल्पार्थक ही नहीं है ।

पृष्ठ १३१ की पहली टिप्पणी—

योगिराज अरविन्द ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेदार्थ प्रक्रिया के विषय में इस प्रकार लिखा है—

"मैं दयानन्द के वेदभाष्य के आधार रूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ आये हैं ।

सायण भाष्य को ठीक समझने वाले लोग दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते । महाविद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्त्व वाला दिखाई देता हुआ भी वेद का यथार्थ और सीधा अर्थ नहीं है, उसमें पूर्व कल्पित सिद्धान्तों के साथ मन्त्रों की खींचातानी से संगति लगाने की चेष्टा गई है । पाश्चात्य विद्वान् भी स्वामी दयानन्द के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते । उनका परिचय शुभेच्छा, अनुसंधान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमें पूर्वापर सम्बन्ध का अभाव है, और संदिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मानकर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिये । इस विषय में दयानन्द सरस्वती का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अभेद्य है । वेद के सूक्त भिन्न-भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन करके गाये गये हैं । विप्र अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, मातरिश्वा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं । वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैक्समूलर वा राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे । अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं ।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं । वे कहते हैं, यह सूक्त नये काल का है, ऐसा ऊंचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था । इसके विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं । अग्नि में ही सब दूसरी दैवी शक्तियां हैं इत्यादि । देवताओं के ऐसे विशेषण हैं, जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो ही नहीं सकते । पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं । अहो ! वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिये । क्या सत्य अपने को छिपा ले,

बुद्धि मैदान छोड़कर भाग जाये, ताकि एक सिद्धान्त (क्रमिक विकास का) फलफूल सके? मैं पूछता हूं—इस बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है, वा पाश्चात्य विद्वान्?

बस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त को मानने से, नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विश्वास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। फिर बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो दयानन्द सरस्वती ने इस से निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ या सायण का बहुदेवतावाद का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध से किया हुआ अर्थ मटियामेट हो जाता है। इस के स्थान में वेद एक वास्तविक धर्म-ग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक, और एक श्रेष्ठ और उच्च धर्म का दैवी शब्द हो जाता है।

[वैदिक मैगजीन (गुरुकुल कांगड़ी) सन् १९१६ के श्री अरविन्द के अंग्रेजी लेख का भावमात्र।]

वेद-संज्ञा-मीमांसा

अर्थात्

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति सूत्र-मीमांसा

मीमांस्यमानोऽयं वेदशब्दो वैदिकवाङ्मये द्विविध उपलभ्यते । एक आद्युदात्तः, अपरोऽन्तोदात्तः । तत्राद्युदात्तो वेदशब्दो ज्ञानपर्यायः, अन्तोदात्तश्च कुशमुष्टिनिर्मितस्य यज्ञीयपदार्थविशेषस्य वाचकः, इति तयोरर्थविभागमन्वाचक्षते वेदार्थविद आचार्याः ।

आद्युदात्तस्य वेदशब्दस्य निर्वचनं वैदिकवाङ्मये नोपलभ्यते । अन्तोदात्तस्य त्वित्थं श्रूयते—

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दत तद्वेदस्य वेदत्वम् । तै० सं० १।७।४।।

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दन् । तै० ब्रा० ३।३।६।६।।
तं (यज्ञं) वेदेनाविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । मै० सं० १।४।८।।
तां (वेदिं) वेदेनाविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । मै० सं० ४।१।१३।।
तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । का० सं० ३१।१२।।
तं (यज्ञं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । का० सं० ३२।६।।
तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम् । कपि० ४७।११।।

इह सर्वत्र दर्भमुष्टिनिर्मितयज्ञीयोपकरणविशेषवाचकस्यैव वेदशब्दस्य निर्वचनमिति तत्तत्प्रकरणानुशीलनेन सर्वथा विस्पष्टं भवति । शुक्लयजुःसंहितयोरपि वेदोऽसि० (मा० २।२१; का० १।७।५) इति मन्त्रे द्विः पठ्यमानोऽन्तोदात्तवेदशब्दोऽपि यज्ञप्रक्रियायां वेदसंज्ञकस्य यज्ञीयोपकरणस्यैव वाचक इति कात्यायनीये 'पत्नी वेदं प्रमुञ्चति—वेदोऽसीति' इति (३।८।२) सूत्रे वेदप्रमुञ्चने तन्मन्त्रस्य विनियोगविधानाद् विज्ञायते ।

एतदेव च विमृश्य भगवता पाणिनिनाऽन्तोदात्तप्रकरणे वेगवेदचेष्टबन्धाः

करणे इत्युञ्छादिगणसूत्रे (अ० ६।१।१५४) 'करणे' इति पदं निवेशितम् । करणाभिधेयादन्यत्र घञन्तो वेदशब्द आद्युदात्त इत्यर्थापत्त्यैवापद्यते । एवमजन्तस्य कर्त्रभिधेयस्य चित्त्वादन्तोदात्तत्वे प्राप्ते आद्युदात्तप्रकरणे वृषादिगणे (अ० ६।१।१६७) वेदशब्दस्य पाठो व्यधायि ।

इह निबन्धे मीमांस्यमानो वेदशब्दो ज्ञानपर्याय आद्युदात्त एव । अयमेव च वेदशब्द आधाराधेययोरभेदविवक्षया ज्ञानाधारे ग्रन्थेऽपि प्रयुज्यते । यद्यपि यौगिकार्थसामान्यमपेक्ष्य वेदशब्दो ग्रन्थमात्रे प्रयोगमर्हति, तथापि पङ्कजादिशब्दवदयं केषुचिदेव ग्रन्थेषु रूढ इति सार्वजनीनं मतम् ।

तत्र वेदशब्द: केषां ग्रन्थानां वाचक इत्यत्र बहो: कालाद् विवदन्ते विद्वांस: । तद्यथा—

एके मन्त्रसंहिता एव वेदा इत्यातिष्ठन्ते ।[1]
अपरे मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामेति संगिरन्ते ।[2]
अन्य आरण्यकोपनिषदामपि वेदेऽन्तर्भावमिच्छन्ति ।[3]
केचित् कल्पसूत्राणां पूर्वमीमांसासूत्राणां च वेदत्वमामनन्ति ।[4]
एके षडङ्गानामपि वेदत्वमभिलषन्ति ।[5]

---

१. द्र०—'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यापस्तम्बीयश्रौतसूत्रव्याख्याने 'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्' इति धूर्तस्वामिनो वचनम्, 'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्' इति हरदत्तस्य वचनम्, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां च वेदसंज्ञाविचारप्रकरणे स्वामिदयानन्दस्य मतं च ।

२. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'इति कृष्णयजु:श्रौतसूत्रकाराणां वचनम् । 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्द:' इति कौषीतकिगृह्यवचनम् (३।१२।२३) इत्यादीनि च ।

३. उपनिषद: प्रायेणारण्यकान्तर्वर्तिन्य:, आरण्यकानां च ब्राह्मणैकदेशत्वं स्वीकृत्य मतमेतत् प्रसरति । आचार्यसायणेन ऋग्भाष्योपक्रमणिकादिषु उपनिषत्पर्यन्ता वेदसंज्ञा स्वीकृता ।

४. विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेद: (पार० गृ० २।६।५) इति सूत्रव्याख्याने 'तर्क: कल्पसूत्रमिति भर्तृयज्ञ:, तर्को मीमांसेति कल्पतरु:' इत्याह गदाधर: । हरिहरोऽपि कल्पतरोर्वचनमुद्दधार । विश्वनाथस्तु उक्तसूत्रव्याख्याने न्यायशास्त्रस्यापि वेदत्वमाह । यदाह— तर्को न्यायमीमांसे इति ।

५. विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेद:, षडङ्गमेके (पार० गृ० २।६।५,६)।अत्र कर्कगदाधरयोर्व्याख्यानमप्यनुसंधेयम् ।

एवं विवादास्पदीभूते वेदपदार्थे को नाम तस्य मुख्योऽर्थः, कश्च गौण इति जायते विचारणा।

द्वयोरेवार्थयोर्विचारार्हता

उक्तेषु पञ्चस्वर्थेषु द्वावादिमावेव विवेचनार्हावर्थौ स्तः। तृतीयार्थस्वीकर्तारोऽपि आरण्यकोपनिषदां ब्राह्मणेष्वेवान्तर्भावं कृत्वा तेषां वेदसंज्ञामुररीकुर्वन्ति। चतुर्थोऽर्थस्तु कैश्चिदेव पारस्करसूत्रव्याख्यातृभिः स्वीक्रियते। पञ्चमोऽर्थस्तु स्वयं सूत्रकृतैवैकेषां मतेनोपस्थापितः। तदेवमादिमयोर्द्वयोरेवार्थयोरवशिष्यते विचारार्हता। अतस्तयोः कतरोऽर्थो मुख्यः कतरश्च गौण इत्यधुना विचार्यते।

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायेन यः स्वाभाविकोऽपरिभाषितोऽर्थः स मुख्यः। यस्तु परिभाषितः स प्रयत्नार्हत्वात् कृत्रिमः, अत एवाप्रधानः। एवमेव योऽर्थः साहचर्यादिभिर्निमित्तै[1]रवगम्यते, सोऽपि नैमित्तिकत्वाद् गौण इति सार्वजनीनं मतम्।

सत्येवम्, उभयोरर्थयोः कोऽर्थोऽपरिभाषितः, को वा परिभाषित इति जायते जिज्ञासा। ऋग्यजुःसाममन्त्राणामध्ययने क्रियमाणे भवन्ति वक्तारः—ऋग्वेदोऽधीयते, यजुर्वेदोऽधीयते, सामवेदोऽधीयते इति। नहि कश्चिदपि मन्त्राणां वेदसंज्ञां प्रख्यापयितुं प्रायतत प्रयतते वा। ब्राह्मणग्रन्थानामुपनिषद्ग्रन्थानां वाऽध्ययने तु वक्तारो भवन्ति—ब्राह्मणमधीयते, उपनिषदधीयते, यद्वा ऐतरेयमधीयते, बृहदारण्यकमधीयते। न कश्चिदाह—ऋग्वेदोऽधीयते यजुर्वेदो वाऽधीयत इति। ब्राह्मणानां तु वेदत्वप्रख्यापनाय 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यादीनि बहूनि सूत्राणि तैस्तैर्ग्रन्थकृद्भिः सूत्रितानि। तत्र कारणं चिन्त्यम्। यद्युच्येत ब्राह्मणैः सह मन्त्राणामपि वेदत्वमुच्यते, न केवलं ब्राह्मणानामेवेति। सत्यम्, इह ब्राह्मणैः सह मन्त्राणामपि वेदसंज्ञा विधीयते, परन्तु यत्रास्याः पारिभाषिक्याः संज्ञायाः प्रवृत्तिर्नास्ति, तत्र वेदशब्देन मन्त्राणामेव ग्रहणाद् ब्राह्मणानां चाग्रहणाद् विज्ञायते वेदपदस्य मन्त्रा एव स्वाभाविकोऽकृत्रिमोऽर्थः, न तु ब्राह्मणमपि। तथाहि—

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदसंज्ञा कल्पसूत्रकारैर्विधीयते। न सा संज्ञा ब्राह्मणग्रन्थेष्वनुयोक्तुमर्हा, उभयेषां कालवैषम्यात् स्थितिवैषम्याद्वा।[2] तस्माद् ब्राह्मणग्रन्थेषु

---

१. न्यायसूत्रकृता सहचरणादीनि दश निमित्तानि अर्थान्तरबोधकानि सोदाहरणं परिगणितानि (द्र०—२।२।६१)

२. पाश्चात्यमतानुसारं ब्राह्मणानां कल्पसूत्राणां च प्रवचने कालभेदोऽस्ति। ब्राह्मणानि पौर्वकालिकानि कल्पसूत्राण्यौत्तरकालिकानि। नहि उत्तरकाले

यत्र क्वचिदपि वेदशब्दः श्रूयते, स किम्पर इति जायते विचारणा । तन्निश्चयाय कानिचिद् ब्राह्मणवचनानि प्रस्तूयन्ते —

तानि ज्योतींष्यभ्यतपन्, तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्····· स ऋचैव हौत्रमकरोत् यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथमिति । ऐ० ब्रा० ५।५।७।।

अत्रोपक्रमे वेदशब्दव्यवहार उपसंहारे च ऋग्यजुःसामशब्दानाम् । ऋग्यजुःसामशब्दाश्च मन्त्रवाचका इति सार्वजनीनं मतम् । तेनोपक्रमे श्रूयमाणो वेदशब्दो मन्त्राणामेव वाचको भवितुमर्हति । न तत्र कथमपि ब्राह्मणानामन्तर्भावो वक्तुं शक्यते ।[1] अपि चात्रेदमपि ध्येयम्—यज्ञेषु मन्त्रा एव प्रयुज्यन्ते न ब्राह्मणानि । तेनेहोपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यतायै 'ऋचैव हौत्रमकरोत्' इत्यादिषु न ब्राह्मणानामपि निर्देश इति शक्यं वक्तुम् ।

एतदर्थस्योपष्टम्भाय शबरस्वामिनोद्धृतः कस्यचिद् ब्राह्मणग्रन्थस्य पाठोऽप्युपस्थाप्यते –'तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त । अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेद आदित्यात् सामवेदः ····। उच्चैर्ऋचा क्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशु यजुषा इति' **(शाबरभाष्य** ३।३।२) ।

अत्राप्युपक्रमे वेदशब्द उपसंहारे च ऋग्यजुःसामशब्दा उपलभ्यन्ते । परन्त्वयमत्र विशेषः —इह ऋग्यजुःसाम्नां य उच्चैस्त्वाद्युच्चारणधर्मो विधीयते, स तत्तद्वेदपठितानां मन्त्राणामेव, न तु ब्राह्मवचनानामपीति सर्वस्वीकृतो राद्धान्तः । अत एतादृशेषु वचनेषु ब्राह्मणानां वेदत्वमभिप्रपन्ना याज्ञिका अप्यत्र वेदशब्देन ब्राह्मणानां ग्रहणं न स्वीकुर्वन्ति ।[2]

विहितस्य नियमस्य पौर्वकालिकेषु ग्रन्थेषु प्रवृत्तिः सम्भवति । भारतीयानां ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वं स्वीकुर्वतां मते ब्राह्मणान्यपौरुषेयाणि कल्पसूत्राणि तु पौरुषेयाणि इति स्थितिभेदः ।

१. तेन ब्राह्मणग्रन्थेषु श्रूयमाणैर्ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदशब्दैर्मन्त्रसंहिता एवोच्यन्ते इति स्पष्टम् । तत्तत्प्रकाराणां मन्त्राणां बाहुल्येन सा सा संज्ञा द्रष्टव्या ।

२. उपसंहारानुरोधेनोपक्रमेऽर्थसंकोचो भवतीति केचित् वक्तुं शक्नुवन्ति । परन्तु ब्राह्मणग्रन्थेषु प्रयुज्यमानो वेदशब्दो ब्राह्मणान्यप्युपसंगृह्णातीत्यत्रैव न किञ्चिन्मानम् । तथा सति अर्थसंकोचस्य कथैव दूरेऽपास्ता (एतेन ब्राह्मणग्रन्था अप्यपौरुषेया इत्यपि मतमपास्तं भवति) । यदि दुर्जनसन्तोषन्यायेन उपक्रमे

एवं च कृत्वा ब्राह्मणवचनेषु श्रूयमाणो वेदशब्दो मन्त्राणामेव वाचक इति सिद्धम्। मन्त्राणां च वेदसंज्ञाविधायकं न किमपि वचनं ब्राह्मणग्रन्थेषूपलभ्यते, तेन ज्ञायते यत् वेदपदस्य मन्त्रा एव मुख्योऽर्थो, न तु ब्राह्मणानि। कल्पसूत्रकारैस्तु स्वशास्त्रकार्यनिर्वाहाय यथान्या बह्व्यः संज्ञाः परिभाष्यन्ते, तथेयमपि तेषां पारिभाषिकी वेदसंज्ञा। पारिभाषिकोऽर्थो न मुख्यो भवति, तस्य विशेषरूपेण पारिभाषणात्। तदेवं मन्त्राणामेव मुख्या वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणानामपीत्यमर्थो यद्यपि सिद्धस्तथाप्यस्य दाढर्याय "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति वचनस्य विशेषेण विवेचना क्रियते—

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"

ये खलु वैदिका विद्वांसो मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि वेदत्वमुररीकुर्वन्ति, तेषां प्रधानालम्बनभूतं तत्रभवतां श्रौतसूत्रकाराणां "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति प्रसिद्धं वचनम्। तत्र खल्वस्मिन् निबन्ध इदमेव सूत्रमवलम्ब्य विचार्यते—किमनेन सूत्रेण मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि वेदत्व सिद्धयति, न वा। तदर्थं तावत् सूत्रमिदं कैः कैराचार्यवर्यैः स्वीयश्रौतसूत्रेषु पठितम् कैर्न, यैश्च पठितं तत्र तादृशवेदसंज्ञाविधाने तेषां किं प्रयोजनं चेति विस्तरेण विविच्यते —

तत्र सूत्रं खल्विदं कृष्णयजुःशाखा[1]सम्बद्धेष्वापस्तम्बसत्याषाढबौधायना[2]दिश्रौतसूत्रेष्वेवोपलभ्यते। ऋक्शुक्लयजुःसामवेदानां च यान्याश्वलायनशाङ्खायनकात्यायन[3]द्राह्यायणलाटचायनप्रभृतीनि श्रौतसूत्राण्युपलभ्यन्ते, तेषु न क्वचि-

---

ऋग्वेदादिपदेषूपसंहारानुरोधेनार्थसंकोचः स्वीक्रियेत, तथा सति उपक्रमे प्रयुक्तैर्ऋग्वेदादिपदैर्यो मन्त्ररूप एवार्थो गृह्यते, तस्यैवापौरुषेयत्वमेभिर्वचनैः सिद्धयति, न ब्राह्मणानामपि।

१. यजुषां शुक्लकृष्णद्विरूपाभिधाने को हेतुरिति 'यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेकः' इति नाम्नि निबन्धे निपुणतरमुपपादितम्। इदमस्मिन् निबन्धसंग्रह उपरिष्टान्मुद्रचते।

२. काण्वशतपथसम्पादकेन 'कॅलिण्ड' महोदयेन बौधायनसूत्रस्य काण्वयजुषा सह सम्बन्धः प्रतिपादितः, स च सुदृढानां प्रमाणानामभावे नास्मभ्यं रोचते।

३. शुक्लयजुःसबन्धिनी द्वे प्रतिज्ञापरिशिष्टसूत्रे। तयोरेकं श्रौतसम्बन्धिष्वष्टादशषु परिशिष्टेषु तृतीयपरिशिष्टात्मकम्, अपरं शुक्लयजुःप्रातिशाख्य-

दपि सूत्रमिदम् एतदर्थकं वा वचनान्तरमुलभ्यते। अतः सन्दिह्यते—किमत्र कारणं, येन कृष्णयजुषां श्रौतसूत्रेष्वेव सूत्रमिदमुपलभ्यते नर्ग्वेदशुक्लयजुःसाम-संहितानामिति? एतादृशे विशिष्टे वैषम्ये कारणेन केनचिदवश्यं भवितव्यम्। तत्र कारणे विमृश्यमाणेऽस्माभिरयं हेतुरवगतः—'ऋक्सामयोः सर्वासूपलब्धासु संहितासु नास्ति ब्राह्मणस्य लेशतोऽपि संसर्ग इति सार्वलौकिकं मतम्। शुक्ल-यजुषः काण्वमाध्यन्दिनसंहितयोः कैश्चिद् ब्राह्मणभागोऽभिप्रेयते। तस्य चैकमात्र-मवलम्बनं तदीयं कात्यायननाम्ना प्रसिद्धं सर्वानुक्रमसूत्रम्[1]।

तत्र सर्वानुक्रमसूत्रानुसारं शुक्लयजुषो माध्यन्दिनसंहितायाम् एकोन-विंशतितमेऽध्याये यज्ञमित्यादयो [१२-३१] विंशतिकण्डिकाः, सम्पूर्णश्चतु-र्विंशोऽध्यायः, पञ्चविंशतितमस्याद्या नव कण्डिकाः, प्रारम्भिकाश्चतस्रः कण्डिका वर्जयित्वा सम्पूर्णस्त्रिंशत्तमोऽध्यायश्चेत्येतावान् भागो ब्राह्मणपदवाच्यः। काण्वसंहितायामपीमान्येव प्रकरणानि ब्राह्मणानि। परमिदं सर्वानुक्रमसूत्रमतं प्रमाणभूतानां प्राचीनानां ग्रन्थकाराणां मताद्विरुद्धम्। तेषां मते शुक्लयजुष उभयोरपि संहितयोर्नास्ति कश्चिदपि भागो ब्राह्मणपदवाच्य इत्युपरिष्टाद् वक्ष्यामः।

कृष्णयजुषां यावत्यः शाखा उपलभ्यन्ते, तासु सर्वास्वेव मन्त्रब्राह्मणयोः सह समाम्नानं वर्तते। अतः यासु संहितासु केवलं मन्त्राण्येव[2] पठचन्ते, तासां सूत्रकारैर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् इत्येतादृक् सूत्रं न पठितम्, यासु च कृष्ण-यजुःशाखासु मन्त्रैः सह ब्राह्मणमपि समाम्नायते, तासामेव सूत्रकारैर्मन्त्रब्राह्मणयो-र्वेदनामधेयत्वमुच्यते। अत इदमवगम्यते—यद् यासु संहितासु मन्त्रा एव पठचन्ते, तासां वेदत्वं पुरा लोकप्रसिद्धमासीत्। अत एव तासां सूत्रकारैरेतादृक् किमपि

सम्बन्धि। तत्र कात्यायनश्रौतसूत्रे तदीये वा परिशिष्टेषु नेदं 'मन्त्रब्राह्मणयो-र्वेदनामधेयम्' सूत्रमुपलभ्यते, किन्तु शुल्कयजुषः प्रातिशाख्यसम्बन्धिनि प्रतिज्ञा-परिशिष्टे सूत्रमिदं दृश्यते। कृष्णयजुःसम्बन्धिषु तु प्रायेण सर्वेष्वेव श्रौतसूत्रेषु। तत्रापि परिभाषाप्रकरणे सूत्रमिदं समुपलभ्यते इति स्थितिवैलक्ष्यमप्यत्र ध्येयम्।

१. इदं सूत्रं न महर्षिकात्यायनविरचितमपि तु केनचिदर्वाचीनेन लेखकेन कात्यायननाम्ना प्रसिद्धीकृतमित्यन्यत्रास्माभिर्निपुणतरमुपपादितम्।

२. मन्त्रशब्दस्य पुंस्त्वं प्रायिकम्, नपुंसकेऽपि प्रयोगदर्शनात्। तथा च बृहद्देवतायां प्रयुज्यते—"न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्त्रम्" [८।१२९]।

वचनं न पठितम् । यासु च शाखासु ब्राह्मणान्यपि पठ्यन्ते, तासां तादृग्वेदप्रसिद्धेरभावात् स्वीयशाखानामपि वेदत्वप्रतिपादनाय स्वीयशास्त्रकार्यनिर्वाहाय वेदं सूत्रं पठितम् । सत्येवम्, मन्त्राणामेव वास्तविकी वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणानामित्यपि स्पष्टं प्रतीयते । अत एव च तैस्तैः सूत्रकारैर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयविधाने कृतेऽपि चिरकालपर्यन्तं प्राचीनैरनेकैराचार्यैरिदं मतं नोररीकृतम् । एतदभिप्रेत्यैव "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यापस्तम्बीयसूत्रं व्याचक्षाणेन हरदत्तेनोक्तम्—"कैचिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्" इति । ततः पूर्ववर्तिना धूर्तस्वामिनाऽपि तत्रैव प्रातिपादितम्—"कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम्" इति । एतेनापीदमेवावगम्यते यन्मन्त्राणामेव वेदसंज्ञा प्राचीनाचार्याणां सम्मतासीन्न ब्राह्मणानामपीति ।

अपरं चेदमवधेयम्—येषु येषु श्रौतसूत्रेषु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति सूत्रं पठ्यते, तेषु सर्वेष्वेव परिभाषाप्रकरण एव पठ्यते । इदं सर्वजनप्रसिद्धं यत्पारिभाषिक्यः संज्ञास्तदैव विधीयन्ते, यदा ता लोकप्रसिद्धा न भवन्ति, प्रस्थानान्तरेष्वन्यविषयिका वा भवन्ति । निदर्शनं चात्र—"शि सर्वनामस्थानम्' [अ० १।१।४२]; "अदेङ् गुणः" [अ० १।१।२] इत्यादि पाणिनीयसूत्रजातम् । पारिभाषिक्यश्च संज्ञास्तेषु तेष्वेव शास्त्रेष्वाश्रीयन्ते, न ततोऽन्यत्र इत्यपि सर्वलोकप्रसिद्धम् । तथा सति "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यपि संज्ञा तेषु तेष्वेव श्रौतसूत्रेषु स्वीयशास्त्रकार्यनिर्वाहाय पाणिनीयगुणादिसंज्ञावन्नियता, न सार्वत्रिका सर्वसम्मता चेति व्यक्तम् । अनेनापि मन्त्राणामेव सर्वसम्मता वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणानामित्येवापतति ।

अपि चर्ग्वेदशुक्लयजुःसामसंहितासु मन्त्राणामेव पाठात् तद्ब्राह्मणानां च पृथक्त्वेन दर्शनात्, तत्र के मन्त्राः कानि च ब्राह्मणानि इति सन्देहावसर एव नास्ति । कृष्णयजुषः शाखासु मन्त्रब्राह्मणयोः सह पाठान्न ज्ञायते कोऽत्र मन्त्रः किं च ब्राह्मणमिति । अत एव तत्रभवद्भिर्याज्ञिकैरुभयोर्भेदपरिज्ञानाय "अनुष्ठीयमानकर्मस्मारकत्वं मन्त्रत्वं[1], विनियोजकं च ब्राह्मणम्[2]" इति लक्षणं विहितम् । लक्षणं चेदमव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषदूषितमित्युपरिष्टाद् व्यक्तीभविष्यति । यज्ञकर्मसु कृष्णयजुःसम्प्रदायस्यैव प्राधान्यात् तेषु प्रसिद्धमिदं मन्त्रब्राह्मणलक्षणं यदा शुक्लयजुषां याज्ञिकैरपि परिगृहीतं, तदा शुक्लयजुःष्वपि

१. तच्चोदकेषु मन्त्राख्या । मी० २।१।३२।। अत्रैव सूत्रे—तथा चानुष्ठेयार्थस्मारकवाक्यत्वं मन्त्रलक्षणमिति प्रर्यवस्यति । कुतुहलवृत्तिः ।

२. तै० सं० भाष्य भट्टभास्कर भाग १, पृष्ठ ३ (मैसूर-संस्क०) ।

द्रव्यदेवताविधायकानां वचनानां ब्राह्मणत्वं स्वीकृत्य कात्यायननाम्ना प्रसिद्धे 'प्रतिज्ञा-परिशिष्टे' "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति सूत्रं पठितम् । यदि चेदं वचनं कात्यायनश्रौतसूत्रकारस्याप्यभिप्रेतमभविष्यत्तर्हि स आपस्तम्बादिश्रौतसूत्रकारैरिव स्वीयश्रौतसूत्रस्थपरिभाषाप्रकरण एवापठिष्यत्, तथादर्शनादवगम्यते यद् ब्राह्मणानां वेदत्वं श्रौतसूत्रकारस्य कात्यायनस्यानभिमतम् (एतेनैव तन्मते शुक्लयजुषि ब्राह्मणस्याभावोऽपि द्योत्यते) । इदं च तदैव सिद्धयति यदा पुरा प्रतिज्ञातं शुक्लयजुःषु ब्राह्मणाभावत्वं सिद्धयेत् । अत इदं विचार्यते यच्छुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रकारेण तदनुसारिभिर्महीधरादिभिर्भाष्यकारैश्च तत्र तत्र ब्राह्मणत्वेन निर्दिष्टा भागा ब्राह्मणान्येवोत मन्त्रा एवेति ।

सर्वानुक्रमसूत्रकारेण माध्यन्दिनसंहिताया ये ये भागा ब्राह्मणत्वेनोपदिष्टास्त इमे—

१ – देवा यज्ञं(अ० १९, कं० १२—३१)ब्राह्मणानुवाको विंशतिरनुष्टुभः सोमसम्पत् ।

२—अश्वस्तूपरो (अ० २४) ब्राह्मणाध्यायः, शादं दद्भिस्त्वचान्तश्च (अ० २५, कं० १—९) ।

३ – ब्रह्मणे ब्राह्मणं द्वे कण्डिके (अ० ३०, कं० ५,६) तपसेऽनुवाकश् (अ० ३०, कं० ७-२२) च ।

ब्राह्मणत्वाब्राह्मणत्व-विचारः

तत्र तावत् शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रकृता ब्राह्मणत्वेन निर्दिष्टं 'अश्वस्तूपरः' इत्याद्यध्यायम् (२४) अधिकृत्य विचार्यते किमयमध्यायो ब्राह्मणात्मक उत मन्त्रात्मक इति—

याज्ञिकमूर्धन्येन तत्र भवता पूर्वमीमांसाभाष्यकृता शबरस्वामिना 'अश्वस्तूपरः' (अ० २४) इत्यध्यायान्तर्गतं "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" (अ० २४ कं० २०) इति वचनमधिकृत्यमन्त्रलक्षणाधिकरणे (मी० २।१।७) उक्तम्—

कथंलक्षणको मन्त्र इति । तच्चोदकेषु मन्त्राख्या । अभिधानस्य चोदकेष्वेवंजातीयकेष्वभियुक्ता उपदिशन्ति मन्त्रानधीमहे, मन्त्रानध्यापयामः, मन्त्रा वर्तन्त इति । प्रायिकमिदं लक्षणम् । अनभिधायका अपि केचन मन्त्रा इत्युच्यन्ते । यथा—वसन्ताय कपिञ्जलानालभते इति ।

शबरस्वामिन एव मतमवलम्ब्यौत्तरकालिकैः सर्वैरेव मीमांसकैः—

"यानभियुक्ता मन्त्र इत्यामनन्ति ते मन्त्रा इति निर्दुष्टं लक्षणम्"[1] इति सिद्धान्तः स्थिरीकृतः। एतेन प्रत्नानां नूत्नानां च सर्वेषामपि मीमांसकानां मते न केवलं "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इत्यस्यैवांशस्य मन्त्रत्वमब्राह्मणत्वं च, अपि त्वेतादृशां सर्वेषां शुक्लयजुषश्चतुर्विंशतितमेऽध्याये पठितानामनभिधायकानां वचनानां मन्त्रत्वमब्राह्मणत्वं च विस्पष्टं प्रतिपादितं भवति। अत एव पुरस्ताद् "अनुष्ठीयमानकर्मस्मारकत्वं मन्त्रत्वम्, विनियोजकं च ब्राह्मणम्" इति याज्ञिकानां मन्त्रब्राह्मणलक्षणमव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषदूषितमित्युक्तम्। यतो हि "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इति मीमांसकैर्मन्त्रत्वेनाभिप्रेतोंऽशो न कस्यचिदनुष्ठीयमानस्य कर्मणः स्मारक इति अतोऽत्र याज्ञिकानां पूर्वोद्धृतं मन्त्रलक्षणं न प्रवर्तत इत्यव्याप्तिदोषः[2]। "विनियोजकं ब्राह्मणम्" इत्यनेन मीमांसकैर्मन्त्रत्वेनाभिप्रेतेंऽशे ब्राह्मणत्वं प्रवर्तत इत्यतिव्याप्तिदोषः। तस्माद् याज्ञिकानामिदं मन्त्रब्राह्मणलक्षणमव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषदूषितमिति सुव्यक्तम्। इदमुभयदोषदूषितं लक्षणमेवोररीकृत्य यच्छुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रकारेण शुक्लयजुषि तत्र-तत्र ब्राह्मणत्वमुक्तं तदप्येतेन प्रत्याख्यातम्।

अपि च शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रकारेण ब्राह्मणत्वेनोक्तानां सर्वेषामपि भागानां प्राचीनैरनेकैर्ग्रन्थकारैर्विस्पष्टं यथायथमृक्त्वं यजुष्ट्वं चोच्यते। तद्यथा—

१—वासिष्ठशिक्षायाम्—काशीतः प्रकाशिते शिक्षासंग्रहेऽस्त्येका वासिष्ठी शिक्षा। तस्यां कंचित् प्राचीनं सर्वानुक्रममधिकृत्य शुक्लयजुषो माध्यन्दिनसंहितायाम् ऋग्यजुषोः पार्थक्यं, तयोः संख्या च प्रदर्श्यते। तत्रादौ प्रतिज्ञातम्—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वसिष्टस्य मतं यथा।
सर्वानुक्रममुद्धृत्य ऋग्यजुषोस्तु लक्षणम्॥ इति॥

एतस्यां वासिष्ठ्यां शिक्षायां कात्यायनीयशुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रकारेण ब्राह्मणत्वेन प्रतिज्ञातानां सर्वेषामपि भागानां यथायथमृक्त्वं यजुष्ट्वं च प्रतिपाद्यते। तथाहि—

(क) या व्याघ्रमिति आध्यायान्ताश्चतुरशीतिः इत्युद्धृत्य—ऋच इति। पृष्ठ ४१।

---

१. द्र० मन्त्रलक्षणाधिकरणम् (मी० २।१।७)।

२. विहितार्थाभिधायको मन्त्र इत्युक्ते वसन्ताय कपिञ्जसानालभते इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः। सायणः, ऋक्सामकाण्वभाष्योपक्रमणिकासु द्र० काशीसं० पृष्ठ ३५, ६४, ११२ (प्रथम संस्क०)।

अत्र 'या व्याघ्रम्' (अ० १९ कं० १०) इत्यारभ्याध्यायान्तं 'पितृभ्यः' (१९।३६)इति परित्यज्य सर्वा ऋच इत्युक्तम् । तेन शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रोक्ता 'देवा यज्ञम्' इत्यदिका (१ -३१) विंशतिकण्डिका अपि ऋच एवेति स्पष्टमुक्तं भवति ।

(ख) चतुर्विंशतितमेऽध्याये अश्वस्तूपर इत्यारभ्याध्यायान्तानि सर्वाणि यजूंषि । पञ्चविंशतितमेऽध्याये शादं दद्भिरित्यारभ्य त्वचेत्यन्तं (१-९) सर्वाणि यजूंषि इति । पृष्ठ ४२ ।

एतेन शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रकृतोक्तस्य ब्राह्मणभागस्य (अ० २४ कं० १ आरभ्य अ० २५ कं० ९ पर्यन्तस्य) वासिष्ठशिक्षाकारेण मुक्तकण्ठेन यजुष्ट्वमुद्घोषितम् ।

(ग) विंशत्तमेऽध्याये देवसवितरिति तिस्रः [ऋचः] पराणि सर्वाण्यध्यायान्तानि सप्तसप्तत्युरशतं यजूंषीति । पृष्ठ ४३ ।

अनेनापि शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रकारेणोक्तस्य ब्राह्मणभागस्य वासिष्ठशिक्षाकारमते यजुष्ट्वं विस्पष्टमेव ।

इदं चात्रावधेयम्—ऋग्यजुःसामसंज्ञा मन्त्राणामेव भवन्ति, न ब्राह्मणानामिति सर्वसम्मतः सिद्धान्तः । तथाहि भगवान् पूर्वमीमांसाकृदाह—"तेषां यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः" (मी० २।१।३५-३७) इति । तेन वासिष्ठशिक्षाकारमते ऋग्यजुःपदाभ्यां परिगणितानां शुक्लयजुषो भागानां मन्त्रत्वमेव सिद्धयति न ब्राह्मणत्वम् ।

२—ऋग्यजुःपरिशिष्टे—अस्ति कात्यायनस्य श्रौतसूत्रसम्बन्धिष्वष्टादशसु परिशिष्टेषु अन्यतमम् ऋग्यजुःपरिशिष्टम्[1] । तत्रापि शुक्लयजुःसर्वानुक्रमकारोक्तानां ब्राह्मणभागानाम् ऋक्त्वं यजुष्ट्वं च प्रत्यक्षमुच्यते । तथाहि—

(क)या व्याघ्रमिति द्वे, देवा यज्ञमित्याध्यायान्तात् पितृभ्यः स्वधायिभ्य इत्युद्धृत्य—…। पृष्ठ ८५ ।

टीका—देवा यज्ञमित्यारभ्याध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तं सर्वा ऋच एव…—।

---

१. इदं परिशिष्टं नासिकतः प्रकाशितेषु दशसु परिशिष्टेषु सटीकं मुद्रितमुपलभ्यते ।

(ख) अश्वस्तूपर इत्यध्यायान्तं यजूंष्येवेति चतुर्विशे । शादं दद्भिरित्यादि त्वचेत्यन्तमुद्धृत्य यजूंषि । पृष्ठ ८७ ।

विशेष: —त्रिंशत्तमेऽध्याये यानि यजूंषि सन्ति तेषां विषये ऋग्यजु: परिशिष्ट एवं पठ्यते —

देव सवितरिति तिस्र:, प्राक्प्रैषेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्य: । पृष्ठ ८८ ।

इह यद्यपि यजुर्मन्त्रेषु ब्राह्मणशब्दप्रयोग उपलभ्यते, तथापि न तेन तेषां यजुषां ब्राह्मणत्वमुच्यत इति तदीयटीकात: विस्ष्टं भवति । तथाहि —

प्राक्प्रैषेति प्रैषेभ्यो निगदेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्य: [२]श्रुतिरूपेभ्यो यजुर्भ्य: प्राक् इति ।

अत्र ब्राह्मणपाठेभ्य: इत्यस्य श्रुतिरूपेभ्यो यजुर्भ्य: इत्यर्थनिर्देशात् यजुष्ट्वं स्पष्टमेव । अन्यथा परिशिष्टकारस्य पूर्वापरविरोधोऽपि प्रसज्येत । अपि च परिशिष्टकृता ब्राह्मणपाठेभ्य: इत्यस्य प्रैषेभ्य इति विशेषणमुक्तम् । टीकाकृता च तस्यैव निगदेभ्य: इत्येवमर्थो व्यक्तीकृत: । याज्ञिकवाङ्मये प्रैषसंज्ञा निगदसंज्ञा वा यजुषामेव विधीयते, न ब्राह्मणपाठानाम् । एतच्च पूर्वमीमांसायां निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणे' "यजूंषि वा तद्रूपत्वात्" मी० (२।१।४०) इति सूत्रेण भगवता जैमिनिना विस्पष्टमुच्यते ।

एकस्यैव ब्राह्मणत्वं यजुष्ट्वमृक्त्वं वा कथं परिशिष्टकर्त्रा प्रतिपादितमिति स स्वयमेवाह —

परमेष्ठ्यश्व इत्यादि आग्नेयं ब्राह्मणं तथा ।
मन्त्राम्नानाद् यजुर्भावो ब्राह्मणस्य सदा स्मृत: । पृष्ठ ९१ ।

अयं भाव:—परमेष्ठ्यधीता: (अ० ८।५४-५९), अश्वस्तूपर: (अ० २४), आग्नेय: कृष्णग्रीव: (अ० २९), ब्रह्मणे ब्राह्मणम् (अ० ३०) ··· अस्य सर्वस्य ब्राह्मस्य ब्राह्मणसदृशस्य अत एव श्रुतियजु:संज्ञकस्य मन्त्रजातस्य मन्त्रेषु संहितायाम् ऋग्यजु:षु समाम्नानाद् अभ्यासाद् यजुर्भावो यजुष्ट्वमेव । तेन शुक्लयजुर्वेदस्य न ब्राह्मणव्यामिश्रत्वं शङ्कनीयमिति भाव: ।

श्रुति-ब्राह्मणसंज्ञा विवेचनम् — मन्त्रब्राह्मणयोर्ये भागा द्रव्यदेवतादिविनियोजकास्ते श्रुतिशब्देनोच्यन्ते । श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् (पूर्वमीमांसा ३।३।१४) इति सूत्रे श्रुति-शब्देन

---

२. 'श्रुति' इति परिभाषिकी संज्ञा याज्ञिकवाङ्मये । एतद्विषयेऽग्रे यथास्थानं लेखिष्यते ।

तादृशविनियोजका एव भागा गृह्यन्ते। शुक्लयजुःषु ब्रह्मणे ब्राह्मणम् इत्यादयो भागा अपि द्रव्यदेवताविनियोजका एवेति कृत्वा श्रुति-शब्देनोच्यन्ते। तत्र श्रुतिर्द्विविधा मन्त्ररूपा ब्राह्मणरूपा च। तत्र ब्राह्मणरूपाया आधिक्यात् प्रायेण श्रुतिशब्देन द्रव्यदेवतादिविनियोजका ब्राह्मणभागा एवोच्यन्ते। यत्र मन्त्ररूपा श्रुतिर्वक्तव्या भवति तत्र श्रुतिशब्देन सह मन्त्रशब्दोऽपि प्रायेणोच्चार्यते तथाहि—

इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासम्बन्धस्य भिधायिन ···इति माध्यन्दिनयजुषश्चतुर्विंशतितमस्याध्यायस्य भाष्यारम्भे उव्वट आह।

एवं ब्राह्मणग्रन्थान्तर्गता अपि सर्वे भागा न ब्राह्मणपदवाच्याः, अपि तु विनियोजकं ब्राह्मणम् इत्यनेन नियमेन द्रव्यदेवतादिविनियोजका एवाशां मुख्यत्वेन ब्राह्मणपदवाच्या भवन्ति। अनयैव च याज्ञिकसमाख्यया मन्त्रान्तर्गतानि द्रव्यदेवतादिविनियोजकानि वचनानि ब्राह्मणपदवाच्यानि भवन्ति। सम्भाव्यतेऽनयैव दिशा शुक्लयजुः सर्वानुक्रमकारेणैतादृशां मन्त्ररूपाणामपि ब्राह्मणत्वमुक्तं स्यात्, न मुख्यया वृत्या।

३—काण्वसंहिताभाष्ये—काण्वसंहिताभाष्यकार आनन्दबोधोऽपि ब्रह्मणे ब्राह्मणम् इत्यादि भागं (काण्व सं० अ० ३४) ऋषिदैवतछन्दोनिर्देशपुरस्सरं मन्त्रनाम्ना स्मरति। तथाहि—

ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति ब्रह्मदेवत्या अष्टिः। अस्य अध्यायस्य पुरुषो नारायण ऋषिः प्रतिमन्त्रं स एव। पृष्ठ १०२ काशी-सरस्वती-भवनप्रकाशनम्[1]।

३—उव्वटभाष्ये—माध्यन्दिनयजुर्व्याख्याता उव्वटोऽपि शुक्लयजुःसर्वानुक्रमोक्तान् ब्राह्मणभागान् मन्त्रानेव प्रतिजानाति। तथाहि—

(क) शुक्लयजुष एकोनविंशतितमस्याध्यायस्य द्वादशस्य मन्त्रस्यारम्भ उव्वटः प्रतिपादयति—

विंशतिरनुष्टुभः (अ० १९,१२-३१) सौत्रामण्यां सोमसम्पद्दर्शनार्थः। निदानवतां मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यमर्थस्य सुखबोधाय। इन्द्रस्य किल ···।

अत्र मन्त्राणाम् इति निर्देशो व्यक्त एव। तेनैते मन्त्रा एव न ब्राह्मणानि।

---

१. क्वचिद् ब्राह्मणांशानामपि ऋषिनिर्देश उपलभ्यते, स तु तत्तद्याग-निमित्तत्वाद् गौणः।

(ख) शुक्लयजुषः अ० २४, अ० २५, १–९ परिमितभागस्य विषये चतुर्विंशाध्यायारम्भे उव्वट आह—

इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासम्बन्धाभिधायिनः। अत्रापि श्रुतिरूपा मन्त्राः इति विस्पष्टमेव मन्त्रवचनम्।

५— बृहदारण्यकोपनिषदो भाष्यकारो द्विवेदगङ्गोऽपि शुक्लयजुःषु ब्राह्मणस्य संमिश्रणं नास्तीत्येव मनुते। तथा ह्याह—शुक्लानि यजूंषि शुद्धानि यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकानि कृष्णानि" इति

अनेन प्रकारेण प्राचीनानां प्रमाणभूतानामाचार्याणां मते शुक्लयजुःसंहितायां ब्राह्मणस्य लेशतोऽपि संमिश्रणं नास्तीति यदस्माभिः पुरस्तात् प्रतिज्ञातं तत्सिद्धमेव। सिद्धे चास्मिन् मन्त्रात्मकानां शाकलवाजसनेयकौथुमादिसंहितानां श्रौतसूत्रकारैः "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्येतादृशस्य कस्यापि वचनस्यापाठात्, मन्त्रब्राह्मणात्मकानां कृष्णयजुःशाखानामेव श्रौतसूत्रकारैरस्य सूत्रस्य समाम्नानात्, तत्तच्छ्रौतसूत्रेष्वपि परिभाषा-प्रकरण एव पाठात्, तत्सूत्रस्य हरदत्तधूर्तस्वामिनोर्व्याख्ययोः कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्"(आश्रितम्) इति वचनस्य दर्शनाच्च प्राचीनानाँ मते मन्त्राणामेव मुख्यं वेदत्वं, न ब्राह्मणानामिति सुनिश्चितम्।

यत्तु कृष्णयजुःसूत्रकारैर्ब्राह्मणस्यापि वेदत्वमुक्तं तत् पाणिनीयगुणादिकृत्रिमसंज्ञावत् अस्मिन् शास्त्रे कृत्रिमया वेदसंज्ञया ब्राह्मणानामपि ग्रहणं भवति' इत्यर्थस्यैव ज्ञापनार्थम्, केवलमन्त्रात्मकसंहितावत् स्वीयानां मन्त्रब्राह्मणसंमिश्रितानां शाखानामपि वेदत्वप्रतिपादनार्थं वा स्यात्। भवतु नाम, कृष्णयजुःसूत्रकाराणां "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति सूत्रपरिभाषणे किमपि प्रयोजनम्, परं तत् पाणिनीयगुणादिसंज्ञावत् स्वशास्त्राद् बहिर्ब्राह्मणानामपि वेदत्वज्ञापनाय न समर्थम् इति तु विस्पष्टमेव।

अपि च यदि श्रौतसूत्रविरचनकाले मन्त्रवद् ब्राह्मणानामपि वेदत्वं सर्वलोकप्रसिद्धमभविष्यत्तर्हि कृष्णयजुषां श्रौतसूत्रकारा अपि ऋक्शुक्लयजुःसाम्नां श्रौतसूत्रकाराणामिव सूत्रमिदं नापठिष्यन्। सत्यपि वा मन्त्राणामिव ब्राह्मणानामपि वेदत्वे प्रसिद्धे कृष्णजुःश्रौतसूत्रकारणामिव ऋक्शुक्लयजुःसाम्नां श्रौतसूत्रकारा अपि लोकप्रसिद्धेर्दार्ढ्याय ब्राह्मणानां वेदत्वं प्रत्यज्ञास्यन्, न च तथोपलभ्यते। तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामपि मन्त्राणामेव मुख्यं वेदत्वम्, न ब्राह्मणानां तच्छेषभूतानामारण्यकानां तदन्तःपतितानामुपनिषदां चेति विस्पष्टं प्रतीयते।

सत्येवम्, अयाज्ञिकग्रन्थेष्वपि यत्र क्वचिद् वेदशब्देन ब्राह्मणानां ग्रहणं दृश्यते तत्त्वापस्तम्बादिसूत्रकारमतानुरोधात्, तन्मतस्यान्यैरपि ग्रन्थकारैराश्रयणाद् ब्राह्मणानां मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्याग्रन्थेषु व्याख्येयग्रन्थस्योपचाराद्वा कथंचित् समाधेयमित्येव सुगमः पन्थाः ।

तदेवं 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति सूत्रेण मन्त्राणामेव वास्तविकी वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणानाम् इत्यस्माभिर्निपुणतरमुपपादितम् ।

आम्नाय-संज्ञा विचारः

इत्थमेव कौशिकसूत्रनिर्दिष्टस्य 'आम्नायः पुनमन्त्रा ब्राह्मणानि च' इत्याम्नायसंज्ञाविधायकस्य परिभाषासूत्रस्यापि गतिर्ज्ञेया ।

अत्रेदमप्यवधेयम् - यथा वेदसंज्ञा प्राचीनैरनेकैराचार्यैवेदाङ्गानां तर्कशास्त्रस्य चापि परिभाषिता (द्र० पृष्ठ १४०) तथाऽऽम्नायसंज्ञाया अपि विविधग्रन्थेषु प्रवृत्तिरुपलभ्यते । तद्यथा—

१—'पृच्छा तन्त्राद् यथाम्नायविधिना प्रश्न उच्यते' इत्यस्मिन्नायुर्वैदिकचरकसहितावचने (सूत्र० ३०।६७) आयुर्वेदविषयके मूलागमे आम्नायशब्दः प्रयुज्यते ।

२ – यत्र चाम्नायो विदध्यात् । गौतमधर्मसूत्र १।५१।।

३ —आम्नायैरविरुद्धाः । गौतमधर्मसूत्र १०।२२।।

४ – छन्दोगौक्थियाज्ञिकवह्वृचनटाञ्ञ्यः इति पाणिनीये (४।३।१३९) सूत्रे धर्माम्नायसम्बन्धात् नटशब्दान्नटानामाम्नाये नाट्यवेदे प्रत्यय उत्पद्यते । तदुक्तम्—नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव (काशिका ४।३।१३९) इति ।

पूर्वमीमांसाकृद् भगवान् जैमिनिः स्वकीये शास्त्रे मन्त्रब्राह्मणयोराम्नायसंज्ञामेव व्यवहरति, न वेदसंज्ञाम् । एतच्च आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्(१।२।१) सूत्रे अव्यवहिताद् वेदापैरुषेयाधिकारणाद् वेदपदानुवृत्तिसम्भवेऽप्याम्नायपदनिर्देशाद् विज्ञायते ।

वेदसंज्ञाया अन्यल्लक्षणम्

कैश्चिद् विद्वद्वर्यैर्मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वप्रतिपादनायैकमपरं लक्षणम् उपस्थाप्यते । तच्चेदम्—

सम्प्रदायाविच्छिन्नित्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वेदत्वम् इति ।

इदमपि वेदसंज्ञालक्षणं न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वप्रतिपादनायालम् । कुत इति चेत् ? लक्षणस्यास्याव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषदुष्टत्वात् । तथाहि—

अतिव्याप्तिदोषः—ये हि विद्वांसो मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वं प्रतिजानते तेषां मतेऽनेन लक्षणेन केषाञ्चित् पौरुषेयग्रन्थानामपि वेदत्वमापद्यते । तथाहि—

सन्ति केचनैतादृशाः पौरुषेया ग्रन्था येषाम् अध्ययनसम्प्रदायस्याविच्छेदेऽपि कर्तुरस्मरणं दृश्यते, यथा वाजसनेयसंहितायाः पदपाठः । एतादृशामपि वेदत्वमनेन लक्षणेन प्राप्यते । पदपाठाश्च पौरुषेया इत्यत्र न कस्यचिदपि सुधियो वैमत्यम्, तथापि तेषां पौरुषेयत्वे त्रीणि प्रमाणान्युदाह्रियन्ते—

१—'वा' इति 'य' च इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद् असुसमाप्तश्चार्थः इति निरुक्ते (६।२८) यास्काचार्याः ।

२—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् यथालक्षणं पदं कर्तव्यम् इति महाभाष्ये त्रिर्भगवान् पतञ्जलिराह (३।१।१०९; ६।१।२०७; ८।२।१६) ।

३—न लक्षणेनेति—संहिताया एव नित्यत्वम्, पदच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम् इति भाष्यव्याख्याने (प्रदीपे ३।१।१०९) कैयटः ।

उक्तैः प्रमाणैः पदपाठस्य पौरुषेयत्वं सुव्यक्तम् । वाजसनेयपदसंहितायाअध्ययनसम्प्रदायाविच्छेदे न केवलं वैदिका एव प्रमाणम्, अपि तु एतस्मिन् ग्रन्थे क्वचिदपि पाठभेदस्यानुपलम्भनमपि सुदृढं प्रमाणम् । एवं च सति उक्तलक्षणेन वाजसनेयपदग्रन्थस्यापि वेदत्वं प्राप्नोति, न तद् वैदिकानामिष्टम् ।

अव्याप्तिदोषः—ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वं स्वीकुर्वतां सम्प्रति स्वररहितानां शाखानां ब्राह्मणानां च वेदत्वं न सिद्ध्यति[1] । कथमिति चेत् ? प्राचीने काले यदेयं सुरभारती लोकव्यवहारे प्रयुक्ताऽऽसीत् तदानीमस्याम् उदात्तादिस्वराणासद्भाव आसीदिति पाणिनीये शास्त्रे भाषायामपि स्वरविधायकानां सूत्राणां दर्शनाद् विज्ञायते । यदा खलु वैदिकवागिव लौकिकभाषाऽपि सस्वरासीत् तदा सर्व एव वैदिका ग्रन्थाः, विशेषतः शाखाब्राह्मणारण्यकग्रन्थाः सस्वरा एवासन् इत्यत्र न कश्चिच्छङ्कावसरः । सम्प्रति कांश्चिच्छाखाब्राह्मणारण्यकग्रन्थान् विहाय सर्वेऽप्युपलभ्यमानाः शाखाब्राह्मणारण्यकग्रन्था विस्वरा एवोपलभ्यन्ते । एषां स्वरराहित्यं च न सम्प्रदायविच्छेदमन्तरा संभवति । तदेवं सम्प्रत्युपलभमानेषु

---

१. शाखानां यथा—जैमिनीयकठकपिठलादीनाम्, ब्राह्मणानाम्—ऐतरेयशाङ्खायनादीनाम्, आरण्यकानाम्—ऐतरेयशाङ्खायनादीनाम् ।

स्वरविरहितेषु शाखाब्राह्मणारण्यकग्रन्थेषु 'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सति' इत्यंशस्याभावान्न वेदत्वं प्राप्नोति[1]।

अपि च वेदत्वेनाभिमतेषु ग्रन्थेषु स्वरसद्भावोऽत्यन्तमावश्यकः, तदन्तरा त्वेषां वेदत्वमेव न प्राप्नोति। एतच्च कल्पसूत्राणां वेदवत्प्रामाण्यनिराकरणाय नासन्नियमात् (१।३।१२) इति हेतुरुपस्थापयता भगवता जैमिनिना व्यक्तीकृतम्। शबरस्वामिना च असन्नियमात् नैतत् सम्यङ् निबन्धनम्, स्वराभावात् इत्येवं व्याख्यायता स्वरराहित्यादेव कल्पसूत्राणां वेदवत् प्रामाण्यं निराकृतम्।

यदि हि प्रवचनकालादेव ऐतरेयादिब्राह्मणग्रन्थाः स्वरविरहिता अभविष्यंस्तर्हि जैमिनिः कल्पसूत्राणां वेदत्वप्रामाण्यनिराकरणाय नासन्नियमात् इति हेतुं नोपास्थापयिष्यत्, न च शबरस्वामी तथाव्याख्यास्यत्। एवं च भगवतो जैमिनेः काले सर्वेऽपि ब्राह्मणारण्यकग्रन्थाः सस्वरा एवासन्, तेषु च स्वरनाश उत्तरकाल एवाभूद् इति विस्पष्टं भवति। अयं च स्वरविनाशः सम्प्रदायविच्छेद एव सम्भवति, नान्यथा। सम्प्रदायविच्छेदे सति ऐतरेयादिब्राह्मणानां वेदत्वमुक्तेन लक्षणेन न प्राप्नोति।

इत्थमुक्तलक्षणमप्यव्याप्त्यतिव्याप्तिदोषात् न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदत्वबोधनाय समर्थमिति विस्तरेणास्माभिर्व्यक्तीकृतम्।

ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञाभावनिदर्शकमेकं ब्राह्मणवचनम्

गोपथब्राह्मणे (पू० २।१०) श्रूयते—एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सपुराणाः ...।

अस्मिन् वचने इतिहासपुराणादिवद् ब्राह्मणोपनिषदां वेदात् पृथग्ग्रहणं दृश्यते। यद्यत्र ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन ब्राह्मणोपनिषदां वेदत्वे सत्यपि पृथग्ग्रहणमिष्येत, तर्हीतिहासपुराणादीनामपि वेदसंज्ञा गले पतति। इतिहासपुराणादीनां वेदसंज्ञा तु न ब्राह्मणग्रन्थानां वेदसंज्ञां स्वीकुर्वतां मतेऽपीष्यते। ब्राह्मणवसिष्ठन्यायोऽप्यत्र तदैवोपस्थापयितुं शक्यते, यदि केनचिद् ब्राह्मणवचनेन ब्राह्मणानामपि वेदसंज्ञा विहिता स्यात्।

अपि च सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः इत्यत्र तेन सहेति तुल्ययोगे (अ० २।२।२८) सूत्रेण समासो भवति—सह ब्राह्मणेन सब्राह्मणा वेदाः। 'ब्राह्मणेन'

---

१. यदा स्वरविरहितानां शाखाब्राह्मणारण्यकादीनां सम्प्रदायविच्छेदाद् वेदत्वं न सम्भवति, तर्हि सम्प्रदायविच्छेदात् सर्वथा लुप्तानां शाखानां ब्राह्मणारण्यकानां च वेदत्वे तु का कथा?

इत्यत्र या सहयोगे तृतीया सा सहयुक्तेऽप्रधाने (अ० २।३।१९) इति नियमेन अप्रधाने भवति। तेन यथा 'सह पुत्रेण पिता आगतः=सपुत्रः पिता आगतः' इत्यत्र पितुर्मुख्यत्वं पुत्रस्य च गौणत्वं द्योत्यते, तथैव सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः इत्यादिपदैः कल्परहस्यब्राह्मणग्रन्थानां च वेदानामपेक्षया गौणत्वमेव प्रतीयते। यत्तु समासविधायके सूत्रे तुल्ययोगपदं तत्तु क्रियापदापेक्षया, नतु पित्रादिपदानामपेक्षया। तेन इमे वेदा निर्मिताः इत्यत्र श्रूयमाणायां निर्मिति-क्रियायां सहभावमात्रं शक्यते वक्तुम्, न तु कल्परहस्यब्राह्मणादीनां वेदवत् प्राधान्यम्। अपि च तुल्ययोगग्रहणं प्रायिकमाहुर्वैयाकरणाः सकर्मकादिषु तथा-दर्शनात् (द्र०—काशिका २।३।१८)।

यद्युक्तब्राह्मणवाक्ये निर्मितिक्रियायां सहभावज्ञापनेन कश्चिद् ब्राह्मणा-दीनामप्यपौरुषेयत्वमातिष्ठेत, तर्हि सोऽनुयोक्तव्यः—तव मते कल्पेतिहास-पुराणादीनाम् अपौरुषेयत्वं पौरुषेयत्वं वा? यदि पौरुषेयत्वं तर्हि कल्पेतिहास-पुराणादीनां पौरुषेयाणां ग्रन्थानां यथा निर्मितिक्रियायां वेदेन तुल्ययोगत्वं भवान् प्रतिपादयिष्यति, तथा वयमपि ब्राह्मणोपनिषदां पौरुषेयत्वेऽपि सहभावं वक्तुं प्रभविष्यामः। यदि कल्पेतिहासादीनां लोकप्रसिद्धानां ग्रन्थानामपौरुषेय-त्वमिष्यते, तर्हि सकललोकविज्ञानविरोधादप्रामाण्यं भवद्वचनस्य स्यात्।

अस्मन्मते तु न कश्चिद् दोषः। भगवता शंकराचार्येण—एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम् (बृ० उप० २।४।१०) इत्यादिबृहदारण्यकश्रुतिव्याख्याने यथेतिहास-पुराणवाकोवाक्यव्याख्यानानुव्याख्यानादिपदानां विवरणे ब्राह्मणान्तर्गतान् एव इतिहासपुराणादीन् आश्रित्य ब्राह्मणग्रन्थस्थान्येव वचनान्युपन्यस्तानि। तथैवास्मन्मतेऽस्मिन् गोपथब्राह्मणे वेदेन सह रहस्यब्राह्मणेतिहासपुराणादीनामु-त्पत्तिवचनाद् इमानि पदानि संहितागततथाविधविशिष्टमन्त्राणामेव वाचकानि सन्ति। तथाहि—ब्राह्मणरूपाः – 'वसन्ताय कपिञ्जलान् आलभते' (शुक्ल यजुः २४।२०) इत्येवमादयो मन्त्राः; इतिहासरूपाः—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋ० १०।१२१।१) इत्येवमादयो मन्त्राः; पुराणरूपाः—'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' (ऋ० १०।१२९।१) इत्येवमादयो मन्त्राः। एवम् अन्येऽपि तत्तद्विषयका मन्त्रा एवेह ग्रहीतुं शक्याः। इत्यलमति-विस्तरेण।

एवं च मन्त्राणामेव मुख्यं वेदत्वं न ब्राह्मणानामिति निपुणतरमस्माभिर-स्मिन् निबन्धे उपपादितम्। आशासे वैदिका विद्वांसो मत्सरं विहाय युक्ति-प्रमाणजुष्टमिदं मतं स्वीकरिष्यन्तीत्यलं बुद्धिमद्वर्येषु॥

वेद-संज्ञा-मीमांसा

अर्थात्

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र पर विचार

जिस वेद शब्द की इस लेख में मीमांसा करनी है, वह वैदिक वाङ्मय में दो प्रकार का उपलब्ध होता है। एक आद्युदात्त और दूसरा अन्तोदात्त। आद्युदात्त वेद शब्द ज्ञान का पर्याय है, और अन्तोदात्त कुशाओं की मुष्टि से निर्मित यज्ञीय पदार्थ विशेष का वाचक है। ऐसा वेदार्थ के जाननेवाले आचार्य कहते हैं।

आद्युदात्त वेदशब्द का निर्वचन हमें वैदिक वाङ्मय में नहीं मिला। अन्तोदात्त का निर्वचन वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार उपलब्ध होता है—

वेदेन वै देवा असुराणां वित्तं वेद्यमविन्दत तद्वेदस्य वेदत्वम्। तै० सं० १।७।४॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दन्। तै० ब्रा० ३।३।९।९॥

तं (यज्ञं) वेदेनाविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। मै० सं० १।४।८॥

तां (वेदिं) वेदेनाविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। मै० सं० ४।१।१३॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। का० सं० ३१।१२॥

तं (यज्ञं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। का० सं० ३२।६॥

तां (वेदिं) वेदेनान्वविन्दँस्तद्वेदस्य वेदत्वम्। कपि० ४७।११॥

इन सभी उद्धरणों में दर्भमुष्टि से निर्मित यज्ञीय उपकरण के वाचक वेद शब्द का निर्वचन है, यह इन प्रकरणों के अनुशीलन से सर्वथा विस्पष्ट है। शुक्लयजुः की संहिताओं में भी वेदोऽसि (माध्य०; काण्व १।७।७५) मन्त्र में दो बार पठित अन्तोदात्त वेदशब्द भी याज्ञिक प्रक्रिया में वेदसंज्ञक यज्ञीयोपकरण का ही वाचक है, यह कात्यायन श्रौतसूत्र के पत्नी वेदं प्रमुञ्चति—वेदोऽसीति वचन से वेद-प्रमुञ्जन में उक्त मन्त्र के विनियोग दर्शाने से स्पष्ट है।

यही सब ध्यान में रखकर भगवान् पाणिनि ने उञ्छादि (अष्टा० ६।१।१६०) गण के वेगवेदवेष्टबन्धाः करणे गणसूत्र में घञन्त करणवाची वेद शब्द को अन्तोदात्त कहा है। करण अभिधेय से अन्यत्र घञन्त वेद शब्द आद्युदात्त होता है। यह अभिप्राय अर्थापत्ति से स्वतः प्राप्त होता है। इसी प्रकार अच् प्रत्ययान्त कर्तृवाचक वेदशब्द को चित् प्रत्ययान्त होने से चितः (अष्टा० ६।१।१६३) नियम से अन्तोदात्तत्व प्राप्त होता था, उसे हटाकर आद्युदात्तत्व का विधान करने के लिए पाणिनि ने वृषादि गण (अष्टा० ६।१ २०३) में वेद शब्द का पाठ किया है।

इस निबन्ध में मीमांस्यमान ज्ञानपर्याय आद्युदात्त वेद शब्द है। यही ज्ञानपर्याय वेदशब्द आधार और आधेय में अभेद के उपचार से[1] ज्ञान के अधारभूत ग्रन्थो में भी प्रयुक्त होता है। यद्यपि सामान्य यौगिक अर्थ की अपेक्षा से वेद शब्द का प्रयोग ग्रन्थमात्र में होना चाहिए, तथापि पङ्कज आदि शब्दों के समान श्रेष्ठतम आद्य ज्ञान के आधारभूत ऋगादि कतिपय ग्रन्थों में ही प्रयुक्त होता है, यह सर्व समस्त सिद्धान्त है।

वेदशब्द किन-किन ग्रन्थों का वाचक है, इस विषय में बहुत काल से विद्वानों में मतभेद उपलब्ध होता है।[2] यथा—

कुछ लोग 'मन्त्रसंहिताएं ही वेद पदवाच्य हैं' ऐसा कहते हैं।[3]

दूसरे 'मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद है' ऐसा मानते हैं।[4]

---

१. जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' वाक्य में मञ्च (=मचान) शब्द मञ्चस्थ (मचान पर बैठे हुए) पुरुषों के लिए प्रयुक्त होता है।

२, वस्तुतः हमारी दृष्टि में उपर्युक्त मतों में कोई विरोध नहीं है, इनमें प्रथम अर्थ मुख्य हैं और शेष तत्तद् ग्रन्थों के जो पारिभाषिक अर्थ है, वे उन्हीं ग्रन्थों में ग्राह्य हैं।

३. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' आपस्तम्ब सूत्र कीं व्याख्या में हरदत्त और धूर्तस्वामी दोनों ने लिखा है - कैश्चिमन्त्राणामेव वेदत्वमाश्रितम् (आख्यातम्)। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी मन्त्रसंहिताओं की ही वेद संज्ञा मानी है। द्र० ऋग्वेददि-भाष्य-भूमिका वेदसंज्ञाविचार प्रकरण।

४. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'ऐसा कृष्ण यजुर्वेद के सभी श्रौतसूत्रकारों ने पढ़ा है। इसी प्रकार 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदः' कौषीतकि गृह्यसूत्र (३।१२।२३) का वचन है।

अन्य 'आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थों का भी वेद में समावेश' स्वीकार करते हैं।[१]

कतिपय 'कल्पसूत्र और मीमांसासूत्रों का भी वेदत्व' मानते हैं।[२]

अन्य षडङ्गों (छह वेदाङ्गों) का भी वेद में अन्तर्भाव चाहते हैं।[३]

इस प्रकार वेद शब्द के अनेक अर्थ भिन्न-भिन्न आचार्यों ने स्वीकार किए हैं, उनमें कौनसा अर्थ मुख्य है और कौनसा गौण, यह विचार उत्पन्न होता है।

दो ही अर्थों की विचारार्हता

उक्त पांच अर्थों में आद्य दो अर्थ ही विचारने योग्य हैं। तृतीय पक्ष स्वीकार करनेवाले भी आरण्यक और उपनिषद् का ब्राह्मणग्रन्थों में अन्तर्भाव मानते हैं। अतः यह मत भी द्वितीय मत के अन्तर्गत आ जाता है। चतुर्थ पक्ष पारस्कर गृह्यसूत्र के किन्हीं व्याख्याताओं द्वारा ही स्वीकृत है। पञ्चम मत तो गृह्यकार ने स्वयं अन्य-मत के रूप में ही उपस्थित किया है। इस प्रकार आद्य दो ही पक्ष विचारणीय रहते हैं। अतः इन दोनों में वेद शब्द का कौनसा अर्थ मुख्य है और कौनसा गौण है, यह विचार किया जाता है।

यत्परः शब्दः स शब्दार्थः—इस न्याय से शब्द का जो अपरिभाषित (=विशेष वचन द्वारा अप्रकाशित) अर्थ स्वाभाविक होता है, और वह मुख्य होता है। जो किसी वचनविशेष द्वारा परिभाषित (कथित) होने से कृत्रिम होता है, वह गौण कहाता है। इसी प्रकार साहचर्यादि[४] निमित्तों से जो विशेषार्थ

---

१. आचार्य सायण ने ऋग्वेदभाष्य की उपक्रमणिका में उपनिषद् पर्यन्त ग्रन्थों की वेद संज्ञा मानी है।

२. विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः (पार० गृह्य २।६।५) सूत्र के व्याख्यान में भर्तृयज्ञ ने 'तर्क' का अर्थ 'कल्पसूत्र' किया है। कल्पतरुकार ने 'मीमांसा' लिखा है (द्र०—गदाधरटीका)। विश्वनाथ ने न्यायसूत्र का भी वेदत्व माना है। वह उक्त सूत्र की व्याख्या में लिखता है—'तर्को न्यायमीमांसे।'

३. विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः, षडङ्गमेके (पार० गृह्य २।६।५,६) इन सूत्रों की गदाधर की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

४. द्रष्टव्य न्याय दर्शन २।२।६१॥ यहां साहचर्यादि १० कारण उदाहरण सहित व्याख्यात हैं।

जाना जाता है, वह भी नैमित्तिक होने से गौण होता है। यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

इस प्रकार प्रधान और गौण अर्थ के सर्वसम्मत लक्षण के अनुसार वेद शब्द के उक्त दो अर्थों में से कौनसा अपरिभाषित अर्थात् स्वाभाविक है और कौनसा परिभाषित (किसी वचनविशेष द्वारा बोधित) है, यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

ऋक्, यजुः और साम के मन्त्रों को पढ़ते हुए अध्येता वा श्रोता कहते हैं— ऋग्वेद का अध्ययन किया जाता है, यजुर्वेद का अध्ययन किया जाता है, सामवेद का अध्ययन किया जाता है। ऋक्, यजुः और साम संहिताओं की वेदसंज्ञा के लिए आज तक किसी ने भी प्रयत्न नहीं किया। ब्राह्मणग्रन्थों वा उपनिषद् ग्रन्थों के अध्ययन के लिए ब्राह्मण का अध्ययन किया जाता है, इस प्रकार सामान्य रूप से अथवा ऐतरेय का अध्ययन किया जाता है, बृहदारण्यक का अध्ययन किया जाता है, इस प्रकार नामनिर्देशपुरःसर कथन किया जाता है। इनके लिए कोई भी यह नहीं कहता कि ऋग्वेद का अध्ययन करता हूं, यजुर्वेद का अध्ययन करता हूं। ब्राह्मणग्रन्थों के वेदत्व के ज्ञापन के लिए तो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसे अनेक सूत्र प्राचीन ग्रन्थकारों ने बनाए हैं। इस प्रकार के सूत्रों का प्रयोजन विचारणीय है।

यदि यह कहा जाए कि 'ब्राह्मणों के साथ मन्त्रों का भी वेदत्व कहना इनका प्रयोजन है, केवल ब्राह्मणों का नहीं' यह सम्भव हो सकता है, परन्तु जहां इस परिभाषा की अथवा विशेष संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होती, वहां वेद शब्द से मन्त्रों का ही ग्रहण और ब्राह्मणों का ग्रहण न होने से जाना जाता है कि वेद पद का स्वाभाविक अर्थात् मख्य अर्थ मन्त्र ही है, न कि ब्राह्मण भी। इसमें निम्न कारण हैं—

मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेद संज्ञा कल्प-सूत्रकारों ने कही है, उसे ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयुक्त वेद शब्द में प्रवृत्त नहीं कर सकते, क्योंकि दोनों में काल की भिन्नता और स्थिति की भिन्नता है।[1] इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ कहीं वेदशब्द

---

१. पाश्चात्य मतानुसार ब्राह्मण ग्रन्थों और कल्पसूत्रों के प्रवचन काल में भेद है। ब्राह्मणग्रन्थों का प्रवचन पौर्वकालिक है और कल्पसूत्रों का अपरकालिक। उत्तरकाल में विरचित नियम पूर्वकाल के ग्रन्थों में व्यवहृत नहीं हो सकते, अतः ब्राह्मण वचनों में जहां-जहां वेद शब्द आया है वहां-वहां वेद के अन्तर्गत ब्राह्मणों का समावेश नहीं हो सकता। जो भारतीय वैदिक ब्राह्मणग्रन्थों को भी

उपलब्ध होता है वहां यह विचारणीय हो जाता है कि उसका क्या अर्थ है, केवल मन्त्र ही अथवा मन्त्र ब्राह्मण उभय। इसके निश्चय के लिए हम कतिपय ब्राह्मण वचन उदधृत करते हैं:—

तानि ज्योतींष्यभ्यतपत् तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्... स ऋचैव होत्रमकरोद् यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथम् इति। ऐ० ब्रा० ५।५।७॥

यहां उपक्रम में वेदशब्द का प्रयोग है और उपसंहार में ऋक् यजुः और साम शब्दों का। ऋक् यजुः साम मन्त्रों के ही वाचक हैं,[2] यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। उपक्रम और उपसंहार में एक वाक्यता होनी चाहिए। इसलिए उपक्रम में प्रयुक्त वेदरूपी विशिष्ट शब्द भी मन्त्रों के ही वाचक हो सकते हैं। ब्राह्मणों का भी उनमें अन्तर्भाव है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यहां यह भी ध्यान रहे कि यज्ञों में मन्त्रों का ही प्रयोग होता है, ब्राह्मण वचनों का प्रयोग नहीं होता।[3] अतः स ऋचैव होत्रमकरोत् इत्यादि ऋक् यजु साम का अभिप्राय तत्तत्संज्ञक मन्त्रों से ही है, न कि ब्राह्मण वचनों से भी।

इसी अर्थ को सुदृढ़ करने के लिए मीमांसा भाष्यकार शबरस्वामी द्वारा उद्धृत निम्न ब्राह्मण वचन भी द्रष्टव्य है—

तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्जुर्वेद आदित्यात् सामवेद ...। उच्चैर्ऋचा क्रियत उच्चैः साम्नोपांशु यजुषा इति। द्र० शाबर ३।३।२॥

यहां पर भी उपक्रम में वेद विशिष्ट शब्द प्रयुक्त हैं और उपसंहार में केवल ऋक् यजुः और साम शब्द। परन्तु यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋक् यजुः और साम का जो उच्चैष्ट्व और उपांशुत्व धर्म बताया है वह

मन्त्रों के समान अपौरुषेय मानते हैं, उनके मत में ब्राह्मणग्रन्थों और कल्पसूत्रों में काल वैषम्य और स्थिति वैषम्य दोनों हैं। क्योंकि कल्पसूत्र पौरुषेय हैं, यह उभयवादी सम्मत सिद्धान्त है।

२. द्रष्टव्य—यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः। मीमांसा २।१।३५,३६,३८॥

३. 'विनियोजकं ब्राह्मणं भवति' याज्ञिकलक्षणानुसार ब्राह्मण मन्त्रों के तत्तत्कर्मों में विनियोगमात्र दर्शाते हैं। विनियोग से शेष ब्राह्मणवचन अर्थवाद कहाते हैं। अर्थवाद स्तुति आदि के द्वारा विधि वाक्य से ही सम्बद्ध होते हैं। यह मीमांसकों का सिद्धान्त है।

उन-उन वेदों में पठित मन्त्रों का ही है, न कि उन उन वेदों के ब्राह्मण वचनों का भी, यह सर्वसम्मत राद्धान्त है। इसलिए इस प्रकार के वचनों में, 'ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व स्वीकार करनेवाले याज्ञिक भी यहां वेदशब्द का प्रयोग होने पर भी ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं मानते।'[1]

इस प्रकार ब्राह्मणवचनों में श्रूयमाण वेदशब्द मन्त्रों का ही वाचक है, यह सिद्ध होता है। मन्त्रों की वेदसंज्ञा का विधायक कोई भी वचन ब्राह्मणग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इससे ज्ञात होता है कि वेद शब्द का मुख्य अर्थ मन्त्र ही हैं, न कि ब्राह्मण भी। कल्पसूत्रकारों ने अपने अपने शास्त्रों के कार्य के निर्वाहार्थ जैसे अन्य अनेक विशिष्ट पारिभाषिक संज्ञाएं बनाई हैं, वैसे ही उनकी यह 'वेद' संज्ञा भी पारिभाषिक है। पारिभाषिक अर्थ कभी मुख्य (=स्वाभाविक) नहीं माना जाता, क्योंकि स्वाभाविक होने पर परिभाषा करना व्यर्थ होता है। इस प्रकार मन्त्रों की ही मुख्य वेद संज्ञा है, ब्राह्मणों की नहीं,यह अर्थ सिद्ध है। अब हम उक्त मत अर्थात् ब्राह्मण ग्रन्थान्तर्गत वेद शब्द मन्त्र का ही वाचक है, के विषय में आचार्य शङ्कर का वचन उद्धृत करते हैं। आचार्य शङ्कर ने—'एवं वाऽरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्' आदि बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१० की व्याख्या करते हुए लिखा है—'यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम् ··· ।'

यहां आचार्य शङ्कर ने वेद-पद-घटित ऋग्वेदादि का अर्थ 'चतुर्विधं मन्त्रजातम्' लिख कर स्पष्ट कर दिया कि ब्राह्मणगत वेदविशिष्ट ऋगादि पदों का अर्थ केवल मन्त्र है, वहाँ ब्राह्मणों का ग्रहण नहीं होता। अब इसी मत

---

१. यद्यपि 'उपसंहार के अनुरोध से उपक्रम में अर्थ का संकोच किया जाता है,ऐसा कोई कह सकते हैं,परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में प्रयुक्त वेद शब्द से ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी ग्रहण होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी अवस्था में अर्थ-संकोच की कथा ही उत्पन्न नहीं होती (इस प्रकार के वचनों से 'ब्राह्मणग्रन्थ भी अपौरुषेय है' यह मत भी ठीक नहीं ठहरता)। यदि दुर्जनसन्तोष न्याय से उपक्रम में प्रयुक्त ऋग्वेदादि पदों में उपसंहार के अनुरोध से अर्थसंकोच माना जाए, तो उपक्रम में प्रयुक्त ऋग्वेदादि पदों से मन्त्ररूप अर्थ के ही ग्रहण होने पर उन्हीं की अग्नि आदि से उत्पत्ति अथवा प्रकाशन कहा जायेगा, न कि ब्राह्मणों का भी। इस प्रकार इन प्रमाणों से ब्राह्मणग्रन्थों का अपौरुषेयत्व भी उपपन्न नहीं होता।

की दृढ़ता के लिये "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस सूत्र की विशेष विवेचना करते हैं--

मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—सूत्र पर विचार

जो वैदिक विद्वान् मन्त्रों के समान ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद मानते हैं, उनका प्रधान आधार श्रौतकारों का "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" यह प्रसिद्ध सूत्र है। इसलिये इस निबन्ध में इसी सूत्र को आधार बना कर विचार किया जायगा कि क्या इस सूत्र से मन्त्रों के समान ब्राह्मणग्रन्थों की भी मुख्य वेद-संज्ञा सिद्ध हो सकती है वा नहीं। इस विषय पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह विचार्यमाण सूत्र किन-किन आचार्यों ने अपने श्रौतसूत्रों में पढ़ा है, और किन-किन ने नहीं पढ़ा। तथा जिन्होंने उक्त सूत्र पढ़ा है, उनके पढ़ने का क्या अभिप्राय है—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह सूत्र केवल कृष्णयजुः[1] शाखाओं के आपस्तम्ब, सत्याषाढ बौधायनादि[2] श्रौतसूत्रों में ही उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के शाङ्खायन और आश्वलायन, शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन[3], तथा सामवेद के

---

१. यजुर्वेद की विभिन्न शाखाएं शुक्ल और कृष्ण नाम से क्यों व्यवहृत होती हैं, इस विषय के लिये देखें—**'यजुषां शौक्ल्यकार्ष्ण्यविवेकः'** निबन्ध। यह इस संग्रह में आगे छप रहा है।

२. बौधायन श्रौतसूत्र के सम्पादक कालेण्ड महोदय ने उक्त ग्रन्थ के उपोद्घात में बौधायन श्रौत का सम्बन्ध काण्व यजुःशाखा के साथ दर्शाया है। सन्तोषजनक प्रमाणों के अभाव में हमें उनका मत रुचिकर प्रतीत नहीं होता।

३. 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र कात्यायनीय श्रौतसूत्र में तो नहीं मिलता, परन्तु कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में उपलब्ध होता है। कात्यायन के नाम से दो प्रतिज्ञा-परिशिष्ट हैं। एक श्रौतसूत्र से सम्बद्ध और दूसरा प्रातिशाख्य से सम्बद्ध। उनमें से 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र प्रातिशाख्य-संबद्ध प्रतिज्ञा परिशिष्ट में मिलता है, न कि श्रौतसूत्र से सम्बद्ध में। यहां यह भी ध्यान रहे कि कृष्ण यजुओं के सभी श्रौतसूत्रों में यह सूत्र मिलता है। यदि यह कात्यायन-सम्मत सूत्र होता, तो उसके श्रौतसूत्र में अथवा श्रौतसूत्र-सम्बद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में होता, न कि प्रातिशाख्य संबद्ध में। यह विषमता भी ध्यान देने योग्य है। हमारा विचार है कि यह परिशिष्ट अर्वाचीन ग्रन्थ है, कात्यायन मुनि प्रणीत नहीं हैं।

द्राह्यायण और लाटचायन श्रौतसूत्रों में उक्त सूत्र या इस अर्थ का वचनान्तर नहीं मिलता। इससे सन्देह होता है कि क्या कारण है कि उक्त सूत्र कृष्ण यजुः शाखाओं के श्रौतसूत्रों में ही मिलता है, ऋग्वेद शुक्ल यजुः तथा सामवेद से सम्बद्ध श्रौतसूत्रों में उपलब्ध नहीं होता। इस विषमता का कोई कारण अवश्य होना चाहिये। विचार करने पर उक्त विषमता का निम्न कारण हमारी समझ में आया है—

ऋग्वेद और सामवेद की जितनी संहिताएं उपलब्ध हैं, उनमें ब्राह्मण का लेशमात्र भी संमिश्रण नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद की काण्व तथा माध्यन्दिन संहिता में कुछ लोग ब्राह्मण का संमिश्रण मानते हैं। उनका आधार कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध वर्तमान यजुःसर्वानुक्रम सूत्र है।[1] उक्त सर्वानुक्रमसूत्र के अनुसार शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन संहिता में "(१) अ० १६, कं० १२-३१ (२) सम्पूर्ण २४ वां अध्याय, पच्चीसवें के आरम्भ की कण्डिकाएं, तथा (३) तीसवें अध्याय की ५वीं कण्डिका से अध्याय के अन्त तक" का भाग ब्राह्मण माना जाता है। काण्वसंहिता में भी ये ही प्रकरण ब्राह्मण कहे जाते हैं। परन्तु वर्तमान यजु. सर्वानुक्रम का यह मत प्रमाणभूत प्राचीन आचार्यों के मत से विरुद्ध है। प्राचीन आचार्यों के मत में शुक्ल यजुः की दोनों संहिताओं में कोई भाग ऐसा नहीं है, जो ब्राह्मणपद वाच्य हो। यह बात हम आगे सप्रमाण लिखेंगे। कृष्ण यजुः की जितनी शाखाएं उपलब्ध हैं, उन सब में मन्त्र के साथ ब्राह्मण का भी पाठ मिलता है। इसलिये जिन संहिताओं में केवल मन्त्र ही पढ़े हैं, उन (=ऋक्-शुक्लयजुः-साम) के श्रौतसूत्रों में "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद-नामधेयम्" ऐसा सूत्र नहीं मिलता। और जिन शाखाओं में ब्राह्मण का भी पाठ उपलब्ध होता है, उनके श्रौतसूत्रकारों ने ही "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" ऐसा सूत्र पढ़ा है।

इससे स्पष्ट है कि जिन संहिताओं में केवल मन्त्र ही पढ़े गए हैं, उनका वेदत्व लोक में प्रसिद्ध था। इसलिये उनके श्रौतसूत्रकारों ने उक्त सूत्र अपने ग्रन्थ में नहीं पढ़ा। और जिन शाखाओं में ब्राह्मण का भी पाठ था, उनका वेदत्व लोकप्रसिद्ध न होने से अपनी शाखाओं का भी वेदत्व प्रतिपादनार्थ अथवा

१. यह सर्वानुक्रम अर्वाचीन एवं अप्रामाणिक ग्रन्थ है, । यह हमने अन्य लेख में स्पष्ट दर्शाया है। यहां भी यजुःसर्वानुक्रम के अगले उद्धरणों से यह विषय स्पष्ट हो जायगा।

अपने स्वशास्त्रीय कार्य की सिद्धि के लिये उनके श्रौतसूत्रकारों ने उक्त सूत्र पढ़ा। यदि यह सम्भावना ठीक हो, तो मानना होगा कि मन्त्रों की ही मुख्य रूप से वेदसंज्ञा है, ब्राह्मणों की नहीं। इसीलिये कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रकारों द्वारा मन्त्र और ब्राह्मण की वेदसंज्ञा कर देने पर भी चिरकाल तक अनेक प्राचीन आचार्यों ने उसे स्वीकार नहीं किया। इसी बात को ध्यान में रखकर "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आपस्तम्बीय सूत्र की व्याख्या में हरदत्त ने कहा है—'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम्' अर्थात् किन्हीं आचार्यों ने केवल मन्त्रों को ही वेद माना है। यही बात हरदत्त से पूर्ववर्त्ती धूर्तस्वामी ने भी इस सूत्र की व्याख्या में लिखी है। इससे भी सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यों को मन्त्रों की ही वेदसंज्ञा अभिप्रेत थी, ब्राह्मणों की नहीं।

एक बात और ध्यान देने योग्य है—जिन-जिन श्रौतसूत्रों में "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" सूत्र पढ़ा है, उनमें भी वह उनके परिभाषा-प्रकरण में ही पढ़ा गया है। पारिभाषिक संज्ञाएं तभी रखी जाती हैं, जबकि वे लोक प्रसिद्ध न हों, वा शास्त्रान्तरों में अन्यार्थ में प्रसिद्ध हों। जैसे पाणिनि की सर्वनाम-स्थान संज्ञा अलौकिक, और गुण संज्ञा न्याय वैशेषिक में अन्यार्थक है। पारि-भाषिक संज्ञाएं अपने-अपने शास्त्र में ही स्वीकार की जाती हैं अन्यत्र नहीं, यह भी लोकप्रसिद्ध है। इसलिये जैसे पाणिनि की गुण संज्ञा उसी के शास्त्र में प्रमाण मानी जाती है, अन्यत्र लोक या न्याय वैशेषिक में गुण का पाणिनीय अर्थ 'अ, ए, ओ' स्वीकार नहीं किया जाता, उसी प्रकार "मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" सूत्र जिन-जिन श्रौतसूत्रों में पढ़ा है, उन्हीं में वेदशब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण होगा, अन्यत्र नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि मन्त्रों की ही वेदसंज्ञा सर्वसम्मत है, ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।

इतना ही नहीं, ऋग्वेद शुक्लयजुः तथा सामवेद की संहिताओं में मन्त्रों का ही पाठ होने, तथा उनके ब्राह्मणग्रन्थों की सत्ता संहिता से पृथक् होने के कारण वहां सन्देह ही नहीं होता कि कौन-सा मन्त्र है, और कौनसा ब्राह्मण। कृष्णयजुः शाखाओं में मन्त्र और ब्राह्मण का साथ-साथ पाठ होने के कारण यह नहीं जाना जाता कि कितना भाग मन्त्र है और कितना ब्राह्मण, इसलिये कृष्णयजुर्वेदीय याज्ञिकों ने मन्त्र तथा ब्राह्मण का लक्षण "अनुष्ठीय-मानकर्मस्मारकत्वं मन्त्रत्वं, विनियोजकं च ब्राह्मणम्' अर्थात् अनुष्ठान किये जा रहे कार्यों को स्मरण करानेवाले मन्त्र, तथा यज्ञ में द्रव्य देवता आदि का विनियोग दर्शानेवाले ब्राह्मण" किया है। यह लक्षण अव्याप्ति और अति-

व्याप्ति दोषों से दूषित है, यह आगे स्पष्ट होगा। यज्ञ-कर्म में कृष्णयजुः-सम्प्रदाय की ही प्रधानता रही है, तथा अभी भी है। इसलिये उस सम्प्रदाय में प्रसिद्ध मन्त्र और ब्राह्मण का उक्त लक्षण शुक्लयजुर्वेदियों द्वारा स्वीकार कर लेने पर जब शुक्लयजुःसंहिता में भी द्रव्यदेवता के विधान करनेवाले वाक्य ब्राह्मण माने जाने लगे, तब उन्होंने भी कृष्णयजुर्वेदियों के समान 'मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' ऐसा वचन कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में पढ़ दिया। यदि यह वचन श्रौतसूत्रकार महर्षि कात्यायन को स्वयं इष्ट होता है, तो वे आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रों के समान अपने श्रौतसूत्र के परिभाषा-प्रकरण में ही इसे पढ़ देते। यतः कात्यायनीय श्रौतसूत्र में ऐसा वचन नहीं है, अतः कात्यायन को ब्राह्मणों का वेदत्व इष्ट नहीं, यह स्पष्ट है। (इससे यह भी व्यक्त हो जाता है कि कात्यायन के मत में शुक्लयजुःसंहिता में ब्राह्मण अंश भी नहीं है)। इसलिये अब यह विचारना चाहिए कि शुक्लयजुः के व्याख्याकार महीधर आदि ने शुक्लयजुःसर्वानुक्रम के अनुसार जिन-जिन अंशों को ब्राह्मण माना है, वे वस्तुतः ब्राह्मणरूप ही हैं वा मन्त्ररूप हैं।

कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्र में शुक्लयजुः-संहिता के निम्न भाग ब्राह्मण कहे गये हैं—

१—देवा यज्ञं ब्राह्मणानुवाको विंशतिरनुष्टुभः। यजुर्वेद अ० १९ के १२ से ३१ तक की अनुष्टुप् छन्द की कण्डिकाएं।

२—अश्वस्तूपरो ब्राह्मणाध्यायः, शादं दद्भिस्त्वचान्तश्च। यजुर्वेद का २४वाँ पूरा अध्याय, तथा पच्चीसवें की १-९ कण्डिकाएं।

३—ब्रह्मणे ब्राह्मणं द्वे कण्डिके तपसेऽनुवाकश्च। अर्थात् यजुर्वेद अध्याय ३० की ५वीं कण्डिका से अध्याय के अन्त तक।

इसमें से पहले हम शुक्ल यजुर्वेद के २४वें अध्याय पर विचार करते हैं कि यह अध्याय ब्राह्मणरूप है वा मन्त्ररूप।

याज्ञिकशिरोमणि मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी ने २४वें अध्याय के अन्तर्गत 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' वचन पर विचार करते हुए मन्त्र-लक्षण अधिकरण (मी० २।१।७) में लिखा है—

"मन्त्र किसको कहते हैं? उ०—जो वचन यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को कहनेवाले हैं, उन्हीं में अभियुक्त=प्रामाणिक पुरुष 'मन्त्रों को पढ़ते हैं, मन्त्र पढ़े जा रहे हैं' आदि व्यवहार करते हैं। वस्तुतः मन्त्र का यह [सूत्रोक्त]

लक्षण प्रायिक है [अर्थात् सर्वत्र नहीं घटता]। कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो यज्ञ में अनुष्ठीयमान कर्म को कहनेवाले नहीं, परन्तु मन्त्र कहे जाते हैं। यथा—'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते।'

शबर स्वामी के इस मत को मानकर समस्त अर्वाचीन मीमांसकों ने "जिन वचनों को प्रामाणिक पुरुष मन्त्र कहें वह मन्त्र है" ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन समस्त मीमांसकों के मत हैं न केवल "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इसी वाक्य की मन्त्र संज्ञा है, अपितु इसी प्रकार के २४वें अध्याय में पठित समस्त द्रव्यदेवता-विधायक वाक्य मन्त्र हैं, अर्थात् यह अध्याय ब्राह्मणरूप नहीं है। इसलिये हमने याज्ञिकों के मन्त्र-ब्राह्मण लक्षण को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषदूषित कहा था। अब हम उक्त दोषों को स्पष्ट करते हैं—

मीमांसकों के अनुसार 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' वाक्य मन्त्रसंज्ञक है, यह उपर्युक्त प्रमाण से स्पष्ट है। याज्ञिकों के लक्षणानुसार इस वाक्य में मन्त्रत्व प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह वाक्य यज्ञ में क्रियमाण कर्म का स्मारक नहीं है, अतः इस अंश में अव्याप्ति दोष है। 'विनियोजकं ब्राह्मणम्' के अनुसार द्रव्य देवता का विधायक होने से मीमांसकों द्वारा मन्त्ररूप से स्वीकृत 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' में ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है, अतः इस अंश में अतिव्याप्ति दोष है। इसलिये याज्ञिकों का उक्त लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों से दूषित है, यह स्पष्ट है। मन्त्र ब्राह्मण के इसी दूषित लक्षण के अनुसार शुक्लयजुःसर्वानुक्रम सूत्रकार ने जो शुक्लयजुःसंहिता में स्थान-स्थान पर ब्राह्मण का निर्देश किया है, वह भी अप्रामाणिक है।

इतना ही नहीं, शुक्लयजुःसर्वानुक्रमकार ने शुक्लयजुःसंहिता में जिस-जिस भाग को ब्राह्मण कहा है, उन सब को अनेक प्राचीन आचार्य स्पष्ट रुप से ऋक् तथा यजुः (पद्य तथा गद्य मन्त्र) मानते हैं। यथा—

१. वासिष्ठी शिक्षाकार—काशी से प्रकाशित शिक्षा-संग्रह में एक वासिष्ठी शिक्षा छपी है। उसमें शुक्लयजुर्वेद के किसी प्राचीन सर्वानुक्रम (जो वर्तमान में कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध है, उससे भिन्न) के आधार पर माध्यन्दिनसंहिता के प्रत्येक अध्याय में वर्तमान ऋक् (पद्य) तथा यजुः (गद्य) मन्त्रों का भेद तथा उनकी संख्या दर्शाई है। उक्त शिक्षा के आरम्भ में कहा है—

अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठस्य मतं यथा।
सर्वानुक्रमसूत्रमुद्धृत्य ऋग्यजुषोस्तु लक्षणम्॥ इति॥

अर्थात्—जैसा वसिष्ट का मत है, वैसी शिक्षा कहूंगा। सर्वानुक्रम को उद्धृत करके ऋक् और यजुओं का निर्देश करूंगा॥

इस वासिष्ठी शिक्षा में यजुर्वेद के उन सब स्थलों को मन्त्र लिखा है, जिनको वर्तमान शुक्लयजुःसर्वानुक्रम के उपर्युक्त उद्धरणों में ब्राह्मण कहा है हम यहां वासिष्ठी शिक्षा के वे पाठ उद्धृत करते हैं—

(क) या व्याघ्रमिति आध्यायान्ताश्चतुरशीतिः पितृभ्य इत्युद्धृत्य… — ऋचः॥ पृष्ठ ४१।

अर्थात् यजुर्वेद के अ० १६ की कण्डिका से लेकर अध्यायसमाप्ति पर्यन्त 'पितृभ्यः' (कं० ३६) को छोड़कर सब ऋचाएं हैं। तदनुसार शुक्लयजुःसर्वानुक्रमसूत्रोक्त 'देवा यज्ञं' आदि बीस कण्डिकाएं (१२-३१) भी ऋचाएं है न कि ब्राह्मण।

(ख) चतुर्विंशतितमेऽध्याये अश्वस्तूपर इत्यारभ्याध्यायान्तानि सर्वाणि यजूंषि। पञ्चविंशतितमेऽध्याये शादं दद्भिरित्यारभ्य त्वचेत्यन्तं (१-६) सर्वाणि यजूंषि॥

अर्थात् यजुर्वेद का पूरा चौबीसवाँ अध्याय, तथा पच्चीसवें के आरम्भ की ६ कण्डिकाएं 'यजुः' अर्थात् गद्य मन्त्र हैं। शुक्लयजुःसर्वानुक्रम में इस सारे भाग को ब्राह्मण कहा है।

(ग) त्रिंशत्तमेऽध्याये देवसवितरिति तिस्रः [ऋचः] पराणि सर्वाण्यध्यायान्तानि सप्तसप्तत्युरशतं यजूंषीति॥ पृष्ठ ४३।

अर्थात् ३०वें अध्याय के आरम्भ में तीन ऋचाएं हैं। उसके अनन्तर सब यजुः=गद्य मन्त्र हैं। तदनुसार शुक्लयजुःसर्वानुक्रम में इस अध्याय के जिस भाग को ब्राह्मण कहा है, वह वासिष्ठी शिक्षानुसार यजुः=गद्य मन्त्र रूप है।

वासिष्ठी शिक्षा के इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि वर्तमान कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध बनावटी शुक्लयजुःसर्वानुक्रमणी में शुक्लयजुर्वेद के जिस-जिस भाग को ब्राह्मण कहा है वह ब्राह्मण नहीं, अपितु गद्यमन्त्ररूप ही है।

यहां यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि "तेषां यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः"। (मी० २।१।३५-३७) जिनमें चरणों की व्यवस्था हो वे ऋक् (पद्य), जो गीत्यात्मक हों वे साम, तथा शेष (जो न पद्यबद्ध हों और न गानात्मक हों) वे यजुः (गद्य) कहाते हैं। इत्यादि ऋक् साम और यजुः ये संज्ञाएं मन्त्रों की ही कही गई हैं, ब्राह्मणादि की नहीं। इससे स्पष्ट है कि वासिष्ठी शिक्षाकार ने शुक्लयजुर्वेद के जिस जिस भाग को ऋक् वा यजुः कहा है, वह मन्त्रात्मक ही है, ब्राह्मणात्मक नहीं।

२. ऋग्यजुःपरिशिष्टकार—कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध उसके श्रौतसूत्र से सम्बद्ध १८ परिशिष्टों में एक 'ऋग्यजुः' परिशिष्ट[1] भी है। उसमें भी शुक्लयजुःसर्वानुक्रम में उक्त ब्राह्मणभागों के लिये ऋक् और यजुः शब्दों का प्रयोग मिलता है। यथा—

(क) या व्याघ्रमिति द्वे, देवा यज्ञमित्याध्यायान्तात् पितृभ्यः स्वधायिभ्य इत्युद्धृत्य—…॥ पृष्ठ ८५।

टीका—देवा यज्ञमित्यारभ्याध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तं सर्वा ऋच…।

(ख) अश्वस्तूपर इत्यध्यायान्तं यजूंष्येवेति चतुर्विंशे। शादं दद्भिरित्यादि त्वचेत्यन्तमुद्धृत्य यजूंषि॥ पृष्ठ ८७।

विशेष—तीसवें अध्याय में जो यजुः हैं, उनके विषय में ऋग्यजुषःपरिशिष्ट में इस प्रकार लिखा है—

देव सवितरिति तिस्रः, प्राक्प्रैषेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्यः॥ पृष्ठ ८८।

यद्यपि यहां याजुष मन्त्रों के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है; फिर भी उससे इन याजुष मन्त्रों का ब्राह्मणत्व सिद्ध नहीं होता यह उसकी टीका से स्पष्ट है। टीकाकार श्री पं० श्रीधर शास्त्री अण्णे, जो कि प्रसिद्ध याज्ञिक विद्वान् हैं,[2] ने लिखा है—

---

१. यह परिशिष्ट नासिक से प्रकाशित सटीक दश परिशिष्टों में छपा है।

२. ये अब स्वर्गत हैं, इनका हमारे साथ बहुत मधुर सम्बन्ध था।

'प्राक् प्रैषेति प्रैषेभ्यो निगदेभ्यो ब्राह्मणपाठेभ्य: श्रुतिरूपेभ्यो[1] यजुर्भ्य: प्रागिति ।।'

टीका में ब्राह्मणपाठेभ्य: का अर्थ श्रुतिरूपेभ्यो यजुर्भ्य: किया है । इसमें इन्हें स्पष्ट यजु: कहा है । यजु: नाम मन्त्रों का ही होता है, यह हम पूर्व कह चुके हैं । यदि ऐसा न माना जाए, तो परिशिष्टकार के वचन में ही पूर्वापर विरोध होगा । परिशिष्टकार ने ब्राह्मणेभ्य: का विशेषण प्रैषेभ्य: लिखा है । टीकाकार ने प्रैषेभ्य: का अर्थ निगदेभ्य: व्यक्त किया है । याज्ञिक वाङ्मय में प्रैष और निगद संज्ञा यजु: (गद्यरूप) मन्त्रों की ही मानी जाती है, न कि ब्राह्मणवचनों की । यह पूर्वमीमांसा में 'निगदानां यजुष्ट्वाधिकरणम्' में 'यजूंषि वा तद्रूपत्वात्' (२।१) सूत्रद्वारा आचार्य जैमिनि ने विस्पष्ट रूप से कहा है ।

एक ही पाठ के लिये ब्राह्मण और यजु: नाम परिशिष्टकार ने क्यों लिखे, इसका कारण परिशिष्टकार ने स्वयं इस प्रकार बताया है—

परमेष्ठ्यश्च इत्यादि आग्नेयं ब्राह्मणं तथा ।
मन्त्राम्नानाद् यजुर्भावो ब्राह्मणस्य सदा स्मृत: ।। पृष्ठ ६१ ।।

अर्थात्—'परमेष्ठ्यधीत' (यजु: अ० ८।५४-५६); 'अश्वस्तूपर:' (अ० २४); 'आग्नेय: कृष्णग्रीव:' (अ० २६); 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (अ० ३०) —··· । इन सब ब्राह्मण = ब्राह्मणसदृश अत एव श्रुतिसंज्ञक यजु:मन्त्रों के मन्त्र-संहिता में समाम्नात होने से यजुर्भाव अर्थात् यजुष्ट्व ही है ।।

इसलिये शुक्लयजु:संहिता में ब्राह्मण अंश का सम्मिश्रण है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए ।

श्रुति-ब्राह्मणसंज्ञा-विवेचना—मन्त्र तथा ब्राह्मणों के जो अंश द्रव्यदेवता आदि के विनियोजक हैं, वे 'श्रुति' शब्द से कहे जाते हैं । मीमांसा ३।३।१४ के श्रुतिलिङ्गप्रकरण आदि सूत्र में श्रुति शब्द से विनियोजक अंश ही गृहीत होते हैं । शुक्लयजु:संहिता में ब्रह्मणे ब्राह्मणम् इत्यादि भाग भी द्रव्य-देवता का विनियोजक ही है, इसलिये इसे श्रुति शब्द से कहा जाता है । यह श्रुति दो प्रकार की होती है—एक मन्त्र-रूप, दूसरी ब्राह्मणरूप । विनियोजक अंशों

१. 'श्रुति' यह याज्ञिक सम्प्रदाय की पारिभाषिक संज्ञा है । इसके विषय में आगे यथास्थान लिखा जाएगा ।

का ब्राह्मणग्रन्थों में बाहुल्य होने से श्रुति शब्द से प्रायः द्रव्य-देवतादि-विनियोजक ब्राह्मणभाग ही समझे जाते हैं। इसलिये जहां मन्त्ररूप विनियोजक श्रुति का निर्देश करना अभिष्ट होता है, वहां प्रायः मन्त्र शब्द का भी साथ में निर्देश किया जाता है। इस कारण उव्वट लिखता है—

'इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासम्बन्धस्याभिधायिनः......इति।' यजुर्वेदभाष्य अ० २४ के आरम्भ में।

इसी प्रकार यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि याज्ञिक परिभाषा में ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत सभी अंश ब्राह्मण नहीं हैं, अपितु विनियोजकं ब्राह्मणम् नियम से द्रव्य-देवता के विनियोजक अंश ही ब्राह्मणपदवाच्य हैं। इसी याज्ञिक-परिभाषा के अनुसार ही मन्त्रान्तर्गत द्रव्यदेवता के विनियोजक वचन ब्राह्मणपदवाच्य हैं। सम्भव है इसी दृष्टि से शुक्लयजुःसर्वानुक्रमणीकार ने मन्त्ररूप श्रुतिवचनों को गौणरूप से ब्राह्मण कहा हो।

३—काण्वसंहिता के भाष्य में—शुक्लयजुः की काण्वसंहिता का भाष्यकार आनन्दबोध भी ब्रह्मणे ब्राह्मणम् इत्यादि (का० सं० अ० ३४; माध्य० सं० ३०) भाग को मन्त्र नाम से स्मरण करता है। और उनके ऋषि देवता तथा छन्दों का भी निर्देश करता है। यथा—

'ब्रह्मणे ब्राह्मणमिति ब्रह्मदेवत्या अष्टिः। अस्य अध्यायस्य पुरुषो नारायण ऋषिः प्रतिमन्त्रं स एव।' पृष्ठ १०२, काशीस्थ सरस्वती-भवन का प्रकाशन।

यह यहां ध्यान रहे कि ऋषिदेवताछन्दों का निर्देश मन्त्रों का ही होता है, यह सब आचार्यों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

४—उव्वट भाष्य में—माध्यन्दिनसंहिता का व्याख्याता उव्वट भी शुक्लयजुःसर्वानुक्रम द्वारा निर्दिष्ट ब्राह्मण अंश को मन्त्र नाम से ही स्मरण करता है। यथा—

क—शुक्लयजुः के १९वें अध्याय के १२ वें मन्त्र के आरम्भ में उव्वट लिखता है—

'विंशतिरनुष्टुभः (अ० १९,१२-३१) सौत्रामण्यां सोमसम्पदर्शनार्थः निदानवतां मन्त्राणां पूर्वं निदानं वक्तव्यमर्थस्य सुखबोधाय। इन्द्रस्य किल...।'

अर्थात्--अ० १६। मं० १२ से ३१ तक बीस अनुष्टुप् सौत्रामणी में सोमसम्पत्ति दर्शाने के लिये हैं। निदानयुक्त मन्त्रों का निदान पहले कहना चाहिए, अर्थ के सुख से बोध के लिये ॥

ख - शुक्लयजुः अ० २४ (पूरा), तथा अ० २५। मं०१-६ तक के भाग के विषय में उव्वट अ० २४ के आरम्भ में लिखता है—

'इत उत्तरं श्रुतिरूपा मन्त्रा आश्वमेधिकानां पशूनां द्रव्यदेवतासम्बन्धस्याभिधायिनः।'

यहाँ भी उव्वट इनको श्रुतिरूप मन्त्र स्पष्ट कहता है।

५—बृहदारण्यक उपनिषद् का प्राचीन भाष्यकार द्विवेदगङ्ग भी शुक्लयजुःसंहिता में ब्राह्मण का मिश्रण नहीं मानता। वह लिखता है—

"शुक्लानि यजूंषि शुद्धानि यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकानि कृष्णानि"

इस प्रकार प्राचीन प्रामाणिक आचार्यों के मत में शुक्लयजुःसंहिता में ब्राह्मण का लेशमात्र भी नहीं है, यह सम्यक् प्रकार सिद्ध हो गया। इस बात के सिद्ध हो जाने पर (१) मन्त्रात्मक शाकल, वाजसनेय तथा कौथुमादि संहिताओं के श्रौतसूत्रकारों द्वारा "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" वचन का निर्देश न होने, (२) मन्त्र ब्राह्मण से सम्मिश्रित कृष्णयजुर्वेद की शाखाओं के आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रकारों द्वारा ही इस सूत्र की रचना होने, तथा (३) उन-उन श्रौतसूत्रों में भी उक्त वचन का निर्देश परिभाषा-प्रकरण में ही होने, और (४) उक्त सूत्र की व्याख्या में हरदत्त तथा धूर्तस्वामी द्वारा स्पष्ट शब्दों में 'कैश्चिन्मन्त्राणामेव वेदत्वमाख्यातम् (आश्रितम्)' अर्थात् किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने केवल मन्त्र को ही वेद माना है, लिखा होने से प्राचीन प्रमाणभूत आचार्यों के मत में मन्त्रों का ही मुख्य वेदत्व है ब्राह्मणों का नहीं, यह सुनिश्चित हो गया।

कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों ने ब्राह्मणग्रन्थों का जो (पारिभाषिक) वेदत्व विधान किया है,उसका यही प्रयोजन है कि उनके शास्त्र में वेद शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण समझा जावे। जैसे पाणिनीय कृत्रिम गुणादि संज्ञाएं उनके शास्त्र से भिन्न शास्त्रों में प्रमाण नहीं मानी जातीं, अथवा उनके उन-उन अर्थों का ग्रहण नहीं किया जाता, उसी प्रकार आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रकारों के उक्त वचन का अभिप्राय समझना चाहिए। अथवा केवल मन्त्रात्मक संहिताओं के समान (जिनका वेदत्व लोकप्रसिद्ध था) स्व मन्त्रब्राह्मणसंमिश्रित शाखाओं

का वेदत्व प्रसिद्ध करने के लिये उक्त सूत्र रचा हो । उक्त सूत्र की रचना में चाहे कुछ भी प्रयोजन हो, परन्तु इतना इस सूत्र की रचना से ही स्पष्ट है कि पाणिनीय कृत्रिम गुणादि संज्ञा के समान उक्त वेदसंज्ञा का भी स्व-स्व शास्त्र से बाहर कोई प्रमाण नहीं है । अर्थात् उन्हीं-उन्हीं श्रौतसूत्रों में वेद शब्द से ब्राह्मण का भी ग्रहण हो सकता है अन्यत्र नहीं, यह सूर्य की भांति स्पष्ट है ।

इतना ही नहीं, यदि आपस्तम्बादि श्रौतसूत्रों के रचनाकाल में ब्राह्मण-ग्रन्थों का भी वेदत्व लोकप्रसिद्ध होता, तो कृष्णयजुः के आपस्तम्बादि श्रौत-सूत्ररचयिता भी ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकारों के समान उक्त वचन न पढ़ते । अथवा मन्त्रों के समान ब्राह्मण का वेदत्व प्रसिद्ध होने पर भी जैसे कृष्णयजुर्वेद के श्रौतसूत्रकारों ने लोकप्रसिद्धि की पुष्टि के लिये उक्त सूत्र रचा, तद्वत् ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद तथा सामवेद के श्रौतसूत्रकार भी उक्त सूत्र का निर्देश करते, परन्तु ऐसा नहीं दीखता (अर्थात् मन्त्रब्राह्मण संमिश्रित कृष्णयजुः के श्रौतसूत्रकारों ने ही उक्त सूत्र पढ़ा है, केवल मन्त्रात्मक ऋग्वेद शुक्लयजुर्वेद और सामवेद के श्रौतसूत्रकारों ने इस प्रकार का कोई वचन नहीं बनाया) । इससे भी विस्पष्ट है कि मन्त्रों का ही वेदत्व प्राचीन आचार्यों को भी अभिप्रेत है । ब्राह्मणों उनके शेषभूत आरण्यकों तथा तदन्तर्गत उपनिषदों का मुख्य वेदत्व उन्हें इष्ट नहीं है ।

उक्त सिद्धान्त के निश्चित हो जाने पर स्पष्ट है कि श्रौतसूत्रादि याज्ञिक ग्रन्थों से भिन्न अयाज्ञिक ग्रन्थों में जो वेद शब्द से ब्राह्मणग्रन्थों का निर्देश मिलता है, वह उन ग्रन्थकारों ने उक्त याज्ञिक मत को स्वीकार करके किया होगा । अथवा मन्त्रव्याख्याभूत ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थ (वेद) का औपचारिक (गौण) रूप से प्रयोग किया होगा । व्याख्यान-ग्रन्थों में व्याख्येय ग्रन्थ का उपचार प्रायः लोक में देखा जाता है ।

अब प्रसङ्गवश आम्नायसंज्ञा के विषय में भी कुछ विचार कर लेना उचित है —

आम्नाय-संज्ञा-विचार

जिस प्रकार कृष्णयजुः के श्रौतसूत्रकारों ने ब्राह्मण की वेदसंज्ञा के लिये 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' यह परिभाषासूत्र बनाया, उसी प्रकार कौशिक सूत्र में मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय की आम्नाय संज्ञा के लिये एक सूत्र पढ़ा गया — आम्नायः पुनर्मन्त्रा ब्राह्मणानि च ।

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जैसे प्राचीन आचार्यों ने वेदसंज्ञा तर्क मीमांसा और वेदाङ्गों की भी मानी है (द्र०—पृ० १४०), उसी प्रकार आम्नाय संज्ञा का भी अनेक ग्रन्थों के लिये व्यवहार देखा जाता है। यथा –

१—आयुर्वेद के लिए–आयुर्वैदिक चरक संहिता के सूत्रस्थान अ० ३० खण्ड ६७ के पृच्छातन्त्राद् यथाम्नायविधिना प्रश्न उच्यते वचन में 'आम्नाय' शब्द का प्रयोग आयुर्वेदविषयक मूल आगम के लिये हुआ है।

२—धर्मशास्त्र के लिये—गौतम धर्मसूत्र में निम्न वचन उपलब्ध होते हैं—

यत्र चाम्नायो विदध्यात् ।। १:५१ ।। आम्नायैरविरुद्धाः ।।१०।२२।।

यहां धर्मशास्त्र के मूल आगमभूत मानवधर्मशास्त्र के लिये आम्नाय शब्द का व्यवहार किया गया है।

३—नाटयशास्त्र के लिये—पाणिनि के छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः (४।३।१२९)सूत्र में धर्म और आम्नाय शब्द का सम्बन्ध सर्वसम्मत है। इसलिये यहां 'नट' शब्द से भी 'ञ्य' प्रत्यय धर्म और आम्नाय अर्थ में ही होता है। तदनुसार 'नाट्य' शब्द से नटों का धर्म और नटों का शास्त्र (नाटयवेद = भरतप्रोक्तनाटयशास्त्र) का ही व्यवहार होता है (द्र०—नटशब्दादपि धर्माम्नाययोरेव। काशिका ४।३।१२९)।

पूर्वमीमांसा-सूत्रकार जैमिनि ने आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (१।२।१) सूत्र में आम्नाय शब्द का व्यवहार मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लिये किया है। मीमांसा के इस सूत्र से अव्यवहित पूर्व वेदापौरुषेय अधिकरण है। उससे वेद-पद की अनुवृत्ति का सम्भव होने पर भी पुनः'आम्नाय' संज्ञा का निर्देश करना इस बात का ज्ञापक है कि सूत्रकार वेद और आम्नाय संज्ञा के अर्थों में भेद मानते हैं।

वेदसंज्ञाविषयक अन्य लक्षण

कुछ विद्वान् ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा सिद्ध करने के लिये वेद का निम्न लक्षण उपस्थित करते हैं—

'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृत्वं वेदत्वम् इति।'

अर्थात्—पठनपाठनरूप गुरुशिष्य-समुदाय के विच्छिन्न न होने पर भी जिसके रचयिता का ज्ञान न हो, वह वेद कहाता है ।।

इस लक्षण के अनुसार वादी ब्राह्मणग्रन्थों की भी वेदसंज्ञा मानता है । क्योंकि जैसे मन्त्रसंहिताओं के पठन-पाठनरूप-सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी उनके रचयिता का ज्ञान नहीं, उसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के पठन-पाठन-रूप-सम्प्रदाय के विच्छेद न होने पर भी उनके रचयिता का नाम अज्ञात है । यदि कोई कहे कि ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों के रचयिता के ऐतरेय याज्ञवल्क्य आदि नाम ज्ञात हैं, तो वादी कहता है कि ये रचयिता के नाम नहीं हैं, अपितु प्रवक्ता के नाम हैं । जैसे ऋग्वेदसंहिता का शाकल-संहिता नाम शाकल्य आचार्य के प्रवचन के कारण पड़ा, न कि रचयिता के कारण । इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों के नामों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए ।

उक्त लक्षण का खण्डन

वस्तुतः उक्त वेदलक्षण से भी ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं की जा सकती । क्योंकि उक्त लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष से दूषित है । यथा—

अतिव्याप्तिदोष—वैदिक वाङ्मय में कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनके पठन-पाठन का उच्छेद तो नहीं हुआ, पुनरपि उनके रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है । यथा माध्यन्दिन संहिता का पदपाठ । इस लक्षण के अनुसार ऐसे अज्ञातनामवाले पौरुषेय पद-ग्रन्थ की भी अपौरुषेयत्वरूप वेदसंज्ञा प्राप्त होती है, जो कि इष्ट नहीं । समस्त पदपाठ-संज्ञक ग्रन्थ पौरुषेय हैं, इसमें हम केवल तीन प्रमाण उपस्थित करते हैं—

१—वा इति च य इति च चकार शाकल्यः, उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यद्, असुसमाप्तश्चार्थः । निरुक्त ६।२८।।

निरुक्तकार यास्क ने वनेन वायो न्यधायि० (ऋ० १०।२९।१) मन्त्र में पठित 'वायः' को एक पद मानकर व्याख्या करके लिखा है कि शाकल्य ने वायः में वा यः ऐसा दो पदरूप विभाग किया है । वह अयुक्त है, क्योंकि यः पद होने पर अधायि क्रिया को उदात्त होना चाहिए । क्योंकि यत् शब्द के योग में पद से परे भी क्रियापद अनुदात्त नहीं होता (यथा—यद्वृत्तान्नित्यम्—अष्टा० ८।१।६६) ।

यहां यास्क ने स्पष्टरूप में ऋग्वेद के पदपाठ को शाकल्य कृत अर्थात् पौरुषेय कहा है, और उसमें दोष दर्शाया है।

२—न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्। महाभाष्य ३,१,१०९; ६,१,२०७; ८,२,१६।

अर्थात्—लक्षणों (व्याकरण के नियमों) को पदकारों का अनुवर्तन नहीं करना चाहिए (उनके पीछे नहीं चलना चाहिए), अपितु पदकारों को लक्षणों (व्याकरण के नियमों) का अनुसरण करना चाहिए॥

महाभाष्यकार पातञ्जलि ने यह वचन ऐसे तीन स्थानों पर पढ़ा है, जहां पाणिनीय लक्षणों और पदकारों के पदविच्छेद में विरोध उपस्थित होता है। इस वचन से महाभाष्यकार के मत में पदपाठ पौरुषेय हैं, स्पष्ट है।

३—महाभाष्यकार के उक्त वचन की व्याख्या करता हुआ आचार्य कैयट (३।१।१०९ में) स्पष्ट लिखता है–

न लक्षणेनेति–संहिताया एव नित्यत्वं, पदच्छेदस्य तु पौरुषेयत्वम् इति।

अर्थात्—मन्त्रसंहिता ही नित्य अपौरुषेय है, पदपाठ पौरुषेय अर्थात् अनित्य है॥

अव्याप्तिदोष—उक्त वेदलक्षण में अव्याप्ति दोष भी है। जिन ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थों की वादी इस लक्षण से वेदसंज्ञा सिद्ध करना चाहता है, उनमें से अनेक ब्राह्मणग्रन्थों की उक्त लक्षणानुसार वेदसंज्ञा सिद्ध नहीं होती। इसका कारण यह है कि ऐतरेय आदि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों के सम्प्रदाय का विच्छेद हो चुका है। इसमें प्रमाण यह है कि ऐतरेय आदि अनेक ब्राह्मणग्रन्थों में सम्प्रति स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते। प्राचीनकाल में सभी ब्राह्मणग्रन्थ सस्वर थे। ऐसी अवस्था में सस्वर ब्राह्मणग्रन्थों से स्वरों का नाश पठन-पाठन सम्प्रदाय के विच्छिन्न होने पर ही उपपन्न हो सकता है। अन्यथा स्वरनाश का और कोई कारण नहीं माना जा सकता। यतः ऐतरेय ब्राह्मण आदि में स्वरचिह्न उपलब्ध नहीं होते, अतः इनके पठन-पाठनरूप सम्प्रदाय का उच्छेद हुआ है, यह स्पष्ट है। पठनपाठनसम्प्रदाय के उच्छेद होने पर स्वररहित ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा (जो वादी को अभिमत है) उक्त लक्षण अनुसार उपपन्न नहीं हो सकती।

ऐतरेय आदि ब्राह्मणग्रन्थ पुराकाल में सस्वर थे। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—पाणिनीय व्याकरण से ज्ञात होता है कि पुराकाल में वैदिकी वाक् के समान लौकिक भाषा भी सस्वर व्यवहृत होती थी। इसमें हम केवल दो प्रमाण उपस्थित करते हैं—

क—दत्त और गुप्त संज्ञक व्यक्तियों द्वारा व्यास नदी के उत्तर तट पर बनाए कूपों के लिए दात्त गौप्त शब्दों में आद्युदात्त स्वर का प्रयोग बतलाने के लिए पाणिनि ने उदक्च विपाशः (४।२।७३) सूत्र द्वारा अञ् प्रत्यय का विधान किया है। इसी विशेष विधान से व्यास के दक्षिण किनारे पर दत्त गुप्त द्वारा निर्मित कूपों के लिए अन्तोदात्त दात्त गौप्त पद प्रयुक्त होते थे, यह ज्ञापित होता है। इसी दृष्टि से काशिकाकार ने लिखा है—

'उदगिति किम्—दक्षिणतो विपाशः कूपेष्वणेव दात्तः गौप्तः, स्वरे विशेषः। महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य ।।'

अर्थात्—विपाशा के दक्षिण कूपों के लिए व्यवहृत दात्त गौप्त शब्दों में अण् प्रत्यय ही होगा। दोनों में स्वर का भेद है। सूत्रकार पाणिनि की दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म है, उसने स्वरभेद की भी उपेक्षा नहीं की।

ख—पञ्चभिः सप्तभिः आदि पदों में वेद में विभक्ति से पूर्ववर्त्ती स्वर (अच्) उदात्त होता है। परन्तु लौकिक भाषा में कभी विभक्ति में भी उदात्तत्व देखा जाता है, तो कभी उससे पूर्ववर्ती अच् में। अतः पाणिनि ने लौकिक भाषा में उपलब्ध होनेवाले स्वरभेद को दर्शाने के लिये विभाषा भाषायाम् (६।१।१८१) यह विशेष सूत्र बनाया।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि पाणिनि के समय लोकभाषा भी वैदिकी वाक् के समान सस्वर थी। जब लौकिक भाषा भी सस्वर थी, तब ब्राह्मणग्रन्थों के सस्वर होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों का स्वरविरहित प्रवचन नहीं हो सकता।

२—मीमांसासूत्रकार जैमिनि ने कल्पसूत्राधिकरण में कल्पसूत्र आम्नाय के समान प्रमाण नहीं है, इसके लिये हेतु दिया है—नासन्नियमात् (१।३।१२)। अर्थात् कल्पसूत्रों की रचना आम्नाय के समान निबन्धन=रचना नहीं है। शबर स्वामी ने असन्नियमात् हेतु का अर्थ करते हुए लिखा है—

'नैतत् सम्यङ् निबन्धनम्, स्वराभावात् ।' अर्थात् कल्पसूत्रों की रचना सम्यक् निबद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें स्वरनिर्देश नहीं है (समस्त सूत्रग्रन्थ एकश्रुतिरूप से पढ़े गए हैं, यह समस्त प्राचीन आचार्यों का मत है)।

जैमिनि के इस सूत्र से भी स्पष्ट है कि ऐतरेयादि ब्राह्मण पुराकाल में सस्वर थे। अतः वर्तमान में अधिकांश ब्राह्मणों में स्वर का अभाव होना, उनके सम्प्रदाय-विच्छेद का ही द्योतक है।

इतने पर भी यदि कोई यही हठ करे कि ऐतरेय आदि ब्राह्मण आदि-काल से स्वररहित ही थे, उस अवस्था में जैमिनि के उक्त सूत्र के अनुसार स्वररहित कल्पसूत्रों का जैसे आम्नायवत् प्रामाण्य नहीं, उसी प्रकार स्वररहित ब्राह्मणग्रन्थों का भी प्रामाण्य नहीं होगा। दोनों में से एक बात अवश्य स्वीकार करनी होगा। दोनों में से किसी भी एक बात को स्वीकार करने पर वादी के मतानुसार स्वरविरहित ब्राह्मणों का वेदत्व, अथवा तद्वत्प्रामाण्य सिद्ध नहीं हो सकता।

एक ब्राह्मण-वचन पर विशेष विचार

गोपथब्राह्मण पूर्वार्ध २।१० में एक वचन है—

'एवमिमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सपुराणाः ....।।'

इस ब्राह्मणवचन में वेदों को कल्प, रहस्य (=आरण्यक), ब्राह्मण, उप-निषत्, इतिहास और पुराण से स्पष्ट रूप से पृथक् कहा गया है।

ब्राह्मणग्रन्थों को वेद माननेवाले विद्वान ऐसे वचनों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों के वेदान्तर्गत होने पर भी इनका पृथक् निर्देश ब्राह्मणग्रन्थों के मुख्यत्व के ज्ञापन के लिये है। जैसे ब्राह्मणा आयाताः, वसिष्ठो-ऽप्यायातः वाक्य में वसिष्ठ के ब्राह्मण होने पर भी पृथक् निर्देश करना अन्य ब्राह्मणों से वसिष्ठ का वैशिष्टय दर्शाने के लिये है। इस न्याय को ब्राह्मणवसिष्ठ न्याय कहा जाता है। वस्तुतः यहां ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय का लगाना और ब्राह्मणों का मन्त्रों से वैशिष्टच दर्शाना दोनों ही बातें अयुक्त हैं। कारण—

'ब्राह्मणवसिष्ठ' न्याय की प्रवृत्ति वहां होती है, जहां वक्ता के समान श्रोता को भी यह ज्ञात हो कि यहां स्मर्यमाण वसिष्ठ भी ब्राह्मण है। यदि श्रोता को यह ज्ञात ही नहीं कि वसिष्ठ भी ब्राह्मण है, तब वह ब्राह्मण-वसिष्ठ—न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं कर सकता। और उसके अभाव में वसिष्ठ का

श्रेष्ठत्व भी नहीं समझ सकता। इतना ही नहीं, यदि उक्त वाक्य में स्मर्यमाण वसिष्ठ ब्राह्मणेतर हो, और यह बात श्रोता को भी ज्ञात हो, तब भी इस न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती।

इस नियम से पहले यदि यह ज्ञात हो कि ब्राह्मणग्रन्थों में भी ब्राह्मण वेद-रूप से स्वीकृत हैं, तब तो उक्त वाक्य में ब्राह्मणवसिष्ठ-न्याय की प्रवृत्ति हो सकती है। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ भी वेद हैं। कल्पसूत्रों द्वारा की गई मन्त्रब्राह्मण की वेदसंज्ञा की ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह हम इसी लेख के आरम्भ में कह चुके हैं। इसलिए गोपथ के उक्त वचन में जब ब्राह्मण-वसिष्ठ-न्याय की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, तब उसके आधार पर मन्त्रों से ब्राह्मणग्रन्थों के वैशिष्ट्य का ज्ञापन भला कैसे हो सकता है ?

इतना ही नहीं, उक्त वचन में सकल्पाः सरहस्याः आदि पदों के साथ में जो स पद श्रुत है, वह वेद की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों की हीनता का बोधक है। इस बात को समझने के लिये इन शब्दों के विग्रह पर ध्यान देना चाहिए। सकल्पाः आदि पद उक्त वाक्य में वेदाः के विशेषण हैं। जैसे—सच्छात्रो गुरुरागतः, सपुत्रः पिता आदि में सच्छात्रः और सपुत्रः समस्तपद क्रमशः गुरु और पिता के विशेषण हैं। अतः इनका विग्रह 'छात्रेण सह गुरुः पुत्रेण सह पिता' के समान 'कल्पैः सह सकल्पाः, रहस्यैः सह सरहस्याः, ब्राह्मणैः सह सब्राह्मणाः' ही होगा। ऐसी अवस्था में 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (अष्टा० २।३।१९) इस तृतीयाविधायक सूत्र से कल्प रहस्य ब्राह्मणादि का वेद की अपेक्षा अप्राधान्य ही व्यक्त होता है, न कि वैशिष्ट्य। इस नियम से भी ब्राह्मणग्रन्थों का महत्त्व मन्त्रों की अपेक्षा अल्प ही सिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में मन्त्र और ब्राह्मण समान नहीं हैं, यह स्पष्ट है।

इसके साथ ही उक्त वचन में एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह है—'सकल्पाः सेतिहासाः सपुराणाः' पदों का निर्देश। कल्पसूत्र, इतिहास और पुराणग्रन्थों का निर्देश, जिन्हें वादी भी पौरुषेय मानता है, उसके मतानुसार अपौरुषेय माने गए ब्राह्मणवाक्य में कैसे हो सकता है ? इतना ही नहीं, वादी के मतानुसार तो ब्राह्मणवसिष्ठ-न्याय से ब्राह्मणग्रन्थों के समान कल्पसूत्र इतिहास और पुराण पौरुषेय ग्रन्थों की भी मन्त्रों से अधिक महत्ता सिद्ध होगी, जो कि किसी भी समझदार आस्तिक को स्वीकृत नहीं।

उपर्युक्त विवेचना से सिद्ध है कि ब्राह्मणग्रन्थों का नाम वेद नहीं है ॥

दुष्कृताय चरकाचार्यम्

यजुर्वेद ३०।१८ में एक वचन है—"दुष्कृताय चरकाचार्यम्।" इसका अर्थ महीधर ने किया है—"दुष्कृताय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम्।" अर्थात् 'पुरुषमेध यज्ञ में दुष्कृत देवता के लिये चरकों के गुरु को यूप में बांधे।[1]

महीधर के इस अर्थ की पृष्ठभूमि इस प्रकार है—

शतपथ ब्राह्मण में स्थान-स्थान पर चरकों, चरकाध्वर्युवों के मतों, तथा उनकी शाखा के पाठों की समालोचना उपलब्ध होती है।[2] "चरक" आचार्य वैशम्पायन का ही नामान्तर है।[3] वैशम्पायन ने तित्तिरि, आलम्बि, पलङ्ग आदि अनेक शिष्यों को कृष्णयजुः[4] का प्रवचन किया था।[5] उसी वैशम्पायन अपर

---

१. इत उत्तरं पुरुषमेधः (मही० यजुः ३०।१)। एवमग्रे सर्वेषां यूप एव बन्धनम्, चतुर्थ्यन्तं देवतापदम्, द्वितीयान्तं पशुपदं बोधव्यम् (मही० यजुः ३०।५)।

२. ता उ ह चरका नानैव मन्त्राभ्यां जुह्वति ..तदु तथा न कुर्यात्। शत० ४,१,२,१९।। तदु ह चरकाध्वर्यवो विगृह्णन्ति...तं वै नोपयामेन गृह्णीयात् ..न तदाद्रियेत। शत० ४,२,३, १५-१८।। इसी प्रकार द्रष्टव्य शतपथ ३, ८,२,२४-२५।। उपायवस्थेत्यु हैक आहुः तदु तथा न ब्रूयात् शत० १,७,१, ३।। यह 'उपायवस्थ' पाठ तैत्तिरीय आदि कृष्णयजुःशाखाओं का है।

३. चरक इति वैशम्पायनस्याख्या। काशिका ४।३।१०४।। आयुर्वेद के अग्निवेशकृत तन्त्र का प्रतिसंस्कार इसी चरक (=वैशम्पायन) ने किया था। अत एव उसका 'चरकसंहिता' नाम पड़ा।

४. यजुर्वेद की शाखाओं के कृष्ण और शुक्ल नाम क्यों हुए, इसके लिये देखो वेदवाणी वर्ष ३ अंक १ में 'यजुर्वेद का ऐतिहासिक सिंहावलोकन' नामक हमारा लेख।

५. तित्तिरि के लिये देखो—'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, तैत्तिरीय शाखा प्रकरण, तथा विष्णु भागवत आदि पुराणों के शाखा-विभाग प्रकरण। आलम्बि, पलङ्ग आदि के लिये देखो—काशिका ४।३।१०४।

नाम चरक प्रोक्त कृष्णयजुः का तित्तिरि आदि आचार्यों ने पुनः रूपान्तर से प्रवचन किया। तित्तिरि आदि वैशम्पायन (=चरक) के शिष्य होने से चरक शब्द से व्यवहृत होते हैं।[1]अतएव तित्तिरि आदि प्रोक्त कृष्णयजुः के अध्ययन-कर्त्ता भी परम्परा-सम्बन्ध से 'चरक' कहे जाते हैं। तैत्तिरीय आदि शाखाएं यजुर्वेद की हैं, और यजुर्वेद से यज्ञ में आध्वर्यव कर्म किया जाता है। अतः तैत्तिरीय आदि शाखाओं के अध्येता 'चरकाध्वर्यु' नाम से व्यवहृत होते हैं। इन्हीं का याज्ञवल्क्य ने चरक तथा चरकाध्वर्यु पद से शतपथ में उल्लेख करके उनके मतों तथा शाखा-पाठों की समालोचना (=प्रत्याख्यान) की है।

शतपथ में की गई समालोचना से याज्ञवल्क्य और चरकों के विरोध की ध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है। इस विरोध का कारण पौराणिक गाथानुसार इस प्रकार है—

याज्ञवल्क्य महर्षि वैशम्पायन के स्वस्त्रीय (=भानजे) थे। याज्ञवल्क्य ने प्रथम वैशम्पायन से कृष्णयजुः का अध्ययन किया था। एक समय वैशम्पायन को किसी कारणवश ब्रह्महत्या का दोष लगा। उसके प्रायश्चित्त के लिये उन्होंने अपने सभी शिष्यों को जप-तप आदि के अनुष्ठान करने की आज्ञा दी। याज्ञवल्क्य ने अपने मामा तथा गुरु वैशम्पायन से कहा कि इन साधारण ब्राह्मण-बटुओं को क्लेश देने की क्या आवश्यकता है। मैं अकेला ही प्रायश्चित्त कर लूंगा। वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य के इस कथन को गर्वोक्ति, तथा अन्य शिष्यों का अपमान समझा। और क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से कहा कि तुमने मेरे से जो अध्ययन किया है, उसे छोड़कर यहां से चले जाओ। याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से अधीत कृष्णयजुः का वमन अर्थात् त्याग कर दिया। और अन्य शिष्यों ने तित्तिरि का रूप धारण करके इस वमित कृष्णयजुः को ग्रहण कर लिया। तदनन्तर याज्ञवल्क्य ने आदित्य सम्प्रदाय[2] के शुक्लयजुः का अध्ययन किया।

---

१. 'चरक इति वैशम्पायनस्याख्या, तत्संबन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनः चरका इत्युच्यन्ते।' काशिका ४।३।१०४।

२. शुक्लयजुः के दो प्राचीन सम्प्रदाय हैं—आदित्यायन तथा आङ्गिरसायन। देखो–तृतीय प्रतिज्ञापरिशिष्ट सूत्र—'द्वयान्येव यजूंषि, आदित्यानामाङ्गिरसानां च' (कं० २१।सू० ४)। इन दोनों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (४।४।५।१९,२०) में भी मिलता है। आदित्य सम्प्रदाय का आदिप्रवर्तक कश्यप

सम्भव है महीधर ने इसी पौराणिक[1] गाथा, तथा शतपथ में स्थान-स्थान पर उल्लिखित चारक मतों के प्रत्याख्यान से विभ्रममति होकर "दुष्कृताय

प्रजापति है, उसकी अदिति नामक भार्या से उत्पन्न इन्द्रादि १२ देव आदित्य कहाते हैं। आङ्गिरस सम्प्रदाय का आदि प्रवर्तक महर्षि अङ्गिरा है। इन्द्र ने कश्यप प्रजापति से वेद का अध्ययन किया, और इन्द्र से विश्वामित्र ने (शां० आ०अ० १५)। परन्तु चिर काल तक देवासुर संग्राम में प्रवृत्त रहने के कारण इन्द्र वेदाध्ययन से विमुख हो गया। इसलिये इन्द्र ने कुशिकपौत्र विश्वामित्र से पुन: वेद का अध्ययन किया (इसी कारण इन्द्र का नाम कौशिक भी पड़ा (जै० ब्रा० २।७९) विश्वामित्र ने कश्यप प्रजापति प्रवर्तित यजुओं का इन्द्र को उपदेश किया। इस प्रकार काश्यप विश्वामित्र आदि से प्रोक्त कश्यप यजुओं का सम्बन्ध इन्द्र से होने के कारण वे आदित्यायन नाम से प्रसिद्ध हुए। याज्ञवल्क्य ने कौशिक गोत्रोत्पन्न होने पर भी प्रथम अपने मामा वैशम्पायन से कृष्णयजुओं का अध्ययन किया। वैशम्पायन से विरोध हो जाने के कारण याज्ञवल्क्य ने कृष्ण यजुओं का त्याग करके स्वकुल-क्रमागत आदित्यायन यजुओं का अध्ययन किया।

याज्ञवल्क्य का पुत्र कात्यायन हुआ। उसने आङ्गिरस गोत्रज घोर-(द्र०—ऋक्सर्वा० ३।३६) पुत्र कण्व (द्र०—ऋक्सर्वा० १।३६) से आङ्गिरस यजुओं का अध्ययन किया (देखो—तृतीय प्रतिज्ञापरिशिष्ट २१।५)। आङ्गिरस घोर ने देवकीपुत्र कृष्ण को अध्यात्मविद्या का उपदेश किया था (छा० उ० ३।१७।६)। और याज्ञवल्क्य महाराज युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में विद्यमान था। अतः घोरपुत्र कण्व से याज्ञवल्क्यपुत्र कात्यायन का वेदाध्ययन करना सर्वथा युक्त है। कण्व तथा उसके पिता घोर दोनों ऋग्वेद के द्रष्टा हैं। अत एव कण्वप्रोक्त काण्वशाखा में न केवल ऋग्वेद के समान 'ड' के स्थान में 'ळ' का प्रयोग ही उपलब्ध होता है, अपि तु ऋग्वेद और काण्वयजुः का उच्चारण भी प्रायः समान ही होता है। कण्व के आङ्गिरस गोत्रोत्पन्न होने के कारण तत्प्रोक्त काण्वशाखा आङ्गिरसायन सम्प्रदाय की मानी जाती है। आदित्यायन सम्बन्धी माध्यन्दिन-संहिता में सर्वत्र 'ड' का ही प्रयोग मिलता है, 'ळ' का नहीं।

१. देखो विष्णु भागवत आदि पुराणों का शाखा-प्रकरण। हमने पौराणिक आलङ्कारिक गाथाओं से ऐतिहासिक अंश निकालकर उद्धृत किया है।

चरकाचार्यम्" का अर्थ "दुष्कृताय चरकाचार्यं चरकाणां गुरुम्" अर्थात् 'चरकों के गुरु को दुष्कृत देवता के लिये यूप में बांधे' ऐसा किया है।

मुझे यजुर्वेद का "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" वचन चिरकाल से समझ में नहीं आ रहा था। कुछ काल हुआ मेरी दृष्टि काशी के गृहों पर चिपकाए हुए एक विज्ञापन पर पड़ी। इस विज्ञापन में "सफेद दाग" का अर्थ कोष्ठ में "चरक" लिखा था (उत्तरप्रदेश के कुछ पूर्वी जिलों, तथा बिहार में शरीर पर उत्पन्न हुए सफेद दागों के लिये "चरक फूटना" का प्रयोग करते हैं) । उक्त विज्ञापन पर दृष्टि पड़ते ही मुझे यजुर्वेद के उक्त वचन का स्मरण हो आया, और तत्काल मन में विचार उत्पन्न हुआ कि कहीं यजुर्वेद के उक्त वचन में 'चरक' पद का अर्थ 'सफेद दाग' (=एक प्रकार का कुष्ठ) ही तो नहीं है ? मैंने इस सम्भावना की पुष्टि के लिये आयुर्वेद के ग्रन्थों को पलटा। उनमें कुष्ठ वा उसके किसी भेद का नाम 'चरक' नहीं मिला। परन्तु उनसे इतना अवश्य ज्ञात हुआ कि कुष्ठ की उत्पत्ति में "ब्रह्महत्या" भी एक कारण है। सुश्रुत (निदानस्थान २५।३५) में लिखा है—

ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः ।
कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य सम्भवम् ।।

चरक में भी—"विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम्" (चिकित्सा-स्थान ७।८) कारण का उल्लेख है।

इस प्रकार 'चरक' = सफेद दाग (=एक प्रकार का कुष्ठभेद) की उत्पत्ति का सम्बन्ध दुष्कृत कर्मों से स्पष्ट हो जाता है।

महाभारत अनुशासन पर्व ६।५१, तथा विष्णु आदि पुराणों के शाखा-प्रकरणों से ज्ञात होता है कि वैशम्पायन को किसी समय 'ब्रह्महत्या' का दोष लगा था। अतः सम्भव है, उसी ब्रह्महत्या-दोष से वैशम्पायन को कुष्ठरोग हुआ हो, और इसी कारण उसका नाम 'चरक' भी पड़ा हो।

गौतम धर्मसूत्र (अ० २०) में कहा है—'ब्रह्महा आर्द्रकुष्ठी'[1] । तदनुसार

१. यह पाठ 'भोर' प्रकाशित 'स्मृति-सन्दर्भ' नामक स्मृति-संग्रह के भाग ४ में मुद्रित 'गौतम स्मृति' में पृष्ठ १९०६ पर मिलता है। डा० वेदमित्र सम्पादित मस्करिभाष्यसहित "गौतम धर्मसूत्र' (सन् १९६९) में उक्त सम्पूर्ण बीसवां अध्याय नहीं मिलता। तुलना करो—गौतम धर्मसूत्र के इसी संस्करण के अन्त में पृष्ठ ४१४-४४० पर मुद्रित 'गौतमधर्मसूत्रे क्रियाकाण्डः' द्वितीय प्रश्न, अ० ४, सूत्र १— 'ब्रह्महा कुष्ठी स्यात्' (पृष्ठ ४२६) ।

वैशम्पायन को ब्रह्महत्या दोष के कारण गीला कुष्ठ=गलित कुष्ठ का रोग हुआ था, ऐसा जानना चाहिए। हमारे विचार में 'चरक" शब्द का मूल अर्थ भी "गलितकुष्ठ" ही है। चरक शब्द "चर गतिभक्षणयोः" धातु से बना है।कुष्ठों में गलितकुष्ठ ही ऐसा है, जो शरीर के अङ्गों का भक्षण करता है। इस प्रकार चरक (=गलित कुष्ठ)में चर धातु का भक्षण अर्थ भी अभिधा-वृत्ति से उत्पन्न हो जाता है। गलित कुष्ठ में प्रयुक्त'चरक'शब्द का कुष्ठत्व सामान्य[1] से श्वेत कुष्ठ में भी प्रयोग हो सकता है। सम्भव है इसीलिये लोक में 'सफेद दाग' के लिये 'चरक' शब्द का प्रयोग अभी तक होता है। अतः यजुर्वेद के "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" का अर्थ दुष्कृत कर्म के ज्ञान के लिए चरक=कुष्ठरोगियों में जो आचार्य=अतिशय कुष्ठी (=गलित कुष्ठी) को प्राप्त करे" अर्थात् गलितकुष्ठी की पीड़ा को देखकर इस बात का निश्चय करे कि दुष्कृत कर्मों के करने से ही ऐसे महारोगों की उत्पत्ति होती है।[2] धर्मशास्त्रों में सब से महान् दुष्कर्म ब्रह्महत्या को ही माना है।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचना के अनुसार "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" का अर्थ मेरी समझ में आ गया। परन्तु मुझे इतने से ही सन्तोष न हुआ। यह शङ्का बनी ही रही कि यदि वेद में इतिहास माननेवाले इस वचन का महीधरोक्त अर्थ ही उपस्थित करें, और उसमें पूर्वोक्त पौराणिक गाथा तथा शतपथ में उल्लिखित चरकमत प्रत्याख्यान का प्रमाण दें, तो उसका प्रामाणिक खण्डन किस प्रकार किया जाय?

---

१. सामान्य धर्म को लेकर मुख्य (=अभिधा) वृत्ति से अन्यार्थ में प्रयुक्त शब्द का अन्यार्थ में भी प्रयोग हो जाता है। इसके लिये निरुक्त (अ० २। ७।) में निर्दिष्ट—'पादः पद्यतेः, तन्निधानात् पदम्, पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः, प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि', 'पाद' शब्द के अर्थ देखने चाहियें।

२. इस अर्थ के लिये तुलना करो यजुर्वेद अ० ३० का 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम् [आलभते]' (=ब्रह्मज्ञान के लिये ब्राह्मण को प्राप्त करे) आदि सम्पूर्ण पुरुषमेध प्रकरण। पुरुषमेध शब्द का अर्थ है—"पुरुषाणां मेधा बुद्धिरुत्पद्यते येन स पुरुष-मेधः" (=जिससे पुरुषों को बुद्धि प्राप्त हो)। वस्तुतः पुरुषमेध यज्ञ एक प्रकार की प्रदर्शनी है, जिसमें संक्षेप से यह बताया जाता है कि किस से किस विषय का ज्ञान प्राप्त करे। ब्राह्मण आदि को यूप में बांधने का अभिप्राय उनको तत्तद्विषयकज्ञान की आसन्दी (कुर्सी, गद्दी) पर प्रतिष्ठित करना है।

लगभग ७-८ मास हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण का पारायण करते हुए उक्त समस्या का समाधान भी मिल गया। तैत्तिरीय ब्राह्मण के पुरुषमेध प्रकरण (३।४।१-१८) में भी 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' वचन उपलब्ध होता है (३।४।१६।१)। हम ऊपर लिख आये हैं कि तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रवक्ता तित्तिरि अपने ज्येष्ठ भ्राता वैशम्पायन अपर नाम 'चरक' का शिष्य था। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मणस्थ "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" का अर्थ "दुष्कृत देवता के लिये चरकों के गुरु को यूप में बांधे' कदापि सम्भव ही नहीं हो सकता। भला तित्तिरि अपने आचार्य को यूप में बांधने का उल्लेख कैसे कर सकता है?

यहां एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है कि पुरुषमेध यज्ञ का विधान चरक = वैशम्पायन से बहुत प्राचीन है। तब भला "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" में चरकों के गुरु का उल्लेख कैसे हो सकता है? पुरुषमेध के अनुष्ठान का आरम्भ, वा यजुर्वेद की शुक्ल कृष्ण शाखाओं में 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' का सन्निवेश आचार्य वैशम्पायन काल में ही हुआ हो, इसमें कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। इससे भी महीधरोक्त अर्थ सर्वदा अशुद्ध ठहरता है।

भटभास्कर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण की व्याख्या में उक्त वचन का अर्थ इस प्रकार किया है—

"दुष्कृताय दुःखेन करणाय चरकाचार्यं वंशनर्तनस्य शिक्षयितारम्" ॥

अर्थात्—दुःख से करने योग्य कर्म के लिये वंशनर्तन (=बांस पर चढ़ कर नाचने) के सिखानेवाले का आलम्भन करे॥

भट्टभास्कर ने इस प्रकरण के आरम्भ (तै० ब्रा० ३।४।१) में लिखा है—"चतुर्थ्यन्ता देवताः, द्वितीयान्ताः पशवः" अर्थात् इस प्रकरण में चतुर्थ्यन्त पद देवतावाची हैं, और द्वितीयान्त पशुवाची। तदनुसार "दुष्कृताय" का अर्थ "दुष्कृताभिमानी देवता के लिये" ऐसा होना चाहिये। परन्तु भट्टभास्कर की "दुष्कृताय दुःखेन करणाय" व्याख्या में किसी देवता की ध्वनि प्रतीत नहीं होती[1]। अतः भट्टभास्कर का अर्थ महीधर के अर्थ की अपेक्षा अच्छा होता हुआ भी स्ववचन-विरोधदोषदूषित है।

---

१. भट्टभास्कर ने सारे ही प्रकरण का अर्थ ऐसा ही किया है। यथा—'ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसाय ब्राह्मणम्, .. क्षत्राय क्षतात् त्राणकाय बलाय राजन्यम् ......" यहां स्पष्ट ही ब्रह्मवर्चस् बल आदि शब्द गुणवाची हैं। यदि

सायण ने इस दोष से बचने के लिये "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" का अर्थ "दुष्कृताय दुर्घटकार्यकरणायाभिमानिने चरकाचार्यं वंशाग्रनर्तनस्य शिक्षयितारम्" ऐसा किया है।

यहां यह भी ध्यान रहे कि मीमांसा के अनुषङ्गाधिकरण[1] के अनुसार तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१-१९) के सम्पूर्ण प्रकरण में प्रथम वाक्य "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते" में श्रूयमाण 'आलभते' क्रिया[2] का सम्बन्ध प्रकरणोक्त सब वाक्यों के साथ है। आधुनिक मीमांसक याज्ञिक तथा वेदभाष्यकार 'आलभते' का अर्थ संज्ञपन (=मारना) करते हैं, परन्तु यह अर्थ इस प्रकरण में सम्भव ही नहीं। क्योंकि याज्ञिकों के मतानुसार पुरुषमेध में ब्राह्मण आदि पशुओं[3] का संज्ञपन नहीं होता। भट्टभास्कर ने भी इस प्रकरण के आरम्भ (तै० ब्रा० ३।४।१) में स्पष्ट लिखा है—"ते च पर्यग्निकृता उत्सृज्यन्ते" अर्थात् ब्राह्मणादि (पशुरूप हव्य पदार्थों) के चारों ओर प्रदीप्त अङ्गारों की प्रद-

---

भट्टभास्कर का अभिप्राय यहां "या तेनोच्यते सा देवता" (ऋक्सर्वा०) के अनुसार बलादि ही देवता हैं, तब तो ठीक है। यदि उसे यहां अभिमानी देवता अभिप्रेत है, तो उसे स्पष्ट लिखना चाहिए था। सायण ने तो इस प्रकरण में स्पष्ट ही अभिमानी देवता का निर्देश किया है। वस्तुतः अभिमानी देवता की कल्पना भी अर्वाचीन आचार्यों द्वारा ही सृष्ट हुई है। प्राचीन आचार्य "अचेतनेषु चेतनवत्' अर्थात् अचेतन में चेतनवद् व्यवहार औपचारिक (= गौण) मानते थे। इसी नियम से ही 'शृणोत ग्रावाणः" आदि वैदिक वाक्यों का सामञ्जस्य उपपन्न हो जाता है। उसके लिये अभिमानी देवता की कल्पना की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

१. अनुषङ्गो वा वाक्यसमाप्तिः, सर्वेषु तुल्ययोगित्वात्। २।१।४८॥

२. यजुर्वेद में 'आलभते' क्रिया प्रथम वाक्य में प्रयुक्त न होकर अन्तिम वाक्य (३०।२२) में प्रयुक्त हुई है।

३. 'पशु' शब्द का प्रयोग मनुष्यों के लिये भी होता है। देखो—अथर्ववेद का "वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपा पशवो जायमानाः" (१४।२।२५) नई वधू के आशीर्वाद में प्रयुक्त मन्त्र।

पशुयज्ञों में आलंभन के सम्बन्ध में पूर्व पृष्ठ ८३-८६ देखें।

क्षिणारूपी[1] संस्कार करके उन्हें छोड़ दिया जाता है। ऐसा ही महीधर ने भी यजुर्वेद अ०३० के अन्त में लिखा है—"ब्राह्मणादीनां पर्यग्निकरणानन्तरमिदं ब्रह्मणे इदं क्षत्राय इत्येवं सर्वेषां यथास्वस्वदेवतोद्देशेन त्यागः। ततः सर्वान् ब्राह्मणादीन यूपेभ्यो विमुच्योत्सृजति।" इससे स्पष्ट है कि इस प्रकरण की 'आलभते' क्रिया का अर्थ यहां संज्ञपन=मारना कदापि नहीं हो सकता। संज्ञपन अर्थ तभी हो सकता है कि जब ब्राह्मणादि का पर्यग्निकरणानन्तर उत्सर्जन (=छोड़ना) न होकर उनका वध किया जाए। अस्तु!

हमें भट्टभास्कर और सायण की पूर्वोक्त व्याख्याओं से सन्तोष नहीं होता। इनकी व्याख्या में अप्रसिद्धार्थ-कल्पनारूपी महादोष है। लोक में या संस्कृत-वाङ्मय में 'चरक' शब्द का 'वंशाग्रनर्तन' अर्थ कहीं उपलब्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, 'वंशनर्तिन्' पद का इसी प्रकरण म आगे निर्देश उपलब्ध होता है—'अन्तरिक्षाय वंशनर्तिनम् (तै० ब्रा० ३।४।१।१७; शु०यजुः ३०।२१)।

यद्यपि भट्टभास्कर और सायण के अर्थ की उपपत्ति 'चर गतिभक्षणयोः' धातु के गत्यर्थ से कथंचित् हो सकती है, तथापि मीमांसा के "चोदितं तु प्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन" (१।३।१०) सूत्रोक्त पिकनेमाधिकरण अपरनाम म्लेच्छप्रसिद्धार्थप्रामाण्याधिकरण[2] के अनुसार वेदार्थ में केवल धात्वनुसार अर्थ

---

१. हविषामासमन्तात् प्रादक्षिण्येन उल्मुकस्य परिभ्रमणं पर्यग्निकरण-मित्युच्यते (श्रौतपदार्थनिर्वचन, पृष्ठ १८)।

२. अनेक ऐतिहासिक इस अधिकरण से वेद तथा वैदिक साहित्य में म्लेच्छ (=आर्येतर) भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मानते हैं। परन्तु यह उनका भ्रममात्र है। इस प्रकार के म्लेच्छ भाषाओं के समझे जानेवाले शब्द वस्तुतः संस्कृतभाषा के ही हैं (देखो—हमारा 'संस्कृतव्याकरणशास्त्र का इतिहास')। परन्तु संस्कृतभाषा के ह्रास के कारण आर्यों में इन शब्दों का प्रयोग लुप्त हो गया, और म्लेच्छभाषाओं में (जहां पहले संस्कृतभाषा बोली जाती थी) इनका प्रयोग होता रहा। अतः उनकी भाषा में प्रसिद्ध अर्थ स्वीकार कर ही लेना चाहिए। क्योंकि संसार की समस्त भाषाएं (इण्डो आर्यन परिवार से भिन्न मानी जानेवाली भी) संस्कृतभाषा से ही विकृत होकर उत्पन्न हुई हैं। इसलिये उनमें संस्कृत शब्द तथा उनके मूल अर्थ सुरक्षित रह सकते हैं। उदाहरण के लिये 'जङ्ग' शब्द को ही लीजिए। यह सम्प्रति फारसी भाषा का

की कल्पना करने की अपेक्षा म्लेच्छ (=अपभ्रंश) भाषाओं में प्रसिद्ध अर्थ को प्रमाण माना जाता है। तदनुसार "चरक" शब्द का भट्टभास्कर सायण आदि के काल्पनिक अर्थ की अपेक्षा उत्तर प्रदेश के कतिपय पूर्वी जिलों तथा बिहार की भाषा में प्रसिद्ध "सफेद दाग' अर्थ को स्वीकार करना अधिक युक्तिसंगत है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि "चरक" शब्द का मूल अर्थ गलित कुष्ठ ही है। उसका कुष्ठत्व सामान्य से श्वेत कुष्ठ में और श्वेतत्व सामान्य से "सफेद दाग" (जो आयुर्वेद के अनुसार क्षुद्र कुष्ठ है) अर्थ में प्रयोग होता है। इसी परम्परा से "चरक" के लोकप्रसिद्ध अर्थ की उपपत्ति होती है।

'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' का अन्यार्थ

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" का अर्थ यजुः ३०।१८ में "दुष्कृताय दुष्टाचाराय प्रवृत्तं चरकाणां भक्षकाणामाचार्यम्" किया है। आचार्यकृत यह अर्थ भी युक्त प्रतीत होता है। क्योंकि "भक्षकाणामाचार्यम्" का सामान्य अर्थ लोभी है। लोभी मनुष्य किसी भी प्रकार के दुष्टाचरण करने में संकोच नहीं करता। इसलिये आप्त पुरुषों ने कहा है— 'लोभश्चेदगुणेन किम्'। 'भक्षकाणामाचार्यम्' का दूसरा सीधासाधा अर्थ है— "पेटू", जिसे सदा उत्तम-उत्तम पदार्थों के खाने की ही इच्छा लगी रहती है।

शब्द माना जाता है, और इसका 'युद्ध' अर्थ में प्रयोग होता है (सब हिन्दी कोशकारों ने इसे फारसी भाषा का ही शब्द माना है)। परन्तु वास्तव में 'जङ्ग' शब्द संस्कृतभाषा का है, और इसका अर्थ भी युद्ध ही है। जङ्ग शब्द 'जजि युद्धे' धातु से घञ्प्रत्यय में बनता है। इसका निर्देश धातुप्रदीप पृष्ठ २५ में मिलता है। यह माना जा सकता है कि वर्तमान लोकभाषा में इसका पुनः प्रयोग मुसलमानी काल में फारसीभाषा से हुआ हो, परन्तु फारसीभाषा में यह शब्द संस्कृतभाषा से ही गया है। वर्तमान फारसी का पुराना रूप संस्कृतभाषा के बहुत निकट था (देखो—फारसी के विक्रमपूर्व के शिलालेख)। पारसियों की धर्मपुस्तक अवेस्ता की भाषा में तो ७५ प्रतिशत संस्कृत शब्द ही हैं। संस्कृतभाषा के भूले हुए, तथा आधुनिक भाषा के माने जानेवाले ऐसे शतशः शब्द हैं। इनके निदर्शन के लिए हमारा 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' देखना चाहिये। संस्कृतभाषा में से ऐसे शब्दों तथा उनके अर्थों का ह्रास किस प्रकार हुआ, इसका सविस्तर सप्रमाण निरूपण हमने इसी इतिहास के प्रथम अध्याय में किया है।

यदि ऐसा मनुष्य साधनहीन हो, तो फिर उसका कहना ही क्या? ऐसे मनुष्य की गति कैसी होगी, इसकी तुलना निम्न सुभाषित से की जा सकती है—

वानरस्य सुरापानं ततो वृश्चिकदंशनम् ।
तन्मध्ये भूतसंचारो यद्वा तद्वा भविष्यति ।।

इसीलिये आप्तपुरुषों का कथन है – "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्"= "भूखा क्या न करता" ।

अस्तु, कुछ भी हो । इस विवेचन से इतना तो अच्छे प्रकार सिद्ध हो गया कि "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" वाक्य में चरक=वैशम्पायन या चरक-शाखाध्यापक का उल्लेख नहीं है । "चरकाचार्यम्" पद भी इस प्रकरण में पढ़े ब्राह्मण राजन्य आदि शब्दों के समान किसी सामान्य अर्थ का वाचक है ।

हमने 'चरकाचार्यम्' पद का अर्थ "चरकों=कुष्ठरोगियों में जो आचार्य= अतिशय कुष्ठी" किया है । अर्थात् हमने षष्ठीसमास न मानकर सप्तमीसमास माना है । इसका कारण यह है कि षष्ठीसमास में 'समासस्य' (६।१।२२३) स्वरशास्त्र के अनुसार "चरकाचार्यम्" में अन्तोदात्त स्वर होना चाहिए, परन्तु यजुर्वेद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूर्वपदप्रकृतिस्वर उपलब्ध होता है । वह "तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमान०" (अष्टा० ६।२।२) इत्यादि नियम के अनुसार सप्तमीसमास में ही उपपन्न हो सकता है । दूसरे शब्दों में पूर्वपदप्रकृतिस्वर उपलब्ध होने के कारण 'चरकाचार्य' पद का विग्रह सप्तमी से ही दर्शाना चाहिए, षष्ठी से नहीं । इसलिये भट्टभास्कर तथा सायण का षष्ठी से विग्रह दर्शाना अशुद्ध है । यद्यपि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी "भक्षकाणामाचार्यम्" में षष्ठी से ही अर्थ दर्शाया है, तथापि उनके अर्थ में उक्त दोष उपस्थित नहीं होता । क्योंकि "भक्षकाणामाचार्यम्" में "निर्धारण" अर्थ स्पष्ट है । निर्धारण में षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियां (अष्टा० २।३।४१) होती हैं । न निर्धारणे (अष्टा० २।२।१०) के नियम से निर्धारण-षष्ठी का समास नहीं होता, अतः उनको यहां निर्धारणार्थ षष्ठी से अर्थमात्र दर्शाना अभीष्ट है । समास निर्धारणार्थक सप्तमी विभक्ति से ही होगा । यदि कोई कहे कि यह तो अगतिक-गति है, या क्लिष्ट कल्पना है, तो उसका यह कथन भी युक्त नहीं है । पदवाक्यप्रमाणज्ञ भगवान् पतञ्जलि ने भी ऐसे अनेक प्रयोग किये हैं, जहां अर्थनिर्देश किसी अन्य विभक्ति

से दर्शाया है, और समास किसी अन्यविभक्त्यन्त से होता है । यथा—धर्माय नियमः धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमः धर्मनियमः, धर्मप्रयोजनो वा नियमः धर्मनियमः (महाभाष्य प्रथमाह्निक) । महाभाष्यकार के चतुर्थी आदि से दर्शाये उक्त अर्थनिर्देश में षष्ठी से ही समास माना जाता है । अतएव इसकी व्याख्या करता हुआ कैयट लिखता है—"सम्बन्धसामान्ये तु षष्ठीं विधाय समासः कर्तव्यः, चतुर्थीसमासस्य प्रकृतिविकारभाव एव विधानात्[1] ।" अर्थात् पतञ्जलि के उक्त अर्थ-निर्देश में सम्बन्धार्थक षष्ठी से समास करना चाहिए। क्योंकि चतुर्थी-समास का विधान केवल प्रकृति-विकृति-भाव में ही किया है[2] । इसी प्रकार शबर स्वामी ने भी "अथातो धर्मजिज्ञासा" (मी० १।१।१।) के धर्मजिज्ञासा पद का अर्थ "धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा" दर्शाया है । इसी नियम के अनुसार स्वामी दयानन्द सरस्वती के "भक्षकाणामाचार्यम्" निर्देश में निर्धारणार्थक षष्ठी से अर्थ-प्रदर्शन और निर्धारणार्थक सप्तमी से समास मानने में कोई दोष नहीं रहता । यदि कहा जाय कि भट्टभास्कर और सायण के अर्थ में भी षष्ठी से अर्थप्रदर्शन और सप्तमी से समास माना जा सकता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं । सायण और भट्टभास्कर ने "वंशाग्रनर्तनस्य शिक्षयितारम्" ऐसा निर्देश किया है । वंशाग्रनर्तन में 'शिक्षयिता' के साथ सम्बन्धार्थ में ही षष्ठी हो सकती है, निर्धारणार्थ में नहीं । अस्तु,

चरकाचार्य पद का स्वर

हम पूर्व में लिख चुके हैं कि प्रकृत विचार्यमाण वाक्य शुक्लयजुर्वेद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में उपलब्ध होता है । शुक्लयजुः में (मा० ३०।१८; का० ३४।१८)चरकाचार्य पद पूर्वपदाद्युदात्त है । श्री पं० विश्वबन्धु जी शास्त्री ने अपने ब्राह्मणपदकोश में तैत्तिरीय ब्राह्मण के पूर्वपदमध्योदात्त स्वर को

---

१. देखो—महाभाष्य २।१।३५।।

२. महाभाष्यकार "विग्रह किसी से दर्शाना और कार्य किसी से करना" इस नियम का व्यवहार न केवल समासविषय तक ही सीमित मानते हैं,अपितु प्रत्ययोत्पत्ति में भी बहुधा इसी नियम का आश्रयण करते हैं । उन्होंने अनेक स्थानों में लिखा है—'**अवेर्मांसमिति विगृह्य अविकशब्दादुत्पत्तिर्भवति—आविकं मांसम्** ।' अर्थात् 'आविक' पद का विग्रह '**अवि**' शब्द से ही दर्शाया जाता है, परन्तु तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति '**अविक**' शब्द से ही होगी, अवि से नहीं ।

अशुद्ध बताया है (देखो भाग १, पृष्ठ ४१२ पादटिप्पणी) । हमारे विचार में उनका लेख ठीक नहीं है । तैत्तिरीय संहिता तथा उसके ब्राह्मण में ऋग्वेद के समान एक भी पाठान्तर उपलब्ध नहीं होता । अतः जैसा ऋग्वेद का परम्परागत पाठ प्रामाणिक है, वैसा ही तैत्तिरीय ब्राह्मण का पाठ भी प्रामाणिक है, क्योंकि दोनों का अध्ययन-सम्प्रदाय आज तक अविच्छिन्न चला आया है । यही कारण है कि इन दोनों में कहीं पर कोई पाठान्तर आज तक नहीं हुआ (अध्ययन-सम्प्रदाय के उच्छिन्न हो जाने से वैदिकग्रन्थों की पाठान्तरों के कारण कैसी दुर्दशा होती है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण अथर्ववेद है) । ऐसी अवस्था में तैत्तिरीय ब्राह्मण के स्वर को केवल इसी हेतु से अशुद्ध बताना कि उसका स्वर पाणिनीय अष्टाध्यायी के अनुकूल नहीं है, दुस्साहस का कार्य है । वैदिक ग्रन्थों में ऐसे अनेक वैकल्पिक स्वर हैं, जिनमें से एक पाणिनीय व्याकरणानुसार सिद्ध होता है, और दूसरा नहीं होता । अर्थात् उसमें व्यत्यय का आश्रयण करना होता है । यथा—

"नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च" । यह वचन माध्यन्दिन (१६।३८); काण्व (१८।३८); मैत्रायणी (२।६।७); तैत्तिरीय(४।५।७) ; तथा काठक (१७।१५)संहिताओं में उपलब्ध होता है । प्रथम तीन (माध्य० काण्व० मैत्रा०) संहिताओं में मेघ्य पद आद्युदात्त है, और अन्त की दो (तैत्ति० तथा काठक) संहिताओं में अन्तस्वरित है । पाणिनीय लक्षणानुसार 'मेघ्य' में "भवेच्छन्दसि" (अ० ४।४।११०) से यत् प्रत्यय होकर "यतोऽनावः" (अष्टा० ६।१।२१३) से आद्युदात्त स्वर सिद्ध होता है । यहां पर उत्सर्ग "तित्स्वरितम्" (अष्टा० ६।१।१८५) सूत्र की प्रवृत्ति को "यतोऽनावः" (अष्टा० ६।१।२१३) सूत्र अपवाद होने से बाध लेता है । काशिका ४।४।११० की व्याख्या में इस उदाहरण के विषय में हरदत्त लिखता है – "मेघ्यायेति—अत्र यतोऽनाव इत्याद्युदात्त्वं प्राप्नोति, अन्तस्वरितं चाधीयते" । जिस प्रकार श्री पं० विश्वबन्धु जी ने 'चरकाचार्य' पद के पूर्वपदाद्युदात्तत्व में "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" … [see note] "लि स्वर" (अष्टा० ६।१।१९३) को प्रमाण मानकर तैत्तिरीय ब्राह्मण के पूर्वपदमध्योदात्त (उत्सर्ग प्रत्यय) स्वर को अशुद्ध ठहराया है, उसी प्रकार हरदत्त ने मेघ्य शब्द में अपनी तैत्तिरीय संहिता के अन्तस्वरित को प्रामाणिक मानकर पाणिनीय "यतोऽनावः" सूत्र की अवहेलना की है । वस्तुतः दोनों ही भ्रान्ति में हैं । माध्यन्दिन, काण्व तथा मैत्रायणी संहिताओं में 'मेघ्य' शब्द आद्युदात्त उपलब्ध होता है, वह पाणिनि के "यतोऽनावः" सूत्र से यथावत् सिद्ध होता है । तैत्तिरीय और काठक संहिता में मेघ्य में अन्तस्वरित उपलब्ध होता है, व्याकरणानुसार वह कैसे निष्पन्न

हो सकता है, वह विवेचनीय है। "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति" नियम के अनुसार पाणिनीय लक्षण से साक्षात् असिद्ध स्वर की उपपत्ति कैसे होगी, यही विवेचनीय है, न कि अविच्छिन्नाध्ययन सम्प्रदायवाले वैदिक ग्रन्थों में उपलभ्यमान स्वर शुद्ध है या नहीं ? श्री पं० विश्वबन्धु जी भी वैयाकरणों के "दृष्टानुविधिश्छन्दसि भवति" नियम को मानते हैं, और उसी के अनुसार उन्होंने संहितापदकोश में अनेक स्थानों पर पाणिनीय व्याकरण से साक्षात् असिद्ध स्वरों को अशुद्ध न मानकर स्वरानुसार लक्षणों का उपसंख्यान दर्शाया है। तदनुसार उन्हें तैत्तिरीय ब्राह्मण के चरकाचार्य पद के पूर्वपदमध्योदात्तस्वर का उपसंख्यान दर्शाना उचित था, न कि उसको अशुद्ध बताना। इसी प्रकार हरदत्त का भी केवल स्वशाखा-स्वर के अनुसार ही 'मेघ्य' शब्द में 'यतोऽनाव:' सूत्र से प्राप्त आद्युदात्तस्वर की बाधा दर्शाना भी अनुचित है। उसने पाणिनीय लक्षण से सिद्ध आद्युदात्त मेघ्य पद, जो कि माध्यन्दिन काण्व तथा मैत्रायणी संहिताओं में पठित है, को देखा ही नहीं, और बिना देखे ही "दृष्टानुविधिश्छन्दसि" के नियमानुसार "यतोऽनाव:" सूत्र का बाध दर्शा दिया। अस्तु,

वस्तुत: श्री पं० विश्वबन्धुजी तथा हरदत्त जी के उपर्युक्त एक ही प्रकार के भ्रम में मुख्य कारण यही है कि उन्होंने पाणिनीय स्वरशास्त्र पर उतनी गहराई से विचार नहीं किया, जितना कि करना चाहिये था। स्वरशास्त्र में अपवादसूत्र उत्सर्गसूत्र को सदा ही सर्वत्र बाधें, यह आवश्यक नियम नहीं है। अर्थात् जैसे अभ्यासविकार में "अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते" के अनुसार अपवादसूत्र उत्सर्गों के सर्वथा बाधक नहीं होते, उसी प्रकार दृष्टप्रयोगस्वर के लिये कहीं-कहीं पर उत्सर्ग-सूत्र-विहित स्वर भी मानना पड़ता है।[1] बस इतना विचार कर लेने पर दोनों पदों में दोनों प्रकार के स्वर उपपन्न हो जाते हैं। यथा पूर्वपदाद्युदात्त चरकाचार्य पद के पूर्वपद में "लित्स्वर" (६।१।१६३) से चरक पद का आदि अच् उदात्त होता है, उसी प्रकार पूर्वपदमध्योदात्त चरकाचार्य पद के पूर्वपद में उत्सर्ग "आद्युदात्तश्च" (अष्टा० ३।१।३) सूत्र से प्रत्ययाद्युदात्तत्व होता है। इसी प्रकार

१. स्वर में तो यह नियम प्रायिक है। अन्यत्र भी **प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली** (रामा० ६।१४।३) में अकारान्त दशरथ शब्द से 'इञ्' (अ० ४।१।९५) न होकर अपत्यार्थक उत्सर्ग अण् प्रत्यय हुआ है। (द्र०— काशिका ४।१।९५)।

आद्युदात्त मेच्य शब्द "यतोऽनावः" (अष्टा ६।१।२१.) से सिद्ध होता है, और अन्तस्वरित "तित्स्वरितम्" (अष्टा० ६।१।१८५) इस उत्सर्ग सूत्र से निष्पन्न होता है।

यदि माननीय पण्डित जी इस नियम पर ध्यान देते, तो उन्हें न केवल चरकाचार्य पद में पूर्वपदमध्योदात्त स्वर को अशुद्ध कहने की आवश्यकता पड़ती, अपितु संहितापदकोष में पाणिनीय लक्षण से साक्षात् असिद्ध स्वरों के जो उपसंख्यान दर्शाए हैं, उनमें से अनेक उपसंख्यानों के दर्शाने की भी आवश्यकता न पड़ती। अस्तु,

हमारे इस सारे विवेचन का सार यही है कि यजुर्वेद (अ० ३०।१८) के "दुष्कृताय चरकाचार्यम्" वाक्य में 'चरक' शब्द से वैशम्पायन या चरक-शाखाध्येता किसी ऐतिहासिक व्यक्तिविशेष का उल्लेख नहीं है, इसलिये महीधर का अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। भट्टभास्कर तथा सायण के अर्थ में यद्यपि यह दोष नहीं है, परन्तु उसमें अन्य कई दोष हैं, अतः वह भी स्वीकार करने योग्य नहीं है। हमारे विचार में "चरक" पद का मुख्य अर्थ गलित या श्वेत कुष्ठ है, और उसके साहचर्य से कुष्ठी को भी चरक कहा गया है। ऋषि दयानन्द का अर्थ भी हमारी प्रदर्शित प्रक्रिया के अनुसार सर्वथा दोषरहित है। इस प्रकार यजुर्वेद के उक्त वाक्य में दोनों ही अर्थ उपपन्न हो सकते हैं। यजुर्वेद तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में चरकाचार्य पद में जो दो प्रकार के स्वर उपलब्ध होते हैं, वे दोनों ही शुद्ध हैं। दोनों ही व्याकरणानुसार निष्पन्न हो सकते हैं। केवल सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता है। इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु।।

——०——

दशमे मासि सूतवे

अर्थात्

बालक के गर्भवासकाल की मीमांसा

लोक में प्रायः देखा जाता है कि बालक का जन्म ९वें मास के उपरान्त दशम मास के प्रारम्भिक १० दिनों, अर्थात् २७०—२८० दिनों के मध्य में होता है। इस नियम में कभी-कभी वैपरीत्य भी देखा जाता है। कभी-कभी बालक सातवें आठवें मास में ही उत्पन्न हो जाता है, और कभी-कभी ११-१२ मास भी लग जाते हैं। उपर्युक्त नियत काल से पूर्व उत्पन्न होने का कारण रोग तथा आकस्मिक आघात आदि, और विलम्ब से उत्पन्न होने का कारण माता की निर्बलता या आहारादि की अप्राप्ति आदि माना जाता है[1]। परन्तु हमारे विचार में इस वैपरीत्य का एक और प्रधान कारण है, वह यह है कि २७० दिन से पूर्व ही बालक के गर्भकाल (१० मास) की अवधि का पूरा हो जाना, तथा २८० दिन के उपरान्त भी बालकों के गर्भवास-काल का पूरा न होना। ऐसे बालकों की उत्पत्ति की न्यूनतम अवधि २००—२१० दिनों के मध्य (लौकिक व्यवहारानुसार सप्तम मास) तक होती है। अधिकतम अवधि ३६० दिन (=१२ मास) तक। अर्थात् बालकों का गर्भवास का नियत काल पूरे दस मास का है। और वह दस मास का काल २०० से ३६० दिनों के मध्य में (माता की प्रकृति के अनुसार) जब भी पूरा हो जायगा, तभी बालक उत्पन्न होगा, और वह जीवित रहेगा।

पाठक हमारे लेख को पढ़कर चौकेंगे कि २०० से ३६० दिनों के मध्य का कोई भी काल **दस मास** कैसे कहा जा सकता है? परन्तु यह बात है सर्वथा सत्य, अर्थात् २०० दिनों में ही दस मास पूरे हो सकते हैं; और ३०० दिन

---

१. द्र०—बारह मास तक बालक की उत्पत्ति का कारण, चरक शारीर स्थान अ० २, श्लोक १५।

बीतने पर भी पूरे नहीं हो सकते। यह बात प्राचीन आर्षग्रन्थों तथा गणित के द्वारा निश्चित है।

हम इस लेख में यही दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि गर्भवास का पूरे **दस मास** का नियतकाल न्यून-से-न्यून २०० दिनों में ही कैसे पूरा हो जाता है, और ३०० दिनों के उपरान्त भी क्यों पूरा नहीं होता? तथा बालक बिना किसी रोग या आघातादि कारणों के २७० दिन से पूर्व, और बिना माता की निर्बलता आदि के ३६० दिनों तक क्यों उत्पन्न होता है?

ऋग्वेद (१०।१८४।३) का वचन है—**'दशमे मासि सूतवे'**। इसका साधारणतया अर्थ किया जाता है कि 'बालक दसवें मास में उत्पन्न होता है।' परन्तु हमारे विचार में इसका अर्थ होना चाहिये—'दस मास पूरे व्यतीत होने पर बालक उत्पन्न होता है' (इसकी विवेचना आगे की जाएगी)। इससे इतना स्पष्ट है कि वेद में बालक उत्पत्ति का समय पूरे दस मास कहा है।

चिकित्सकों का मत है कि स्त्री की शारीरिक अवस्था के ठीक होने पर २७ या २८ दिन में रजोदर्शन होता है, और ऐसी स्त्री को २७० से २८० दिनों के मध्य में प्रसव होता है। इस प्रकार यदि हम **'दशमे मासि सूतवे'** बचन में मास शब्द को दो रजोदर्शन के मध्यकाल का वाचक मान लें, तो २७×१०=२७० दिन, तथा २८×१०=२८० दिन की अवधि का न केवल पूर्ण सामञ्जस्य ही हो जाता है, अपितु हमारा किया अर्थ—'दस मास पूरे होने पर बालक उत्पन्न होता है'—भी युक्तिसंगत बन जाता है।

अब प्रश्न हो सकता है कि २७वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्री को २७० दिन में, और २८वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्री को २८० दिन में ही प्रसव होना चाहिये। तब २७०-२८०दिनों के मध्य में प्रसव कैसे होता है?

इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। यदि दो रजोदर्शनों के मध्य में पूरे २७ या २८ दिन का ही अन्तर रहता हो, तब तो यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न होती है। २७ दिन पूरे होने के अगले २४ घण्टों में जितने घंटे पश्चात् रजोदर्शन होगा, उनको भी १० से गुणा करने पर २७० से २८० दिनों के मध्य का काल उपपन्न हो जायगा। यथा—यदि किसी स्त्री को पहला रजोदर्शन १ ता० के प्रातः ८ बजे हुआ, और दूसरा रजोदर्शन २८ वीं तारीख को दिन १ बजे हुआ, अर्थात् २७ दिन ५ घंटेपश्चात् हुआ, तो उस काल को १० से गुणा करने पर २७२ दिन २ घंटे का काल उपलब्ध

होगा। इस प्रकार उक्त स्त्री को गर्भस्थितिकाल के ठीक २७२ दिन और २ घंटे पश्चात प्रसव होगा। यदि मिनट और सेकण्डों का भी पूरा-पूरा हिसाब उपलब्ध हो सके, तो प्रसव का पूर्ण निश्चित काल पहले ही बताया जा सकता है। यह शुद्ध गणित का विषय है। गणितानुसार उपलब्ध उत्तर कभी असत्य नहीं हो सकते। हां, गणित करने में पूरी सावधानता और सूक्ष्मता की आवश्यकता होती है।

सम्भव है, चिकित्सक महानुभाव मेरे इस गणित को कल्पनामात्र कहें, परन्तु मैंने स्वयं अपने दो बच्चों का जन्मकाल इसी गणित के अनुसार जान लिया था। एक बालक २७० दिन में हुआ था, और दूसरा २६२ दिन में। दोनों के प्रसवकाल में क्रमशः ४ घंटे और ढाई घंटे का अन्तर पड़ा था। अतः मुझे इस गणित पर पूर्ण विश्वास है। यदि मिनटों का भी पूरा ध्यान रखा जाता, तो उपर्युक्त अन्तर भी नहीं पड़ सकता था। हमारे इस गणित की उपपत्ति का आधार प्राचीन शास्त्र-वचन ही हैं। इससिये अब हम उन्हीं शास्त्रवचनों की मीमांसा करते हैं, जिनके आधार पर हम इस सिद्धान्त पर पहुंचे हैं।

'दशमे मासि सूतवे' वचन में **'मास'** शब्द का क्या अर्थ है? सब से पूर्व इसी पर विचार करना होगा। इस विषय की सारी समस्या 'मास' शब्द का वास्तविक अर्थ जान लेने पर स्वतः हल हो जाती है।

'मास' शब्द का मुख्य अर्थ है—'कालमापक'। इसी मुख्यार्थ को लेकर लोक में विभिन्न प्रकार की काल की अवधि के लिये मास शब्द का व्यवहार होता है। यथा—

१—सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि में प्रवेश करने की अवधि मास शब्द से कही जाती है, चाहे वह अवधि न्यूनतम २८ दिन की हो, या अधिकतम ३२ दिन की। इस काल का सम्बन्ध सूर्य के राशि-संक्रमण के साथ होने से यह मास लोक में **'सौरमास'** के नाम से प्रसिद्ध है।

२—किसी पूर्णिमा के अनन्तर (प्रतिपद् के प्रारम्भ से) दूसरी पूर्णिमा के अन्त तक (गुजराती पञ्चाङ्गानुसार अमावास्योत्तर प्रतिपद् से दूसरी अमावस्या के अन्त तक) का काल 'मास' कहाता है। चाहे इस अवधि में ३० दिन हों या २६ (कभी-कभी २७ दिन भी हो जाते हैं)। चन्द्र की गति के साथ इस काल का सम्बन्ध होने से यह **'चान्द्रमास'** कहाता है।

३—ईसवी सन् के मासों की न्यूनतम अवधि २८ दिन, और अधिकतम ३१ दिन की मानी जाती है।

इस विवेचना से सिद्ध है कि किसी भी प्रकार के लोकप्रसिद्ध मास में दिनों की नियत संख्या नहीं है। अर्थात् दिनों के न्यूनाधिक होने पर भी किसी विशेष नियम से काल का मापक काल की अवधि को बतानेवाला वर्ष का १२वां अंश लोक में 'मास' शब्द से कहा जाता है।

इसी नियम के अनुसार स्त्रियों के दो रजोदर्शनों के मध्यकाल की अवधि भी '**मास**' शब्द से व्यवहृत होती है। अतएव स्त्री-भेद से रजोदर्शन के नियतकाल (२७-२८ दिन) से न्यूनाधिक दिनों में होनेवाले रजोदर्शन के लिये '**मासिक धर्म**' शब्द का व्यवहार होता है। यदि कोई कहे कि नियतकाल (२७-२८ दिन) से न्यूनाधिक काल में होनेवाले रजोदर्शन के लिये '**मासिक धर्म**' शब्द का व्यवहार गौणीवृत्ति से होता है, तो यह भी ठीक नहीं। हम अनुपद ही बतायेंगे कि धर्मशास्त्र में २१ से २७ दिन के मध्य में होनेवाले रजोदर्शन को 'कालोत्पन्न' कहा है। अतः २१—३६ दिन के मध्य में किसी भी दिन होनेवाले रजोदर्शन के लिये '**मासिक धर्म**' शब्द का व्यवहार होता है। यदि मास शब्द का मुख्यार्थक ३० दिन माना जाय, तब तो लोक में जहां-जहां मास शब्द का व्यवहार होगा, वह सब गौणीवृत्ति से मानना होगा। हमारे विचार में नियत ३० दिन के लिये मास शब्द का लोक में कहीं व्यवहार नही होता। अस्तु, जब मास शब्द मुख्यार्थ (३०) में प्रयोग ही नहीं होता, तब गौण प्रयोग की उपपत्ति कैसे होगी?

इस विवेचना से स्पष्ट है कि मास शब्द किन्हीं भी दो नियत अवधि के मध्यवर्ती काल का वाचक है। यही उसका मुख्यार्थ है, और इसी मुख्यार्थ को लेकर इसका लोक में विविधरूपों में प्रयोग होता है। हमारे इस प्रकृत विचार में मास शब्द का मुख्यार्थ है—दो रजोदर्शनों के मध्य का काल। वह चाहे दिनों की संख्या से कितना ही न्यूनाधिक क्यों न हो।

अब हम इस बात की विवेचना करेंगे कि बालक उपर्युक्त नियम मानी जानेवाली २७०—२८० दिन की अवधि से पूर्व और पश्चात् क्यों उत्पन्न होता है, और उस न्यूनाधिक काल में १० मास की अवधि कैसे पूरी होती है।

आयुर्वेद के अनुसार शुद्ध रजोदर्शन का काल २७,२८ दिन का है। इससे न्यूनाधिक दिनों में होनेवाला रजोदर्शन वैकारिक कहाता है। उसमें प्रायः गर्भस्थिति की सम्भावना नहीं मानी जाती। गर्भ सर्वथा ही न रहता हो, ऐसी

बात भी नहीं है। न्यूनाधिककाल में रजोदर्शन होने पर भी कभी कभी गर्भ की स्थिति हो जाती है, बालक भी स्वस्थ तथा दीर्घायु होते हैं। इस प्रकार दो रजोदर्शनों में न्यून-से-न्यून तथा अधिक-से-अधिक कितने दिनों का अन्तर होने पर भी गर्भ-स्थिति हो सकती है, इसका साक्षात् विवेचन मुझे किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थ में नहीं मिला (जहां तक मैंने देखा है)। धर्मशास्त्रों के अध्ययन से इस विषय पर कुछ प्रकाश पड़ता है। तदनुसार दो रजोदर्शनों के मध्य में न्यूनातिन्यून १९ दिन का अन्तर होने तक गर्भ-स्थिति की सम्भावना मानी जाती है, उससे न्यून होने पर गर्भ सर्वथा नहीं रहता।

धर्मशास्त्रों के अशौच-प्रकरण में रजोदर्शन-सम्बन्धी शुद्धि की भी विवेचना की है। अङ्गिरा स्मृति (१।१२७) में लिखा है—

आद्वादशाहान्नारीणां मूत्रवच्छौचमिष्यते ।
अष्टादशाहात् स्नानं स्यात् त्रिरात्रं परतोऽशुचिः ।।

अर्थात् प्रथम रजोदर्शन के १२वें दिन तक रजोदर्शन होने पर मूत्रवत् अर्थात् जलस्पर्शमात्र से शुद्धि होती है, और १८वें दिन तक स्नानमात्र से। १८ दिन के अनन्तर तीन रात के पश्चात् शुद्धि होती है ।।

पराशर माधवीय, भाग ३, पृष्ठ १६५ में किसी धर्मशास्त्र का निम्न वचन उद्धृत है—

अष्टादशदिनादूर्ध्वं स्नानप्रभृतिसंख्यया ।
यद् रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्नमिष्यते ।।

अर्थात् पूर्व रजोदर्शन के स्नान के अनन्तर १८दिन के बाद जो रजोदर्शन हो, वह कालोत्पन्न अर्थात् स्वाभाविक कहा जाता है ।।

इसी प्रसंग में माधवाचार्य ने (पराशरमाधवीय, भाग ३, पृष्ठ १६६ में) लिखा है—

'यस्याः कस्याश्चिद् धातुस्वभावविशेषाद् विंशतिरात्रादिकः कालविशेषः प्रतिनियतो भवति [स कालोत्पन्न इष्यते]।'

अर्थात् जिस स्त्री को स्वभाव से प्रथम रजोदर्शन दिन के २० वें या उसके बाद जो रजोदर्शन होता है, वह कालोत्पन्न कहलाता है ।।

इसे **'कालोत्पन्न'** कहने से विदित होता है कि न्यूनातिन्यून १९ दिन के बाद जो स्वाभाविक रजोदर्शन होगा, उसमें गर्भस्थिति होगी। अङ्गिरा मुनि

के मत में १८वें दिन के पश्चात् रजोदर्शन होने पर **तीन रात राजस्वला के लिये शास्त्रविहित नियमों का पालन करना होता है**। इन नियमों का उल्लेख धर्मशास्त्र और चिकित्साशास्त्र समान रूप से करते हैं। और इन नियमों का उल्लङ्घन करने से गर्भ में क्या-क्या विकृतियां होती हैं, इसका स्पष्ट निर्देश करते हैं (देखो—सुश्रुत शारीर स्थान २।२१)। इसलिये १८ दिन या २१ दिन के पश्चात् होनेवाले रजोदर्शन की तीन रात में शुद्धि का विधान करना, अर्थात् तीन रात तक राजस्वला के नियम-पालन का आदेश देना, इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि इस अवधि के रजोदर्शन में गर्भस्थिति हो सकती है। और १६ दिन से न्यून दिनों में रजोदर्शन होने पर गर्भस्थिति की कुछ भी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों के उपर्युक्त वचनों से सिद्ध होता है कि **गर्भस्थिति के योग्य रजोदर्शन की अल्पतम अवधि १६ दिन की है।**

गर्भस्थिति के योग्य रजोदर्शन की अधिकतम अवधि कितनी है, इसका निर्देश न आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है, और न धर्मशास्त्रों में। परन्तु **रक्त-गुल्मचिकित्सा-प्रकरण** से विदित होता है कि गर्भस्थिति-योग्य रजोदर्शन की अधिकतम अवधि ३६ दिन की है।

चरक तथा सुश्रुत में रक्तगुल्म की चिकित्सा में कहा है—

स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः।

चरकचिकित्सा० ५।१८॥

सुश्रुत में दस मास की सीमा न बांधकर सामान्यतया कहा है -

भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनां, तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्यम्।
असृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः ॥ उत्तर तन्त्र ४२।१४॥

अर्थात् रक्तगुल्म रोग में अनेक लक्षण गर्भिणी के होते हैं। अतः उसकी चिकित्सा गर्भकाल के व्यतीत होने पर करनी चाहिये॥

गर्भिणी और रक्तगुल्मिनी के कुछ लक्षणों की भिन्नता होने पर भी अनेक लक्षणों में समानता होती है। कभी भूल से गर्भिणी को रक्तगुल्मिनी समझ कर उसके भ्रूण की हत्या न हो जाय, इसलिये गर्भकाल तक रक्तगुल्मिनी की चिकित्सा वर्जित है।

चरक-शारीर स्थान अ० २, श्लोक १५ के अनुसार कभी-कभी बालक की उत्पत्ति एक वर्ष (=१२ मास) में भी होती है। अतः रक्तगुल्मिनी की चिकित्सा सामान्यतया गर्भकाल=१० मास व्यतीत होने पर (क्योंकि प्रायः

बालक ९ मास १० दिन तक उत्पन्न होते हैं), तथा विशेष संदेहावसर पर १२ मास के अनन्तर करनी चाहिये, ऐसा चिकित्सकों का मत है।

इससे यह व्यक्त है कि १२ मास के ३६० दिनों में १० को भाग देने से ३६ दिन की रजोदर्शन की वह अधिकतम अवधि निकलती है, जिसमें गर्भ-स्थिति की सम्भावना हो सकती है।

इसकी उपपत्ति एक अन्य प्रकार से भी की जा सकती है। जब शुद्ध रजोदर्शनकाल (२७, २८ दिन) से ८ या ९ दिन पूर्व तक रजोदर्शन होने पर गर्भस्थिति की सम्भावना धर्मशास्त्रकारों ने मानी है, तब २७, २८ दिन से ९ या ८ दिन के बाद तक होनेवाले रजोदर्शन में भी गर्भस्थिति की सम्भावना मानी जा सकती है।

अब केवल एक ही प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह है कि किस स्त्री को जितने दिनों में रजोदर्शन होता है, उसका उतने दिनों का एक मास मानकर तदनुसार १० मास में बालक का जन्म क्यों होता है, अर्थात् ९ मास (२७० दिन) से पूर्व ही बालक प्रसवयोग्य पूर्ण कैसे हो जाता है?

इसके समाधान के लिये आवश्यक है कि स्वस्थ स्त्री को २७—२८ दिन से पूर्व तथा पश्चात् रजोदर्शन क्यों होता है? इस पर विचार कर लिया जाय।

जिस स्त्री की प्रकृति पित्तप्रधान होती है, या शरीर में रक्त की अधिकता होती है, उस स्त्री को २७-२८ दिन से पूर्व ही रजोदर्शन हो जाता है। तथा जिस स्त्री की प्रकृति कफप्रधान होती है या शरीर में रक्त की न्यूनता होती है, उसको २७—२८ दिनों के पश्चात् रजोदर्शन होता है।

अतएव माधवाचार्य ने लिखा है—

'यस्याः कस्याश्चिद् धातुस्वभावविशेषाद् विंशतिरात्रादिकः कालविशेषः प्रतिनियतो भवति [स कालोत्पन्न इष्यते]'। पराशरमाधवीय भाग ३, पृष्ठ १६६॥

इसमें **'धातुस्वभावविशेषात्'** पद ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त यदि किसी स्त्री को रोगविशेष या द्रव्यविशेष के भक्षण से न्यूनाधिककाल में रजोदर्शन होता है, तो वह वैकारिक कहा जाता है (द्र०—पराशरमाधवीय भाग ३, पृष्ठ १६५, १६६)। यदि यह वैकारिक रजोदर्शन भी अत्यधिक दूषित न हो, तो वैकारिक रजोदर्शन की अवस्था में भी गर्भ रह जाता है। यद्यपि यहां

हमें इसके विषय में विचार नहीं करना है, तथापि वैकारिक रज के कारण भी बालकों की उत्पत्ति न्यूनाधिक काल में हो सकती है।

अब केवल इस बात का उत्तर देना शेष है कि स्वाभाविक रूप से न्यूनाधिककाल में रजस्वला होनेवाली स्त्री का गर्भ उसी अनुपात से न्यूनाधिक काल में कैसे पूर्ण होता है ?

लोक में स्पष्ट देखा जाता है कि अत्युष्ण और अतिशीत देश के निवासियों में बाल युवा आदि के लक्षणोत्पत्ति तथा शरीर-संस्थान में भिन्नता होती है। अत्युष्ण प्रदेश के बालक में युवावस्था के लक्षण शीतप्रधान देश के बालक की अपेक्षा शीघ्र प्रकट होते हैं। और शीतप्रधान देश के बालक में कुछ विलम्ब से होते हैं। यतः उष्णप्रधान देश के बालकों की युवावस्था का आरम्भ शीघ्र होता है, इस कारण उनका शरीर भी उतना नहीं बढ़ पाता, जितना शीतप्रधान देश के बालकों का बढ़ता है; क्योंकि उन्हें शरीर-वृद्धि के लिये उतना समय ही नहीं मिलता। यह प्रत्येक किसान जानता है कि जिस खेत में अन्न उचितकाल की अपेक्षा विलम्ब से बोया जाता है, उसके अन्न को परिपाक के लिये पूरा समय न मिलने से पौधे अपेक्षाकृत छोटे रह जाते हैं, और उपज न्यून होती है। इसी प्रकार उष्णप्रधान देश की कन्या शीतप्रधान देश की कन्या की अपेक्षा कुछ काल पूर्व ही रजस्वला हो जाती हैं।

जिस प्रकार उष्णता और शीतता का प्रभाव मनुष्यों पर पड़ता है, वैसा ही वहां की वनस्पतियों पर भी देखा जाता है। हिमाच्छादित प्रदेश में बोया गेहूं वैशाख या ज्येष्ठ मास में जाकर पकता है। इसलिये जैसा बाह्य उष्णता या शीतता का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर पड़ता है, उसी प्रकार गर्भगत बालक के शरीर की रचना पर भी माता की पित्तप्रधान या कफप्रधान प्रकृति का प्रभाव पड़ता है।

इस विवेचना से स्पष्ट है कि जिस स्त्री को पित्तप्रधान होने के कारण रजोदर्शन जितना शीघ्र होगा, उतना ही गर्भगत बालक के शरीर की रचना तथा पूर्णता में शीघ्रता होगी। इसी प्रकार कफप्रधान प्रकृतिवाली स्त्री को जितने दिन पश्चात् रजोदर्शन होता है, उतना ही अधिक काल उसके गर्भगत बालक के शरीर की रचना तथा पूर्णता में लगता है। यह बात अन्य लौकिक दृष्टान्त से भी समझायी जा सकती है। दो बिभिन्न चूल्हों पर तवे पर रोटियां डालने पर दोनों में से जिस चूल्हे की अग्नि जितनी तेज होगी, उसकी रोटी पकने में उतना ही काल कम लगेगा।

इस नियम के अनुसार जिस स्त्री को प्रायः जितने दिनों में रजोदर्शन होता है, उतने दिनों का एक महीना मानकर उसे दस से गुणा करने पर जितने दिन उपलब्ध होंगे, उतने ही दिनों में उसके बालक का प्रसव होगा। इसलिये जिस स्त्री को बीस दिन में रजोदर्शन होता है, उसके गर्भस्थिति के २०० दिन (छः मास बीस दिन) पश्चात् जो प्रसव होगा, वह कालोत्पन्न होगा।

इसी दृष्टि से धर्मशास्त्रकारों ने **गर्भपात की अवधि षष्ठ मास** तक ही मानी है। यथा—

'आचतुर्थाद् भवेत्स्रावः, पातः पञ्चमषष्ठयोः।'

इस मीमांसा से यह भली प्रकार सिद्ध हो गया कि गर्भकाल की अवधि **पूर्ण दस मास** है। इसीलिये भगवती श्रुति ने कहा है—**'दशमे मासि सूतवे'**।

परन्तु इस दस मास की अवधि की गणना लौकिक मास से नहीं करनी चाहिए, अपितु स्वस्थ स्त्री के दो रजोदर्शनों के मध्य में जितने दिनों का प्रायः अन्तर होता है, उसे एक मास मानकर दस मास की गणना करनी चाहिये। इस प्रकार यदि दिन घण्टे और मिनटों की भी पूरी-पूरी गणना करके उसे दस से गुणा किया जाय, तो प्रसवकाल की निश्चित अवधि का ज्ञान हो सकता है।

यहाँ यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये कि जो बालक गर्भ में जितने दिन कम रहेगा, वह उतना ही निर्बल और ह्रस्वकाय होगा। तथा जो बालक गर्भ में जितने दिन अधिक रहेगा, वह उतना ही पुष्ट होगा। परन्तु यह नियम स्वस्थ स्त्री के विषय में है। अस्वस्थ होने से या उचित खानपान न मिलने से अधिक काल में प्रसूत बालक भी निर्बल होता है। इसी प्रकार स्त्री के निर्बल या खान-पान की उचित व्यवस्था न होने से जो बालक नियमानुसार सप्तम मास में होगा, वह उचित मर्यादा से अधिक निर्बल होने के कारण उसी समय वा कुछ काल बाद मर जायगा।

इसी प्रसंग में हम अन्त में विद्वानों का ध्यान एक और बात की ओर आकृष्ट करके इस लेख को समाप्त करते हैं।

कालगणना में सौर तथा चान्द्र मास और वर्ष का व्यवहार तो लोक-प्रसिद्ध है ही, परन्तु प्राचीनकाल में एक **'मानुष मास'** और **'मानुष वर्ष'** का भी प्रयोग होता था। मैं चिरकाल तक नहीं समझ पाया कि यह मानुष वर्ष क्या है? परन्तु वायुपुराण के कतिपय श्लोकों से यह ग्रन्थी भी सुलझ गई। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले ।
सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम् ।।
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम् ।।
वायु पु० अध्याय ६, श्लोक ४१६ ।।

त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः ।
त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षिवत्सरः ।। अध्याय ५७,श्लोक १७ ।।

इन श्लोकों में सप्तर्षि-युग की **दिव्य** और **मानुष** वर्ष से गणना दिखलायी है । अर्थात् एक सप्तर्षि-युग में **सत्ताईस सौ (२७००) दिव्य वर्ष** वा **तीस सौ तीस (३०३०) मानुष वर्ष होते हैं ।**

पुराणों तथा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में जहां कहीं दिव्य वर्ष का प्रयोग हुआ है, वह सौर वर्ष ही है, यह भी इसी श्लोक से व्यक्त है । ज्योतिष-शास्त्र के अनुसार सप्तर्षि युग सत्ताईस सौ वर्षों का ही माना गया हैं, उसे ही प्रथम श्लोक में **दिव्य** पद से विशेषित किया है । अतः **दिव्य वर्ष** और **सौर वर्ष** पर्यायवाची हैं ।।

उपर्युक्त श्लोकों में दिखलाई गयी **दिव्य=सौर** और **मानुष वर्षों** कीसंख्या की तुलना करने पर **मानुष-वर्ष तीन सौ पच्चीस दिन पांच घंटे छप्पन मिनट २६ सेकंड** (अर्थात् लगभग तीन सौ पच्चीस दिन और छः घण्टे)का ठहरता है । यदि इस काल को बारह से भाग किया जाय तो **एक मानुष मास सत्ताईस दिन दो घंटे २६ मिनट ४२सेकंड** के बराबर होता है ।

उक्त मानुष-मास की स्वस्थ स्त्री के उचित समय पर होनेवाले रजोदर्शन-काल से समानता है । इस समानता से यह भी स्पष्ट हो गया कि मानुष-मास की गणना स्वस्थ स्त्री के उचित काल में होनेवाले दो रजोदर्शनों के मध्यवर्ती काल के आधार पर ही की गयी है । इसलिये **दिव्य**=सौर वर्ष का सम्बन्ध **सूर्य** (=द्युलोक) के साथ है, और **चान्द्र वर्ष** का सम्बन्ध चन्द्र (=पितृलोक) के साथ है । उसी प्रकार **मानुष वर्ष** का सम्बन्ध मनुष्य-जाति-अन्तर्गत स्त्री-जाति में समय पर होनेवाली स्वाभाविक मासिक रजोदर्शन रूप घटना के साथ है । अतएव यह रजःप्रवर्तन उपलक्षित काल **मानुष मास** और उसका द्वादशगुणा काल मानुष वर्ष कहाता है ।

उक्त मानुष मास में दस का गुणा करने पर लगभग दो सौ बहत्तर दिन का काल होता है । यह सामान्यतया माने जानेवाले गर्भ-काल से भी मिल जाता है ।

इस मीमांसा से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुति के **'दशमे मासि सूतवे'** वचन में पूर्ण सत्यता है। वेद में जितना भी ज्ञान दिया है, वह सब सामान्य धर्म को मानकर दिया है। अतएव मीमांसादर्शन में लिखा है—

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ।। अ० १, पाद १, सूत्र ३१।।

जब भी हम किसी श्रुतिवचन की मीमांसा किसी लोकप्रसिद्ध या रूढ़ि को मानकर करते हैं, तभी उसमें पदे-पदे कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं, और श्रुति-वचन की तथ्यता भी समझ में नहीं आती[1]। **इसलिये वेद के पदों का यौगिक प्रक्रिया के अनुसार ही अर्थ करना चाहिये। यही प्राचीन आचार्यों का सर्वसम्मत सिद्धान्त है।**

वेद के **'दशमे मासि सूतवे'** वचन को आधार मानकर की गई 'बालक के गर्भवासकाल की मीमांसा' लेख से पाठकों को अवश्य ही कुछ लाभ प्राप्त होगा। इत्यलं बुद्धिमद्वर्येषु ।।

———०———

१. इसी प्रकार के **'दुष्कृताय चरकाचार्यम्'** (यजु० ३०।१८) श्रुति वचन की मीमांसा पूर्व लेख में की गई है। लेखक—

अगले लेख के सम्बन्ध में

आगे मुद्रित होनेवाला 'शरीर में आत्मा का वेद-प्रतिपादित निवास-स्थान' शीर्षक लेख मूलत: 'वेदवाणी' पत्रिका (काशी) वर्ष ६ अङ्क १, वि० सं० २०१० मास कार्तिक के विशेषाङ्क में स्वल्प शीर्षकभेद से छपा था। यही परिष्कृत होकर 'सरस्वती' पत्रिका के मई १९५९ के अङ्क में मुद्रित हुआ था। उसे ही यहां पुन: परिष्कृत एवं परिवर्धित करके छाप रहे हैं। लेख का प्रधान आधार अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त २ मन्त्र ३१-३३ हैं। इनमें उल्लिखित **त्र्यर त्रिप्रतिष्ठित हिरण्यय कोशरूप** स्थान का निश्चय प्रधानतया भिषक्प्रवर श्री गणनाथसेन के **सचित्र प्रत्यक्ष शारीर** ग्रन्थ के आधार पर किया है। कुछ अपने चञ्चुप्रवेश-मात्र आयुर्वेद के ग्रन्थों के ज्ञान पर आश्रित है। दिसम्बर १९६४ की 'आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका' में पीयूषपाणि श्री स्वामी कृष्णानन्द जी कालेड़ा, कृष्णगोपाल फार्मेसी (अजमेर) का एक लेख **'ओज–सेरिब्रोस्पाइनल फ्लूड'** शीर्षक से छपा है। उसमें ओजस्तत्त्व के विवरण के प्रसंग में ओजस्तत्त्व के आधारभूत **हृदय** का भी वर्णन किया गया है। अत: उक्त लेख से स्वलेखोपयोगी अंश हम स्वकीय लेख के पश्चात् श्री स्वामी जी के नाम से ही दे रहे हैं। इसी लेख के अन्त में लिखा है–

'विशेष विचार—"आत्मा का निवासस्थान हृदयप्रदेश" शीर्षक लेख, जो आयुर्वेद के प्रमाणों के सहित प्रकाशित होगा, उसमें किया जायगा।'

यह लेख हमारी दृष्टि में नहीं आया। यहां श्री स्वामी जी के लेख का जो अंश हम छाप रहे हैं, उसमें बृहदारण्यक (४।२।३) का वचन विशेषरूप से विवेचनीय है।

—लेखक

वेद-प्रतिपादित शरीर में आत्मा का निवास-स्थान

जो व्यक्ति आत्मा को उत्पत्तिविनाशधर्मा मानते हैं, अर्थात् शरीर के अतिरिक्त किसी नित्य पदार्थ को स्वीकार नहीं करते[1], उनके मत में यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता कि आत्मा शरीर के किस स्थान में निवास करता है ? इसी प्रकार जो आत्मा को शरीर से पृथक् नित्य मानते हुए भी उसे सर्वव्यापक मानते हैं[2], उनके मत में भी यह प्रश्न उत्पन्न नहीं होता। यह प्रश्न तो केवल उनके मत में ही उत्पन्न होता है, जो आत्मा को शरीर से पृथक् नित्य पदार्थ मानते हुए उसे अणु परमाणु वा परिच्छिन्न परिमाणवाला मानते हैं।

तीन मत

आत्मा के शरीर में निवासस्थान के विषय में तीन मत प्रचलित हैं। कोई आत्मा का निवास मस्तिष्क में मानते हैं, कोई हृदय में, और कोई सुषुम्णा नाड़ी में।

१—अनेक प्राचीन विद्वान् आत्मा का निवास मस्तिष्क में मानते हैं। उनका कहना है कि शरीर में व्याप्त समस्त सूक्ष्म संवेदनात्मक ज्ञान-तन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क है, वहीं बुद्धि का निवास है, और वहीं से समस्त शारीरिक चेष्टाओं का नियमन होता है। अतः चेतन अर्थात् संवेदक आत्मा का निवास मस्तिष्क में होना चाहिये।

२—जो व्यक्ति आत्मा का निवास हृदय में मानते हैं, वे अपने मत की पुष्टि में उपनिषदों और आयुर्वेद के उन प्रमाणों को उपस्थित करते हैं, जिनमें आत्मा का निवास-स्थान हृदय बताया है। यथा -

---

१. पुरातन चार्वाक मतानुयायी एवं आधुनिक विकासवादी।

२. नैयायिक आदि दार्शनिक।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।कठो०२।६।१७

आत्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् । चरक, निदान०, अ० ८।३।।

३—कतिपय व्यक्ति सुषुम्णा में जीव का निवास मानते हैं । उनका कथन है कि इस ऊर्ध्वमूल अधःशाख शरीररूपी वृक्ष का मूल आधारभूत तना मेरुदण्ड है। और उसके मध्य में सुषुम्णा नाड़ी है, जिसमें से सहस्रों तन्तु निकलकर इस समस्त शरीररूपी वृक्ष को कार्यक्षम बनाते हैं। अतः आत्मा का निवास भी सुषुम्णारूपी केन्द्रस्थान में ही होना चाहिए ।

इस लेख में इस बात की विवेचना की जायेगी कि इनमें से कौनसा मत वेद-प्रतिपादित और प्रामाणिक है। तथा जिन वचनों के आधार पर जीव के विविध निवास-स्थानों की कल्पना की जाती है, उनमें परस्पर कोई सामञ्जस्य हो सकता है वा नहीं ? इसकी विवेचना हम इस लेख में अति संक्षेप से करेंगे ।

वेद और आत्मा का निवास-स्थान

सब से प्रथम हम वेद के उस प्रकरण को उपस्थित करते हैं, जिसमें आत्मा के निवास-स्थान का वर्णन मिलता है ।

अथर्ववेद के दशम काण्ड का द्वितीय सूक्त 'केनपार्ष्णी' नाम से प्रसिद्ध है। इसका ऋषि नारायण है, और देवता=प्रतिपाद्य विषय पुरुष= ब्रह्म-प्रकाशन है । इसमें ३१वाँ तथा ३२वां मन्त्र साक्षात् ब्रह्म-प्रकाशक कहा जाता है[1] । यह सूक्त केन उपनिषद् का मूल आधार है। केन उपनिषद् की प्रवचन-शैली में इसी सूक्त का अनुकरण किया गया है। अतः वेद का यह केनपार्ष्णी सूक्त इस प्रकार की प्रतिपादनशैली का सब से प्राचीनतम उदाहरण है ।

हम इस सूक्त में से कतिपय वे मन्त्र उद्धृत करते हैं, जिनसे आत्मा के शरीरगत विशिष्ट निवासस्थान के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः[2] ।।२७।।

---

१. देखो—अथर्ववेदीय बृहत्सर्वानुक्रमणी, तथा तदनुसार मुद्रित अथर्ववेदीय ऋषिनिर्देश ।

२. तुलना करो—'दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः । मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।।' मुण्डकोप० २।२।७.।

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।।३१।।

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः[1] ।।३२।।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ।।३३।।

अन्त के ३२वें तथा ३३वें मन्त्र में प्रतिपादित विषय का संक्षेप से और समानरूप से प्रतिपादन करनेवाला एक अन्य अथर्ववेदीय मन्त्र इस प्रकार है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वद् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।।१०।८।४३।।

इन मन्त्रों का शब्दार्थ करने से पूर्व निम्न पदों का तात्पर्य समझना आवश्यक है ।

मन्त्रों में प्रयुक्त विशिष्ट पद और उनका विवरण

१—देव, २—देवकोश, ३—प्राण, ४—अन्न, ५—मन, ६—हिरण्यय कोश, ७—हिरण्ययी पुरी, ८— स्वर्ग, ९—ज्योतिषावृत, १०—त्र्यर, ११—त्रिप्रतिष्ठित, १२—यक्ष, १३—आत्मन्वत्, १४—ब्रह्मा ।

अब हम क्रमशः एक एक पद पर प्रकाश डालते हैं—

१. देव—**द्वितीय मन्त्र में शरीर को देवों की पुरी कहा है । ये देव पुरुष की ज्ञानेन्द्रियां हैं । इनके द्वारा ही आत्मा सांसारिक पदार्थों का ज्ञान उपलब्ध करता है । तथा इन्हीं के द्वारा समस्त सांसारिक व्यवहारों को सिद्ध करने में समर्थ होता है । इस कारण इन्द्रियों को देव कहते हैं—**

देवो दानाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा (निरुक्त ७।१५) ।

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युति···(धातुपाठ) ।

चक्षुर्देवः । गोपथ पू० २।१० (११) ।

वाग् देवः । गोपथ पू० २।१० (११) ।

---

१. मन्त्र ३१, ३२ के साथ तुलना करो—'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ।।'
मुण्डकोप० २।२।९।।

शरीर में देवाधिदेव इन्द्र (=आत्मा) से संबद्ध[1] इन्द्रियरूपी देवों का वास होने से इस शरीर को 'देवों की पुरी' कहा है।

२—देवकोश—प्रथम मन्त्र में शिर को 'देवकोश' कहा है। देव का अर्थ ज्ञानेन्द्रियां हैं, यह हम पूर्व कह चुके हैं। समस्त ज्ञानेन्द्रियों के बाह्य स्थूलरूप शिरोभाग में विद्यमान हैं (त्वक् इन्द्रिय शरीरव्यापी है)। परन्तु इन इन्द्रियों की सूक्ष्म संवेदनात्मक शक्तियों का केन्द्र मस्तिष्क में ही है। इन्द्रियों का वास्तविक स्वरूप शक्त्यात्मक ही है,[2] क्योंकि बाह्य स्वरूपों के सर्वथा नीरोग होने पर भी शक्ति के ह्रास अथवा उत्सन्न हो जाने से श्रवण दर्शन आदि क्रियाएं नहीं होतीं। अतः यहां देवकोश शब्द मस्तिष्क का ही वाचक है[3]। इसी देवकोश को अथर्ववेद ६।६५।१ में देवसदन कहा है। 'देवकोश' का अर्थ मस्तिष्क करने पर ही तृतीय मन्त्र में उल्लिखित 'हिरण्ययकोश' विशेषण का ठीक सामंजस्य होता है (देखो—'हिरण्ययकोश' की व्याख्या)। इसलिए तदेकदेश-न्यायानुसार इस मन्त्र में निर्दिष्ट शिर शब्द से शिर के एक देश मस्तिष्क का ही अर्थ अभिप्रेत है।

३—प्राण—वैदिक वाङ्मय में 'प्राण' शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। परन्तु प्रथम मन्त्र में प्राण को शिर, देवकोश, मस्तिष्क तथा अन्न और मन का रक्षक कहा है। यह प्राण भौतिक वायु नहीं है, अपितु जीव का वाचक है। 'प्राणो हि प्रियः प्रजानाम्' (तै० ब्रा० २।३।६।५) में प्राण

---

१. द्रष्टव्य—'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥' कठोपनिषद् २।५।३॥ प्राणापानक्रिया का करनेवाला वामन (=वामः श्रेष्ठः, वामं रूपमस्य स वामनः। अष्टा० ५।२।१०० से मत्वर्थीय 'न' प्रत्यय) आत्मा की विश्वे देव=सभी इन्द्रियां उपासना करती हैं। देवों=इन्द्रियों के मध्य में आसीन वामन=आत्मा मस्तिष्क में ही रहता है, अन्यत्र नहीं।

२. द्र०—इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा। अष्टाध्यायी ५।२।९३॥

३. अत एव सांख्य में इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से कही है—**अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियं च।** बिना भौतिक उपष्टम्भ के इन्द्रियां कार्य में समर्थ नहीं होतीं, इसलिये नैयायिक इन्हें भौतिक मानते हैं। द्र०—न्यायदर्शन अ० ३, आ० १, इन्द्रिय-परीक्षा प्रकरण।

शब्द का अर्थ आत्मा ही है। यही इस भौतिक शरीर में अमृतस्वरूप है। इसीलिये ब्राह्मणग्रन्थों में स्थान-स्थान पर प्राण को अमृत कहा है—'अमृतं वै प्राणः' (कौ० ब्रा० ११।४।१४।४ इत्यादि)। भौतिक प्राणवायु नाशवान् है, अतः उसके लिये अमृत शब्द का व्यवहार उपयुक्त नहीं हो सकता। अथर्ववेद के 'प्राणसूक्त' (१०।४) में प्राण शब्द से जीव की ही महिमा का वर्णन किया है। लोक में जीवयुक्त सचेतन शरीर का ही 'प्राणी' शब्द से व्यवहार होता है। अतः स्पष्ट है कि प्राण शब्द मुख्यतया जीव का ही वाचक है। प्राण अपान आदि भौतिक वायुओं के लिये प्राण शब्द का व्यवहार 'प्राण=जीव' के साहचर्य के कारण लक्षणावृत्ति से होता है।

४-५—अन्न, मन—यहां अन्न और मन से 'पदेषु पदैकदेशान्' (=पदों के स्थान पर पदों के एकदेश का प्रयोग होता है) न्याय से अन्नमय और मनोमय कोशों का निर्देश है। इनकी विशेष व्याख्या उपनिषदों में देखनी चाहिये।

६—हिरणमयकोश—द्वितीय मन्त्र में अष्टचक्रा नवद्वारा देवों (=इन्द्रियों) की पुरी से हिरण्मयकोश का उल्लेख किया है। इसी को 'स्वर्ग' और 'ज्योतिषावृत' (=ज्योति से ढका हुआ) कहा है। अगले मन्त्र में इसी हिरण्नयकोश के 'त्रिप्रतिष्ठित त्र्यर' स्थान में 'आत्मन्वत् यक्ष' की स्थिति कही है। इसलिये पहले यह विचारना चाहिए कि मन्त्रोक्त हिरण्मयकोश की स्थिति शरीर में कहां है?

वैयाकरणों के मतानुसार हिरण्मय शब्द मयट्प्रत्ययान्त है[1]। इस पद में मयट् 'आनन्दमय' के समान प्रकृत अर्थात् प्राचुर्य से प्रस्तुत[2] अर्थ में हुआ है। तदनुसार 'हिरण्मय' शब्द का अर्थ होगा--हिरण्य के प्राचुर्य=प्राधान्य से निर्मित वस्तु। इस देवपुरी शरीर में ऐसा कौनसा अवयव है, जो हिरण्य के प्राचुर्य से बना हुआ है। इसके विषय में शरीर-शास्त्र-निष्णातों का कथन है

---

१. द्र०—ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि। अष्टाध्यायी ६।४।१७५ सूत्र से 'हिरण्मय' के 'मयट्' के मकार का वेद में लोप दर्शाया है। कई वैदिक ग्रन्थों में 'हिरणमय' शब्द का भी प्रयोग होता है, वहां 'हिरण्यय' के यकार का लोप जानना चाहिए, अथवा हिरण्यार्थक 'हिरण्' प्रकृत्यन्तर है।

२. तत्प्रकृतवचने मयट् (अष्टा० ५।४।२१)—प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम् (काशिका)।

कि मस्तिष्क में एक ऐसा अवयव है, जो हल्के पीले (= धूसर) वर्णवाले पदार्थ के बाहुल्य से बना हुआ है[1]। योगीजन इसे 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। यह बाम और दक्षिण भेद से दो विभागों में विभक्त है[2]। इन दोनों की आकृति मनुष्य के अंगुष्ठ-पर्व से मिलती-जुलती है[3]। यही समस्त ज्ञान तथा चेष्टा-तन्तुओं का केन्द्र है। इस अवयव के अतिरिक्त शरीर में और कोई ऐसा अवयव नहीं है, जो हल्के पीले वर्ण-बहुल पदार्थ से बना हुआ हो। अतः वेद का 'हिरण्मयकोश' यही आज्ञाचक्र हो सकता है।

इतना ही नहीं, वेद में इसी 'हिरण्मयकोश' को स्वर्ग भी कहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर्ग को ऊर्ध्वलोक कहा है—"ऊर्ध्वमु वै स्वर्गो लोकः, उपरीव स्वर्गो लोकः" (तै० ब्रा० ३।२।१।१५)। इस ब्रह्माण्ड में स्वर्ग आदित्यलोक है, पृथिवी पर स्वर्ग त्रिविष्टप (= तिब्बत) है, और इस शरीर में स्वर्ग यही मस्तिष्क का अवयवभूत हिरण्ययकोश है। तीनों ही ऊर्ध्वभाग में निहित हैं। आदित्य में अजर अमर देवों = किरणों का वास है, त्रिविष्टप में मानुष देव-जाति का निवास है, और इस हिरण्ययकोश में देवों = इन्द्रियों की सूक्ष्म संवेदनात्मक शक्तियों का संनिवास है। इसीलिये कहा है—'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' अर्थात् जैसी रचना ब्रह्माण्ड की है, वैसी ही शरीर की है।

७—स्वर्ग—मन्त्र में हिरण्यय कोश को स्वर्ग कहा है। इसकी व्याख्या हम पूर्व कर चुके हैं।

८—ज्योतिषावृत—मन्त्र में हिरण्ययकोश को 'ज्योति से आवृत' (= ढका हुआ) कहा है। पूर्वोक्त आज्ञाकन्दों के (धूसरवर्ण) होने के कारण वेद का उन्हें ज्योतिषावृत कहना सर्वथा उपयुक्त है। कठोपनिषद् अ० २, वल्ली ४, कं० १३ में भी अङ्गुष्ठपर्वमात्र पुरुष को धूमरहित ज्योति से अर्थात् चमकते हुए अङ्गारों से उपमा दी है।[4] उपनिषद् का अङ्गुष्ठमात्र पुरुष इस वेद का हिरण्यय कोश ही है, क्योंकि इस हिरण्यय कोश का आकार भी अङ्गुष्ठपर्व के सदृश है। यह हम पूर्व कह चुके हैं।

---

१. आज्ञाकन्दौ नाम···धूसरवस्तुभूयिष्ठौ कन्दौ ब्रह्मगुहामुभयतो वर्तेते। गणनाथसेन कृत प्रत्यक्षशारीर भाग ३, अ० ६, पृष्ठ ७६।।

२. द्र०—प्रत्यक्षशारीर का पूर्वोक्त उद्धरण।

३. देखो—प्रत्यक्षशारीर भाग ३, पृष्ठ ८५ पर संख्या २२१ का चित्र।

४. अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।

९—त्र्यर—त्र्यर शब्द का अर्थ है—तीन अरोंवाला अर्थात् त्रिकोण। मन्त्र को सामान्य दृष्टि से देखने पर त्र्यर और त्रिप्रतिष्ठित पद हिरण्ययकोश के विशेषण प्रतीत होते हैं। परन्तु एक ही मन्त्र में दो बार 'तस्मिन्' पद का निर्देश होने से इस मन्त्र के दो वाक्य बनाने होंगे। इतना ही नहीं, हिरण्ययकोश की आकृति अङ्गुष्ठपर्व सदृश है, यह हम पूर्व कह चुके हैं। इसलिये त्र्यर और त्रिप्रतिष्ठित पद हिरण्ययकोश के विशेषण नहीं बन सकते। इन कारणों से 'त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते' पदों का सम्बन्ध उत्तर 'तस्मिन्' पद के साथ जोड़ना चाहिए। तदनुसार जिस स्थान में 'आत्मन्वत् यक्ष' की स्थिति उक्त मन्त्र में बताई है, वह स्थान त्र्यर और त्रिप्रतिष्ठित है, और वह हिरण्ययकोश के मध्य में है। दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य में 'ब्रह्मगुहा' नामक एक त्रिकोण परिखाकार स्थान है[1]। इसे ही वेद में त्र्यर पद से कहा है।

१०—त्रिप्रतिष्ठित—त्रिप्रतिष्ठित शब्द का अर्थ है—तीन स्थानों पर ठहरा हुआ, अथवा तीन आधारों पर आधृत। उपर्युक्त हिरण्ययकोश (आज्ञाकन्दों) के मध्य में वर्तमान जो त्र्यर (=ब्रह्मगुहा) स्थान है, वह गुहान्तरालिक-विवरद्वार द्वारा दो ओर से दोनों त्रिपथगुहाओं से सम्बद्ध है। और तीसरी ओर ब्रह्मद्वार सुरङ्ग द्वारा प्राणगुहा से सम्बद्ध है[2]। इसीलिये वेद में भी 'त्र्यर' को त्रिप्रतिष्ठित कहा है।

११—यक्ष—यह शब्द 'यक्ष पूजायाम्' धातु से बनता है। अध्यात्म में 'यक्ष' शब्द जीव और ईश्वर दोनों का वाचक है। अथर्ववेद के तीन अध्यात्म-प्रकरणों में चार बार यक्ष शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। इन प्रकरणों में जहां-जहाँ ज्येष्ठ ब्रह्म (=परमात्मा) का वर्णन है, वहां-वहां यक्ष का विशेषण 'महत्' दिया है। देखो—अथर्ववेद १०।७।३८; १०।८।८५॥ और जहां-जहां जीव का वर्णन है, वहां-वहां यक्ष का विशेषण 'आत्मन्वत्' उपलब्ध होता है। देखो— अथर्ववेद १०।२।३२; १०।८।४३॥ प्रकृत मन्त्रों में यक्ष को नवद्वार-

---

१. ब्रह्मगुहा ब्रह्मयोनिर्वा नाम आज्ञाकन्दयोरन्तराले मध्यरेखायां दृश्या गुहा तनुत्रिकोणपरिखाकारा। तदेव क्वचिद् ब्रह्महृदयमिति हृदयमिति वा व्यवहरन्ति प्राञ्चः॥ प्रत्यक्षशारीर भाग ३, अ० ६, पृ० ८२।

२. सा च गुहायाः पुरस्तादूर्ध्वं त्रिपथगुहाभ्यां सम्बन्धवती 'गुहान्तरालिक' विवरद्वारेण, पश्चिमतश्च प्राणगुहया 'ब्रह्मद्वारसुरङ्गा'मार्गेण॥ प्रत्यक्ष-शारीर भाग ३, अ० ६, पृ० ८२।

युक्त[1] देवपुरी के अन्तर्गत 'त्र्यर' (=ब्रह्मगुहा) स्थान में विद्यमान कहा है। अतः यह यक्ष शब्द निश्चय ही जीव का वाचक है।

१२—आत्मन्वत्—आत्मा शब्द जीव और ईश्वर दोनों का वाचक है। यह लोकप्रसिद्ध है। परन्तु आत्मा शब्द शरीर का भी वाचक है, यह केवल विद्वान् ही जानते हैं। 'हन्त्यात्मा आत्मानम्' (महाभाष्य १।३।६७) इत्यादि वाक्य में एक आत्मा शब्द जीव का और दूसरा शरीर का वाचक है। अथर्ववेद में जहां-जहां 'आत्मन्वत्' विशेषण के साथ 'यक्ष' का वर्णन है, वहां-वहां नवद्वार पुरी अथवा 'पुण्डरीक' (गृह) का भी उल्लेख है[2]। आत्मन्वत् शब्द का अर्थ है—आत्मावाला(=आत्माऽस्यास्तीति)। इससे स्पष्ट है कि तृतीय मन्त्र में प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' शब्द में आत्मा शब्द शरीर का वाचक है। इसलिये ब्राह्मणग्रन्थों में कहा है—"आत्मा वै तनूः' (शत० ६।७।२।६; ७।३।१।२३; ७।५।२।३२); 'पांक्त इतर आत्मा लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जा' (ताण्ड्य ब्रा० ५।१।४); 'आत्मा वै पूः' (शत० ७।५।१।२१)। इसलिये प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त 'आत्मन्वत्' शब्द का अर्थ है—शरीरवाला=शरीर से युक्त।

१३—ब्रह्म—इसका मूल शब्द है—ब्रह्मन्। यह पुंलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग (ब्रह्मा-ब्रह्म) भेद से दो प्रकार का है। दोनों ही प्रकार का ब्रह्मन् शब्द अध्यात्म में जीव और ईश्वर दोनों के लिये प्रयुक्त होता है[3]। जहां ब्रह्मन् के साथ 'ज्येष्ठ'[4] अथवा 'महत्' आदि विशेषण प्रयुक्त होते हैं, वहां यह निश्चितरूप से ईश्वर का ही बोधक होता है। अन्यत्र प्रकरण आदि के अनुसार इनके वाच्य का निश्चय किया जाता है। प्रकृत चतुर्थ मन्त्र में हिरण्मयी पुरी में ब्रह्म के प्रवेश करने का उल्लेख है। अतः प्रकरणानुसार इस मन्त्र में प्रयुक्त 'ब्रह्म' पद निश्चितरूप से 'जीव' का ही वाचक है,[5] ईश्वर का नहीं।

---

१. कठोपनिषद् २।२।१ में एकादशद्वार युक्त पुर का उल्लेख है—'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।'

२. अथर्ववेद १०।८।४३॥

३. वस्तुतः यक्ष, पुरुष, ब्रह्म, ब्रह्मा, आत्मा आदि जितने पद जीव और ईश्वर के वाचक हैं, वे सब अध्यात्म में शरीर के और अधिदैवत में ब्रह्माण्ड के भी वाचक हैं।

४. तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। अथर्व १०।८।१॥

५. अथर्व १०।२ के अनेक मन्त्रों में इसका उल्लेख है—'पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते।' अथर्व १०।२।३०॥

उक्त मन्त्रों का सामूहिक अर्थ

अब सामूहिक रूप से चारों मन्त्रों को पढ़ने से इनका निम्न अभिप्राय स्पष्ट होता है—

"आठ चक्रों और नवद्वारों से युक्त देवों की अयोध्या तथा अथर्वा नाम्नी नगरी के शिरस्थान में हिरण्मय देवकोश है। उसके भीतर तीन ओर से संबद्ध त्रिकोण स्थान में आत्मन्वत् यक्ष ब्रह्म (=जीव) निवास करता है।"

इस वर्णन से स्पष्ट है कि मस्तिष्कान्तर्गत पीताभ वर्णवाले दोनों आज्ञा-कन्दों के मध्य में जो त्रिकोण परिखाकार स्थान है, उसमें जीवात्मा निवास करता है। इसीलिये योगीजन इस त्रिकोण परिखाकार स्थान को ब्रह्मगुहा नाम से पुकारते हैं।[1] यही सप्तम सत्यनामक सप्तम लोक स्वर्ग है।[2] **इसी में ब्रह्म=जीव निवास करता है।**[3]

---

१. द्र०—पृष्ठ २१०, टिप्पणी १; तथा पृष्ठ २११ टिप्पणी १

२. द्र०—'सप्तमे उ लोके ब्रह्म।' जै० ब्रा० १।३३३, पृष्ठ १३९। इन्हीं सात लोकों को वैदिक ग्रन्थों में **भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम्** रूप सप्त व्याहृतियों के रूप में स्मरण किया है। पुराणों में जो सात स्वर्ग कहे हैं, वे इस पिण्ड=शरीर में नाभि से ऊपर वर्तमान सात स्थान हैं। इनमें देवगण निवास करते हैं। सत्य नामक स्वर्ग में देवाधिदेव इन्द्र=आत्मा निवास करता है।

३. कुरान में खुदा को सातवें आसमान में रहनेवाला कहा है, उसका मूल भी यही है। पुराणप्रसिद्ध सात पाताल भारत के पश्चिमी सीमा समीप-वर्ती सात महाप्रदेश हैं (देखो—श्री० पं० भगवद्दत्तजी कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास' भाग १, पृष्ठ २५२, प्रथम संस्करण)। देवों ने असुरों को पराजित करके स्वर्ग (त्रिविष्टप=तिब्बत) से निकालकर उन्हें पाताल में डाल दिया था। अरब, मिस्र, ईरान, यूनान आदि के निवासी उन्हीं असुरों की सन्तान हैं। अतः इनमें आसुरी संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। असुर लोग आत्मा के अतिरिक्त ब्रह्म को नहीं मानते थे। उनके लिये यही जीवात्मा ब्रह्म था। अतः कुरान में उसी सप्तम स्वर्गलोक में विद्यमान जीव को **'खुदा'** कहा है। पारसियों का **'अहुर'** देव भी 'असुर' ही है। बाईबल में खुदा को चौथे आसमान पर रहनेवाला कहा है। उसका मूल **'ओम् महः पुनातु हृदये'** यह चतुर्थ व्याहृति मन्त्र प्रतीत होता है।

इसी भाव को माध्यन्दिन संहिता के अन्तिम मन्त्र में इस प्रकार व्यक्त किया है—'हिरण्मय पात्र से सत्य का मुख ढका' हुआ है, उस सत्यरूपी आदित्य में वर्तमान जो पुरुष है, वह मैं हूं"।[1] यहां हिरण्मय पात्र से अभिप्राय उक्त पीताभ आज्ञाकन्दों से है। इनके लिए पात्र शब्द का प्रयोग सर्वथा युक्त है। क्योंकि जैसे पात्र किसी वस्तु का आधार होता है, उसी प्रकार समस्त शरीर में व्याप्त ज्ञानवाहक तथा चेष्टावाहक तन्तुओं के केन्द्र ये आज्ञाकन्द ही हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में सत्य को आदित्य कहा है—'तद् यत्सत्यमसौ स आदित्यः' (शत० ६।४।१।१२); 'असौ वा आदित्यः सत्यम्' (तै० ब्रा० २।१।११।१)। ब्रह्माण्ड में जो आदित्य है, वह पिण्ड में शिर है। इसलिये मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है कि उस सत्यरूपी आदित्यलोक में जो वर्तमान है, वह मैं (=खुदा) अर्थात् जीवात्मा हूं।

खं ब्रह्म

ओं क्रतो स्मर (यजु० ४०।१५)—इस मन्त्र में मृत्यु के समय जीवात्मा के लिये जिस ओम् का स्मरण करने का विधान किया है, उस 'ओम्' का लक्षण आगे बताया है—'ओं खं ब्रह्म।' अर्थात् ओम् नाम 'ख' ब्रह्म का है।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि वैदिक ग्रन्थों में 'ब्रह्म' पद जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये प्रयुक्त होता है।[2] परन्तु जहां पर केवल 'पर-ब्रह्म' का निर्देश अभिप्रेत होता है, वहां स्पष्टता के लिये 'महत्' 'बृहत्' 'खं' आदि कोई न कोई विशेषण अवश्य प्रयुक्त होता है। 'खं' नाम आकाश का है, अतः 'ख ब्रह्म' का अर्थ हुआ ख=आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म। तदनुसार सर्वव्यापक ब्रह्म का नाम ओम् है। और आदित्य (=सत्य) अर्थात् ब्रह्म-गुहा में वर्तमान जो पुरुष है, वह क्रतु=कर्म करनेवाला जीव है। संध्या के मार्जनमन्त्रों में भी इसी भाव को व्यक्त किया है। वहां महाव्याहृत्यात्मक सप्त स्वर्गलोकों का निर्देश करके अन्त के 'खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र' मन्त्र में ब्रह्म को सर्वव्यापक अर्थात् किसी लोक विशेष से असंबद्ध बताया है।

---

१. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ यजु० ४०।१७॥

२. ब्रह्मपद शरीर का भी वाचक है, यह पूर्व लिख चुके हैं। ब्रह्माण्ड शब्द में ब्रह्म शब्द जगत् का वाचक है। वह अण्ड अर्थात् अण्डाकार गोल है। यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म का शरीर है। अतः आत्मा के समान ब्रह्म पद भी शरीर जीव और ईश्वर तीनों का वाचक है।

कं ब्रह्म

'ख' से पूर्ववर्ती 'क' शब्द है। यह शिर के लिये प्रयुक्त होता है[1]। केश शिर के बाल कहाते हैं—'के शेरते केशाः' शिर में होनेवाले।[2] 'क' के साथ ही 'काय' शब्द का सम्बन्ध है। कपाट शब्द में वर्तमान 'क' भी शिर ही है—'कं शिरः पाटयतीति कपाटः।[3] इसलिये 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छां० उ० ४।१०।५) में क ब्रह्म शिरःस्थानीय जीवात्मा है, और ख ब्रह्म आकाशवत् सर्वव्यापक ब्रह्म परमात्मा।

इस प्रकार अथर्ववेद के मन्त्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर में जीव का निवासस्थान मस्तिष्कान्तर्गत दोनों आज्ञाकन्दों के मध्य में वर्तमान ब्रह्मगुहा ही है। शरीर में उक्त अवयवातिरिक्त अन्य कोई अवयव ऐसा नहीं है, जो वेद के—

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वद् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥[4]

वर्णन के अनुकूल हो।

अब केवल एक विचार शेष रह जाता है कि जिन वचनों में आत्मा का निवास 'हृदय' में कहा है, वहां 'हृदय' शब्द का वाच्य उरःस्थानीय लोकप्रसिद्ध शरीरावयव ही है, वा अन्य?

हृदय शब्द की मीमांसा

हृदय शब्द का अर्थ—हमारा विचार है कि वैदिक वाङ्मय में किसी भी शब्द का प्रकरण विशेष के विना सम्प्रति लोकप्रसिद्ध अर्थ लेना अन्याय है। यदि ऐसा ही दुराग्रह किया जाए, तो यास्क का 'समुद्र' शब्द को अन्तरिक्ष नाम में पढ़ना[5] अयुक्त होगा, क्योंकि लोक में समुद्र पद पार्थिव समुद्र में ही

---

१. द्र०—'कं समारभ्य मेधावी ततो ह्यङ्गानि विन्यसेत्।' भविष्य पुराण के नाम से वीरमित्रोदय पूजाप्रकाश पृष्ठ २०२ पर उद्धृत। वहां 'कं शिरः' ऐसा व्याख्यान किया है। 'कं मस्तके' द्र०—हैमलघुन्यास, पत्रा २२ख, अव्ययार्थ में।

२. क्षीरस्वामी, अमर टीका २।६।९५॥

३. तु०—क्षीरस्वामी, अमरटीका

४. अथर्व १०।२।३२॥

५. निघण्टु १।३; निरुक्त २।१०॥

प्रयुक्त होता है । उस अवस्था में 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्' (ऋ० १०।९८। ५) की कोई व्याख्या ही नहीं हो सकती । इसी प्रकार 'वृत्र' शब्द लोक में त्वष्टा नामक असुर के पुत्र के अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु नैरुक्त 'वृत्र' शब्द का अर्थ 'मेघ' करते हैं ।[1] वेद में 'वृत्र' शब्द त्वाष्ट्र असुर शब्द का वाचक नहीं है, अपि तु मेघ का ही वाचक है । इसकी सिद्धि यास्क ने अत्यन्त प्रबल प्रमाणों से की है । इसी प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि वेद में सम्प्रति लोकप्रसिद्ध अर्थ ही नहीं लेना चाहिये । यहां यह भी विचारणीय है कि क्या उपनिषदों के उन वचनों में, जिनमें आत्मा का निवास हृदय में लिखा है—'हृदय शब्द का लोकप्रसिद्ध अर्थ उरःस्थानीय एतन्नाम्ना प्रसिद्ध शरीरावयव ही समझना चाहिए, अथवा इसका वाच्य कोई अन्य पदार्थ है ?

पूर्वोक्त अथर्ववेद के मन्त्रों से इतना स्पष्ट है कि जीव का निवास लोक-प्रसिद्ध उरःस्थानीय शरीरावयव में नहीं है, मस्तिष्क में है । ऐसी अवस्था में क्या औपनिषद वचन का वेद से विरोध माना जाये, अथवा हृदय शब्द के अन्यार्थ का अनुसंधान किया जाये ?

इस पर विचार करने से पूर्व यह विचारना आवश्यक है कि 'हृदय' शब्द का मूल अर्थ क्या है ? शतपथ ब्राह्मण (१४।८।४।१) में हृदय शब्द की निरुक्ति 'हृ द यम्' इन तीन शब्दों से मानी है । तदनुसार इनका अर्थ—

हृ—हृञ् हरणे=हरण करना, लेना ।

द—डुदाञ् दाने=देना

यम्—यमु उपरमे=रोकना

अर्थात् जो शरीरावयव ये तीनों क्रियाएं करता है, वह 'हृदय' कहाता है ।

भारतीय अध्यात्मविदों का एक सामान्य सूत्र है--'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' इसी तत्व का मूलभूत याजुष मन्त्र इस प्रकार है—

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन् मादयस्व ।। यजु० ७।५।।

अर्थात्—हे मघवन्=इन्द्र=जीव ! तेरे शरीर के भीतर ही द्युलोक पृथिवीलोक एवं विस्तीर्ण अन्तरिक्षलोक को स्थापित करता हूं । तू अवर और

१. निघण्टु १।१०; निरुक्त २।१६।।

पर देवों (=कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों) के साथ अन्तर्याम (=सब इन्द्रियों के नियमन करनेवाले) स्थान में वर्तमान हो मुदित रह।

यह अध्यात्मविदों द्वारा जाना गया तत्त्व अध्यात्म-ज्ञान की वास्तविक कुञ्जी है। इससे अध्यात्मसम्बन्धी अनेक रहस्य उद्घाटित हो जाते हैं। हृदय शब्द के अर्थ की समस्या भी उक्त तत्त्व को स्वीकार कर लेने पर बड़ी सुगमता से सुलझ जाती है।

हृदय और समुद्र का साम्य

इस शरीर में उरःस्थानीय हृदय का जो कार्य और महत्त्व है, वह इस ब्रह्माण्ड में समुद्र का है। यास्क ने समुद्र शब्द का निर्वचन दर्शाया है—'समुद्रवन्त्यस्मादापः, समुद्रवन्त्येनमापः (निरुक्त २।१०), अर्थात् जहां से आपः (=जल) दौड़ते हैं, और जिसके प्रति आपः (=जल) दौड़ते हैं, वह समुद्र है। पार्थिव समुद्र के प्रति समस्त आपः दौड़ते हैं, और इसी से वाष्परूप होकर आपः [ऊपर को] दौड़ते हैं। और गमनागमन के साथ उसमें जल स्थिर भी रहता है। ऊपर शतपथ के अनुसार हृदय शब्द का जो अर्थ बताया था, वह पूर्णरूप से समुद्र में घटित होता है। अतः लोकसम्मितोऽयं पुरुषः' (चरक शरीरस्थान अ० ४।१३ तथा ५।२-४) के मतानुसार ब्रह्माण्ड में जो समुद्र है, वह शरीर में हृदय है। अतः समुद्रीय मुक्ता प्रवाल आदि हृदय के लिये परम औषध माने गए हैं।

समुद्र और हृदय की अनेकता—ब्रह्माण्ड में तीन समुद्र हैं—'त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत् स्वर्गान्' (यजुः १३।३१)। ये तीन समुद्र हैं—एक पार्थिव (=पृथिवीस्थानीय), दूसरा अन्तरिक्षस्थ, तीसरा द्युस्थ। प्रथम में जल स्थूल रूप में है, और द्वितीय में वाष्परूप में। द्यु में आपः सोम हैं—'आपो वै सोमः' (तु०—श० ७।१।१।२२)। प्रथम और द्वितीय समुद्र का वर्णन 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्' (ऋ० १०।९८।५) में स्पष्ट मिलता है। यास्कीय निर्वचन इन दोनों समुद्रों को लक्षित करके लिखे गये हैं। द्युलोकस्थ आदित्य ही तृतीय समुद्र हैं। इसकी किरणें भी पार्थिव जल का हरण करके और उसे सूक्ष्म सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम करके अर्थात् सोमरूप में परिणत करके सूर्य तक पहुंचाती हैं। और अग्नि में जलकर अत्यन्त सूक्ष्म होकर वही सोम किरणों के

---

१. एवमयं लोकसम्मितः पुरुषः। यावन्तो हि लोके भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे। यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति। बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति।

द्वारा वापस पृथिवी तक पहुंचता है, जिससे प्राणि एवं ओषधि वनस्पतियां जीवन धारण करती हैं। वेद में सोम की स्थिति सूर्य में ही कही है—'सोमो गौरी अधिश्रितः' (ऋ० ९।१२।३)। गौर आदित्य का नाम है, उसी का स्त्रीलिङ्ग है—गौरी। यथा सूर्य का सूर्यारूप। शतपथ ९।४।२।५ में लिखा है—'असौ वै (द्युः) लोकः समुद्रो नभस्वान्'। 'नभ' का निर्वचन यास्क ने (निरुक्त २।१४) में भन (भा दीप्तौ+क्युन्) के आद्यन्तविपर्यय से दर्शाया है। अतः नभस्वान् का अर्थ है— दीप्तिमान्।

'यद् ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे' अथवा 'लोकसम्मितोऽयं पुरुषः' के अनुसार ब्रह्माण्ड में आदान-प्रदान करनेवाले तीन समुद्र हैं, तो इस शरीर में भी आदान-प्रदान करनेहारे तीन हृदय अवश्य होने चाहिएं। तदनुसार शरीर में द्यु-स्थानीय समुद्र शिरस्थ मस्तिष्क है। यहीं सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त ज्ञानतन्तु और कर्मतन्तु हैं, जो आदान-प्रदान करते रहते हैं। पैर कांटे पर पड़ा कि झट से हटा लिया। पैर के काँटे पर पड़ने की सूचना मस्तिष्क में पहुंची, और तत्काल पैर हटाने का आदेश हुआ, पैर हट गया। इसके साथ ही मस्तिष्क में हिरण्यवर्ण=हलका पीत वर्णवाला द्रव द्रव्य है,[1] जिसे आयुर्वेद के जाननेवाले 'ओज' कहते हैं,[2] और ब्राह्मणग्रन्थों में इसे ही सोमरूप से वर्णित किया है।[3] यह वीर्यरूप आपः का सूक्ष्मतमरूप है, जो सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा मस्तिष्क में क्षरित होता है। यही ऋग्वेद के नवम मण्डल में पठित पवमान सोम है, जिसकी सम्पूर्ण मण्डल में महिमा गाई है। यही ओज वा सोम मस्तिष्क से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले तन्तुजाल द्वारा शरीर में सर्वत्र पहुंचकर

---

१. द्रष्टव्य पूर्व पृष्ठ २०९-२१० हिरण्ययकोष की व्याख्या।

२. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम्। ओजः शरीरे समाख्यातं तन्नाशात् ना विनश्यति। चरक सूत्रस्थान १७।७५।। कहीं-कही सर्पिर्वर्णम् पाठ है। इसका तात्पर्य गोघृत के वर्ण से है। वही पीताभ होता है। ओज के विषय में चरक सूत्रस्थान ३०।१-१४ भी द्रष्टव्य है।

३. एतद्वै देवानां परममन्नं यत्सोमः। तै० ब्रा० १।३।२।२।। ब्रह्माण्ड में यह सोम देवों=रश्मियों का अन्न है। इसी के जलने से सूर्य में प्रकाश वा ताप की उत्पत्ति होती है। और शरीर में यही सोम ओज है। इन्द्रियों का यही अन्न भक्ष्य है। इसी के कारण इन्द्रियां बलवान् होती हैं। यही बात 'सोमः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुह्वति' (शत० १।६।३।२१) में भी कही है।

शरीर को ओजस्वी बनाता है। 'मरणं बिन्दुपातेन' का निर्देश इसी ओजरूप अष्टम धातु के लिये है।[1]

लोकप्रसिद्ध हृदय का भी यही कार्य है कि वह शरीर से दूषित रक्त ग्रहण करता है, और शुद्ध करके लौटा देता है। इस प्रकार शरीर और समुद्र का एक ही कार्य है।[2] ब्रह्माण्ड में तीन समुद्र है, उसी प्रकार पिण्ड=शरीर में भी तीन समुद्र है—नाभि, हृदय और मस्तिष्क।

नाभि का कार्य—जठराशय से निष्पन्न रस को ग्रहण करना, और २४ मुख्य धमनियों द्वारा सम्पूर्ण शरीर में पहुंचाना।

हृदय का कार्य - पूर्व लिख चुके।

मस्तिष्क का कार्य--शरीर में व्याप्त ज्ञानतन्तुओं द्वारा शरीर के प्रत्येक स्थान से ज्ञान का आहरण कर मस्तिष्क तक पहुंचाना, और चेष्टावाहक तन्तुओं द्वारा शरीरावयवों का यथायोग्य परिचालन कराना।

पूर्व उद्धृत अथर्व की श्रुति में इस देवपुरी अयोध्या को अष्टचक्रा कहा है। चक्र का अभिप्राय यही होता है कि एक स्थान से चलकर वापस उसी स्थान पर पहुंच जाना। इस क्रिया के साधन ये आठ शरीरावय चक्र हृदयपदवाच्य भी हैं। इसीलिये शतपथ ९।१।२।४० में लिखा है—'निकक्षे निकक्षे हृदयम्।' अर्थात् प्रत्येक कक्ष=शरीरविभाग में हृदय है। इन आठ चक्ररूपी हृदयों में पूर्वोक्त नाभि हृदय और मस्तिष्करूपी समुद्र वा हृदय प्रधान है।

हृदय शब्द की व्याख्या कर दी। उसकी ब्रह्माण्डस्थ समुद्र से भी तुलना बता दी। उससे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि पिण्ड में भी ब्रह्माण्ड के समान तीन समुद्र हैं, जिन्हें शारीरिक परिभाषा में हृदय कहते हैं। परन्तु जो व्यक्ति पूर्व निर्देश से भी नाभि और मस्तिष्क को हृदय शब्द वाच्य मानने को तैयार नहीं, उसके लिये हम प्राचीन शास्त्रों के प्रमाण उपस्थित करते हैं। जिनसे नाभि और मस्तिष्क की हृदयपदवाच्यता स्पष्ट हो जाती है।

नाभि के लिये हृदय शब्द का व्यवहार—सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय १४ में एक वचन है—

---

१. द्र०—पृष्ठ २१८, टि० २ में उद्धृत चरकपाठ।

२. यजुः १७।९३ में हृद्य समुद्र, सैंकड़ों मार्गों में जानेवाली नाड़ियों का, सोमरूपी घृत की धाराओं, और उनके मध्य हिरण्यय वेतस का उल्लेख है।

"उपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यः तेजोभूतः सारः स रस इति उच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम्। स हृदयात् चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य··· कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति।"

अर्थात्—भक्षण किये अच्छे प्रकार पचे हुए आहार का जो तेजरूप सार है, वह रस कहाता है। उसका स्थान हृदय है। वह रस हृदय से २४ धमनियों में प्रविष्ट होकर ~ सम्पूर्ण शरीर को प्रतिदिन पुष्ट करता है।।

पचे हुए आहार से निष्पन्न रस का स्थान नाभि है। लोकप्रसिद्ध उरःस्थानीय हृदय नहीं है, यह सर्वलोकविदित है। अतः यहां हृदय शब्द नाभि का ही वाचक है। इसकी पुष्टि सुश्रुत के शरीरस्थान अ० ९ से भी होती है। वहां लिखा है—

"चतुर्विंशत्यो धमनयो नाभिप्रभवा अभिहिताः···तासां तु नाभिप्रभवाणां धमनीनां ऊर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्रश्च तिर्यगाः"।[1]

अर्थात्—नाभि से निकलनेवाली २४ धमनियां कहीं जा चुकी हैं।······ उन नाभि से निकली हुई धमनियों में से दश ऊपर जानेवाली हैं, दश नीचे की ओर, और चार तिरछी।।

सुश्रुतकार का 'नाभि से निकली २४ धमनियों' का संकेत पूर्वोक्त—'हृदय से निकलनेवाली २४ धमनियों' की ओर ही है, यह दोनों स्थलों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है। सुश्रुत में सूत्रस्थान अध्याय १४ के अतिरिक्त कहीं भी 'नाभि से निकलनेवाली २४ धमनियों का वर्णन नहीं है।' अतः 'अभिहिताः' का संकेत उक्त हृदय-पद-घटित वाक्य की ओर ही है, यह स्पष्ट है। भिषक्प्रवर गणनाथ सेन ने 'हृदय' शब्द को केवल लोकप्रसिद्ध अर्थ का वाचक न मानकर इसका मस्तिष्क अर्थ भी दर्शाया है। परन्तु उन्होंने सुश्रुत (सूत्र० अ० १४) के प्रथम उद्धृत वचन में हृदय शब्द को लोकप्रसिद्ध उरःस्थानीय अवयव का वाचक मानकर सुश्रुत के उपर्युक्त दोनों पाठों में विरोध दर्शाया है। वे लिखते हैं—

१. तुलना करो—धमन्यो नाभितो जाताश्चतुर्विंशतिसंख्यया। दशोर्ध्वगा दशाधोगाः शेषा तिर्यग्गताः स्मृताः।। भावप्रकाश पूर्व खण्ड गर्भप्रकरण २६४।

"स्वोक्तिविरोधश्च संज्ञार्थव्याकुलीभावनिमित्तः सुश्रुते । यथा सूत्रस्थाने 'हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य' इत्यभिधाय पुनः शारीरे 'चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः' इति सूचनम्" । प्रत्यक्षशारीर भाग १, उपोद्घात पृष्ठ ६६, संस्करण २ ।

यदि गणनाथ सेन जी सुश्रुत के पाठों की सूक्ष्मता से तुलना करते, और उस पर विचार करते, तो वे दोनों पाठों में विरोध दर्शाने की भूल न करते ।

मस्तिष्क के लिये हृदय शब्द का व्यवहार—आध्यात्मिक परिभाषा में आदित्य पद शिर=मस्तिष्क का वाचक है । यजुर्वेद ४०।१७ में कहा है—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ।' प्रकरण आत्मा का होने से 'अहं' पदवाच्य यहां आत्मा ही है । इस आत्मारूपी ब्रह्म से परब्रह्म को पृथक् करने के लिये आगे कहा है—'ओम् खं ब्रह्म', ओम् खं=आकाश के समान सर्वव्यापक ब्रह्म है । उक्त याजुष मन्त्र में उक्त आध्यात्मिक आदित्य को शतपथ ६।१।३।३४ में हृदय कहा है—'असौ वा आदित्यो हृदयम्' । मैत्रायणी आरण्यक ६।३४ में हिरण्यवर्ण शकुन=पक्षी[1]=आत्मा को आदित्यरूप हृदय में प्रतिष्ठित कहा है—'हिरण्यवर्णः शकुनः हृदि आदित्ये प्रतिष्ठितः ।' इस वचन में हृद् (=हृदय) और आदित्य दोनों पदों का निर्देश करके सारी समस्या ही सुलझा दी है ।

अथर्ववेद १६।६।५ का मन्त्र है—

'इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संश्रितानि···।'

इस मन्त्र में मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों को ब्रह्म=आत्मा के साथ हृद् (=हृदय) में स्थित कहा है[2] । इन्द्रियों का स्थान शिर है । इनके तन्तुओं का सम्बन्ध मस्तिष्क=ब्रह्मरन्ध्र वा ब्रह्मगुहा के साथ सर्ववादीसम्मत है । उसी इन्द्रियों के स्थान को इस वचन में हृद (=हृदय) कहा है, और वहीं आत्मा का वास बताया है ।

---

१. आत्मा के लिए पक्षी शब्द का प्रयोग सन्तों की वाणियों में प्रायः मिलता है । लोक में भी यह इस अर्थ में प्रसिद्ध है ।

२. तुलना करो—षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम् । आत्मा च सगुणश्चेतः चिन्त्यं च हृदि स्थितम् ।। चरकसूत्र स्थान ३०।४।। विज्ञान, इन्द्रियां, पांचों अर्थ (=रूपादि), आत्मा, चेतः (=मन), चिन्त्य ये छः हृदय में स्थित हैं । इसलिये यह हृदयाङ्ग षडङ्ग कहा जाता है ।

निरुक्त ४।१३ में इन्द्रियों को शिर में समाश्रित कहा है—'इदमपि इतरच्छिर एतस्मादेव। समाश्रितान्येतदिन्द्रियाणि भवन्ति।' ऋग्वेद १।१६४। २१ के 'यत्रा सुपर्णा:०' मन्त्र का व्याख्यान यास्क ने अधिदैवत और अध्यात्म दोनों पक्षों में किया है। अधिदैवत में सुपर्ण आदित्य की रश्मियां हैं, उनका गोपा=रक्षक आदित्य है। अध्यात्म में सुपर्ण इन्द्रियां हैं, इनका गोपा आत्मा है (द्र०—निरुक्त ३।१२)। इसकी व्याख्या में दुर्गाचार्य लिखता है—'अध्यात्मेऽपि हृद्याकाशात् यानि इन्द्रियाणि प्रसर्पन्ति, त एव रश्मय:' अर्थात् अध्यात्म में हृद् (=हृदय) आकाश से जो इन्द्रियां गति करती हैं, वे वही रश्मियां हैं। अधिदैवत में रश्मियों के प्रसरण का स्थान आदित्य है। अत: अध्यात्म में इन्द्रियों का प्रसरणस्थान हृदयरूपी आदित्य=मस्तिष्क ही है, यह स्पष्ट है।

आयुर्वेदोक्त चेतनास्थानीय हृदय

चरक सूत्रस्थान अ० १७ में स्पष्ट लिखा है—

> प्राणा: प्राणभृतां यत्र श्रिता: सर्वेन्द्रियाणि च।
> यदुत्तममङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥

अर्थात् इन्द्रियों की स्थिति शिर में है। इसे ही अध्यात्मविद् 'हृदय' कहते हैं।

चरक सूत्रस्थान ३०।७ में कहा है—'तत्परमसौजस: स्थानं यत्र चैतन्य-संग्रह:।' इसमें जहां चैतन्य की स्थिति कही है, उसे परम ओज का स्थान कहा है। यह परम ओज ही वह गोघृतवर्ण ईषत्पीतक[1] द्रव द्रव्य है, जो ब्रह्मगुहा में विद्यमान रहता है। अत: उक्त वचन के अनुसार वहीं चेतन आत्मा का निवास है। 'हृदये चित्तसंवित्' (३।३४) इस योगसूत्र में, तथा 'तद् (=हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्' इस सुश्रुत (शारीर० ४।३१) वचन में ओज के स्थानरूप हृदय में चेतना की स्थिति कही है। चरक निदान स्थान ८।३ में कहा है—'आत्मन: श्रेष्ठमायतनं हृदयम्।'

इस प्रकार उपर्युक्त चरक सुश्रुत के वचनों को मिलाकर विचार करने से विदित होता है कि आत्मा का आयतनरूपी हृदय लोकप्रसिद्ध हृदय नहीं है।

---

१. द्र०—पृष्ठ २१८, टि० २॥

सुश्रुत (शारीरस्थान अ० ४) में स्पष्ट कहा है—

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ।।

अर्थात् हृदय कमल के समान अधोमुख है । जाग्रत् अवस्था में वह विकसित हो है, और निद्रावस्था में वह संकुचित होता है ।।

इस सुश्रुत वचन में हृदय का जो अवस्थाभेद से संकोच-विकास धर्म कहा है, वह लोकप्रसिद्ध उरःस्थानीय अवयव का नहीं है । क्योंकि वह तो जाग्रत् वा स्वप्न दोनों अवस्थाओं में एकसा रहता है । मस्तिष्क के ये दोनों धर्म होते हैं । स्वप्न में कमल के समान संकुचित होने से ही इन्द्रियां बाह्यमुखी नहीं रहतीं, वे बन्द-सी हो जाती हैं । इससे स्पष्ट है कि यहां हृदय शब्द मस्तिष्क का ही वाचक है ।

अब हम इस विषय में आयुर्वेदिक शल्यतन्त्र के पुनरुद्धारक भिषक्प्रवर गणनाथ सेन की सम्मति उद्धृत करते हैं । गणनाथ सेन स्वविरचित 'प्रत्यक्ष शारीर' के नाडीखण्ड के प्रथम पृष्ठ पर 'तत्र साङ्गोपाङ्गं मस्तिष्कं सहस्रदलपद्मसदृशत्वात् सहस्राकारमिति मन्यन्ते योगिनः' की पाद-टिप्पणी में लिखते हैं—

"यत्तु वैद्यके--'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य' (चरक) इत्यादि-विरुद्धप्राय-वचनम्, तन्मस्तिष्कमूलस्थिताज्ञाचक्रांशभूतब्रह्महृदयाभिप्रायेण । योगिनो हि षट्चक्रमुपक्रम्य 'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्' इति स्पष्टमाहुः; न च मनोविरहिता बुद्धिरस्ति । श्रुतिश्च—'हृदयं चेतनास्थानम्'[1] इत्यादि प्राचीनवचनम् । 'तदपि तदभिप्रायकमेव ।' जाग्रतस्तद्विकसति'[2] इत्यादि-निर्देशात् इति दिक् । न च मांसमयमेव हृदययन्त्रं तदिति वाच्यम् ? तद्धि न कथमपि तादृग्लक्षणाभिधेयं भवितुमर्हति, असम्भवात् । तदेतदखिलमस्मदीये शारीरमीमांसाख्ये ग्रन्थे विस्तरेण स्फुटीकृतं द्रष्टव्यम् ।"

अर्थात्—सब प्रकार के ज्ञान का स्थान मस्तिष्क है । यह वैद्यक के 'बुद्धि के निवासस्थान हृदय को दूषित करके' इस वचन से विरुद्ध नहीं है । वैद्यक-वचन में हृदय शब्द से मस्तिष्क के मूल में स्थित आज्ञाचक्र (=आज्ञाकन्द) का अंशरूप ब्रह्म-हृदय अभिप्रेत है । योगीलोग षट्चक्रों के निरूपण के प्रसंग में

---

१. तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानम् । सुश्रुत शारीर ४।३१।।

२. सुश्रुत शारीर अ० ४।।

मस्तिष्क के मूल में अवस्थित आज्ञाचक्र का वर्णन करते हुए 'इस पद्म के अन्दर सूक्ष्मरूप मन निवास करता है' ऐसा स्पष्ट कहते हैं। मन से रहित बुद्धि नहीं रह सकती। उपनिषद् में भी—'यह जो हृदय के अन्दर आकाश है, उसमें मनोमय पुरुष रहता है' ऐसा लिखा है। सुश्रुताचार्य ने जो 'हृदय चेतना का स्थान है' इत्यादि प्राचीन आचार्यों का मत उद्धृत किया है, वह भी इसी अभिप्रायवाला है (अर्थात वहां भी हृदय से मस्तिष्काव-यवभूत ब्रह्म-हृदय ही अभिप्रेत है)। क्योंकि उसके लिये सुश्रुत में 'वह जाग्रत् अवस्था में विकसित होता है, और स्वप्नावस्था में संकुचित होता है' ऐसा कहा है। मांसमय हृदय-यन्त्र ही यहाँ अभिप्रेत है, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि उसमें उक्त लक्षण सम्भव नहीं (अर्थात् उसमें जाग्रत् अवस्था में विकसित होना, और निद्रा में संकुचित होना लक्षण नहीं पाया जाता। वह तो दोनों अवस्थाओं में समानरूप से कार्य करता है)। यह सब हमने शारीरमीमांसा ग्रन्थ में विस्तार से स्पष्ट किया है वहां देखना चाहिए॥

उपनिषद्-वचन की मीमांसा

अब रह जाता है तैत्तिरीय उपनिषद् का एक वचन, जिसे उरःस्थानीय हृदयरूपी अवयव में आत्मा का निवास माननेवाले सज्जन उपस्थित करते हैं। वह वचन इस प्रकार है—

"स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके य स्तन इवावलम्बते, स इन्द्रयोनिः। यत्राऽसौ केशान्तो विवर्तते तदपोह्य शीर्षकपाले।" तै० उप० १।६।१॥

अर्थात्—यह जो हृदय के अन्दर आकाश है, उसमें मनोमय (=विज्ञान-मय) नाशरहित हिरण्मय (=ज्योति से आवृत) पुरुष रहता है। जो तालुओं के मध्य में स्तन के समान लटकता है। वह इन्द्र (=जीव) की योनि (=घर) है। जहां वह केश दोनों शीर्षकपालों को घेरकर मूलविभाग से रहता है, अर्थात् मूर्धप्रदेश।[1]

---

१. तै० उप० शाङ्करभाष्य (दशोपनिषद् शांकरभाष्य) बनारस हित-चिन्तक मुद्रालय से मुद्रित, पृष्ठ २६७ में उपनिषद् के 'केशान्तः' पद पर टिप्पणी है—'केशान्तः मूर्धानमारभ्योपरिष्टाद् दशाङ्गुलपरिमितो देशः।' तुलना करो—'अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्।' यजुः ३१।१॥

इस वचन में 'हृदय में पुरुष का निवास' कहकर अगले ही वाक्य में 'तालु से लेकर कपाल के शीर्षपर्यन्त भाग को इन्द्र का घर कहा है[१]'। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि यहां हृदय शब्द उरःस्थानीय अवयव का वाचक नहीं है। इन्द्र जीव का वाचक है, यह पाणिनि ने 'इन्द्रियमिन्द्रदृष्टम्' (५।२।९३) सूत्र में स्पष्ट कहा है।

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि हृदय शब्द मस्तिष्क का भी वाचक है, केवल उरःस्थानीय मांसमय अवयव का ही नहीं। अतः 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' (कठोप० ६।१७) इत्यादि प्रमाणों से लोक-प्रसिद्ध हृदय अवयव ही आत्मा का निवासस्थान है, ऐसा मानना न केवल अनुचित है, अपितु वेद और शरीरविज्ञान से भी विपरीत है। इसलिये उक्त कठादि श्रुतियों में भी हृदय का अर्थ मस्तिष्कान्तर्गत आज्ञाकन्दों के मध्य वर्तमान ब्रह्मगुहा[२] ही करना उचित है।

अब रह जाता है तीसरा मत—'जीवात्मा सुषुम्ना में निवास करता है'। इस प्रसिद्धि का मूल कारण यही है कि सुषुम्ना का शीर्षभाग ब्रह्मगुहा से संबद्ध है। इसलिये ब्रह्मगुहा में जो ब्रह्मजल है, उसको शारीर परिभाषा में 'मस्तिष्कसुषुम्नान्तरीय जल'[३] संज्ञा से कहा जाता है। यही ओजरूपी अष्टम धातु है,[४] जिससे शरीर ओजस्वी होता है। इसी जल में आत्मा का निवास है[५]। अतः सुषुम्ना के साथ संबन्ध होने से आत्मा का निवास सुषुम्ना में माना जाता है।

---

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—उपासनाविषय के अन्त में '**अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरम्**' की हिन्दी-व्याख्या में लिखा है—'कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, उसको ब्रह्मपुर—··· कहते हैं।' यह भाषागत लेख वेदादि सकल वैदिक वाङ्मय से विरुद्ध होने से अप्रमाण है। इसका मूल संस्कृत में नहीं है।

२. आज्ञाकन्दों की आकृति मनुष्य के अंगुष्ठ से मिलती है। द्र०—प्रत्यक्षशारीर भाग ३, पृष्ठ ८५ पर संख्या २२१ का चित्र।

३. द्र०—प्रत्यक्ष शारीर भाग ३, पृष्ठ ८३।

४. द्र०—पूर्व पृष्ठ २१८, टि० २।

५. बाइबल के आरम्भ में लिखा है कि—'परमेश्वर का आत्मा जल के ऊपर डोलता था।' सम्भवतः इस प्रसिद्धि का मूल भी यही रहा हो। इसके साथ पूर्व पृष्ठ २१३ की टिप्पणी ३ भी देखें, जिसमें पुराण और बाईबल पर आसुरी संस्कृति की छाप है, ऐसा लिखा है।

इस प्रकार वैदिक वचनों की विवेचना करने से स्पष्ट हो जाता है कि लोकप्रसिद्ध हृदय या सुषुम्ना दोनों ही मूलतः आत्मा के निवासस्थान नहीं हैं। 'आत्मा का निवास वस्तुतः मस्तिष्कान्तर्गत दोनों आज्ञाचक्रों=(कन्दों) के मध्य ब्रह्मगुहा में ही है। वेद ने आत्मनिवासस्थान का जो वर्णन किया है, वह शरीर के अन्य किसी अवयव पर नहीं घट सकता। अतः वेद के मत में आत्मा का निवासस्थान ब्रह्मगुहा ही है। उपनिषद्-वचनों में हृदय शब्द का अभिप्राय भी उसी स्थान से है। वैदिक वाङ्मय में मस्तिष्क को भी हृदय शब्द से कहा जाता है। सुषुम्ना का मूल भी वहीं संबद्ध है। अतः लोक-प्रसिद्धियों का भी इस अर्थ में अनुगमन हो जाता है॥

——०——

ओज=सेरिब्रोस्पाइनल फ्लूड

श्री स्वामी कृष्णानन्द जी कालेड़ा, कृष्णगोपाल (अजमेर)

ओज का वर्णन वेद-संहिताओं में मिलता है, किन्तु उतना अधिक स्पष्टीकरण नहीं मिलता है। अथर्ववेद काण्ड १२ के ५वें सूक्त में **'उरोजश्च तेजश्च सहश्च बलं च"** मन्त्र ७ के पूर्वार्द्ध में मिलता है। इस मन्त्र से ओज, तेज, सह, बल ये सब पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा स्पष्ट होता है। आगे काण्ड १९ के सूक्त ३७ के प्रारम्भ के पूर्वार्ध मन्त्र में **'सह ओजो वयो बलम्'** दिया है। इससे भी ऊपर दर्शाया हुआ भाव दृढ़ होता है। तैत्तिरीय संहिता काण्ड ५ के तीसरे प्रपाठक के कई अनुवाकों में ओज शब्द आया है। इनमें ६वें अनुवाक में ओज की प्राप्ति आदित्य से दर्शायी है। उससे अधिक स्पष्टीकरण ऋग्वेद के वचनों में भी नही मिल सका है।

सुश्रुत-संहिता सूत्रस्थान अध्याय १ में भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है—**'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च।......तास्तु द्विविधाः स्थावरा जङ्गमाश्च ॥२८॥**

इस वचन से स्थावर (==अनाज आदि), जङ्गम (दूध, घृत, मांस आदि) से बल वर्ण और ओज की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि बल वर्ण और ओज तीनों भिन्न हैं।

भेलसंहिता शारीरस्थान शरीरविचय अध्याय ५ में कहा है—**'इह खलु ओजस्तेज: शरीरे नित्ये च भवत:'** । अर्थात्—ओज (=**ब्रह्मवारि**) और उसमें रहा हुआ परओजरूप विद्युत्-प्राण जीवित देहों में नित्य रहते हैं।

आयुर्वेद की संहिताओं में ओज-लक्षण, ओजस्थान, ओज-कार्य, ओज की न्यूनाधिकता से उत्पन्न परिणाम आदि दर्शाये हैं। टीकाकारों ने जो टीका की है, एवं जो प्रतिसंस्कार हुआ है, यह सब प्राचीन परम्परा के विच्छिन्न होने पर हुआ है। बौद्ध युग में घोर प्रतिबन्ध लगा हुआ था, एवं स्थान-स्थान पर दुष्काल, महामारी, भूकम्प आदि से भी अन्तराय होता रहता था।

टीकाकारों ने **शिरोहृदय का परित्याग करके उरोहृदय में ओज का स्थान दर्शाया**। इस हेतु से काफी भ्रान्ति उत्पन्न हुई है। मूल संहिताओं के वचनों पर से विचार किया जायगा, तो ही ओज, ओजस्थान, ओज-स्वरूप आदि का परिचय मिल जायगा।

चरक संहिता सूत्रस्थान अ० १७ में कहते हैं कि—

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् ।
ओज: शरीरे संख्यातं तन्नाशात् ना विनश्यति ।।७५।।

हृदय में शुद्ध, रक्ताभ, पीताभ द्रव्य रहता है, वह ओज है। उसका नाश होने पर मनुष्य का नाश हो जाता है ।।

आगे शारीर स्थान अ० ७-१७ में मस्तिष्क द्रव्य, शुक्र, श्लेष्म और ओजस, सब का सामान्यत: अर्धाञ्जलि मात्रा में रहने का वर्णन किया है।

काश्यप संहिता सूत्रस्थान रोगाध्याय २० में कहते हैं कि—

हृदि श्लेष्मानुपश्लिष्टमाश्यावं रक्तपीतकम् ।
तदोजो, वर्धते जन्तुस्तद्वृद्धौ, क्षीयते क्षये ।।१५।।

श्लेष्म से भिन्न, कुछ रक्ताभ तथा पीताभ श्वेत द्रव्य हृदय में रहता है, वह ओज है। उस ओज की वृद्धि (=ओज में रहे हुए परओज की वृद्धि) से जीवों की आयु की वृद्धि होती है, और क्षय होने पर आयु क्षीण होती है ।।

शिरोहृदय में से परओज ओजोवहा मुख्य नाड़ियों द्वारा सब स्थानों में चारों ओर पहुंचाया जाता है। इस हेतु से स्वेद, मल, मूत्र और शुक्र-रज द्वारा बाहर निकलता है। और चोट लगने पर रक्त और ओज स्राव के भीतर निकल जाता है। इनमें ओज का स्राव हो जाय, तो अधिक हानि पहुंचती है।

स्वस्थावस्था में स्वेद, मल, मूत्र में जितना परश्रोज जाता है, उससे कई गुना अधिक शुक्र-रज के साथ निकलता है। इसी हेतु से आचार्यों ने ब्रह्मचर्य के पालन से परश्रोज की वृद्धि दर्शायी है।

श्वास-त्याग के साथ भी परश्रोज कुछ जाता है, किन्तु शुद्ध वायु में ग्रहण किये हुए प्राण द्वारा अधिक परश्रोज की प्राप्ति हो जाती है। इस उद्देश्य से आचार्यों ने प्राणायाम को ओज, तेज, बल और आयु की वृद्धि करने=बढ़ानेवाला तथा रोगहर कहा है।

कई प्रकार के रोगों में ओजक्षय (=प्राणक्षय) अत्यधिक हो जाता है। जैसे कि राजयक्ष्मा में कच्चे पतले दस्त होते रहेंगे तो प्राण क्षय अधिक होता है। इसी उद्देश्य से आचार्यों ने **"मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवितम्"** यह वचन राजयक्ष्मा प्रकरण में कहा है। इसी अन्त्रक्षय(*Intestinal T.B.*) में मल के साथ, मधुमेह में मूत्र के साथ, ज्वर में स्वेद के साथ, और संग्राहक शक्तिहीन हुए श्वास रोग में नि:श्वास के साथ प्राणक्षय अत्यधिक होता है।

सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान (अ० १५।२१-२२) में उपदेश दिया है कि—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम् ॥२१॥
देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति देहिनः।
तदभावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ॥२२॥

ओज सोमात्मक (=प्राणिमात्र के उत्पादक मूल प्रकृति द्रव्यात्मक), स्निग्ध, विशेषतः शुक्लवर्ण, शीतवीर्य, स्थिर (=चञ्चलता उत्पन्न न करनेवाला), सर(=देहव्यापी), विविक्त(=सर्वव्यापी होने पर भी जलकमलवत् पृथक् रहनेवाला), मृदु (=कोमल), मृत्स्न (=पिच्छिल) और प्राणों का उत्तम आयतनरूप है[1] ॥

---

१. चरक संहिता शारीर अ० ७-११ में प्राणों के १० आयतन(=मूर्धा, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुदा, बस्ति, ओज, शुक्र, शोणित और मांस) कहे हैं। इन सब आयतनों में ओज को भगवान् धन्वन्तरि ने जैवी उत्तम प्राणायतन कहा है।

नव्य शारीर शास्त्र के अनुरूप ओज युवा मनुष्यों के भीतर करीब १५० सी० सी० स्वच्छ, परन्तु रक्ताभ कुछ क्षारीय (Alkaline), रक्तवारि (Blood Plasma) के समान कुछ क्षार और कुछ द्राक्षशर्करायुक्त होता है, इसका विशिष्ट गुरुत्व १००७ है।

यह ओज जीवात्मा के देह में सर्व अवयवों के भीतर व्याप्त हुआ हुआ है। यदि इस ओज का नाश हो जाय, तो जीवों के शरीर नष्ट हो जाते हैं।

इस ओज को सद्गत महामहोपाध्याय गणनाथसेन ने ब्रह्मवारि, ध्यानविन्दु आदि उपनिषदों में पीयूष, हठयोगप्रदीपिका में अमरवारुणि, और नव्य शारीरशास्त्र में सेरिब्रो-स्पाइनल फ्लूड (*Cerebro-spinal fluid*) संज्ञा दी है। इस ओज की पर-ओज संज्ञा भी है। इसका वर्णन चरकसंहिता सूत्रस्थान अध्याय ३० में मिलता है, जो आगे दर्शाया है। जिस तरह वायु में विद्युत् रहती है, उसी तरह ओज के भीतर विद्युत् है। आचार्यों ने अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए उसे परओज संज्ञा दी है। शुक्र के साथ गर्भाशय में वही प्रवेश करता है। शुक्र और रज नष्ट हो जाते है; किन्तु विद्युत् माता-पिता के और पूर्वजन्मों के संगृहीत संस्कारों के अनुरूप गर्भविकास, और मस्तिष्क में संस्कारों को संचित करती है। वनस्पतियों के बीजों से उत्पन्न वृक्षादि में भी यही विद्युत् बाह्यसुविधाओं के अनुरूप निर्माणक्रिया करती है।

चरकसंहिता सूत्रस्थान अ० ३० मे हृदयवर्णन के भीतर कहा है कि—

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सिते ॥६॥
तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥७॥
येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः।
यद्दते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥८॥
यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद् गर्भरसाद्रसः।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा ॥९॥
यस्यानाशान्न नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितम्।
यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥१०॥

भगवान् आत्रेय ने जो हृदय निर्णीत किया है, उसके भीतर पर-ओज (=विद्युत्) का स्थान है, उसी में चैतन्य का निवास है। इस हृदय को चिकित्सकों ने महान् अर्थ की सिद्धि करानेवाला होने से **महदर्थ** कहा है ॥६॥

उस हृदयरूप मूल से **दश शिराएं** निकलती हैं, उनको **महामूला** कहा है। कारण, वे शाखा-प्रशाखाओं द्वारा देह में चारों ओर सर्वत्र ओज पहुंचाती रहती हैं। इसलिये वे **'ओजोवहा'** भी कहलाती हैं ॥७॥

जिस ओज से तृप्त हुए सर्व जीव प्राणों को धारण करते हैं, उस ओज का अभाव होने पर सब जीवों का जीवन नहीं टिक सकेगा ॥८॥

जो परश्रोज (=विद्युत्) गर्भधारण के आरम्भ में शुक्र और रज के भीतर साररूप है, और जिसमें से गर्भकलल का निर्माण होता है, उसमें यह परश्रोज साररूप ही रहता है। सब से पहले **'शिरोहृदय'** निर्माण होता है, उस समय वह शिरोहृदय के भीतर प्रवेश करता है। जो ओज का नाश हो जाय, तो गर्भ की भी मृत्यु हो जाती है। और हृदय में वह उपस्थित है, तो गर्भ का धारण होता है। वह ओज देह के रसों का स्नेह (=साररूप) है। उसी के आधार से प्राणों की अवस्थिति है ॥९-१०॥

गर्भविज्ञान शास्त्र *(Embryology)* के आधुनिक अनुभवों के अनुसार कलल बनकर परिपक्व होने पर शिरोहृदय का परिचय मिल जाता है। कुछ दिन या करीब दो सप्ताह में एक हांडी के मुंह पर दूसरी हांडी, दूसरी हांडी के मुंह पर तीसरी हांडी रखी हो, और आगे एक नलिका बनी हो, करीब वैसी आकृति प्रतीत होती है। इनमें पहली हांडी अग्रिम मस्तुलुङ्ग पिण्ड की, दूसरी मध्यम मस्तुलुङ्ग पिण्ड की, तीसरी पश्चिम मस्तुलुङ्ग पिण्ड की और नलिका सुषुम्ना काण्ड की रचनार्थ है, यह विदित हुआ है। **'उरोहृदय का निर्माण देर से होता है'** और श्वसन क्रिया जन्म होने पर चालू होती है।

जो परश्रोज(=विद्युत्) है, उसे प्रश्नोपनिषत् में प्राण(=विश्व का आद्य कारण प्राण और रवि, इन दो में से जो मुख्य है वह) संज्ञा दी है। प्राण विद्युत् है, रवि प्रकृति है। अथर्वसंहिता काण्ड ११ के चतुर्थ सूक्त में उसी प्राण को मातरिश्वा, विद्युत्, सूर्य, चन्द्रमा आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। वही गर्भ के भीतर प्रवेश, धारण, पोषण और संरक्षण करता है। तथा वही पुन: पुन: देहों के भीतर आवागमन करता है।

इस तरह के विवेचन से ओज का परिचय मिल जाता है। जो उरोहृदय में ओज कहनेवाले हैं, **उनको वहां पर ओज अप्रत्यक्ष मानकर संतोष करना पड़ता है।** यदि दुराग्रह छोड़कर मस्तिष्क सुषुम्ना स्थित विद्युत्प्रधान **'दह्मवारि' को ओजरूप** से स्वीकार करें, तो शिरोहृदय का परिचय मिल जाता है। वही चेतनास्थान प्रधान हृदय है।

बृहदारण्यक श्रुति ४।२।३—**'अन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिव'** वचन के अनुसार हृदय के भीतर लोहित पिंड है। उस हृदय के भीतर जालक सदृश (अनेक नाड़ियों के छिद्र होने से जालसदृश) प्रतीति होती है। यह वचन शिरोहृदय दर्शाने के लिए है। उसीमें ओज रहता है ॥

यजुषां शौक्ल्य-कार्ष्ण्य-विवेकः

अस्ति वैदिकवाङ्मय ऋग्वेदानन्तरं यजुर्वेदस्य स्थानम् । महाभाष्यादि-प्राचीनग्रन्थेषु यजुर्वेदस्यैकोत्तरशतं शाखाः श्रूयन्ते । तथा हि—"एकशतमध्वर्यु शाखाः" इति । इमाश्चैकोत्तरशतं शाखाः शुक्लकृष्णभेदाभ्यां द्विधा विभक्ताः । तत्र शुक्लयजुषः कण्वमाध्यन्दिनकात्यायनीयादयः पञ्चदश शाखाः, कृष्णयजुषस्तु तैत्तिरीयमैत्रायणीकाठकादयः षडशीतिभेदाः । वाजसनेययजुषां कृते शुक्लशब्दस्य सर्वतः प्राचीनः प्रयोगः शतपथब्राह्मणस्यान्त उपलभ्यते । कृष्णशब्दस्य तादृशः प्राचीनप्रयोगो नास्माभिः क्वचिदुपलब्धः । तत्र किंनिमित्ता खलु यजुषां शुक्ल-कृष्णसमाख्येत्यत्र विवेच्यते ।

तत्र तावत् शाखोत्पत्तिप्रकरणे विष्णुपुराणे एवं श्रूयते—

यजुर्वेदतरोः शाखाः सप्तविंशन्महामुनिः ।
वैशम्पायननामासौ व्यासशिष्यश्चकार वै ।।
शिष्येभ्यः प्रददौ ताँश्च जगृहुस्तेऽप्यनुक्रमात् ।।
याज्ञवल्क्यस्तु तस्याभूद् ब्रह्मरातसुतो द्विजः ।
शिष्यः परमधर्मज्ञो गुरुवृत्तिपरः सदा ।।

ऋषिर्योऽद्य महामेरोः समाजे नागमिष्यति ।
तस्य वै सप्तरात्रात्तु ब्रह्महत्या भविष्यति ।।
पूर्वमेवं मुनिगणैः समयो यः कृतो द्विज ।
वैशम्पायन एकस्तु तं व्यतिक्रान्तवांस्तदा ।।

स्वस्रीयं बालकं सोऽथ पदा स्पृष्टमघातयत् ।
शिष्यानाह च भोः शिष्या ब्रह्महत्यापहं व्रतम् ।
चरध्वं मत्कृते सर्वे न विचार्यमिदं तथा ।।

अथाह याज्ञवल्क्यस्तु किमेतैर्बहुभिर्द्विजैः ।
क्लेशितैरल्पतेजोभिश्चरिष्येऽहमिदं व्रतम् ।।

ततः क्रुद्धो गुरुः प्राह याज्ञवल्क्यं महामुनिम् ।
मुच्यतां यत्त्वयाधीतं मत्तो विप्रावमानक ॥

निस्तेजसो वदस्येनान् यत्त्वं ब्राह्मणपुङ्गवान् ।
तेन शिष्येण नार्थोऽस्ति ममाज्ञाभङ्गकारिणा ॥

याज्ञवल्क्यस्ततः प्राह भक्त्यैतत्ते मयोदितम् ।
ममाप्यलं त्वयाधीतं यन्मया तदिदं द्विज ॥

इत्युक्त्वा रुधिराक्तानि सरूपाणि यजूंषि सः ।
छर्दयित्वा ददौ तस्मै ययौ च स्वेच्छया मुनिः ॥

यजूंष्यथ विसृष्टानि याज्ञवल्क्येन वै द्विज ।
जगृहुस्तित्तिरा भूत्वा तैत्तिरीयास्तु ते ततः ॥

ब्रह्महत्याव्रतं चीर्णं गुरुणा चोदितैस्तु तैः ।
चरकाध्वर्यवस्ते तु चरणान्मुनिसत्तम ॥

याज्ञवल्क्योऽपि मैत्रेय प्राणायामपरायणः ।
तुष्टाव प्रयतः सूर्यं यजूंष्यभिलषंस्ततः ॥

... ...

याज्ञवल्क्यस्तदा प्राह प्रणिपत्य दिवाकरम् ।
यजूंषि तानि मे देहि यानि सन्ति न मे गुरौ ॥

एवमुक्तो ददौ तस्मै यजूंषि भगवान् रविः ।
अयातयामसंज्ञानि यानि वेत्ति न तद्गुरुः ॥इति।

[विष्णु० ३।५।१-१५, २७-२८]

एवं भागवतादिष्वितरपुराणेष्वपि दृश्यते ।

इमां पौराणिकीं कथामनुसृत्य माध्यन्दिनसंहिताभाष्यकृन्महीधर आह—"तानि यजूंषि बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् कृष्णानि जातानि" इति । स्वामिविद्यारण्योऽपि—"बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् तद्यजुः कृष्णमीर्यते" इत्युक्तवान् । वान्तत्वाद् बुद्धिमालिन्यहेतुभूतास्तैत्तिरीयादिसंहिताः कृष्णाः, अयातयामत्वाद् अत एव बुद्धिमालिन्यदोषाभावान्मध्यन्दिन्यादिसंहिताः शुक्ला इत्युच्यन्ते । एतच्च पौराणिकं मतम् ।

अपरे विद्वांसोऽधीतस्य भुक्तान्नवद्वमनासंभवादुक्तकथाभिप्रायमित्थं मन्वते—यथा वमने भुक्तान्नानां मिथः साङ्कर्यं भवति, तथैव तैत्तिरीयादिसंहितासु मन्त्रब्राह्मणयोर्मिथः साङ्कर्यदर्शनात् कृष्णत्वम्, माध्यन्दिन्यादिषु मन्त्र-

ब्राह्मणयोः पृथक् पाठात् शुक्लत्वमिति। तथा चाह बृहदारण्यकभाष्यकारो द्विवेदगङ्गः—"**शुक्लानि यजूंषि शुद्धानि, यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकाणि कृष्णानि**" इति।

अन्ये खल्वाहुः—यथान्धकारे घटपटादिपदार्थानां भेदग्रहो न भवति, एवं तैत्तिरीयादिषु संहितासु इष्टयग्निष्टोमादीनां मन्त्रब्राह्मणानामेकत्रैव पाठात् कर्मणां पार्थक्यं विस्पष्टं न गृह्यते। अतोऽन्धकारवत्। तासु कृष्णत्वोपचारः। वाजसनेययजुःषु प्रतिकर्म मन्त्रा ब्राह्मणानि च विभज्य पृथक् पठ्यन्ते, अत एव व्यवस्थितप्रकरणत्वात् तेषु प्रकाशवत् शुक्लत्वमुपचर्यते। तथा चाह तैत्तिरीय-संहिताध्यायी भट्टयज्ञेश्वर आर्यविद्यासुधाकरे—"सोऽयं यजुर्वेदः शुक्ल इत्यभिधीयते, यतोऽत्र दर्शपौर्णमासप्रभृतिसर्वयज्ञेषूपयुक्तानां यजुर्मन्त्राणां ब्राह्मणासंकीर्णानां यथायोग्यक्रमेण विन्यासेन याज्ञिकानां व्यामोहाजननात्। प्राचीनयजुर्वेदस्य तु ब्राह्मणसंकीर्णत्वात् तत्तद्यज्ञीयमन्त्राणामनुक्रमेण पाठाभावाच्च ततो यज्ञकर्मानुष्ठानमार्गस्य दुर्ज्ञेयत्वात् कृष्णत्वम्" [पृ० ४६] इति।

एवं प्रतिज्ञापरिशिष्टभाष्येऽनन्तदेवोऽप्युवाच—

बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् तद्यजुः कृष्णमीर्यते।
व्यवस्थितप्रकरणत्वात् तद्यजुः शुक्लमीर्यते॥इति।

चरणव्यूहटीकाकारो महिदासस्तु शुक्लकृष्णनाम्नोः कारणान्तरमाह—"**वेदोपक्रमणे चतुर्दशीयुक्तपौर्णिमाग्रहणात् शुक्लयजुः, प्रतिपद्युक्तपौर्णिमाग्रहणात् कृष्णयजुरिति वा" (पृ० ३९) इति।**

अस्यायमभिप्रायः—या श्रावणी पौर्णमासी मध्याह्नात् प्रागेव समाप्यते, तत्र वेदोपक्रमणे द्वौ पक्षौ। एके चतुर्दशीयुक्तायां पौर्णमास्यां चतुर्दश्याः प्रातरेवोपाकर्माचरन्ति, अपरे प्रतिपद्युक्तायां पौर्णमास्यां प्रातरुपाकर्म कुर्वते। तत्र ये खलु चतुर्दशीयुक्तपौर्णमास्यामुपाकर्मातिष्ठन्ते ते शुक्लपक्षीयाः, ये च प्रतिपद्युक्तायां पौर्णमास्यामुपाकर्मकारिणस्ते कृष्णपक्षीया उच्यन्ते। तद्योगात्तेषां यजूंष्यपि शुक्लकृष्णनामभ्यां व्यवह्रियन्ते।

शुक्लकृष्णसमाख्याया अपरं किञ्चित्कारणं मैत्रायणीसंहितायां श्रूयते। तथा हि—"**दर्शो ह वा एतयोः पूर्वः पूर्णमास उत्तरः। अथ पूर्णमासं पूर्वमालभन्ते तदयथापूर्वं क्रियते, तत्पूर्णमासमालभमानः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्**" [१।४।१५] इति।

अस्यायमभिप्राय:—दर्शपौर्णमासेष्टयोरारम्भको दर्शेष्टिं प्रथममारभेत, न पौर्णमासेष्टिम् । यतो हि नामधेये दर्श एव पूर्वो भवति पौर्णमासी चोत्तरा । तस्मात् पौर्णमासेष्टिं प्रथमं प्रयुञ्जानस्तत्प्रायश्चित्त्यै सारस्वतेष्टिं कुर्यादिति ।

मीमांसकमतानुसारमन्यदेव कारणमनुमीयते । पूर्वमीमांसायां पिण्डपितृयज्ञस्य दर्शेष्टयनङ्गताधिकरणे (४।४–८) यदा पौर्णमास्यामग्न्याधानं तदा क्रमप्राप्तायाममावास्यायां दर्शेष्टया: प्रतिषेध उक्त: । तत्रायमभिसन्धि:—अग्न्याधाने द्वौ पक्षौ, अमावास्यायामग्नीनादधीत पौर्णमास्यां वा । यदा त्वमावास्यायामग्न्याधानं तदा क्रमप्राप्तायां पौर्णमास्यां प्रथमां पौर्णमासेष्टिं कुर्यात् । यदा च पौर्णमास्यामग्न्याधानं तदा क्रमप्राप्तायाममावास्यायां प्रथमां दर्शेष्टिं परिहायाऽऽगामिन्यां पौर्णमास्यामेव प्रथमां पौर्णमासेष्टिं कुर्यादिति । तथा चाथर्ववेदेऽपि पौर्णमासेष्टया: श्रूयते—"**पौर्णमासी प्रथमा यज्ञिया**" (७।८०।४) इति ।

एवं दर्शपौर्णमासेष्टयारम्भे द्वौ पक्षौ—केचनामावस्यायामारभन्ते, अपरे पौर्णमास्याम् । शुक्लयजु:संहितासु दर्शेष्टिमन्त्राणां प्राथम्येऽपि तद्ब्राह्मणे तान् परिहाय पौर्णमासेष्टिमन्त्रा एव प्रथमं व्याख्यायन्ते, ततो दर्शेष्टिमन्त्रा इति । अतो वाजसनेयिन: पौर्णमासेष्टया: प्राथम्यमुररीकुर्वन्तीति विस्पष्टम् । तदेवं दर्शेष्टया: प्राथम्यं स्वीकुर्वन्त: कृष्णपक्षीया:, पौर्णमासेष्टया: प्राथम्यं प्रतिपादयन्त: शुक्लपक्षीया इति । तद्योगादेव तेषां यजूंष्यपि शुक्लकृष्णनामभ्यामुपचर्यन्त इति ।

वयं तु मन्यामहे—कृष्णयजुषां तत्रभवत: कृष्णद्वैपायनस्य तच्छिष्यप्रशिष्याणां च प्रवचनात् कृष्णत्वम् । तत्प्रतिपक्षे याज्ञवल्क्यस्य तच्छिष्यप्रशिष्याणां च प्रवचने शुक्लशब्द: प्रयुक्तोऽभूदिति ।

काशकृत्स्ने धातुपाठे '**शुक्ल सर्जने**' धातु: पठ्यते । सर्जनस्य त्यागोऽर्थो व्याख्याकारेण व्याख्यात: (द्र०—काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम् ९।६८।–पृष्ठ१९६) त्यागेन यदि निष्कामतोच्येत, तर्हि निष्कामभावेन कृतानि कर्माणि शुक्लानि, कामनाकृतानि कृष्णानीति वक्तुं शक्यते । कृष्णयजु:शाखासु काम्यकर्मणां यावान् प्रपञ्चो दृश्यते न तावान् शुक्लयजु:षूपलभ्यते । सत्येवं ज्ञायते विचारणा यत् कृष्णानां सकामकर्मणां: प्रपञ्चनेन विधानात् तानि यजूंषि कृष्णानि, शुक्लानां निष्कामकर्मणां प्राधान्येन विधानात् शुक्लानि अभूवन्निति ।

प्रसङ्गादिदमन्यद्विचार्यते—प्राचीना द्विवेदगङ्गप्रभृतयो विद्वांस: शुक्लयजु:संहितासु ब्राह्मणसंमिश्रणस्याभावं स्वीकुर्वत इत्युक्तं पुरस्तात् । या चेदानीं

शुक्लयजुषः सर्वानुक्रमण्युपलभ्यते, तस्यां बहुत्र ब्राह्मणस्य सत्त्वं प्रतिपाद्यते। तद्यथा—

१. **देवा यज्ञं [१९।१२-३१] ब्राह्मणानुवाको विंशतिरनुष्टुभः सोमसम्पत् ।**

२. **अश्वस्तूपरो [अ० २४] ब्राह्मणाध्यायः, शादं दद्भिस्त्वचान्तश्च [२५।१-९] ।**

३. **ब्रह्मणे ब्राह्मणं द्वे कण्डिके [३०।५-६], तपसे [३०।७-२२] अनुवाकश्च ब्राह्मणम् ।**

एतदनुसृत्य पण्डितरघुनन्दनेन 'वैदिकसम्पत्तौ' शुक्लयजुःषु तत्र तत्र ब्राह्मणस्य प्रक्षेप उक्तः [वै० सं० पृ० ५७१-५७२] ।

इयं शुक्लयजुःसर्वानुक्रमणी न प्राचीना प्रामाणिकी च, अपि त्वर्वाचीनाऽप्रामाणिकी च । अस्या अर्वाचीनत्वे ये हेतवस्तेऽस्माभिः "सारस्वती सुषमा" पत्रिकायां प्रकाशितेऽस्मदीये **'छन्दःसंकलने'**[1], **वैदिकछन्दोमीमांसायां**[2] च विस्तरशो निरूपिताः ।

एवं याजुषसर्वानुक्रमण्याः प्रामाण्याभावे उक्तयाजुषभागानां ब्राह्मणप्रतिपादनमपि न प्रामाण्यपदवीमारोहतीति व्यक्तम् । तथापीदं विचार्यते—किं कात्यायनीयसर्वानुक्रमण्यां ब्राह्मणत्वेनोक्ताः शुक्लयजुःसंहिताभागा ब्राह्मणानि मन्त्रा वेति । तत्रेमे भागा मन्त्रा एव, न ब्राह्मणानीत्यस्माकं मतम् ।[3] तत्र चैतत् प्रमाणम्—

अस्त्येको याजुषभागः—**"वसन्ताय कपिञ्जलानालभते"** [२४।२०] इति । अयं च तस्मिन्नेव प्रकरणे पठ्यते, यस्य सर्वानुक्रमण्या ब्राह्मणत्वमुच्यते । तत्र मीमांसाभाष्यकृच्छबरस्वामी जैमिन्युक्तमन्त्रलक्षण-व्याप्तिदोषं प्रतिपादयन्नाह—

"प्रायिकमिदं लक्षणम्, अनभिधायका अपि केचिन्मन्त्रा इत्युच्यन्ते । यथा वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" [२।१।३१] इति ।

---

१. द्रष्टव्या—सारस्वती सुषमा, व० ९, अ० १, पृ० २१-२२ ।

२. वैदिक छन्दोमीमांसा 'लेखक का निवेदन' पृष्ठ १, २ ।

३. मतमिदं पूर्वत्र **'वेदसंज्ञा-मीमांसा'** संज्ञके लेखे विस्तरेण [पृष्ठ १४६-१५१] प्रतिपादितम्, तत् तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

एतेन शबरस्वामिनो मते—"**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते**" इत्यस्य मन्त्रत्वं विस्पष्टम् । अर्वाचीना अपि मीमांसकाः शबरमतमनुसरन्तः—"**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते**" इत्यस्य मन्त्रत्वमेव स्वीकुर्वते । यथा चायमनभिधायकोऽपि मन्त्रः, एवं तेन सह पठिताः—"**ब्रह्मणे ब्राह्मणम्**" इत्येवमादयोऽनभिधायकाः सर्वेऽपि मन्त्रा एवेत्यपि विस्पष्टमवगम्यते । एतेनापीयं याजुषसर्वानुक्रमणी न प्रामाणिकीति व्यक्तम् ।

अपरं चैतत्प्रमाणम्—या खल्वियं 'वासिष्ठी शिक्षा' तस्यां वर्तमानयाजुषसर्वानुक्रमण्युक्तानां सर्वेषामपि ब्राह्मणभागानां मन्त्रत्वमुच्यते । तथा हि—

१—"या व्याघ्रमिति आध्यायान्ताश्चतुरशीतिः, पिं भ्य इत्युद्धृत्य... ऋचः" [पृ० ४१] इति,

२—"चतुर्विंशतितमेऽध्याये अश्वस्तूपर इत्यारम्भ त्वचेत्यन्तं सर्वाणि यजूंषि" [पृ० ४२] इति,

३—"त्रिंशत्तमेऽध्याये देव सवितरिति तिस्रः [ऋचः] पराणि सर्वाण्यध्यायान्तानि सप्तत्युत्तरशतं यजूंषि" [पृ० ४३] इति च ।

अत्र त्रिष्वपि स्थानेषूपलब्धयाजुषसर्वानुक्रमण्यां ब्राह्मणत्वेनोक्तानां याजुषभागानामृग्यजुःशब्दाभ्यां निर्देशः क्रियते । ऋग्यजुषी च मन्त्राणामेव भेदौ न ब्राह्मणानाम् । तदुक्तं जैमिनिना—'**तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । गीतिषु सामाख्या । शेषं यजुःशब्दः**' [मी० २।१।३४-३६] इति । सर्वनाम्नां पूर्वपरामर्शित्वादत्र 'तेषाम्' इति पदेन पूर्वनिर्दिष्टमन्त्रपदस्यैव ग्रहणं भवति । तेन ऋग्यजुःशब्दौ मन्त्रवाचकावेव । एतेन शुक्लयजुःषु नास्ति ब्राह्मणस्य संमिश्रणमिति विस्पष्टम् ।

इत्थमस्मिन् निबन्धे यजुषां शुक्लकृष्णनाम्नोर्निदानं माध्यन्दिनसंहितायां च ब्राह्मणभागस्यासंमिश्रणमिति संक्षेपेण विवेचितम् । इत्यलमतिविस्तरेण बुद्धिमद्वर्येषु ॥

—०—

याजुष-शाखाओं के शुक्ल-कृष्ण भेद

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद के अनन्तर यजुर्वेद का स्थान है । महाभाष्य आदि प्राचीन ग्रन्थों में यजुर्वेद की १०१ शाखाओं का उल्लेख मिलता है—"एकशतमध्वर्युशाखाः" ।

यजुर्वेद की ये १०१ शाखाएं शुक्ल और कृष्ण दो भेदों में विभक्त हैं । इन दो विभागों का कारण विभिन्न ग्रन्थकार विभिन्न रूप से बताते हैं—

१—पुराणों के अनुसार—"वैशम्पायन के तित्तिर, याज्ञवल्क्य आदि अनेक शिष्य थे । एक बार वैशम्पायन से असावधानी में ब्रह्महत्या हो गई । उसके निवारण के लिये वैशम्पायन ने अपने शिष्यों को प्रायश्चित्त करने का आदेश दिया । याज्ञवल्क्य ने कहा कि इन अल्पवीर्य ब्राह्मणों को कष्ट देने की क्या आवश्यकता है, मैं अकेला ही सम्पूर्ण प्रायश्चित्त कर लूंगा । वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य की इस गर्वोक्ति से खिन्न होकर कहा कि—'तूने ब्राह्मणों का अपमान किया है । इसलिये मैंने तुझे जो पढ़ाया है, उसे छोड़कर चला जा ।' याज्ञवल्क्य ने गुरु से पढ़े हुए वेद का वमन कर दिया । वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने गुरु की आज्ञा से तीतर का रूप धारण कर उस वमन किये हुए वेद को खा लिया । याज्ञवल्क्य ने आदित्य की स्तुति करके अयातयाम यजुः को प्राप्त किया ।" (भागवत, विष्णु, अग्नि आदि पुराणों के आशयानुसार) ।

२—पुराणों की उक्त कथा के आधार पर महीधर लिखता है—"तानि यजूंषि बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् कृष्णानि जातानि" (मा० यजुःसं० भाष्य के आरम्भ में) । विद्यारण्यस्वामी ने भी लिखा है—"बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् तद्यजुः कृष्णमीर्यते"[1] । अर्थात् वमन किया हुआ होने से बुद्धि को मलिन करने के कारण तित्तिर आदि का अधीत यजुः कृष्ण यजुः कहाता है ।

---

१. पं० रघुनन्दन शर्मा कृत वैदिक-सम्पत्ति में उद्धृत ।

३—शतपथ का भाष्यकार द्विवेद गङ्ग आदि पुराणों के कथानक के आधार पर कहते हैं—"कथंभूतानि यजूंषि ? शुक्लानि शुद्धानि, यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रात्मकानि कृष्णानि"। अर्थात् जिस प्रकार खाए हुए समस्त पदार्थ वमन में मिश्रित होकर निकलते हैं, उसी प्रकार तैत्तिरीय आदि संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों मिश्रित होने से कृष्ण=अशुद्ध कहाते हैं। और शुक्ल यजुर्वेद में ब्राह्मण का मिश्रण न होने से शुक्ल=शुद्ध कहाते हैं।

४—अन्य विद्वानों का कथन है—जैसे अन्धकार में घट पट आदि विभिन्न पदार्थों का पार्थक्य-ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार तैत्तिरीय आदि संहिताओं में मन्त्र और ब्राह्मण का पार्थक्य सुगमतया विदित नहीं होता। वाजसनेय शाखाओं में मन्त्र और ब्राह्मण पृथक्-पृथक् हैं। अन्धकार का रूप कृष्ण माना गया है, अतः तैत्तिरीय आदि संहिताएं कृष्ण, और वाजसनेय संहिताएं शुक्ल नाम से व्यवहृत होती हैं।

५—'आर्यविद्यासुधाकर' के रचयिता एवं तैत्तिरीय शाखा के अध्येता भट्ट यज्ञेश्वर का मत है—"यज्ञकर्मानुष्ठानमार्गस्य दुर्विज्ञेयत्वात् कृष्णत्वमिति"। अर्थात् यज्ञकर्म के अनुष्ठान मार्ग की दुर्ज्ञेयता के कारण तैत्तिरीय संहिता कृष्ण कहाती है। तैत्तिरीय संहिता में इष्टि और अग्निष्टोम आदि के कर्मकाण्ड का सम्यक् विभाग नहीं है। शुक्ल यजुः में सब यज्ञों का पृथक्-पृथक् व्यवस्थित रूप से प्रतिपादन है।

इसी प्रकार अनन्तदेव 'प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट' १-३ के भाष्य में लिखता है—

"बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् तद्यजुः कृष्णमीर्यते।
व्यवस्थितप्रकरणत्वात् तद्यजुः शुक्लमीर्यते॥"

६—चरणव्यूह के टीकाकार महिदास का मत है—

"वेदोपक्रमणे चतुर्दशीयुक्तपौर्णिमाग्रहणात् शुक्लयजुः। प्रतिपदायुक्त-पौर्णिमाग्रहणात् कृष्णयजुरिति वा।"

अर्थात् जो श्रावणी पूर्णिमा मध्याह्न से पूर्व समाप्त हो जाती है, उस पूर्णिमा के विषय में याजुष वेदोपक्रमण (उपाकर्म) संज्ञक कर्म में दो पक्ष हैं। कई लोग चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमा में उपाकर्म करते हैं, अन्य उदय पक्ष मानकर कृष्णपक्ष प्रतिपद् युक्त पूर्णिमा में प्रातः उपाकर्म करते हैं। अतः जो चतुर्दशी-युक्त पूर्णिमा में उपाकर्म करते हैं वे शुक्लपक्षीय, और जो कृष्णप्रतिपद् युक्त पूर्णिमा में उपाकर्म करते हैं वे कृष्णपक्षीय कहाते हैं। उन्हीं के अनुसार यजुर्वेद के भी शुक्ल और कृष्ण दो विभाग हो जाते हैं।

७—यजुर्वेद के ये दो शुक्ल और कृष्ण भेद होने का एक कारण और भी है—

"दर्शो वा एतयोः पूर्वः पूर्णमास उत्तरः। अथ पूर्णमासं पूर्वमालभन्ते तदयथापूर्वं क्रियते। तत् पूर्णमासमालभमानः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्।" मैत्रायणी संहिता १।४।१५।।

अर्थात् दर्श=आमावस्या और पूर्णिमा में दर्श प्रथम है, पूर्णमास उत्तर। जो प्रथम पूर्णिमा में यज्ञ करते हैं, वे यथाक्रम नहीं करते। प्रथम पूर्णिमा में यज्ञ करनेवाला सारस्वत चरु का निर्वाप करे, अर्थात् प्रायश्चित्त रूप में सारस्वतेष्टि करे।

ऐसा ही पाठ काठक और तैत्तिरीय संहिता में है।

मीमांसा के चतुर्थाध्याय में विचार किया है कि दर्शपौर्णमास का आरम्भ दर्श=आमावस्या से किया जाए या पूर्णिमा से। अग्न्याधान आमावस्या और पूर्णिमा इन दोनों तिथियों में किया जाता है। जिस दिन अग्न्याधान किया जाता है, उस दिन क्रमप्राप्त पक्षेष्टि नहीं की जाती, क्योंकि पक्षेष्टि के काल का अतिक्रमण हो जाता है। अतः जो आमावस्या को अग्न्याधान करेगा, उस पूर्णिमा से पौर्णमास का प्रारम्भ प्राप्त होगा। और जो पूर्णिमा को अग्न्याधान करेगा, उसे आमावस्या से दर्श का आरम्भ करना होगा। इस विषय में सिद्धान्त निश्चित किया है—जो आमावस्या के दिन अग्न्याधान करे, वह अगली पूर्णिमा से पौर्णमासेष्टि का आरम्भ करे। किन्तु जो पूर्णिमा के दिन अग्न्याधान करे, वह अगली आमावस्या को दर्शेष्टि न करे अर्थात् क्रमप्राप्त आमावस्या का अतिक्रमण करके पौर्णमासेष्टि से ही आरम्भ करे।

अथर्ववेद ७।८०।४ में लिखा है—'पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीत्' अर्थात् पौर्णमासी प्रथम यज्ञिया है।

मीमांसा के उपर्युक्त विचार के साथ मैत्रायणी संहिता के पूर्वोद्धृत पाठ की तुलना की जाए, तो स्पष्ट विदित होता है कि दर्शपौर्णमासेष्टि के प्रारम्भ करने के विषय में दो पक्ष हैं। एक है मैत्रायणी आदि संहिताओं का, जो आमावस्या से इष्टि आरम्भ करने का विधान करती हैं, और दूसरा है शतपथ ब्राह्मण तथा मीमांसा आदि का, जिसमें पौर्णमासेष्टि का प्राथम्य बताया है, तत्पश्चात् दर्शेष्टि का। यतः तैत्तिरीय आदि संहिताएं दर्शेष्टि के प्राथम्य का

प्रतिपादन करती हैं, इसलिये कृष्णपक्ष के साथ सम्बन्ध होने से इन संहिताओं का नाम कृष्णयजुः हुआ, और शतपथ आदि पूर्णिमा पक्ष को स्वीकार करते हैं, अतः वाजसनेय संहिताएं शुक्लयजुः कहलाई ।

हमारे विचार में शुक्ल और कृष्ण नाम का एक और भी कारण हो सकता है—

८—कृष्णयजुः की शाखाओं का प्रवचन कृष्ण द्वैपायन व्यास व उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने किया, और शुक्लयजुः की शाखाओं का प्रवचन याज्ञवल्क्य वा उसके शिष्य-प्रशिष्यों ने । अतः कृष्ण द्वैपायन के साथ सबन्ध रखनेवाले यजुः कृष्ण कहलाये, तद्भिन्न शुक्ल ।

इस प्रकार याजुष शाखाओं के शुक्ल कृष्ण संज्ञा के कतिपय कारण, जो प्राचीन वाङ्मय के अनुसार ज्ञात हुए, उपस्थित किये हैं । वास्तव में इनमें से कौनसा कारण शुक्ल कृष्ण नामकरण का है, इसे परम्परागत वेदविद्याविशारद वैदिक विद्वान् ही जान सकते हैं ।

इन दोनों प्रकार की शाखाओं में से कृष्ण यजुः की वर्तमान में उपलब्ध कोई भी शाखा मूल यजुर्वेद नहीं हो सकती । क्योंकि सब में ब्राह्मणभाग का मिश्रण है । शुक्ल यजुः की १५ शाखाओं में से सम्प्रति दो ही शाखाएं उपलब्ध हैं । उनमें से कौनसी शाखा मूल यजुर्वेद हो सकती है, इस का विवेचन अगले 'मूल यजुर्वेद' शीर्षक लेख में किया है ।।

——०——

मूल यजुर्वेद

पुराकाल में शुक्ल और कृष्ण दोनों शाखाओं का मूल एक ही यजुः था। वह मूल यजुः संहिता वाजसनेय-संहिता है। इसमें निम्न हेतु है—

हम पूर्व लेख (पृष्ठ २३७) में लिख चुके हैं कि याज्ञवल्क्य ने वैशम्पायन से पठित यजुर्वेद का परित्याग करके आदित्य से अयातयाम यजुओं का अध्ययन किया, और उसका व्याख्यानरूप शतपथ ब्राह्मण रचा। शतपथ में जिस यजुःसंहिता का व्याख्यान किया है, उसका आरम्भ दर्शेष्टि के '**इषे त्वोर्जे त्वा आदि**' मन्त्रों से होता है, परन्तु याज्ञवल्क्य ने शतपथ का आरम्भ दर्शेष्टि से न कर पौर्णमासेष्टि से किया है। इससे स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य ने गुरु-परम्परा से आदित्य द्वारा जिस यजुःसंहिता को पाया, उसके पाठ के प्रवचन में उसने कोई न्यूनाधिकता नहीं की। यदि उसने उस संहिता में कुछ भी फेर-फार की होती, तो प्रथम वह संहिता के प्रारम्भ में पठित दर्शेष्टि के मन्त्रों को वहां से हटाकर पौर्णमासेष्टि के अनन्तर पढ़ता। क्योंकि उसने शतपथ ब्राह्मण में संहिता के प्रारम्भिक दर्शेष्टि के मन्त्रों को छोड़कर पौर्णमासेष्टि के मन्त्रों से संहिता की व्याख्या प्रारम्भ की है। अस्तु।

याज्ञवल्क्य-प्रोक्त वाजसनेय संहिता का उसके शिष्य-प्रशिष्यों ने अनेकधा प्रवचन किया। इस प्रकार वाजसनेय संहिता के १५ भेद हुए। उनके नाम 'प्रतिज्ञा परिशिष्ट' में इस प्रकार लिखे हैं—

जाबालाः, बौधेयाः, काण्वाः, माध्यन्दिनीयाः, शापेयाः, तापायनीयाः, कापोलाः, पौण्ड्रवत्साः, आवटिकाः, परमावटिकाः, पाराशर्याः, वैनधेयाः, गालवाः, कात्यायनाः, बैजवापिनः ॥२।८॥

पुराणों में भी वाजसनेय शाखा-प्रवक्ताओं के नाम लिखे हैं, उनमें कुछ पाठान्तर है।

वाजसनेय शाखाओं के दो भेद

याज्ञवल्क्य-प्रोक्त वाजसनेय चरण की १५ शाखाएं दो पक्षों में विभक्त हो गईं। एक पक्ष था **'आदित्यायनों'** का, और दूसरा **'आंगिरसायनों'** का। माध्यन्दिन शतपथ ४।४।५।१८-२० में दोनों अयनों का उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

तस्मात् षड्जाहुतयो भवन्ति। एतदादित्यानामयनम्। आदित्यानीमानि यजूंषीत्याहुः......विराड् वै यज्ञः, तद्विराजमेवैतद् यज्ञमभिसम्पादयति। एतदांगिरसानामयनम्॥

'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में भी लिखा है—द्वयान्येव यजूंषि आदित्यानामंगिरसानाम् (३१।४)॥

दो पक्षों का कारण

याज्ञवल्क्य के दो प्रधान शिष्य थे, मध्यन्दिन और कण्व। कण्व ऋग्वेदी आंगिरस घोर का पुत्र था। उसने आदित्य-प्रोक्त प्राचीन संहिता मे कुछ भेद करके अपनी शाखा का प्रवचन किया। काण्व शाखा में डकार ढकार के स्थान मे सर्वत्र **'ळ'** तथा **'ळ्ह'** का प्रयोग मिलता है। ये दोनों अक्षर ऋग्वेद में प्रसिद्ध हैं। इससे स्पष्ट है कि काण्व शाखा पर ऋक्पाठ की थोड़ी-बहुत छाप अवश्य पड़ी है। कण्व का आंगिरस गोत्र होने से उसकी शाखाएं-प्रशाखाएं **आंगिरसायन** (=आंगिरसों का मार्ग) नाम से प्रसिद्ध हुईं। मध्यन्दिन ने अपनी संहिता में कोई परिवर्तन नहीं किया, इसलिये उसकी शाखा-प्रशाखाएं प्राचीन आदित्य यजुः के नाम पर **आदित्यायन** (=आदित्यों का मार्ग) कहलाईं। याज्ञवल्क्य का पुत्र यज्ञविद्याविचक्षण कात्यायन आदित्यायन को छोड़कर आंगिरसायन पक्ष का अनुयायी हुआ। उसने आंगिरस कण्व या उसके किसी शिष्य से आंगिरसायन शुक्लयजुः शाखा का अध्ययन किया। अतएव कात्यायन शाखा आंगिरसायन पक्ष की है। कात्यायन ने 'प्रतिज्ञा-परिशिष्ट' में स्वयं लिखा है—

"एवं वाजसनेयानामांगिरसानां वर्णानां, सोऽहं कौशिकपक्षः शिष्यः पार्षदः पञ्चदशसु तत्ताच्छाखासु साधीयक्रमः।" ३१।५।१॥

वाजसनेयों की मूलसंहिता

वाजसनेय चरण की १५ संहिताएं प्रसिद्ध हैं। उनमें मूल संहिताएं, जो गुरुपरम्परा से अपने रूप में चली आई, वह कौनसी है, यह विचारणीय है। इस समय वाजसनेयों के दोनों अयनों की एक-एक संहिता प्राप्त है—आदित्यायनों की माध्यन्दिनी, और आंगिरसायनों की काण्वी।

मद्रास राजकीय हस्तलेख पुस्तकालय में एक पुस्तक है, जिसका आद्यन्त खण्डित होने से नाम अज्ञात है। पुस्तकालय के सूचीपत्र भाग ३, पृष्ठ ३४२६ पर 'माध्यन्दिन शाखाविषय:' कल्पित नाम से इसका उल्लेख किया है। इस पुस्तक के हस्तलेख के आद्यन्त का कुछ पाठ सूचीपत्र में छपा है। उसमें लिखा है—

"अथ पञ्चदशशाखासु माध्यन्दिनशाखा मुख्येति वेदितव्या ।......तथा च होलीरभाष्यम्—

यजुर्वेदस्य मूलं हि भेदो माध्यन्दिनीयकः ।
सर्वानुक्रमणी तस्याः कात्यायनकृता तु सा ॥

तस्मान्माध्यन्दिनीयशाखा एव पञ्चदशसु वाजसनेयशाखासु मुख्या सर्व-साधारणा च । अतएव वसिष्ठेनोक्तम्—

माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा ।"

अनन्तदेव ने भी 'प्रतिज्ञासूत्र परिशिष्ट' १।३ के भाष्य में वसिष्ठ का उपर्युक्त पाठ उद्धृत किया है—**"अत एवोक्तं वसिष्ठेन—माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी हि सा" इति ।**

इन उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार वाजसनेयों की **१५** शाखाओं में **माध्यन्दिनी संहिता ही मूल और सर्वसाधारणी है ।**

इस सिद्धान्त की पुष्टि माध्यन्दिनी और काण्वी संहिताओं की अन्तरंग परीक्षा से भी होती है । उसके कुछ पाठ इस प्रकार हैं—

माध्यन्दिनी सं०	काण्वी सं०
१।१८ भ्रातृव्यस्य वधाय	द्विषतो वधाय
९।४० एष वोऽमी राजा	एष वः कुरवो राजैष पञ्चाला राजा

द्वितीय उद्धरण में माध्यन्दिनी संहिता का **'अमी'** पाठ सर्वसाधारण है । उसके प्रतिपक्ष में काण्वी संहिता का **"कुरवः"** और **"पञ्चाला"** पाठ विशिष्ट है, अर्थात् विशेष कुलों से सम्बद्ध है । इसलिये वसिष्ठ का **"माध्यन्दिनी तु या शाखा सर्वसाधारणी तु सा'** लिखना सर्वथा युक्त है । सम्भवतः इसी कारण माध्यन्दिनी संहिता के अनेक हस्तलेखों के अन्त में केवल **"यजुर्वेदसंहिता समाप्ता"** या **"वाजसनेयसंहिता समाप्ता"** इतना ही उल्लेख मिलता है ।

माध्यन्दिनी संहिता के दो पाठ

माध्यन्दिनी संहिता के अनेक हस्तलेखों के अन्त में "दीर्घपाठे" विशेषण लिखा मिलता है। हमारे विरजानन्द आश्रम भूतपूर्व लाहौर के संग्रह में भी ऐसे दो हस्तलेख थे, जिनके अन्त में 'दीर्घपाठे' विशेषण था। इस विशेषण से व्यक्त होता है कि माध्यन्दिनी संहिता के कभी दो पाठ रहे थे, एक दीर्घपाठ और दूसरा लघुपाठ। निघण्टु, निरुक्त, अष्टाध्यायी आदि अनेक ग्रन्थों के दीर्घ और लघु पाठ मिलते हैं।[1] माध्यन्दिनी संहिता के दीर्घपाठ और लघुपाठ में परस्पर कितना अन्तर है, यह हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते। परन्तु माध्यन्दिनी संहिता में कई स्थानों पर कुछ प्रतीकें उपलब्ध होती हैं। उनके विषय में स्वामी दयानन्द सरस्वती के यजुर्वेद अ० १३ मं० ५८ के भाष्य में लिखा है—

'अत्र लोकं ता इन्द्रम् इति द्वादशाध्यायस्थानां (५४-५६) त्रयाणां मन्त्राणां प्रतीकानि सूत्रव्याख्यानं दृष्ट्वा केनचिदुद्धृतानि। शतपथे अव्याख्यातत्वात् अत्र न गृह्यन्ते।'

अर्थात्—यहां **'लोकं ता इन्द्रम्'** इन बारहवें अध्याय में पढ़े (५४-५६) तीन मन्त्रों की प्रतीकें सूत्र (=श्रौतसूत्र वा उसके) व्याख्यान को देखकर किसी ने उद्धृत की हैं। शतपथ में व्याख्यात न होने से यहां उनका ग्रहण नहीं किया है। [ये प्रतीकें १४।१०,२६,३१ में भी मिलती हैं।]

इसी प्रकार अध्याय ३३ के २७वें मन्त्र की टिप्पणी में लिखा है—

"इस मन्त्र के आगे महा०, कदा०, कदा० ये तीन प्रतीकें पूर्व अ० ७।४०, ८।२,३ में कहे क्रम से तीन मन्त्रों की किसी कर्मकाण्ड-विशेष के लिये लिखी हैं, इससे इनका अर्थ यहां नहीं किया, उक्त ठिकाने से जान लेना।"

इसी प्रकार की टिप्पणी ३३ वें अध्याय में अन्यत्र भी है।

इससे यह स्पष्ट है कि ये प्रतीकें तत्तत् स्थानों में मूल यजुःसंहिता की अवयव नहीं हैं। अतः सम्भव है लघुपाठ में ये प्रतीकें विद्यमान न रही होंगी। माध्यन्दिनी संहिता का अभी तक हमारी दृष्टि में कोई ऐसा हस्तलेख नहीं आया, जिसमें "लघुपाठ" लिखा हो। अथवा प्रतीकों का निर्देश न हो।

---

१. देखो हमारा 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २२०-२२१, सं० २०२३।

हमारा विचार है कि माध्यन्दिन संहिता में उपलब्ध प्रतीकों का पाठ माध्यन्दिन आचार्य ने कर्मकाण्ड की दृष्टि से तत्तत् स्थानों में किया है। यही अन्तर लघुपाठ और दीर्घपाठ में रहा होगा। अर्थात् प्रतीकपाठ से रहित लघु-पाठ, और प्रतीकसहित दीर्घपाठ। माध्यन्दिन संहिता का प्रतीकरहित लघुपाठ ही मूल यजुर्वेद रहा होगा।

माध्यन्दिन संहिता में ब्राह्मण का अभाव

हम पूर्व 'याजुष शाखाओं के शुक्ल कृष्ण भेद' नामक लेख में लिख चुके हैं (द्र०—पृष्ठ २३८) कि शुक्ल यजु: शुद्ध है, उसमें ब्राह्मणभाग का मिश्रण नहीं है। परन्तु कात्यायन के नाम से शुक्ल यजुर्वेद की एक सर्वानु-क्रमणी उपलब्ध होती है। इसके माध्यन्दिनी संहितानुसारी और काण्वसंहिता-नुसारी दो प्रकार के पाठ हैं। इस सर्वानुक्रमणी में लिखा है—

१. देवा यज्ञं ब्राह्मणानुवाको विंशतिरनुष्टुभः सोमसम्पत् ।

अर्थात् यजुर्वेद के १९वें अध्याय के १२वें मन्त्र से लेकर ३१वें मन्त्र तक २० अनुष्टुप् छन्द ब्राह्मण है।

२. अश्वस्तूपरो ब्राह्मणाध्यायः, शादं दद्भिस्त्वचान्तश्च ।

अर्थात् यजुर्वेद का सम्पूर्ण २४वां अध्याय, और २५वें के आरम्भ में "शादं दद्भिः" से लेकर "त्वचा" तक ९ कण्डिका ब्राह्मण है।

३. ब्रह्मणे ब्राह्मण द्वे कण्डिके, तपसेऽनुवाकश्च ब्राह्मणम् ।

अर्थात् ३०वें अध्याय के **"ब्रह्मणे ब्राह्मणम्"** ५-६ दो कण्डिका, और **"तपसे"** ७वीं कण्डिका से अध्याय के अन्त तक सम्पूर्ण अनुवाक ब्राह्मण है।

सर्वानुक्रमणी के इन पाठों के आधार पर पं० रघुनन्दन जी ने 'वैदिक-सम्पत्ति' पृष्ठ ५७१, ५७२ पर यजुर्वेद में ब्राह्मण का सम्मिश्रण दर्शाया है।

यहां विचारना चाहिए कि क्या वस्तुतः माध्यन्दिन संहिता में ब्राह्मण पाठ का सम्मिश्रण है? यदि है, तो इसे शुद्ध और ब्राह्मण के संमिश्रण से रहित क्यों कहा जाता है? और ब्राह्मण का मिश्रण होने पर कृष्ण यजु: से इसमें क्या भेद रह जाता है? हमारा मत हैं कि इस संहिता में ब्राह्मणपाठ का कहीं भी सम्मिश्रण नहीं है। वस्तुतः जिस यजु:सर्वानुक्रमणी के आधार पर ब्राह्मणपाठ का सम्मिश्रण सिद्ध किया जाता है, वह ग्रन्थ ही अर्वाचीन और अप्रामाणिक है। उसकी अर्वाचीनता में निम्न हेतु हैं—

१—यजुर्वेद का भाष्यकार उव्वट अपने भाष्य के प्रारम्भ में लिखता है—

"गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः ।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवता छान्दसं च यत् ।।"

अर्थात् मैं यजुर्वेद के मन्त्रों के ऋषि देवता और छन्द का कथन गुरूपदेश तर्क और शतपथ ब्राह्मण के अनुसार करूंगा। यदि उव्वट के समय यह सर्वानुक्रमणी विद्यमान होती, तो वह ऋषि देवता छंद के निर्देश के लिये गुरूपदेश तर्क और शतपथ का आश्रय न लेकर सीधा सर्वानुक्रमणी का उल्लेख करतां। इससे स्पष्ट है कि यह अनुक्रमणी उस समय विद्यमान नहीं थी।

२—काशी से प्रकाशित 'शिक्षा-संग्रह' में पृष्ठ ३६ से ४२ तक एक 'वासिष्ठी शिक्षा' छपी है। उसमें यजुर्वेद के प्रति अध्याय ऋक् और यजुर्मन्त्रों का परिगणन किया है। उसके प्रारम्भ में लिखा है—

"अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि वसिष्ठस्य मतं यथा ।
सर्वानुक्रममुद्धृत्य ऋग्यजुषोस्तु लक्षणम् ।।"

यहां सर्वानुक्रम के अनुसार ऋक् और यजु मन्त्रों के कथन का उल्लेख है। परन्तु इस ग्रन्थ की वर्तमान सर्वानुक्रमणी से तुलना करने पर व्यक्त होता है कि **वासिष्ठी शिक्षा में जिस सर्वानुक्रम को आधार माना है, वह यह सर्वानुक्रमणी नहीं है।** इससे स्पष्ट है कि जिस समय 'वासिष्ठी शिक्षा' बनी, उस समय यह सर्वानुक्रमणी विद्यमान नहीं थी। उस समय अन्य कोई सर्वानुक्रमणी थी, जिसके आधार पर वासिष्ठी शिक्षा की रचना हुई।

३—इस सर्वानुक्रमणी के अन्तिम पांचवें अध्याय में लिखा है—**'आद्ये तु सप्तवर्गे पादविशेषात् संज्ञाविशेषः, ताननुक्रामन्त एवोदाहरिष्यामः ।'** यहां भविष्यत्काल की क्रिया का उल्लेख सर्वथा अयुक्त है; क्योंकि ग्रन्थकार ने प्रतिमंत्र ऋषि देवता छंद का विधान पिछले अध्यायों में कर दिया। अतः यहां **"उदाहृतम्'** पाठ होना चाहिए, न कि **"उदाहरिष्यामः"**। इस अध्याय की ऋक्सर्वानुक्रमणी से तुलना करने पर विदित होता है कि यह अध्याय ऋक्-सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भिक भाग को लेकर रचा गया है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में **'उदाहरिष्यामः'** पाठ युक्त है, क्योंकि उस ग्रन्थ में ऋषि-देवता-छंद का प्रतिमन्त्र विधान इस सूत्र से आगे किया है। यजुःसर्वानुक्रम के संगृहीता ने इतनी स्थूल बात पर भी ध्यान नहीं दिया। अतः स्पष्ट है कि वर्तमान यजुः सर्वानुक्रमणी काल्पनिक ग्रन्थ है, प्राचीन तथा प्रामाणिक नहीं।

प्रकृत ब्राह्मण-संमिश्रण के प्रश्न पर विचार करने से पूर्व ऋक् यजु: और साम शब्द पर विचार करना युक्त है। इनकी विवेचना से प्रकृत विचार सुगम हो जायगा।

जैमिनि ने मीमांसा के द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद में ऋक् यजु: और साम का लक्षण इस प्रकार किया है—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।। ३५ ।।

उन मन्त्रों में से ऋक् वे मन्त्र कहलाते हैं, जिनमें प्रयोजनवश पाद=चरण की व्यवस्था हो।

गीतिषु सामाख्या ।। ३६ ।।

गान की साम संज्ञा है, अर्थात् जो मन्त्र गानात्मक हों, वे साम कहाते है।

शेषे यजुःशब्दः ।। ३७ ।।

उपर्युक्त दोनों प्रकारों (पद्यात्मक, गानात्मक) से भिन्न रूपवाले मंत्र यजु: कहाते हैं।

जैमिनि के इन सूत्रों से स्पष्ट है कि ऋक् यजुः और साम संज्ञाएं मन्त्रों की हैं; ब्राह्मण की नहीं।

अब हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि सर्वानुक्रमणी में यजुर्वेद के जिन भागों को ब्राह्मण कहा है, वे ऋक् और यजुरूप मन्त्र हैं। इसमें निम्न प्रमाण हैं—

१—मीमांसा का भाष्यकार शबर स्वामी (विक्रम प्रथम शताब्दी) **'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'** (मी० २।१।३१) सूत्र की व्याख्या में लिखता है—

"प्रायिकमिदं लक्षणम्, अनभिधाय अपि केचित् मन्त्रा इत्युच्यन्ते। यथा वसन्ताय कपिञ्जलानालभते।"

अर्थात् सूत्रकार का मन्त्र का लक्षण प्रायिक है। जो शब्द-समूह यज्ञगत क्रियमाण कर्म को नहीं कहते, वे भी कोई कोई मंत्र कहाते हैं। जैसे—**"वसन्ताय कपिञ्जलानालभते"**। इससे स्पष्ट है कि शबर स्वामी के मत में **'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते'** मन्त्र है, ब्राह्मण नहीं। शबर स्वामी द्वारा उद्धृत पाठ उसी २४वें अध्याय की २०वीं कण्डिका का है, जिस सम्पूर्ण

अध्याय को साम्प्रतिक याजुष सर्वानुक्रमणी में ब्राह्मण कहा है। मीमांसा कर्म-काण्ड का सर्वसम्मत प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसके भाष्यकार द्वारा इस अध्याय के एकदेश को मंत्र कहना इस बात का प्रमाण है कि सारा अध्याय, जिसमें **"वसन्ताय कपिञ्जलानालभते"** के सदृश द्रव्य-देवता-विधायक शब्दसमूह है, मन्त्रात्मक है।

२—'वासिष्ठी शिक्षा' किसी प्राचीन सर्वानुक्रम ग्रन्थ के अनुसार रची गई है। उसमें वर्तमान सर्वानुक्रमणी के अनुसार कहे गए ब्राह्मणभाग मंत्र माने हैं। यथा—

क—'वासिष्ठी शिक्षा' में यजुर्वेद के १९वें अध्याय के १२ से ३१ तक की २० कण्डिकाओं को अनुष्टुभ छंद की ऋचाएं कहा है। यथा—

"एकोनविंशेऽध्याये स्वाद्वीं त्वा यजुरित्येका, परीतत इति चतस्रो, ब्रह्मक्षत्रमिति द्वे, नाना हीत्येका, या व्याघ्रमिति आध्यायान्ताश्चतुरशीतिः पितृभ्य इत्युद्धृत्य, तत्रेदं हविरिति त्र्यवसाना महापंक्तिः, रेतो मूत्रमिति द्वे त्र्यवसाने अण्यकरी (?), एकोनविंशे ऋचश्चतुर्णवतिर्यजूंषि त्रिंशत्।" पृष्ठ ४१।

अर्थात् १९वें अध्याय में "स्वाद्वीं त्वा" [१] एक कण्डिका यजुः है। 'परीतो' [२] से चार ऋचाएं हैं [तीसरी कण्डिका में दो ऋचाएं हैं]। 'ब्रह्म क्षत्रम्' [५ से दो ऋचाएं हैं। 'नाना' [७] एक ऋक् है। [८, ९ यजुः हैं]। 'या व्याघ्र' [१०] से अध्याय के अन्त तक ८४ ऋचाएं हैं। 'पितृभ्यः' (३६, ३७ कण्डिकाएं यजुः हैं। 'इदं हविः' (४८) तीन अवसान की महापंक्ति छंद की ऋचा है। 'रेतो मूत्रम्' दो (७६, ७७) तीन अवसान की ऋचाएं हैं। इस प्रकार १९वें अध्याय में ९४वें ऋचाएं और ३० यजुः (एक कण्डिका में कई यजुर्मन्त्र मानकर) हैं।

इससे स्पष्ट है कि १९ वें अध्याय की १२ से ३१ तक २० ऋचाएं अर्थात् मन्त्र हैं, ब्राह्मण नहीं।

ख—यजुर्वेद के २४वें अध्याय, तथा २५वें की ९ कण्डिका के विषय में वासिष्ठी शिक्षा में लिखा है—

"चतुर्विंशतितमेऽध्याये अश्वस्तूपर इत्यारभ्य त्वचेत्यन्तं सर्वाणि यजूंषि ...।" पृष्ठ ४२।

इस पाठ से व्यक्त है कि 'वासिष्ठी शिक्षा' के अनुसार २४वां सम्पूर्ण अध्याय, और २५वें की ६ कण्डिकाएं यजुः अर्थात् गद्य मन्त्र हैं, ब्राह्मण नहीं।

ग—३०वें अध्याय की ५वीं कण्डिका से अध्याय के अन्त तक सब कण्डिकाओं के विषय में 'वासिष्ठी शिक्षा' में निम्न उल्लेख मिलता है—

"त्रिंशत्तमेऽध्याये देव सवितरिति तिस्रः [ऋचः] पराणि सर्वाण्यध्यायान्तानि सप्तसप्तत्युत्तरशतं यजूंषि" ।पृ० ४३।

अर्थात् तीसवें अध्याय के आरम्भ में तीन ऋचाएं हैं। शेष सारा अध्याय यजुः है ।।

ऋग्यजुः परिशिष्टकार के मत में भी उपर्युक्त यजुःसंहिता के भाग ऋक्यजुःरूप मन्त्र ही हैं। काण्वसंहिता के भाष्यकार आनन्द बोध भी **'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्'** (काण्व सं० अ० ३४) प्रकरण को मन्त्र ही मानता है। उव्वट ने भी अ० १६, मं० १२-२१ के तथाकथित ब्राह्मणभागों को अनुष्टुप् छन्दोयुक्त मन्त्र माना है। इस विषय में पूर्व 'वेदसंज्ञा-मीमांसा' (पृष्ठ १६८-१७१) तक विस्तार से लिखा है, पाठक वहीं देखें। विस्तारभय से यहां पुनः नहीं लिखा।

३—द्विवेदगंग बृहदारण्यक का एक प्राचीन भाष्यकार है। वह लिखता है—

'शुक्लानि शुद्धानि, यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकानि कृष्णानि'।

अर्थात् ब्राह्मण से मिश्रित होने से तैत्तिरीय आदि संहिताएं कृष्ण कहाती हैं ।।

इससे स्पष्ट है कि द्विवेदगंग के मत में शुक्ल यजुः में ब्राह्मण का मिश्रण नहीं है।

इस विवेचन से भली प्रकार स्पष्ट है कि यजुर्वेद के जिन भागों को वर्तमान सर्वानुक्रमणी के आधार पर पं० रघुनन्दन शर्मा ने ब्राह्मणभाग का प्रक्षेप बताया है, वह वस्तुतः ब्राह्मण नहीं है। शबर स्वामी जैसे प्रामाणिक मीमांसक और 'वासिष्ठी शिक्षा' के अनुसार वे पद्य और गद्यरूपी 'ऋक् यजुः संज्ञक' मन्त्र हैं ।।

—०—

ऋग्वेद की कतिपय दान-स्तुतियों पर विचार

ऋग्वेद की दान-स्तुतियों[1] पर संग्रहात्मक एक लेख डा० मणिलाल पटेल पी-एच० डी० शान्तिनिकेतन ने लिखा है, जो महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर जी ओझा के "भारतीय अनुशीलन" नामक अभिनन्दन ग्रन्थ में पृष्ठ ३४—४२ तक प्रकाशित हुआ है। उस लेख में उन्होंने कई ऐसी दानस्तुतियों का भी उल्लेख किया है, जिनका निर्देश कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में नहीं किया। डा० मणिलाल जी के मतानुसार ऋग्वेद के ३८ सूक्तों में दानस्तुतियों का उल्लेख है। कात्यायन ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में केवल २२ सूक्तों में दान-स्तुतियों का उल्लेख किया है। सब से अधिक दान-स्तुतियां ऋग्वेद के आठवें मण्डल में उपलब्ध होती है। इन दान-स्तुतियों के विषय में वैदिक विद्वानों में दो मत हैं। पाश्चात्य तथा कतिपय एतद्देशीय विद्वान् इन मन्त्रों में तत्तद् राजा के द्वारा दिये हुए दान का वर्णन मानते हैं। एतद्देशीय वैदिक विद्वानों का मत है कि वेद अपौरुषेय हैं, अतः उनमें किसी भी ऐतिहासिक घटना का वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये इन दानस्तुतियों में भी किसी व्यक्तिविशेष के दान की स्तुति नहीं है।

महर्षि दयानन्द और दान-स्तुतियां

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के महान् वैदिक विद्वान् महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेदभाष्य में तीन स्थानों पर दान-स्तुतियों का उल्लेख किया है। यथा—ऋग्वेद. ६।२७।८ में 'अभ्यावर्तिनश्चायमानस्य दानस्तुतिः';

---

१. नवभारत टाईम्स १५ जनवरी (सन् ?) रविवार के अंक में पृष्ठ ८ पर 'ऋग्वेद में दानस्तवन' शीर्षक से पं० विश्वप्रिय का लेख छपा है। उसमें डा० मणिलाल पटेल और मेरे प्रस्तुत लेख का (जो प्रथम बार सन् १९४६ में छपा था) उल्लेख किया है।

ऋ० ६।४७।२२-२५ में 'प्रस्तोकस्य साञ्जयस्य दानस्तुतिः'; तथा ऋ०७।१८। २२-२५ में—'सुदासः पैजवनस्य दानस्तुतिः'।

महर्षि दयानन्द बीसवीं शताब्दी के सब से महान् वेदोद्धारक हुए हैं, यह सर्वविदित है। उन्होंने वेद की अपौरुषेयता बड़े प्रयत्नपूर्वक सिद्ध की है। किन्तु वे ही वेद को अपौरुषेय मानते हुए अपने वेदभाष्य में अभ्यावर्ती, प्रस्तोक और सुदास् की दानस्तुतियों का वर्णन करते हैं। इससे विदित होता है कि वे इन दानस्तुतियों को मानते हुए भी इन्हें किसी विशेष व्यक्ति के दान की स्तुतियां नहीं मानते। महर्षि ने इन अभ्यावर्ती चायमान प्रस्तोक आदि वैदिक पदों का यौगिक अर्थ किया है। यौगिक अर्थ मानने पर ये शब्द किसी व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं रहते। उस अवस्था में ऋग्वेद मं० १०, सू० ७३-७४ में प्रतिपादित राजा की स्तुति के सदृश ये सामान्य दानस्तुतियां बन जाती हैं।

दान-स्तुतियों का वास्तविक स्वरूप

इन दानस्तुतियों का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस पर विचार करने के लिए ऋग्वेद की कुछ दानस्तुतियों पर विचार किया जाता है।

आचार्य शौनक और कात्यायन दोनों ही अपने ग्रन्थों में इन दानस्तुतियों का उल्लेख करते हैं। कात्यायन ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषाप्रकरण में दो सूत्र पढ़े हैं—'प्रायेणैन्द्रे मरुतः, राज्ञां च दानस्तुतयः' [२।२२,२३], अर्थात्—इन्द्र देवतावाले सूक्तों में प्रायः (बहुत) करके मरुतों का निपात=गौण वर्णन होता है, और राजाओं की दानस्तुतियां भी प्रायः करके ऐन्द्र सूक्तों में उपलब्ध होती हैं। द्वितीय सूत्र में चकार से 'प्रायेण' और 'ऐन्द्रे' इन दो पदों का अनुकर्षण होता है। तदनुसार ऐन्द्रसूक्तान्तर्गत जिन जिन मन्त्रों में मरुत् और दानस्तुतियों का उल्लेख है, उनका भी प्रधान देवता इन्द्र ही है। मरुत् और दानस्तुतियां निपात=गौण देवता हैं।

ऋक्सर्वानुक्रमणी के व्याख्याता षड्गुरुशिष्य ने—'राज्ञां च दानस्तुतयः' इस सूत्र की व्याख्या में चकार को अवधारण अर्थवाला माना है, वह ठीक नहीं है। अवधारण अर्थ मानने पर समस्त दानस्तुतियां ऐन्द्रसूक्तों में ही होनी चाहियें, परन्तु वेद में ऐसा नियम नहीं है। ऋ० १०। ६२। ८-११ मन्त्रोक्त सावर्णि की दानस्तुति ऐन्द्रसूक्तान्तर्गत नहीं है। इस सूक्त का देवता 'विश्वेदेवाः' है। अतः ऋक्सर्वानुक्रमणी के पूर्वोक्त सूत्र की हमारी ही व्याख्या ठीक है। आचार्य शौनक इस विषय में सर्वथा मौन हैं।

शौनक ऋ० १०।९३।१४, १५ ऋचाओं के विषय में बृहद्देवता ७।१४७ में लिखता है—

प्र तद् दुःसीम इत्यृग्भ्यां राज्ञां दानं च शंसति ।

अर्थात् उक्त ऋचाओं का देवता 'राजा की दानस्तुति' है । यहां शौनक ने किसी राजाविशेष का नामोल्लेख नहीं किया । क्योंकि इन मन्त्रों में कोई ऐसा पद है ही नहीं, जिसे व्यक्तिविशेष का वाचक बनाया जा सके । अतः शौनक ने 'राजा की दानस्तुति' ऐसा सामान्यनिर्देश ही किया है । यहां यह भी ध्यान रहे कि शौनक के शिष्य कात्यायन ने इन दो मन्त्रों का देवता 'विश्वेदेवाः' लिखा है । उसके मत में इनका 'राजा की दानस्तुति' देवता ही नहीं है । इन दोनों मन्त्रों के वैश्वदेवक सूक्त में होने से—'प्रायेणैन्द्रे मरुतः, राज्ञां च दानस्तुतयः' सूत्रों की हमारी ही व्याख्या ठीक है, यह भी स्पष्ट है ।

अब हम ऋग्वेद की कुछ दानस्तुतियों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हैं । जिससे इन दानस्तुतियों का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जायगा ।

१. पाकस्थामा कौरयाण की दान-स्तुति

ऋ० मं० ८, सूक्त ३, मं० २१-२४ तक का देवता सर्वानुक्रमणी में 'अन्त्याः कौरयाणस्य पाकस्थाम्नो दानस्तुतिः" अर्थात् 'कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा राजा के दान की स्तुति' लिखा है । इन मन्त्रों में पाकस्थामा और कौरयाण दोनों पद पढ़े हैं । अब हमें विचारना चाहिए कि क्या वस्तुतः इन मन्त्रों में कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा की दानस्तुति का वर्णन है या नहीं ?

सर्वानुक्रमणी का कर्त्ता कात्यायन आचार्य शौनक का शिष्य है ।[1] शौनक अपने बृहद्देवता में आचार्य यास्क के अनेक मत उद्धृत करता है । अतः यदि कात्यायन के आचार्य द्वारा सम्मानित यास्क का मत इन दानस्तुतिपरक मन्त्रों के विषय में विदित हो जाय, तो ऐतिहासिक दृष्टि से वह अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा ।

कौरयाण पद का यास्क-सम्मत अर्थ

यास्काचार्य ने निघण्टु ४।२ में 'कौरयाण' पद पढ़ा है । निघण्टु के चतुर्थाध्याय में वे ही पद पढ़े गए हैं,जो अनेकार्थ या अनवगतसंस्कार हैं । अर्थात्

१, 'ननु एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् कात्यायनः, कथं बहुवचनम्' ? षड्गुरुशिष्यकृत ऋक्सर्वानुक्रमणी टीका, पृ० ५७ ।

जिनका प्रकृति प्रत्यय आदि का विभागज्ञान या अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। महर्षि यास्क ने निरुक्त के चतुर्थाध्याय के प्रारम्भ में लिखा है—

'अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमान्'। निरुक्त ४।१।।

इसी प्रकरण में यास्काचार्य ने 'कौरयाण' पद को अनवगत-संस्कार मानकर लिखा है—

'कौरयाणः कृतयानः, पाकस्थामा कौरयाण इत्यपि निगमो भवति'। निरुक्त ५।१५ ।।

अर्थात् जिसने शत्रुओं के प्रति यान=चढ़ाई की हो, वह कौरयाण कहाता है। यास्क की इस व्याख्या से प्रतीत होता है कि उसके काल में 'कौरयाण' पद का अर्थ कुरयाण का पुत्र नहीं था। यदि यास्क के काल में ऐतिहासिक परम्परानुसार कौरयाण और पाकस्थामा किन्हीं व्यक्तिविशेषों के नाम होते, तो यास्क उनका निर्देश अवश्य करता।

जो विद्वान् वर्तमान निघण्टु का कर्ता कश्यप प्रजापति को मानते हैं, उनके मत में यह 'कौरयाण' पद और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। क्योंकि कश्यप प्रजापति का काल यास्क से अत्यन्त प्राचीन है।

यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि यदि 'कौरयाण' पद का अर्थ 'कुरयाण का पुत्र' ही होता, तो उसका निघण्टु के चतुर्थ अध्याय में समाम्नान करना ही अनर्थक है। क्योंकि, उस अवस्था में यह पद अनवगतसंस्कार या अनेकार्थ नहीं रहता। यास्क ने कौरयाण पद के साथ 'तौरयाण अह्रयाण और हरयाण' इन पदों का पाठ किया है। यद्यपि तौरयाण अह्रयाण और हरयाण[1] के साथ कौरयाण की समानता है, पर तौरयाण के साथ विशेष साम्य है। यास्क ने इन पदों का अर्थ क्रमशः 'तूर्णयान' 'अह्रीतयान' और 'हरमाणयान' किया है।

---

१. हरयाण पद ऋग्वेद ८।२५।२३ के रजतं हरयाणे वचन में उपलब्ध होता है। भगवान् की बड़ी कृपा है कि किसी हरयाणा प्रदेशाभिमानी की इस पद पर दृष्टि नहीं पड़ी, अन्यथा वह कह देता कि हमारा हरयाणा तो ऋग्वेद से भी पुराना है। और यास्क ने इस शब्द का जो अर्थ किया है, वह गलत है।

व्याकरणशास्त्र के नियमानुसार भी 'कौरयाण' पद का अर्थ 'कुरयाण का अपत्य' नहीं हो सकता क्योंकि कौरयाण, तौरयाण, अह्लयाण, हरयाण इन चारों शब्दों में पूर्वपदप्रकृतिस्वर है, जो कि बहुव्रीहि समास मानने पर ही बन सकता है।[1] अतः इन पदों की पारस्परिक तुलना से तथा व्याकरण-शास्त्र के नियमानुसार 'कौरयाण' पद का अर्थ 'कुरयाण का पुत्र' कदापि नहीं हो सकता।

दुर्गाचार्य की व्याख्या

दुर्गाचार्य ने उपर्युक्त नैरुक्त पाठ की व्याख्या इस प्रकार की है--

'कौरयाण इत्यनवगतम्। कृतयानः इत्यवगमः। यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः। विश्वेषां त्मना शोभिष्ठमुपेव दिवि धावमानम्'। ऋ० ८।३।२१॥

'मेधातिथेः काण्वस्यार्षम्। यानमनया प्रशस्यते। यं मे मम दु र्दत्तवन्तो म रुत इन्द्रश्च पाकस्थामा पक्वप्राणः कौरयाणः संस्कृतयानः विश्वेषां त्मना सर्वेषामपि यानानामन्यप्रतिगृहीतृसत्ताकानां मध्य आत्मना तदेव शोभिष्ठं शोभनतममनेकरत्नविचित्रत्वात् दिवीव ज्योतिश्चक्र उपधावमानं दृश्यते। एवमत्र शब्दसारूप्यादर्थोपपत्तेश्च कौरयाणः कृतयान इत्युपद्यते॥'

दुर्ग की इस निरुक्त-व्याख्या में किसी व्यक्तिविशेष का वर्णन तो दूर रहा, दान की स्तुति भी उपलब्ध नही होती। उसके मत में यह मन्त्र 'यान की स्तुति का है।'

कौरयाण और शौनक

बृहद्देवताकार शौनक इन मन्त्रों के सम्बन्ध में लिखता है—

'पाकस्थाम्नस्तु भोजस्य चतुर्भिर्यमिति स्तुतम् ॥बृ० दे० ६।४५॥

यहां शौनक ने पाकस्थामा का विशेषण कौरयाण नहीं दिया। क्योंकि वह यास्कीय निरुक्त से भली भांति परिचित था (बृहद्देवता के अनेक स्थानों में यास्कीय मतों का उल्लेख मिलता है)। अतः उसे कौरयाण पद का यास्कीय 'कृतयान' अर्थ अवश्य स्मरण रहा होगा। इससे यह भी स्पष्ट है कि

---

१. निरुक्त में उद्धृत मन्त्र में कौरयाण पद पूर्वपदान्तोदात्त है। परन्तु मूल निघण्टु और दुर्ग स्कन्द की वृत्तियों में तौरयाण में कौरयाण के समान ही पूर्वपदाद्युदात्तत्व ही देखा जाता है।

शौनक के मत में कौरयाण का अर्थ कुरयाण का अपत्य नहीं है। शौनक तो पाकस्थामा को भोज का विशेषण मानता है, जो कि इसी प्रकरण की अन्तिम ऋचा में उपलब्ध होता है।

स्कन्द महेश्वर की व्याख्या

स्कन्द महेश्वर ने उपर्युक्त नैरुक्त पाठ की व्याख्या इस प्रकार की है—

'कौरयाण इत्यनवगतम्। कृतयान इत्यवगमः। शत्रून् प्रति कृतमेव यानं येन, नित्यं कृतगमन इत्यर्थः। हस्त्यश्वरथेत्यादि सांग्रामिकं कृतमाकल्पितं प्रयाणाभिमुखं यानं यस्य। ......पाकस्थामा स्थामशब्दो लोके प्राणे प्रसिद्धः, पाकः परिपक्वो महान् स्थामो यस्य सः पाकस्थामा महाप्राणश्चेत्यर्थः। भोजो नाम राजा कौरयाणः शत्रून् प्रति कृतयान इत्यादि॥'

स्कन्द की इस व्याख्या को देखने से प्रतीत होता है कि स्कन्द ने इस मन्त्रार्थ को करते हुए बृहद्देवता का आश्रय लिया है। अत एव उसने राजा भोज के शत्रु के प्रति चढ़ाई का वर्णन किया है।

इस प्रकार इन मन्त्रों के व्यक्तिविशेषवाची प्रतीयमान कौरयाण और पाकस्थामा दोनों पद ही यास्क और बृहद्देवताकार के मत में विशेषणवाची हैं। 'कौरयाण' पद का अर्थ 'कृतयान' (जिसने शत्रु पर चढ़ाई की है) और पाकस्थामा का 'महाबलवान्' है। अब इसी प्रकरण में श्रूयमाण भोज शब्द पर विचार करना शेष है।

'भोज' शब्द का अर्थ

'भोज' शब्द भी यहां किसी व्यक्तिविशेष का वाचक नहीं है,अपि तु इस सूक्त के प्रधान देवता इन्द्र का विशेषण है। यहां भोज शब्द दाता अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में भोज शब्द का दाता अर्थ अत्यन्त सुप्रसिद्ध है। ऋग्वेद के 'न भोजो मम्रुः' (ऋ० मं० १०। सू० १०७। मं० ८-११) इत्यादि अनेक मन्त्रों में भोज शब्द स्पष्टतया दाता अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सायणादि भाष्यकारों ने भी 'भोज' शब्द का अर्थ दाता ही किया है। अथर्ववेद के 'किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः' (२०।८९।३) मन्त्र में स्पष्टतया इन्द्र को भोज=दाता कहा है। स्कन्द ने निरुक्त की व्याख्या में 'भोजो नाम राजा' लिखा है। स्कन्द का यहां किसी व्यक्तिविशेष राजा से अभिप्राय नहीं है। भोज शब्द भी राजा का पर्यायवाची है। देखो महाभारत—

राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तुयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ।। शान्ति० ६८।५४।।

अतः स्कन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या में जो भोज का अर्थ राजा किया है, वह सर्वथा युक्त है ।

ऐन्द्र सूक्त और राजाओं की दान-स्तुतियां

प्रसङ्गवश हमें यह भी विचार लेना चाहिए कि दान-स्तुतियां प्रायः करके ऐन्द्रसूक्तों में ही क्यों उपलब्ध होती हैं ? और उन्हें कात्यायन ने राजा की दान-स्तुतियां क्यों कहा है ?

वैदिक साहित्य में राजा के लिये इन्द्र शब्द का व्यवहार अत्यन्त प्रसिद्ध है । अर्थात वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों में राजा के लिये इन्द्र शब्द का उल्लेख मिलता है । ऋ० ६।३०।५ में भी इन्द्र को राजा कहा है । साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा राजाओं का दान ही महान् होने के कारण प्रायः स्तुत्य होता है । अत एव दानस्तुतियां प्रायः करके ऐन्द्रसूक्तों में ही उपलब्ध होती हैं । इन्द्र शब्द का राजा अर्थ होने के कारण ही कात्यायन ने दान-स्तुतिपरक मन्त्रों में राजा पद का श्रवण न होने पर भी इन्हें राजा की दानस्तुतियाँ कहा है ।

इस प्रकार निरुक्त, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी, निरुक्त की टीकाओं तथा मूलमन्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'कौरयाण, पाकस्थामा और भोज ये पद किसी व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हैं, अपि तु विशेषणवाची हैं ।

२. अभ्यावर्त्ती चायमान की दान-स्तुति

ऋ० ६।२७।८ का देवता सर्वानुक्रमणी में 'अभ्यावर्त्तिनश्चायमानस्य दानस्तुतिः' लिखा है । यही देवता महर्षि दयानन्द ने भी अपने ऋग्वेदभाष्य में माना है । इस मन्त्र में 'चायमानः' पद विशेष विचारणीय है । ऋग्वेद में 'चायमान' पद दो रूपों में उपलब्ध होता है—एक अन्तोदात्त और दूसरा आद्युदात्त । प्रकृत मन्त्र में चायमान पद अन्तोदात्त है । ऐतिहासिक अर्थ करनेवाले सायणादि इस पद का अर्थ 'चायमान का पुत्र' करते हैं । सायण यही अर्थ ऋ० ७।१८।८ में भी करता है । परन्तु वहां पर 'चायमान' पद आद्युदात्त है । स्वरशास्त्र के अनुसार अन्तोदात्त चायमान पद अपत्य-प्रत्ययान्त बन सकता है, परन्तु आद्युदात्त पद किसी प्रकार अपत्य-प्रत्ययान्त

नहीं बन सकता[1]। अतः ऋ० ७।१८।८ में आद्युदात्त चायमान पद को अपत्य प्रत्ययान्त मानना सायण की महती भूल है।

इस मन्त्र में अन्तोदात्त चायमान पद को अपत्य प्रत्ययान्त मानने में यद्यपि स्वरशास्त्र किसी प्रकार बाधक नहीं, तथापि प्रकृत मन्त्र म यह अपत्य-प्रत्ययान्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि अभ्यावर्त्ती पद 'अभितः सर्वत आसमन्ताद् वर्तत इत्यभ्यावर्ती' अर्थात् जो सब ओर से सब जगह वर्तमान हो' उसका बोधक है, तदनुसार यह णिनिप्रत्ययान्त (अष्टा० ३।२।७८) पद उष्णभोजी आदि की समान विशेषणवाची है, न कि विशेष्यवाची। चायमान पद को अपत्यप्रत्ययान्त मानने पर वह भी विशेषणवाची ही होगा। नह्यु पाधेरुपाधिर्भवति विशेषणस्य वा विशेषणम् (महाभाष्य १।३।२) इस न्याय से दोनों विशेषणवाचियों का परस्पर में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अब विचारना चाहिए कि इन दोनों विशेषणवाची पदों का विशेष्य कौन है ? इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है, परन्तु उसका इस सूक्त में दो प्रकार से वर्णन है—एक पराक्रमी, दूसरा दानी। जिन मन्त्रों में उसके पराक्रम का वर्णन है वहां उसे 'इन्द्र' शब्द से पुकारा है और जहां उसके दान का वर्णन है वहां उसे 'मघवा' कहा है। प्रकृत मन्त्र में मघवा और सम्राट् दोनों पदों का उल्लेख है। अतः अभ्यावर्ती और चायमान दोनों पद मघवा के विशेषण हैं।

चायमान शब्द का अर्थ

दोनों प्रकार के चायमान पदों में स्वर तथा प्रत्ययमात्र की विभिन्नता है। आद्युदात्त चायमान पद शानच् के लादेश होने के कारण 'तास्यनुदात्तेन्ङिददु०' (अष्टा० ६।१।१८०) इत्यादि पाणिनीय सूत्र से अनुदात्त होकर धातुस्वर से आद्युदात्त होता है। अन्तोदात्त चायमान पद 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (अष्टा० ३।२।१२९) सूत्र से चानश् प्रत्ययान्त है। चानश् के लादेश न होने से चित्स्वर से अन्तोदात्त होता है। तदनुसार

१. तस्यापत्यम् (अष्टा० ४।१।१२) सूत्र से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होकर चायमान पद प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होता है। यदि आद्युदात्त चायमान पद में आपवादिक अञ् प्रत्यय की कथंचित् कल्पना की भी जाये, तो भी अन्तोदात्त चायमान पद अपत्य प्रत्ययान्त नहीं हो सकता, क्योंकि उभयथा कल्पना में कोई प्रमाण नहीं।

आद्युदात्त चायमान पद का अर्थ 'पूजा करनेवाला' और अन्तोदात्त का अर्थ 'पूजा करने का स्वभाववाला है ।[1] अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि इस मन्त्र में किसी व्यक्तिविशेष की दानस्तुति का वर्णन नहीं है ।

३. सार्वाणि की दान-स्तुति

ऋ० १०।६२ का ऋषि नाभानेदिष्ठ मनुपुत्र है। इस सूक्त के ८ से ११ चार मन्त्रों का देवता सर्वानुक्रमणी में 'सार्वाणि=सवर्ण के पुत्र की दानस्तुति' लिखा है । बृहद्देवता अ० ७ श्लोक १०३ में इन मन्त्रों का देवता 'सावर्ण्य की दानस्तुति' माना है । इन मन्त्रों में सार्वाणि और सावर्ण्य दोनों पद उपलब्ध होते हैं । सार्वाणि और सावर्ण्य दोनों पद एकार्थक हैं । विवस्वान् की पत्नी सवर्णा में उत्पन्न मनु ही यहां सार्वाणि[2] और सावर्ण्य कहे गये हैं । इस प्रकार इन मन्त्रों से मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ ने अपने पिता सार्वाणि वा सावर्ण्य से दिये धन की स्तुति की, ऐसा अभिप्राय मानना होगा । इसमें दो विप्रतिपत्तियां उपस्थित होती हैं—

१—दानस्तुतियों में दान पानेवाला दाता की स्तुति करता है । यह सामान्य नियम है । पिता से जो धन प्राप्त होता है, वह दान नहीं कहा जाता । अतः उससे प्राप्त धन की स्तुति दानस्तुति कैसी कही जा सकती है ?

२. अगले उद्धरिष्यमाण ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से स्पष्ट है कि नाभानिदिष्ट को अपने पिता से कुछ भी धन प्राप्त नहीं हुआ था, अपितु उसे ये दो सूक्त ही दाय-भाग के रूप में प्राप्त हुए थे । ऐसी अवस्था में इन मन्त्रों में दान की स्तुति कैसे की गई ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका वैदिक वाङ्मय में कोई समाधान उपलब्ध नहीं होता ।

---

१. तुलना करो—'कायमानो वना त्वम्' ऋ० (३।९।२) के आद्युदात्त कायमान के साथ । इस शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्क ने (निरुक्त ४।१४ में) चायमान किया है । अतः स्पष्ट है कि आद्युदात्त चायमान पद यास्क के मत में व्यक्तिविशेष वाचक नहीं है ।

२. यद्यपि 'सवर्णा' से साक्षात् अपत्यार्थ में इञ् प्राप्त नहीं होता, तथापि चूडाला बलाका आदि बह्वादि गणपठित शब्दों से जैसे इञ् होता है, उसी प्रकार सवर्णा से भी आकृतिगण सामर्थ्य से हो जायेगा । गान्धारी के पुत्र दुर्योधन के लिए महाभारत में गान्धारि पद का बहुधा प्रयोग उपलब्ध होता है । यथा शल्यपर्व ६२।३८॥

इतना ही नहीं, अपितु इनमें दानस्तुति मानने पर यह भी मानना होगा कि ये मन्त्र नाभानेदिष्ठ के रचे हुए हैं, किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण ५। १४ की कथा से विदित होता है कि नाभानेदिष्ठ को उसके पिता मनु ने इन सूक्तों का ज्ञान कराया था। ब्राह्मण का पाठ इस प्रकार है—

नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन्...स पितरमेत्याब्रवीत् त्वां ह वाव मह्यं तताभाक्षुरिति तं पिताऽब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथाः। अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते। ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यन्ति तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय। तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं तत्ते स्वर्यन्तो दास्यन्तीति।

इसका भवार्थ इस प्रकार है— नाभानेदिष्ठ के ब्रह्मचर्य काल में उसके ज्येष्ठ भाईयों ने अपने पिता की सम्पत्ति बांट ली। गुरुकुल से वापस आने पर नाभानेदिष्ठ ने अपने पिता को उलाहना दिया। पिता ने कहा तुम इसकी चिन्ता मत करो,ये अङ्गिरस स्वर्ग के लिए यज्ञ कर रहे हैं,किन्तु हर छठे दिन ये मोह को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए उन्हें इन ० १०।६१,६२) सूक्तों का उपदेश करो, वे लोग स्वर्ग में जाते हुए अपना समस्त यज्ञीय द्रव्य तुम्हे दे देंगे।

इस कथा से व्यक्त है कि ये मन्त्र नाभादिष्ठ विरचित नहीं हैं, अपितु उसे तो अपने पिता से दायभाग के रूप में प्राप्त हुए हैं। ऐसी अवस्था में यह विचारणीय हो जाता है कि सावर्णि वा सावर्ण्य के दान की स्तुति किस व्यक्ति ने की और वह दान किस प्रकार का था।

इसी प्रकार इस सूक्त दान स्तुतिरूप में इतिहास मानने पर एक उलझन ऐतिहासकों के गले में और पड़ती है, जिससे वे किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं पासकते—

इन दानस्तुति मन्त्रों में 'यदुस्तुर्वश्च मामहे' पाठ आता है।[1] भाष्यकारों के मतानुसार तुर्व शब्द से प्रसिद्ध तुर्वशु राजा का ही ग्रहण है। यदु और तुर्वशु दोनों भाई नाभानेदिष्ठ की पांचवीं पीढ़ी में हुए थे। महाभारत आदि पर्व अ० १५ श्लोक ७-९ के अनुसार इनका वंश क्रम इस प्रकार है—

---

१. इस विषय पर विशेष विचार 'क्या ऋषि मन्त्ररचयिता थे ?' निबन्ध में देख। यह निबन्ध आगे इस संग्रह में छपा है।

दक्ष से अदिति, अदिति से विवस्वान्, विवस्वान् से मनु, मनु से इडा और नाभानेदिष्ठ आदि, इडा से पुरुरवाः,पुरुरवाः से आयु, आयु से नहुष, नहुष से ययाति, ययाति से यदु तुवशु अनु आदि ।

अब विचारना चाहिए कि इन दानस्तुति के मन्त्रों में यदु तुर्वशु नाम कैसे आये ? यदु और तुर्वशु के उत्पन्न होने पर नाभानेदिष्ठ ने अत्यन्त जरा अवस्था में ये मन्त्र रचे हों यह कल्पना भी पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण से कट जाती है, क्योंकि उसके अनुसार तो ये मन्त्र उसे गुरुकुल से वापस आने पर ही अपने पिता से प्राप्त हुए थे । इडा और नाबानेदिष्ठ में आयु का विशेष अन्तर नहीं था, दोनों के बीच में केवल एक पृषध्र संज्ञक भाई पैदा हुआ था । अतः दोनों में ५-७ वर्ष से अधिक का व्यवधान नहीं हो सकता ।

इस प्रकार इस दानस्तुति के मन्त्रों पर विचार करने से यही विदित होता है कि इन मन्त्रों में न तो सावर्णि की दानस्तुति है, न सावर्ण्य की और ना ही ये मन्त्र नाभानेदिष्ठ के रचे हुए हैं । इन मन्त्रों में इतिहास मानने पर अनेक ऐसी उलझने खड़ी हो जाती हैं, जो ऐतिहासिक पक्ष में किसी प्रकार भी नहीं सुलझ सकतीं ।

४. प्रस्कण्व की दान-स्तुति

ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ५५-५६ दो सूक्तों का देवता सर्वानुक्रमण्यनुसार 'प्रस्कण्व की दानस्तुति' है । आश्चर्य इस बात का है कि इन दोनों सूक्तों में प्रस्कण्व का नाम तक नहीं आया । ५५वें सूक्त के प्रथम मन्त्र में 'इन्द्र' पद षष्ठयन्त पढ़ा है । अतः इन मन्त्रों का सम्बन्ध इन्द्र के साथ ही होना चाहिए । इन सूक्तों से पूर्व के कई सूक्तों का देवता इन्द्र है । इतना ही नहीं, अपितु ऐतिहासिक पक्ष में "राज्ञां च दानस्तुतयः" इस नियम के अनुसार प्रस्कण्व नाम किसी राजा का होना चाहिए । परन्तु पाणिनीय शास्त्र के अनुसार प्रस्कण्व शब्द राजा का वाचक नहीं हो सकता, क्योंकि 'प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी' (अ० ६।१।१४८) सूत्र के अनुसार ऋषि अभिधेय होने पर ही प्रस्कण्व शब्द साधु होता है । हरिश्चन्द्र के समान प्रस्कण्व राजर्षि भी नहीं है । अतः स्पष्ट है कि इस दानस्तुति का प्रस्कण्व के साथ कोई सम्बन्ध नहीं । शौनक और कात्यायन दोनों ने ही पूर्व सूक्तों में प्रस्कण्व शब्द देखकर इन मन्त्रों का सम्बन्ध बलात् प्रस्कण्व साथ लगा दिया ।

५. विभिन्दु की दान-स्तुति

ऋ० ८।२।४१-४२ मन्त्रों का देवता 'विभिन्दोर्दानस्तुतिः' लिखा है। विभिन्दु नाम का कोई राजा हुआ है वा नहीं, इस विषय में इतिहास सर्वथा मौन है। जबतक इतिहास के द्वारा यह सिद्ध न हो जाये कि विभिन्दु नाम का कोई राजा हुआ था और उसके दान का वर्णन इन मन्त्रों में है, तबतक इन मन्त्रों में उसके दान की स्तुति मानना सर्वथा अयुक्त है।

विभिन्दु शब्द का अर्थ

वैदिक शब्दों के सच्चे अर्थ जानने में हमें जितनी सहायता मूल वेद से मिल सकती है, उतनी अन्य साधनों से कदापि नहीं मिल सकती। अतः अप्रसिद्ध वैदिक शब्दों के अर्थ जानने के लिये हमें वेद का ही आश्रय लेना चाहिये। तदनुसार हमें देखना चाहिये कि वेद में विभिन्दु शब्द का अन्यत्र क्या अर्थ है। ऋ० १।११६।२० में लिखा है 'विभिन्दुना नासत्या रथेन' इस मन्त्र में विभिन्दु पद स्पष्टतया रथ का विशेषण है। सायण भी इस मन्त्र का अर्थ करता हुआ लिखता है—'विभिन्दुना विशेषेण सर्वस्य भेदकेनात्मीयेन रथेन' अर्थात् अच्छी प्रकार से सबका भेदन करनेवाले अपने रथ के द्वारा। इस प्रकार इस मन्त्र से 'विभिन्दु पद का अर्थ 'सबका नाश करनेवाला' स्पष्ट हो जाता है। अब हमें यह विचारना होगा कि क्या यह अर्थ हमारे प्रकृत दान-स्तुतिवाले मन्त्रों में उपयुक्त हो सकता है वा नहीं। हम ऊपर लिख चुके हैं कि दानस्तुतियां प्रायः करके ऐन्द्र सूक्तों में ही हैं। इस सम्पूर्ण सूक्त का देवता भी इन्द्र ही है। अतः यह विभिन्दु पद प्रकृत मन्त्रों में इन्द्र के विशेषण-रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं रहता। इसलिये ये मन्त्र भी किसी व्यक्तिविशेष के दानस्तुतिपरक नहीं हैं, यह इस विवेचन से स्पष्ट है।

इस प्रकार ऋग्वेद की पांच दानस्तुतियों पर विचार करने से स्पष्ट विदित होता है कि ये वस्तुतः किन्हीं राजविशेषों की दानस्तुतियां नहीं हैं। आचार्य शौनक और कात्यायन ने इन दानस्तुतियों का वर्णन किस दृष्टि से किया, यह विचारणीय है। इनके ग्रन्थों से विदित होता है कि ये दोनों आचार्य ऋषियों को मन्त्रार्थ द्रष्टा मानते हैं। अतः एव इन्होंने अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा है और उनके लिये दृश धातु का प्रयोग किया है। यथा—

मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्य समाम्नायानुपूर्वशः। (बृहद्देवता १।१)

गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत् । (सर्वा० २।१)

वामदेवो चतुर्थं मण्डलमपश्यत् । (सर्वा० ४।१) इत्यादि

यदि ये ऋषियों को मन्त्ररचयिता मानते होते तो इन्हें दृश धातु के स्थान पर कृञ् धातु का प्रयोग करना चाहिये था ।

आख्यान की कल्पना क्यों की गई

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वेद को अपौरुषेय माननेवाले कात्यायन, शौनक और यास्क आदि आचार्य इन दानस्तुतियों का, वा अन्य आख्यानों का उल्लेख क्यों करते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि समस्त वैदिक आख्यान प्ररोचना के लिये कल्पित किये है, जैसा कि महामुनि जैमिनि ने 'गुणवादस्तु' (मी० १।२।१०) आदि सूत्रों में दर्शाया है । इनका भाष्य करते हुए शबरस्वामी ने लिखा है—

असद्वृत्तान्तान्वाख्यानं स्तुत्यर्थेन, प्रशंसाया गम्यमानत्वात् । इह अन्वाख्याने वर्तमान द्वयं निष्पद्यते यच्च वृत्तान्तज्ञानं यच्च कस्मिश्चित् प्ररोचना द्वेषो वा । तत्र वृत्तान्तावाख्यानं न प्रवर्तकं न निवर्तकं चेति प्रयोजनाभावादनर्थकमित्यविवक्षितम् । प्ररोचनया तु प्रवर्तते इति द्वेषान्निवर्तते इति तयोर्विवक्षा ।

अर्थात्— समस्त आख्यान असत्य है । केवल तदन्तर्गत स्तुति से विधि की प्रशंसा की प्रतीति होती है । आख्यान कहने से दो बातें सिद्ध होती हैं, प्रथम कहानी का ज्ञान होना,दूसरा किसी पदार्थ में प्रीति वा द्वेष । वृत्तान्तज्ञान विधि में न प्रवंतक है और नाही निवर्तक । अत एव वह अनर्थक अर्थात् अविवक्षित है । प्रीति से कार्य में प्रवृत्ति और द्वेष से निवृत्ति होती है । इसलिये आख्यानों में इतने अंश की ही विवक्षा है ।

यदि हम मीमांसकों के इस सिद्धान्त के अनुसार इन दानस्तुतियों पर बिचार करें तो इन असद् दानस्तुतियों का तात्पर्य दान देने में प्रीत्युत्पादनरूप दृष्टप्रयोलन ही स्पष्ट प्रतीत होता है ।

आचार्य यास्क इन वैदिक आख्यानों की कल्पना में एक अन्य हेतु देते हैं । वे अपने ग्रन्थ में लिखते हैं--"ऋषेदृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता ।" यह वाक्य निरुक्त में दो स्थानों (निरु० १०।१०,४६) में पढ़ा है और दोनों स्थानों पर आख्यान का प्रसंङ्ग है । इस वचन का अभिप्राय यह है कि—

जब ऋषियों को किसी मन्त्र के विशेष अभिप्राय का प्रतिभान होता है, उस समय अन्यों को उसका अभिप्राय सरलता से समझाने के लिये वे आख्यान की कल्पना करते हैं।"

यास्क के उक्त वचन से सर्वथा स्पष्ट है कि आख्यानों का मन्त्रों के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है, वे तो मन्त्रार्थज्ञान होने के पीछे मन्त्र के आधार पर कल्पित किये जाते हैं। यही अवस्था इन दानस्तुतियों की है। यह प्रथा आज भी विश्वव्यापी है। दूर जाने की क्या आवश्यकता है, हमारे उपदेशक महानुभाव भी किसी गूढ बात को समझना चाहते हैं तो पहले कोई न कोई दृष्टान्त बताकर उसके साथ उसका समन्वय करके समझाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार दृष्टान्त द्वारा समझाने से वह क्लिष्ट विषय भी अत्यन्त सरल होकर सर्वसाधारण की समझ में आ जाती है। बस यही स्वरूप समस्त वैदिक आख्यानों का है।

उपसंहार

इस प्रकार हमने इस छोटे से निबन्ध में ऋग्वेद की पांच दान-स्तुतियों पर प्रकाश डासते हुए समस्त दान-स्तुतियों के वास्तविक स्वरूप को दर्शाने की चेष्टा की है। महर्षि दयानन्द, यास्क, शौनक और कात्यायन आदि ने वेद को नित्य, अपौरुषेय मानते हुए दान-स्तुतियों का उल्लेख किया है। अतः उनके मत में ये दान-स्तुतियां किन्हीं राजविशेषों के दान की स्तुतियां नहीं हैं ये तो प्ररोचनार्थ पीछे से कल्पित हुई हैं। यास्क का "यं मे दुरिन्द्रो मरुतः पाकस्थामा कौरयाणः' (ऋ० ८।१३।२१) मन्त्र को कुरयाण के पुत्र पाकस्थामा की दानस्तुति न मानना इस वात का प्रबल प्रमाण है। अत एव जो इन्हें ऐतिहासिक घटनायें मानकर इनमें किन्हीं प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यों के खोज करने का प्रयत्न करते हैं, उनका प्रयत्न अवश्य ही सर्वथा निष्फल होगा। जिस प्रकार तोते-मैंने आदि की कहानियों का कुछ भी ऐतिहासिक मूल्य नहीं है तद्वत् ही इन वैदिक आख्यानों का भी ऐतिहासिक मूल्य कुछ नहीं है, यह स्पष्ट है।

——o——

ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या

सुविदितमेवैतद् वैदिकावाङ्मयजुषां यदासन् कदाचिदृग्वेस्यैकविंशतिः संहिताः। तासु सम्प्रत्येकैव संहिता समुपलभ्यते[1] । प्राचीनपरम्परासंरक्षकाणां भारतीयविदुषां जागरूकप्रयत्नेन अतिप्राचीनकालादियमविकृतैवोपलभ्यते । तत्रोपसार्धदशसहस्रक् परिमाणायां संहितायां नैकोऽपि वर्णो विकृतिं प्राप, ऋचां नैयूनाधिक्यस्य तु का कथा ? परमप्रयत्नेन संरक्षितायामप्यृक्संहितायां तदृक्परिमाणे प्राचीना अर्वाचीनाश्च प्रायेण सर्वेऽपि वैदिकवाङ्मयविदो मिथो विप्रवदन्ते । तथाहि—

शौनकोऽनुवाकानुक्रमण्यां १०५८० ऋचः पादश्चैकः; छन्दःसंख्यापरिशिष्टकारः १०४०२ ऋचः; सर्वानुक्रमणीटीकाकारो जगन्नाथः १०५५२

ऋग्वेद की ऋक्संख्या

वैदिक वाङ्मय से परिचित विद्वान् इस बात से परिचित हैं कि पुराकाल में ऋग्वेद की शखाओं को सबमिलाकर २१ संहिताएं थीं । उनमें से इस समय एक ही उपलब्ध है[1] । प्राचीन परम्परा के संरक्षक विद्वानों के जागरूक प्रयत्न से अति प्राचीन काल से लगभग साढ़े दश हजार मन्त्रों से युक्त संहिता में एक वर्ण भी विकार को प्राप्त नहीं हुआ, ऋचाओं की न्यूनाधिकता तो दूर की बात है । इस प्रकार परम प्रयत्न से संरक्षित ऋक्संहिता में कितनी ऋचायें हैं, इस विषय में प्राचीन अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने लिखा है, परन्तु यह प्रश्न अभी तक रहस्यमय बना हुआ है। किन्हीं भी दो विद्वानों की ऋग्गणना परस्पर नहीं मिलती । जैसा कि—

शौनकीय अनुवाकनुक्रमणी—१०५८० और १ पाद । छन्दसंख्या-परिशिष्ट—१०४०२ । ऋक्सर्वानुक्रमणी-टीकाकार जगन्ननाथ—१०५५२ ।

---

१. एकाऽपरा शाङ्खायनसंहिताऽप्युपलब्धा, परन्त्वद्ययावन्न सा मुदिता ।

ऋचः; चरणव्यूहव्याख्याता महिदासो बालखिल्यसहिताः १०५५२ ऋचः, बालखिल्यरहिताः १०४७२, तदुद्धृतश्लोकानुसारं १०४१९ ऋचः; ऋग्भाष्यरचयिता वेङ्कटमाधवः १०४०२ ऋचः; स एव द्विपदापक्षे १०४८० ऋचः; स्वामी दयानन्दः १०५८९ ऋचः, परं तदुल्लिखिते प्रतिमण्डलयोगे संहत्य १०५२१ ऋचः; अध्यापको मैकडानलः १०४४२ ऋचः, स एव द्विपदापक्षे १०५६९ ऋचः, '८-८-१९१९' तिथ्यङ्कितपत्रानुसारं[1] १०५६५; पण्डितसत्यव्रतः सामश्रमी १०५२२; हरिप्रसादो वैदिकमुनिश्च १०४४० ऋच इति संगिरते। किमत्र वैमत्ये कारणम्, कियत्यश्चर्क्संहितायां वस्तुत ऋच इत्यस्मिन् निबन्धे विवेचयामः।

शतपथ ऋचां परिमाणमेवमुल्लिखितम्—'स ऋचो व्यौहत द्वादशबृहतीसहस्राणि, एतावत्यो ह्यृचो याः प्रजापतिसृष्टाः' [१०।४।२।२३] इति।

चरणव्यूह-टीकाकार महिदास—बालखिल्यसहित १०५५२, बालखिल्य-विना १०४७२, उसके द्वारा उद्धृत श्लोकानुसार १०४१९। वेङ्कटमाधव–१०४०२, तथा द्विपदापक्ष में १०४८०। स्वामी दयानन्द सरस्वती—१०५८९, परन्तु उनके प्रतिमण्डल गिनी गई ऋचाओं का योग १०५२१। प्रो० मैकडानल—१०४४२, द्विपदापक्ष में १०५६९,तथा ८-८-१९१९ के पत्रानुसार[1] १०५६५। पं० सत्यव्रत सामश्रमी—१०५२२। पं० हरिप्रसाद वैदिकमुनि १०४४० ऋचाएं।

हमारा मत है कि प्राचीन आचार्यों की ऋग्गणना प्रायः ठीक है। परन्तु उनके गणना-प्रकार में भेद होने से परस्पर विभिन्नता प्रतीत होती है। आधुनिक विद्वानों ने प्राचीन आचार्यों के गणनाप्रकार को भले प्रकार न समझ कर अनेक भयङ्कर भूलें की हैं। इस लेख में उनकी भूलों का निदर्शन और ऋग्वेद की शुद्ध ऋक्संख्या दर्शाने का यत्न किया जायेगा।

शतपथ ब्राह्मण १०।४।२।२३ में लिखा है—

'स ऋचो व्यौहत द्वादशबृहतीसहस्राणि, एतावत्यो ह्यृचो याः प्रजाप्रतिसृष्टाः।'

अर्थात्–प्रजापति ने १२००० बारह सहस्र बृहती छन्द के परिमाण की ऋचाएं उत्पन्न कीं। इतनी ही प्रजापतिसृष्ट ऋचाएं हैं।

---

१. पत्रमिदं मैकडानलाध्यापकेन पण्डितभगवद्दत्ताय प्रेषितम्। तदीये 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' नाम्नो ग्रन्थस्य प्रथमे भागे २४१ तमे पृष्ठे (सं० २) मुद्रितं द्रष्टव्यम्।

एतदनुसृत्य द्वादशबृहतीसहस्राणामृचां (१२००० × ३६) = ४३२००० चतुर्लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चाक्षरमानं जायेत। तच्च शौनकीयानुवाकानुक्रमण्यापि संवदति। वर्तमानायामृक्संहितायां क्षैप्रप्रश्लेषाभिनिहितसन्धीनां व्यूहे कृतेऽपि ३९७२६५ त्रिलक्षाणि सप्तनवतिसहस्राणि पञ्चषष्टयधिकद्विशतान्येवाक्षराणि भवन्ति। अतो जायते संदेहः—किमियं शातपथी ऋगक्षरमात्रा दशतय्या एवर्चामुत वेदचतुष्टयान्तर्वर्त्तिनीनां सर्वासामृचामिति ?

अत्रैवं पश्यामः—शतपथस्योक्तप्रकरण ऋग्यजुःसाम्नामेवाक्षरमानमुच्यते, नाथर्वाङ्गिरसाम्। वैदिकवाङ्मये यत्र क्वचिदपि ऋग्यजुःसाम्नां त्रयाणामेवोल्लेखस्तत्र ऋगादीनि पदानि न वेदपराणि, अपि तु मन्त्रविशेषपराण्येव। यथोक्तं जैमिनिना—'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः' [मी० २।१।३५-३७] इति। अत एवं सभाव्यते—उक्ता शातपथी ऋगक्षरगणना वेदचतुष्टयान्तर्गतानां सर्वासामेवर्चाम्। तत्रैतावान्

इसके अनुसार बारह सहस्र बृहती छन्द का १२००० × ३६ = ४३२००० अक्षर परिमाण होता है।

शतपथ के इस प्रकरण को भले प्रकार देखने से विदित होता है कि यह अक्षर-परिमाण केवल ऋग्वेद की ऋचाओं का नहीं है, अपि तु वेदचतुष्टयान्तर्गत समस्त ऋचाओं का है। क्योंकि शतपथ के इस प्रकरण में त्रयी विद्या का वर्णन करते हुए ऋक् यजुः और साम का ही परिमाण दर्शाया है, अथर्व का नहीं। अतः इस प्रकार के ऋक् यजुः और साम शब्द ग्रन्थ-विशेष के वाचक न होकर मन्त्रप्रकार के वाचक हैं। आचार्य जैमिनि ने त्रयी विद्या के लिये प्रयुक्त होनेवाले ऋक् यजुः और साम शब्द का अर्थ इस प्रकार दर्शाया है—

'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुःशब्दः॥'
मीमांसा २।१।३५-३७॥

अर्थात् चारों वेदों में जितने पादबद्ध (=पद्यमय) मन्त्र हैं, वे 'ऋक्', गानात्मक 'साम', और गद्य मन्त्र 'यजुः' कहाते हैं।

हम समझते हैं कि शतपथ के उक्त वचन में दर्शाई अक्षर संख्या चारों वेदों के अन्तर्गत सब ऋचाओं की है।

किन्हीं-किन्हीं विद्वानों का विचार है कि अनुवाकानुक्रमणी में लिखा हुआ ४३२००० अक्षरपरिमाण ऋग्वेद की समस्त शाखाओं में पठित १०५८०

सन्देहोऽवशिष्यते यच्छौनकेनानुवाकानुक्रमण्यां पारायणे १०५८० अशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः पादश्चैक इति ऋङ्मानमुक्त्वा शतपथवत् ४३२००० चतुर्लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चाक्षराणीत्यक्षरमानमुक्तम्, तत्तु ऋग्वेदीयर्चामेव कथमुपपद्यत इति देवा एव वेदितुमर्हन्ति ।

विशिष्टा ऋग्गणना पद्धतिः

ऋक्संहितान्तर्वतिनीनामृचां संख्यामुपक्रम्य विदुषां वैमत्यं प्रागुपदर्शितम् । तत् किं वास्तविकमुत गणनापद्धतिभेदमूलकमुत भ्रमप्रमादादिजन्यमिति सम्प्रति विचार्यते—

दृश्यन्ते हि दशतय्यां काश्चनेदृश्य ऋचो याः कदाचिद् द्विपदारूपेण गण्यन्ते, कदाचिच्च चतुष्पदारूपेण । तेषां द्विपदात्वेन चतुष्पदात्वेन च परिगणने संख्यावश्यं भिद्येत । अतस्तदेव तावद्विवेच्यते—

सन्ति ऋग्वेद आहत्य १५७ सप्तपञ्चाशदुत्तरशतं द्विपदा ऋचः । तासु १७ सप्तदश नित्याः, १४० चत्वारिंशदुत्तरशतं च नैमित्तिकाः । इमाश्चत्वारि-

---

और १ पाद ऋचाओं का है । हमें यह कल्पना ठीक प्रतीत नहीं होती । क्योंकि वालखिल्यरहित १०४७२ ऋचाओं का अक्षर-परिमाण ३६४२२१ होता है । यह अक्षरसंख्या पादपूर्त्यर्थ किए गए अक्षर-व्यूह को मानकर उपलब्ध होती है । अतः शेष १०२ ऋचाओं और १ पाद का लगभग ३८ सहस्र अक्षर-परिमाण किसी प्रकार नहीं हो सकता । इस हेतु से भी शतपथोक्त ४३२००० अक्षर-परिमाण वेदचतुष्टयान्तर्गत समस्त पादबद्ध (=पद्य) मन्त्रों का समझना चाहिए । शौनक ने केवल ऋग्वेद का ४३२००० अक्षर-परिमाण कैसे लिखा, यह हमें ज्ञात नहीं ।

विशिष्ट ऋग्गणना-पद्धति

ऋग्वेद की विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रदर्शित ऋक्संख्या पर विचार करने से पूर्व ऋग्वेद में ऋग्गणना की जो विशिष्ट पद्धति है, उसको समझ लेना अत्यावश्यक है । क्योंकि इसको यथार्थतया न समझने के कारण समस्त आधुनिक विद्वानों ने ऋग्गणना में भयङ्कर भूलें की हैं ।

ऋग्गणना और द्विपदा ऋचाएं—ऋग्वेद में कुछ मन्त्र ऐसे हैं, जिनको किसी समय दो-दो पाद का एक मन्त्र जानकर गिनते हैं । और किसी

शदुत्तरशतमृचो यज्ञे शंसनादिषु द्विपदात्वेन विनियुज्यन्ते। तथा च ब्राह्मणं भवति—'द्विपदाः शंसति' इति। सूत्र्यते चाश्वलायनेन—'पश्वा न तायुमिति द्वैपदम्' [८।१२] इति। निरुक्तेऽपि (१०।२१) इति द्विपदः इत्युच्यते। एता एवाध्ययनकाले चतुष्पदा भवन्ति। तदुक्तमृक्सर्वानुक्रमण्याम्—'द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति' [उपोद्घाते] इति।

षड्गुरुशिष्यः सूत्रमिदमित्थं व्याचख्यौ—"ऋचोऽध्ययने त्वध्येतारो द्वे द्वे द्विपद एकैकामृचं कृत्वा समामनन्ति समामनेयुः अधीयीरन्। म्ना अभ्यासे, लिङर्थे लेट्, शपि मनादेशः। द्वे द्विपदे यासां ता ऋचो द्विर्द्विपदाः। समामन्तीति वचनाच्छंसनादौ न भवन्ति। तेन 'पश्वा न तायुम्' [ऋ० १।६५] इति शंसने दशर्चत्वम्, आसां चाध्ययने पञ्चत्वं भवति" इति।

अयमेवाभिप्रायः प्रथममण्डलान्तर्गतपञ्चषष्टितमसूक्तव्याख्याने सायणेनाप्युपवर्ण्यते—'तत्र पश्वेत्यादीनि षट् सूक्तानि द्वैपदानि। तेष्वध्ययनसमये द्विपदे

समय उन्हें चार-चार पादों का एक मंत्र मानते हैं। अर्थात् उस समय दो-दो द्विपाद् मन्त्रों का एक चतुष्पाद् मन्त्र माना जाता है। द्विपदा पक्ष में ऋग्वेद में समस्त १५७ द्विपदा ऋचाएं हैं। इनमें से १७ नित्य द्विपदा ऋचाएं हैं, शेष १४० द्विपदा ऋचाएं नैमित्तिक हैं। अर्थात् ये १४० ऋचाएं वस्तुतः द्विपदा नहीं हैं, अपितु १४० ÷ २ = ७० चतुष्पदा ऋचाएं हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में 'द्विपदाः शंसति' आदि वाक्यों द्वारा ये ऋचाएं द्विपदा बनाकर यज्ञ में विनियुक्त की जाती हैं। यास्क भी निरुक्त १०।२१ में इन्हें द्विपदा कहता है। अतएव इन ७० × २ = १४० ऋचाओं को 'नैमित्तिक द्विपदा' कहा जाता है। इनके विषय में ऋक्सर्वानुक्रमणी के परिभाषा-प्रकरण में इस प्रकार लिखा है—'द्विर्द्विपदास्त्वृचः समामनन्ति'।

इस सूत्र की व्याख्या करता हुआ षड्गुरुशिष्य लिखता है—**'ऋचोऽध्ययने०'**—

अर्थात्—ऋचाओं के अध्ययनकाल में अध्येता दो-दो द्विपदाओं को एक-एक ऋचा बनाकर अभ्यास करें। **'समामनन्ति'** कहने से यज्ञान्तर्गत शंसन (=स्तुति) काल में दो द्विपदाओं की एक ऋचा नहीं होती है। इसलिये **'पश्वा न तायुम्'** (ऋ० १।६५) सूक्त शंसनकाल में दश ऋचाओं का माना जाता है। और ये ही दस ऋचाएं अध्ययनकाल में पांच मानी जाती हैं।

सायणाचार्य ने ऋ० १।६५ के भाष्य में लिखा है—**'तत्र पश्वेत्यादि—**

द्वे द्वे ऋचौ चतुष्पदामेकैकां कृत्वा समाम्नायते । अयुतसंख्यासु तु याऽन्त्यातिरिच्यते, सा तथैवाम्नायते । प्रायेणाऽर्थोऽपि द्वयोर्द्विपदयोरेक एव, प्रयोगे तु ताः पृथक् पृथक् शंसनीयाः । सूत्र्यते हि—पश्वा न तायुम् (ऋ० १।६५) इति द्वैपदम् (आश्व० ८।१२) इति ।'

वेङ्कटमाधवस्त्वाह—'द्वयोर्द्वयोरैकार्थ्य इति दृश्यते । प्रयोगे तु पृथक्'।

चरणव्यूहटीकाकारो महिदासोऽप्याह—'हवन एकैका, अध्ययने द्वे द्वे आमनन्ति' [पृष्ठ १९][1] इति । **यज्ञे शंसनं निमित्तं प्राप्य एता द्विपदा भवन्ति । अतएव नैमित्तिका द्विपदा उच्यन्ते, न तु स्वभावसिद्धा द्विपदाः । एतेनासां चतुष्पदात्वमेव वास्तविकं स्वरूपमित्युक्तं भवति । अर्थोऽप्यासां चतुष्पदानामेव संगच्छते, न द्विपदानाम् ।**

काश्च ता नैमित्तिकाश्चत्वारिंशदुत्तरशतं द्विपदा इति विवक्षायां महिदास आह—

'पश्वा न तायुम् [१।६५।१-१०] दश, रयिर्न [१।६६।१-१०]

अर्थात्—'पश्वा'० (ऋ० १ । ६५-७०) इत्यादि छः सूक्त द्वैपद हैं । उनमें अध्ययनकाल में दो-दो द्विपदाओं की एक-एक चतुष्पदा ऋचा बनाकर पढ़ी जाती है । जिस सूक्त में विषम संख्यावाली द्विपदाएं हैं, उसमें जो अन्तिम द्विपदा शेष रह जाती है, वह द्विपदारूप में ही पढ़ी जाती है । अर्थ भी प्रायः दो दो द्विपदाओं का एक ही है । प्रयोग अर्थात् यज्ञकाल में उनका पृथक्-पृथक् द्विपदारूप में ही शंसन होता है । आश्वलायन श्रौत (८ । १२) में भी 'पश्वा न०' (ऋ० १ । ६५) सूक्त द्विपदारूप से विनियुक्त है ।

वेङ्कट माधव का कहना है कि—'इन का दो दो का ही अर्थ देखा जाता है । प्रयोग (=यज्ञ) में पृथक् (=द्विपदा) होती हैं ।'

चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने भी लिखा है—'**हवन एकैका, अध्ययने द्वे द्वे आमनन्ति** ।' पृष्ठ १९[1] ।

अर्थात्—हवनकाल में एक-एक द्विपदा पढ़ी जाती है, और अध्ययनकाल में दो-दो द्विपदाएं [एक ऋचा मानी जाती हैं] ।

ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक द्विपदाएं कौनसी हैं, उनका संग्रह चरणव्यूह

---

१. यह पृष्ठसंख्या चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस के छपे चरणव्यूह के अनुसार है ।

दश, वनेषु [१।६७।१-१०] दश, श्रीणन् [१।६८।१-१०] दश, शुक्रः शुशुक्वान् [१।६९।१-१०] दश, वनेम पूर्वीः [१।७०।१-१०] दश, अग्ने त्वं नः [५।२४।१-४] चत्वारि, अग्ने भव [७।१७।१-६] षट्, प्र शुक्रैतु [७।३४।१-१०] दश, राजा राष्ट्राणाम् [७।३४।११-२०] दश, क ईं व्यक्ता [८।२९।१-१०] दश, परि प्र धन्व [९।१०९।१-१०] दश, तं ते सोतारः [९।१०९।११-२२] द्वादश, इमा नु कम् [१०।१५७।१-४] चत्वारि, आ याहि वनसा [१०।१७२।१-४] चत्वारि, इति नैमित्तिकद्विपदाश्चत्वारिंशोत्तरशतम् (१४०)'[पृष्ठ १८] इति।

नैमित्तिकेतराः सप्तदश नित्या द्विपदा उपलेखसूत्रे [६।१-२] परिगण्यन्ते।

इदमत्रावधेयम्—प्रतिसूक्तमृक्संख्यानिर्देशे कात्यायनेन ऋक्सर्वानुक्रमण्यामिमाः १४० चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिका द्विपदा ऋचो द्विपदात्वेनैव निर्दिष्टाः।

मैक्समूलरीय ऋक्संस्करणे द्विपदा ऋचः

त्रिंशदुत्तरैकोनविंशतितमे (१९३०) वैक्रमाब्दे (सन् १८७३ ई०) मैक्समूलरेणातिपरिश्रमेण संस्कृत्य ऋग्वेदस्य प्रथमं संस्करणं प्रकाशितम्।

के टीकाकार महिदास ने इस प्रकार दर्शाया है 'पश्वा न तायुम्०' आदि [देखो—संस्कृत-भाग]।

इनके अतिरिक्त १७ नित्य द्विपदाओं का उल्लेख उपलेखसूत्र (वर्ग ६।१-२) में मिलता है।

इस प्रकार ऋग्वेद में समस्त १७+१४०=१५७ नित्य नैमित्तिक द्विपदा ऋचाएं हैं। आचार्य कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में प्रतिसूक्त जो ऋक्संख्या लिखी है, उसमें इन १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदा मानकर ही गिना है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

मैक्समूलर का ऋक्संस्करण और द्विपदा ऋचाएं

मैक्समूलर ने संवत् १९३० (सन् १८७३) में ऋग्वेदमूल का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया था। यह संस्करण वस्तुतः उसके महान् परिश्रम का फल है, जो किसी भी सम्पादनकलाभिज्ञ पाठक से छिपा नहीं है। इतना होते

विद्यमानास्वपि कतिपयासु महतीषु भ्रान्तिषु तदत्युत्तमं संस्करणमित्यत्र नास्ति विवादावसरः ।

तत्र मैक्समूलरेण प्रथममण्डले पञ्चषष्टितमसूक्तादासप्ततितमं षष्टिनैमित्तिका द्विपदा ऋचश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशन् मुद्रिताः, प्रतिचतुष्पदमपि च मन्त्रसंख्या निर्दिष्टा । पञ्चमे मण्डले चतुर्विंशतितमस्य सूक्तस्य चतस्रो द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य मन्त्रद्वयं मुद्रितम् । तत्र च प्रथमस्यान्ते १।२ एका द्वे च, द्वितीयस्यान्ते ३।४ तिस्रश्चतस्रश्च संख्या निवेशिताः । शिष्टेषु मण्डलेषु परिशिष्टाः षट्सप्ततिर्नैमित्तिका द्विपदा द्विपदात्वेनैव मुद्रिताः । एवं नैमित्तिकद्विपदानामृचां मुद्रणे मैक्समूलरेण त्रयो विकल्पाः समाश्रिताः । तत्र प्रथमः— आद्यमण्डलान्तर्गताः (सू० ६५–७०) षष्टिर्नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य मुद्रिताः, तथैव च तासु त्रिंशत्संख्या निवेशिता । द्वितीयः—पञ्चममण्डलस्य

हुए भी यह निःसंकोच कहना पड़ेगा कि मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में कुछ भयङ्कर दोष रह गए हैं । उन में सब से महान् दोष नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के मुद्रण में हुआ है, जिसके कारण उत्तरवर्ती अनेक विद्वानों से भयङ्कर भूलें हुई हैं ।

मैक्समूलर ने अपने मूल ऋग्वेद के संस्करण में मं० १, सूक्त ६५—७० तक की ६० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं को ३० चतुष्पदा ऋचा बनाकर छापा है, और प्रत्येक चतुष्पदा ऋचा पर मन्त्रसंख्या दी है[1] । पञ्चम मण्डल के २४वें सूक्त की ४ चार द्विपदा ऋचाओं को दो-दो चतुष्पदा ऋचा बनाकर छापा है, परन्तु प्रथम के अन्त में १, २ और द्वितीय के अन्त में ३, ४ संख्या छापी है । शेष मण्डलों की अवशिष्ट ७६ नैमित्तिक द्विपदाओं का द्विपदारूप से ही मुद्रण किया है । इस प्रकार मैक्समूलर ने नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं के मुद्रण में तीन प्रकार आश्रित किए हैं । **प्रथम**—पहले मण्डल के ६५-७० सूक्त की ६० नैमित्तिक द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा बनाकर छापना, और चतुष्पदा के अनुसार मन्त्रसंख्या देना । **द्वितीय**—पञ्चम मण्डल के २४वें सूक्त की ४

---

१. मैक्समूलर सम्पादित ऋग्वेद के सायण-भाष्य के द्वितीय संस्करण (सन् १८९०) में प्रति चतुष्पदा ऋचा के आगे दुगुनी संख्या (१।२।। ३।४।।५।६।। इत्यादि) उपलब्ध होती है, जो ठीक है । सायणभाष्य के प्रथम संस्करण में मन्त्रसंख्या किस प्रकार छपी थी, यह हमें ज्ञात नहीं । क्योंकि हमें उसका प्रथम संस्करण देखने को प्राप्त नहीं हुआ

(सूक्त २४) चतस्रो नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य मुद्रिताः, संख्या च प्रतिमन्त्रान्ते द्विपदानुसारिण्येव द्वे द्वे (१।२, ३।४) विधृता। तृतीयः— अवशिष्टाः षट्सप्ततिर्नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेणैव मुद्रिता इति। इत्थमनुमिनुमः यन्मैक्समूलरेण नैमित्तिकद्विपदानां स्वरूपमेव सम्यङ् नाज्ञायि।

एतदेवोक्तदोषदूषितं मैक्समूलरीयमृक्संस्करणं प्रमाणीकृत्योपयुञ्जाना बहव आधुनिका विद्वांस ऋक्परिगणने विभ्रान्ता इत्यनुपदं वक्ष्यामः।

अनुवाकानुक्रमण्युक्ता ऋक्संख्या

शौनकेनानुवाकानुक्रमण्यामृक्संख्या द्विरलेखि। तत्र तावत् प्रतिवर्गान्तर्गतऋक्संख्यानुसारं वर्गान् निदर्शयन्नाह—

एकर्च एकवर्गः (१) स्यादेकश्च (१) नवकस्तथा।
द्वौ (२) वर्गौ तु द्वृचौ ज्ञेयौ त्र्यूनं तृचशतं (९७) स्मृतम् ॥४०॥
चतुष्कं शतमेकं च चत्वारः सप्ततिस्तथा (१७४)।
पञ्चकानां सहस्रं तु द्वे च सप्तोत्तरे शते (१२०७) ॥४१॥
त्रीणि शतानि षट्कानां चत्वारिंशत् षट् च (३४६) वर्गाः।
शतमूनविंशतिः (११९) सप्तकानां न्यूनाषष्टिर् (५९) अष्टकानाम् ॥४२॥

नैमित्तिक द्विपदाओं को दो २ चतुष्पदा बनाकर छापना, और उन पर द्विगुणित (=द्विपदा के अनुसार) मन्त्रसंख्या देना। **तृतीय**—शेष मण्डलों की ७६ नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदारूप में छापना।

सम्पादनकला की दृष्टि से यह दोष अक्षम्य है। इससे यह भी विदित होता है कि मैक्समूलर को इन १४० नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आया था।

मैक्समूलर की उपर्युक्त यह भूल यदि उसके संस्करण तक ही सीमित रहती, तो कुछ विशेष हानि नहीं थी। परन्तु उसके संस्करण को प्रामाणिक मानकर उत्तरवर्ती अनेक विद्वानों से भयङ्कर भूलें हुई हैं। जिनका हम इस लेख में यथास्थान निदर्शन करायेंगे। अतः उसे किसी प्रकार क्षम्य नहीं कहा जा सकता।

अनुवाकानुक्रमणी और ऋक्संख्या

शौनक ने अपनी अनुवाकानुक्रमणी में दो स्थानों पर ऋक्संख्या का निर्देश किया है। श्लोक ४०, ४१, ४२ में वर्गसंख्या का निर्देश करता हुआ वह लिखता है—'एकर्च एकवर्गः०'। इन श्लोकों का स्पष्टीकरण ऊपर संस्कृत भाग में दर्शाया है।

एषा गणनैवं विस्पष्टं प्रतिपत्तव्या —

प्रतिवर्गमृक्संख्या		वर्गसंख्या		समस्तऋक्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	९७	=	२९१
४	×	१७४	=	६९६
५	×	१२०७	=	६०३५
६	×	३४६	=	२०७६
७	×	११९	=	८३३
८	×	५९	=	४७२
९	×	१	=	९
योग:		२००६		१०४१७

एवमाहत्यर्ग्वेदे (२००६) षडधिकद्विसहस्रं वर्गाः, (१०४१७) सप्तदशाधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति। सैषा ऋक्संख्या शाकलचरणान्तर्गतायाः शैशिरीयसंहिताया बोध्या। 'तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति (३६)' इत्युपक्रम्योक्तवर्गसंख्यानिर्देशात्। अत्र बालखिल्या ऋचो न संकलिताः, न चापि नैमित्तिका द्विपदा द्विपदात्वेन परिगणिताः। वर्तमानायामृक्संहितायामपि बालखिल्या ऋचो विहाय वर्गाः (२००६) षडुत्तरद्विसहस्रमेव, परं मन्त्रसंख्या तु भिद्यते। तत्र मन्त्रा (१०४०२) द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रसंमिता एवोपलभ्यन्ते। एतत् पञ्चदशमन्त्राधिक्यं शाखाभेदकृतमित्यनुमिनुमः। न चानुवाकानुक्रमण्यां पञ्चदश मन्त्राधिक्यं दृष्ट्वा संज्ञानसूक्तस्थाः पञ्चदश मन्त्रा अत्र संकलिता इत्यूहनीयम्। तेषां संकलने हि तत्सूक्तस्य चत्वारो वर्गा अपि संगृहीताः स्युः। तथा सति वर्गसंख्या षडधिकद्विसहस्रस्थाने दशाधिकद्विसहस्रं भवेत्। अतः क एते पञ्चदश मन्त्राः, कुत्र कुत्र चैते पठिताः

तदनुसार ऋग्वेद में २००६ वर्ग और १०४१७ ऋचाएं होती हैं। शौनक के मतानुसार यह ऋक्संख्या शाकल चरणान्तर्गत शैशिरीय शाखा की है। वह लिखता है—**'तान् पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति(३६)'**। इस संख्या में बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित नहीं हैं। और नैमित्तिक द्विपदाओं का भी द्विपदारूप में परिगणन नहीं है। वर्तमान ऋग्वेद में बालखिल्य ऋचाओं को छोड़कर वर्गसंख्या २००६ ही है, परन्तु मन्त्र-संख्या १०४०२ है (यह हम आगे

इति न शक्यते ज्ञातुम् । तथाविधस्य निर्देशस्याभावात् । तदनन्तरं च—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पारणं संप्रकीर्तितम् ।।

इत्यनेन श्लोकेन १०५८० अशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः पादश्चैक इति पारणे ऋक्संख्या दर्शयति । प्रपञ्चहृदये तु ऐतरेयसंहिताया १०५८० अशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः १ पादश्चैक इत्युक्तम् (द्र०— पृ० २०) ।

इयं संख्या पूर्वनिर्दिष्टसंख्यातो नितरां भिद्यते । तत्रैवं समन्वयः— अस्मिन् श्लोके पारणशब्देन तत्रभवाञ्छौनकाचार्यः शाकलचरणान्तर्वर्तिसर्व-शाखागतानामृचां परिमाणं प्रतिपादयति । तथा चोक्तं लौगाक्षिस्मृतौ—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पारायणविधौ खलु ।।

दर्शायेंगे) । इस प्रकार इस में जो १५ ऋचाओं की अधिकता है,[1] वह शाखा-कृत समझनी चाहिए ।

इसके आगे वह पूर्वोद्धृत '**ऋचां दश सहस्राणि**' श्लोक पढ़ता है । तदनुसार ऋग्वेद में १०५८० ऋचाएं और एक पाद है । यद्यपि इन दोनों स्थानों पर कही हुई ऋक्संख्याओं में महती भिन्नता है, तथापि इसका समाधान बहुत साधारण है । 'ऋचां दश सहस्राणि' श्लोक में 'पारणम्' पद विशेष ध्यान देने योग्य है । शौनक ने 'पारणम्' शब्द द्वारा १०५८० और १ पाद ऋक्परि-माण ऋग्वेद की समस्त शाखान्तर्गत ऋचाओं का दर्शाया है । 'प्रपञ्च-हृदय' में १०५८० मन्त्र और १ पाद संख्या ऐतरेय संहिता की कही है (पृष्ठ २०) । यह लौगाक्षि स्मृति के निम्नलिखित श्लोकों के साथ तुलना करने पर स्पष्ट विदित हो जाता है । यथा—'ऋचां दश०'—

---

१. १५ संख्या का आधिक्य देखकर शैशिरि शाखा में संज्ञान सूक्त के समावेश की कल्पना नहीं करनी चाहिये । क्योंकि संज्ञानसूक्त का समावेश होने पर उसके चार वर्गों का भी वर्गसंख्या में समावेश होगा । वैसा होने पर वर्गसंख्या २००६ न होकर २०१० हो जायेगी । अनुवाकानुक्रमणी में वर्ग-संख्या २००६ ही लिखी है ।

पूर्वोक्तसंख्यायाश्चेत्तु सर्वशाखोक्तसूत्रगाः ।
मन्त्राश्चैव मिलित्वैव कथनं चेति तत्पुनः ॥ इति ।
['वैदिक वाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थे उद्धृतौ, भाग १, पृ० १३४]

शौनकोक्तमन्त्यमृङ्मानं चरणव्यूहपरिशिष्टेऽपि निर्दिश्यते । तथा हि—

ऋचां दश सहस्राणि ऋचां पञ्च शतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्चैतत् पारायणमुच्यते ॥ [पृष्ठ १४] इति ।

श्लोकमेनं विवृण्वन् महिदासः १०५८० अशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदश-सहस्रमृचः पादश्चैक इत्यृङ्मानमित्थमुपपादयाञ्चकार—

'एतत् पारायणं बालखिल्यैर्विना संख्यातम् । बालखिल्यानि पारायणे न सन्ति'[1] [पृ० १७] ।

'अथाध्ययने ऋक्संख्योच्यते—षण्णवत्यधिकचतुःशतदशसहस्राणि (१०४९६), ता नैमित्तिकद्विपदाश्चत्वारिंशदुत्तरशतसहिता दशसहस्राणि षट्षष्ट्यधिकपञ्चशतानि (१०५६६), संज्ञानमुशनावदत् सूक्तस्य पञ्चदश ऋच एकीकृत्य १०५६६+१५=१०५८१, एवं पारायणे ऋक्संख्या । ऋचां दशसहस्राणीति वचनस्य संख्या पूर्णा भवतीत्यर्थः । एका उर्वरिता[2], सा 'भद्रं नो

इन श्लोकों में १०५८० और १ पाद ऋक्परिमाण दर्शाकर स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यह संख्या सर्वशाखोक्त मन्त्रों की है । यद्यपि इन श्लोकों का पाठ अत्यन्त भ्रष्ट है, तथापि उपर्युक्त अभिप्राय सर्वथा स्पष्ट है ।

चरणव्यूह-परिशिष्ट में लिखा है—**'ऋचां दश०'** ।

महिदास १०५८० और एक पाद ऋक्संख्या की उपपत्ति इस प्रकार दर्शाता है—**'एतत्०'**—

अर्थात्—अध्ययनकाल की १०५८०[3] और एक पाद ऋक्संख्या कहते हैं—१०४९६ ऋचाएं हैं । उनमें नैमित्तिक द्विपदा की (अधिक ७०) संख्या जोड़ने पर १०५६६ ऋचाएं होती हैं । संज्ञान सूक्त की १५ ऋचाएं[4] मिलाने पर

१. अनुवाकानुक्रमण्यनुसारं (द्र०—श्लोक ३६) पारणे बालखिल्याः परिगणिताः । अतो महिदासवचनमकिञ्चित्करम् ।

२. उर्वरिता वृद्धा इत्यर्थः । १०५६६+१५ संज्ञानसूक्तस्य=१०५८१ ।

३. इस गणना में बालखिल्य की ८० ऋचाएं सम्मिलित नहीं हैं । पारण में उनकी गणना होती है, अतः महिदास की संगति अशुद्ध है । अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार भी पारण में ८० बालखिल्य सम्मिलित हैं ।

४. महिदास ने १०५८० और १ पादसंख्या की उपपत्ति में संज्ञान सूक्त

अपि वातय मनः [ऋक् १०।२०।१] इति पादाधिक्यम्" [पृष्ठ २१] इति ।

सन्त्यृग्वेदे कतिपया ऋचो यासु त्रयोऽर्धर्चाः श्रूयन्ते[1], ताश्च महिदासेन चरणव्यूहटीकायां (पृष्ठ १९, २०) चतुर्नवतिः परिगणिताः । तासामध्ययने द्वयोरर्धर्चयोरेकामृचं कृत्वा परिशिष्टमेकमर्धर्चं चैकामृचं मत्वा परिगणनं क्रियते । तथा सति चतुर्नवतिऋचामष्टाशीत्युत्तरं शतमृचः संपद्यन्ते । तदेवमृचां योगः—१०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो बालखिल्यरहिताः, ९४ चतुर्नवतिसंख्या च त्र्यर्धर्चानामृग्द्वयकल्पनयोत्पन्ना । नैमित्तिकद्विपदानां द्विपदारूपेण परिगणनाद् विवृद्धा ७० सप्ततिसंख्या, संज्ञानसूक्तं च पञ्चदशर्चम् । एवं १०५८१ एकाशीत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः संजाताः । तत्र—'भद्रं नो अपि वातय मनः' [ऋ० १०।२०।१] इत्येकपदा ऋक् ।

१०५८० संख्या पूरी हो जाती है । एक संख्या बचती है, वह है 'भद्रं नो अपि वातय मनः' (ऋक् १०।२०।१) एक पाद ।

यहां पर महिदास ने १०४०२ ऋचाओं में ९४ संख्या अधिक जोड़कर १०४९६ संख्या गिनी है । इस ९४ संख्या की उपपत्ति इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद में ९४ ऋचाएं ऐसी हैं, जिनमें तीन-तीन अर्धर्च हैं[2] । अध्ययन-काल में उनके दो अर्धर्च की एक ऋचा, और एक अर्धर्च की एक ऋचा गिनी जाती है । इस प्रकार ९४ ऋक्संख्या की वृद्धि हो जाती है ।

की जो १५ ऋचायें गिनी हैं, वह ठीक नहीं । क्योंकि अनुवाकानुक्रमणी में संज्ञान सूक्त के विना ही १०४१७ मन्त्र कहे हैं । देखो—पूर्व पृष्ठ २७४ ।

१. द्रष्टव्यैतत्पृष्ठस्था द्वितीया टिप्पणी ।

२. महिदास ने उनका परिगणन इस प्रकार दर्शाया है—आसां परिगणनमाह—'अग्नि होतारम्' (अष्ट० २, अ० १, वर्ग १२, इसी प्रकार आगे भी समझें) पञ्च, 'स हि शर्धो न' (२।१।१३) षड्, 'अयं जायत' (२।१।१४) पञ्च, 'विश्वो विहायाः' (२।१।१५) तिस्रः, 'यं त्वं रथम्' (२।१।१६)पञ्च, 'प्र तद् वोचेयम्' (२।१।१७)षट्, 'इन्द्र पाह्युप नः' (२।१।१८) पञ्च, 'इमां ते वाचम्' (२।१।१९) चत्वारि, 'स नो नव्येभि' (२।१।१९) वर्जम् । 'इन्द्राय हि द्यौः' (२।१।२०) सप्त, 'त्वया वयम्' (२।१।२१) षट् 'अवर्म ह' (२।१।२२) एका, 'वनोति हि' (२।१।२२)

महिदासोक्तोपपत्तौ स्तो द्वे भ्रान्ती । तत्र प्रथमा—महिदासेनात्र—'अध्ययने ऋक्सङ्ख्योच्यते' इत्युपक्रम्यापि नैमित्तिका द्विपदा द्विपदात्वेन परिगणिताः । न च ता अध्ययने द्विपदात्वेन गण्यन्ते । किन्तर्हि ? चतुष्पदात्वेनेत्युक्तं पुरस्तात् । सिद्धान्तितं च तेन स्वयमेवान्यत्र—'हवन एकैका, अध्ययने द्वे द्वे' इति, 'तास्त्वृचोऽध्ययने चतुष्पदा कृत्वेत्यर्थः' [पृष्ठ १९] इति च । द्वितीया च—अनुवाकानुक्रमण्यां शौनकेन या १०४१७ सप्तदशाधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः पारायणे परिगणितास्तासु सञ्ज्ञानसूक्तस्थपञ्चदशर्चां सन्निवेशो नास्तीत्युक्तं पुरस्तात् । अत्रोऽत्र संज्ञानसूक्तगतानामृचां संकलनमपि चिन्त्यम् ।

छन्दःसंख्या-परिशिष्टोक्ता ऋग्गणना

अस्ति कस्याश्चिदृक्शाखायाः एकादशश्लोकात्मकं छन्दःसंख्यासंज्ञक परिशिष्टम् । तत्र चेमे श्लोकाः—

महिदास की इस गणना में दो भूलें हैं । प्रथम—महिदास ने 'अध्ययन में ऋक्संख्या कहते हैं' ऐसा लिखकर भी उसमें नैमित्तिक द्विपदाओं की गणना कर ली । जिन्हें उसने स्वयं अध्ययनकाल में चतुष्पदा माना है । दूसरी—शौनक ने अनुवाकानुक्रमणी में जो १०४१७ ऋचाएं पारायण में गिनी हैं, उनमें संज्ञान सूक्तस्थ १५ ऋचाओं का सन्निवेश नहीं है, यह हम पहले दर्शा चुके हैं ।

छन्दःसंख्या-परिशिष्ट और ऋग्गणना

ऋग्वेद की किसी शाखा का छन्दःसंख्यासंज्ञक एक प्राचीन परिशिष्ट उपलब्ध होता है । उसमें केवल ११ श्लोक हैं । प्रारम्भ के दस श्लोकों में

एका, 'आ त्वा जुवो' (२।१।२३) षट्, 'स्तीर्णम्' (२।१।२४) पञ्च, 'इमे वां सोमा' (२।१।२५) एका, 'इमे ये ते सु वायो वा' (२।१।२५) एका, 'प्र सुज्येष्ठम्' (२।१।२६) षट्, 'ऊती देवानाम्' (२।१।२६) वर्जम् । 'सुषुमायातम्' (२।२।१) त्रीणि, 'प्र प्र पूष्णः' (२।२।२) चतुष्कम्, 'अस्तु श्रौषट्' (२।२।३) चत्वारि, 'शुचिभिर्नः' (२।२।३) वर्जम् । 'वृषन्निन्दु' (२।२।४) पञ्च, 'ये देवासो' (२।२।४) वर्जम् । 'तवत्यन्नर्यम् (२।६।२८) एका, 'सखे सखायम्' (३।४।११) एका, 'अया रुचा' (७।५।२३) त्रीणि, एतास्त्रीणि त्रीण्यर्धर्चा ऋचा हवनीयाश्चतुर्नवतिसंख्या । इति त्रीण्यर्धर्चं ऋग्घवने । अध्ययने अर्धर्च द्वयेन ऋगेका, अर्धर्चेनैकैव ऋग्द्वये कर्तव्ये इत्यर्थः ।

चरणव्यूह पृष्ठ १९, २० ।

एकपञ्चाशद् ऋग्वेदे गायत्र्यः शाकलेयके ।
सहस्रं द्वितयं चैव चत्वार्येव शतानि तु ।। १ ।।

त्रीणि शतानि सैकानि चत्वारिंशत्तथोष्णिहः ।
अनुष्टुभां शतान्यष्टौ पञ्चाशत् पञ्चसंयुताः ।।२।।

बृहतीनां शतं ज्ञेयमेकाशीत्यधिकं बुधैः ।
शतानि त्रीणि पङ्क्तीनां द्वादशाभ्यधिकानि तु ।। ३ ।।

पञ्चाशत् त्रिष्टुभः प्रोक्तास्तिस्रश्चैव ततोऽधिकाः ।
सहस्राण्येव चत्वारि विज्ञेयं तु शतद्वयम् ।।४।।

चत्वारिंशत्तथाष्टौ च तथा चापि शतत्रयम् ।
जगतीनामियं संख्या सहस्रं तु प्रकीर्तितम् ।।५।।

दशैवातिजगत्योऽपि तथा सप्त न संशयः ।
शक्वर्योऽपि तथैवोक्तास्तथा नव विचक्षणैः ।।६।।

नव चैवातिशक्वर्यः षडष्टयः प्रकीर्तिताः ।
अशीतिश्च चतस्रश्च तथात्यष्टि ऋचः स्मृताः ।।७।।

धृतिद्वयं विनिर्दिष्टमेकातिधृतिरेव च ।
एकपदास्तु षट् प्रोक्ता द्विपदा दश सप्त च ।।८।।

प्रगाथा बार्हता येऽत्र तेषां शतमुदाहृतम् ।
चतुर्नवतिरेवोक्तास्तद्वद् [1]द्वृचास्त्वसंशयाः ।।९।।

काकुभानां तु पञ्चाशद् विज्ञेयाः पञ्चसंयुताः ।
महाबार्हत एवैकः एवं सार्धशतद्वयम् ।।१०।।

एवं दशसहस्राणि शतानां तु चतुष्टयम् ।
ऋचां द्वयधिकमाख्यातमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।।११।। इति ।

गायत्र्यादि पृथक्-पृथक् छन्दों के अनुसार ऋक्संख्या का उल्लेख किया है। तत्पश्चात् अन्तिम श्लोक में सामूहिक रूप से ऋक्संख्या का निर्देश है। वे श्लोक इस प्रकार हैं—'**एकपञ्चाशद्**०'।

---

१. द्वृचशब्दे पाणिनीयव्याकरणेन साक्षादप्रतिपादितोऽपीकारलोपः पृषोदरादित्वाद् द्रष्टव्यः। तस्य च विकल्पाद् द्वयृचशब्दोऽप्युपपद्यते । त्रेश्च रेफेकारयोर्नित्ये लोपे तृच इत्येव भवति ।

एष्वन्त्यं विहाय दशसु श्लोकेषु गायत्र्यादिछन्दोऽनुसारं या ऋक्संख्या परिगणिता तदनुसारम्—

गायत्र्यः—२४५१ एकपञ्चाशदधिकचतुःशतोत्तरद्विसहस्रम् । उष्णिहः—३४१ एकचत्वारिंशदधिकं त्रिशतम् । अनुष्टुभः—८५५ पञ्चपञ्चाशदधिकाष्टशतम् । बृहत्यः—१८१ एकाशीत्यधिकैकशतम् । पङ्क्तयः—३१२ त्रीणि शतानि द्वादश च । त्रिष्टुभः—४२५३ चत्वारि सहस्राणि द्वे शते त्रिपञ्चाशच्च । जगत्यः—१३४८ अष्टचत्वारिंशदधिकत्रिशतोत्तरैकसहस्रम् । अतिजगत्यः—१७ सप्तदश । शक्वर्यः—१९ एकोनविंशतिः । अतिशक्वर्यः—९ नव । अष्टयः—६ षट् । अत्यष्टयः— ८४ चतुरशीतिः । धृती-२ द्वे । अतिधृतिर्—१ एका । एकपदाः—६ षट् । द्विपदा—१७ सप्तदश । बार्हताः प्रगाथाः—१९४ चतुर्नवत्यधिकशतम् । काकुभाः प्रगाथाः—५५ पञ्चपञ्चाशत् । महाबार्हतः प्रगाथः—१ एकः ।

एषु २५० सार्धद्विशतप्रगाथा द्वृचस्तेषां ५०० पञ्चशतमृचः । तत्संकलय्यैकादशे श्लोके १०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः शाकलेयक ऋग्वेदे परिसंख्याताः ।

एतदृक्संख्यापरिसंख्यानविषये पण्डितसत्यव्रतसामश्रमिणा स्वीय ऐतरेयालोचन एवमलेखि—

'छन्दःसंख्योल्लिखितोक्तसर्वसंकलनसंख्या तु प्रतिछन्दःसंख्यातोऽपि विरुद्धैव प्रतीयते । तद्यथा तत्रोक्तं श्लोकैः—गायत्र्यः २४५१, उष्णिहः ३४१,

---

इन श्लोकों के अनुसार ऋग्वेद में गायत्री २४५१, उष्णिक् ३४१, अनुष्टुभ् ८५५, बृहती १८१, पंक्ति ३१२, त्रिष्टुप् ४२५३, जगती १३४८, अतिजगती १७, शक्वरी १९, अतिशक्वरी ९, अष्टि ६, अत्यष्टि ८४, धृति २, अतिधृति १, एकपदा ६, द्विपदा १७, बार्हतप्रगाथ १९४, काकुभ प्रगाथ ५५, महाबार्हत प्रगाथ १ छन्द हैं । इस प्रकार तत्त्वदर्शी महर्षियों ने ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं की संख्या १०४०२ कही है ।

छन्दःसंख्या-परिशिष्ट में उल्लिखित ऋग्गणना के विषय में पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन पृष्ठ १४३ पर लिखा है—'छन्दःसंख्यो०'—

अर्थात्—छन्दःसंख्या नाम के परिशिष्ट में कही हुई सब छन्दों की संकलन-संख्या(=पूर्णयोग)प्रतिछन्द दर्शाई हुई छन्दःसंख्या के संकलन (=योग)

अनुष्टुभः ८५५, बृहत्यः १८१, पङ्क्तयः ३१२, त्रिष्टुभः ४२५३, जगत्यः १३४८, अतिजगत्यः १७, शक्वर्यः ६, अतिशक्वर्यः ६, अष्टयः ६, अत्यष्टयः ८४, धृत्यौ २, अतिधृतिः १, द्विपदाः १७, एकपदाः ६, बार्हतप्रगाथाः १६४, ककुप्प्रगाथाः ५५, महाबार्हतप्रगाथः १ । तदेवं तदुक्तप्रतिछन्दःसंख्यानां संकलनया १०१४२ (द्विचत्वारिंशदधिकशतोत्तरदशसहस्रम्) ऋचः स्युः । पूर्वप्रदर्शितश्लोकतस्तु गम्यन्ते १०४०२ (द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रम्) । तदत्र प्रायः सर्वत्र संकलनभ्रमोऽस्माभिर्ग्रन्थदृष्ट्या प्रमाणित एव' [पृ० १४३] इति ।

अत्र महापण्डितस्यापि सामश्रमिमहाभागस्य द्विविधो भ्रमोऽभूत् । प्रथमः षष्ठश्लोकस्योत्तरार्धे 'तथा' पदं द्विरुक्तम् । तत्राद्यं पूर्वार्धगताया अतिजगतीगणनाया निर्देशकम्, अपरं प्रागुक्ताया दशसंख्यायाः समुच्चायकम् । तत्रातिजगतीवच्छक्वरीछन्दांस्यपि गणनीयानीत्यभिप्रेयते । सामश्रमिमहोदयेन पुनस्तदपरिज्ञायैकोनविंशतिस्थाने नवैव शक्वर्यः परिगणिताः । द्वितीयश्च— नवमे श्लोके विस्पष्टं प्रगाथाः द्वृचा उक्ताः । अतस्तेषां २५० सार्धद्विशत-प्रगाथानां पञ्चशतमृचः संपद्यन्ते । ऋक्सर्वानुक्रमण्याः परिभाषाप्रकरणेऽपि—

से विरुद्ध ही प्रतीत होती है । जैसा कि श्लोकों में कहा है कि—गायत्री २४५१ …शक्वरी ९…। इस प्रकार प्रतिछन्द-निर्दिष्ट संख्याओं का संकलन करने से १०१४२ ऋचाएं होती हैं । पूर्वप्रदर्शित (११वें) श्लोक से १०४०२ संख्या जानी जाती है । इस तरह सर्वत्र संकलन-भ्रम हमने ग्रन्थों से प्रमाणित कर दिया ।

यहां पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इन श्लोकों के समझने में दो भूलें की हैं । **प्रथम** भूल—छठे श्लोक के उत्तरार्द्ध में दो बार **'तथा'** शब्द का प्रयोग है । पहला 'तथा' शब्द पूर्वार्धगत अतिजगती की गणनाप्रकार का निर्देशक है । दूसरा 'तथा' शब्द पूर्वोक्त १० संख्या का समुच्चायक है । श्लोक का भाव यह है—जैसे अतिजगती की संख्या १०+७=१७ कही है, वैसे ही शक्वरी की गणना में भी पूर्वसंख्या १० और उत्तरसंख्या ९ समझनी चाहिए । अर्थात् शक्वरी छन्द की १०+९=१९ ऋचाएं हैं । पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने **'शक्वर्योऽपि तथैवोक्ताः'** चरण का भाव न समझकर शक्वरी छन्द की केवल ९ ऋचाएं गिनी है । **द्वितीय भूल**—प्रगाथों की संख्या का निर्देश करते हुए ९वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि ये प्रगाथ ='द्वृच हैं । अतः इन १९४+५५+१ =२५० प्रगाथों की ५०० ऋचाएं गिननी चाहिएं । ऋक्सर्वानुक्रमणी के

'बृहतीसतोबृहत्यौ बार्हतः, ककुप् चेत् पूर्वा काकुभः, महाबृहतीमहासतोबृहत्यौ महाबार्हतः' इत्यादिसूत्रैर्व्यक्तं द्वृचानां प्रगाथत्वमुच्यते। भगवता पाणिनिनाऽपि—'सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु' (अ० ४। २। ५५) इति सूत्रयता प्रगाथानामनेकर्चत्वं प्रत्यपादि। तदविज्ञायैव सामश्रमिणा सार्धद्विशतप्रगाथानां सार्धद्विशतर्च एव परिगणिताः।

पण्डित हरिप्रसादोऽपरनामा वैदिकमुनिरपि स्वीये वैदिकसर्वस्वग्रन्थे इत्थमेवाविचार्य सामश्रमिणमनुससार।

छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्तगणनायां चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिका द्विपदा ऋचश्चतुष्पदीकृत्य सप्तसप्ततिर्मिताः। यास्त्वत्र सप्तदश द्विपदाः स्मर्यन्ते, ता नित्या द्विपदाः। इत्थं द्विपदापक्षे सप्तत्यृचो द्विगुणीकृत्य परिगणने १०४७२ द्विसप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति। अत्रबालखिल्या-

---

परिभाषा-प्रकरण में स्पष्ट कहा है कि बार्हत प्रगाथ=बृहती और सतोबृहती, काकुभ प्रगाथ=ककुप् और सतोबृहती, तथा महाबार्हतप्रगाथ=महाबृहती और महासतोबृहतीसंज्ञक छन्दों के योग का नाम है। पाणिनि के **'सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु'** (अष्टा० ४।२।५५) सूत्र से बार्हत काकुभ आदि में अण् प्रत्यय इसी अर्थ में होता है। पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने इस साधारणसी बात को न समझकर २५० प्रगाथों की २५० ऋचाएं ही गिन लीं। दोष है अपनी समझ का, और मत्थे मढ़ा छन्दःसंख्या-परिशिष्टकार के। यदि पं० सत्यव्रत सामश्रमी की इन दोनों त्रुटियों को ठीक कर लिया जाए, तो छन्दःसंख्या-परिशिष्ट की दोनों गणनाओं में परस्पर कोई विरोध नहीं रहता।

पं० हरिप्रसाद जी वैदिकमुनि ने भी छन्दसंख्या-परिशिष्टोक्त ऋग्गणना को नहीं समझा। उन्होंने पं० सत्यव्रत सामश्रमी का ही अनुकरण किया है। देखो—'वेदसर्वस्य' पृष्ठ ६५, ६६। अतः उनके लेख में भी पूर्वोक्त दोष समझने चाहियें।

छन्दःसंख्यापरिशिष्ट और द्विपदा ऋचाएं

ध्यान रहे कि छन्दःसंख्या-परिशिष्टोक्त १०४०२ ऋचाओं में १४० नैमित्तिक द्विपदाएं चतुष्पदा बनाकर ७० ऋचाएं गिनी गई हैं। अत एव यहां जो १७ द्विपदाएं गिनी हैं, वे नित्य द्विपदाएं हैं। यदि ७० चतुष्पदाओं को ७०×२=१४० द्विपदा बनाकर गिना जाए, तो कुल ऋक्संख्या १०४७२

नामशीतिऋचां सन्निवेशो न विद्यते । कदाचिच्छन्दःसंख्यापरिशिष्टं शाकलचरणान्तर्गतायास्तादृशशाखायाः स्याद्, यस्यां बालखिल्या ऋचो न स्युः । शैशिरीयशाखायास्तु नेदं संभवतीति विस्पष्टमेव । यतोऽनुवाकानुक्रमण्यनुसारं तत्र पञ्चदशर्चोऽधिकाः (१०४१७) विद्यन्ते ।

प्राध्यापकमैकडानल्डेन १२७ द्विपदा परिगणिताः । तेन छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्तानां द्विपदां १७ संख्यां दृष्ट्वा (या नित्यद्विपदानां वर्त्तते) कल्पितं यदत्र १७ संख्यायां मध्यवर्त्ती २ द्व्यङ्को नष्टः ।

ऋक्सर्वानुक्रमण्युक्ता ऋक्संख्या

अस्ति कात्यायनीयर्क्सर्वानुक्रमण्यां द्विविधः पाठः । एकत्र बालखिल्यसूक्तानामृषिदैवतच्छन्दसां निर्देशो नोपलभ्यतेऽपरत्र च दृश्यते । तत्र सर्वानु-

---

होगी । इसी प्रकार छन्दःसंख्या-परिशिष्टोवत ऋग्गणना में ८० बालखिल्य मन्त्रों का भी समावेश नहीं है । सम्भव है, छन्दःसंख्या-परिशिष्ट शैशिरिशाखा का हो । हम पूर्व लिख चुके हैं कि शैशिरीशाखा में बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित नहीं हैं ।

प्रो० मैकडानल्ड ने ऋग्वेद में १२७ द्विपदा ऋचाएं गिनी हैं (उनकी गणना में जो भूल है, उसे आगे व्यक्त किया जायेगा) । उन्होंने छन्दःसंख्या-परिशिष्ट में द्विपदाओं की १७ संख्या देखकर कल्पना की है कि छन्दसंख्या-परिशिष्टोक्त द्विपदा संख्या में मध्यवर्ती २ की संख्या नष्ट हो गई है । अर्थात् १२७ के स्थान में भूल से १७ लिखी गईं, देखो—ऋक्सर्वानुक्रमणी की भूमिका, पृष्ठ १८ ।

प्रो० मैकडानल्ड की यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है । क्योंकि हम ऊपर सप्रमाण दर्शा चुके हैं कि ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक द्विपदाएं हैं, और १७ नित्य द्विपदाएं हैं । छन्दःसंख्या-परिशिष्ट में केवल नित्य द्विपदाओं का उल्लेख है, नैमित्तिक द्विपदाओं का उल्लेख नहीं है । मैकडानल्ड ने स्वयं अशुद्ध गिनी हुई १२७ द्विपदा संख्या में छन्दः-संख्या-परिशिष्टोक्त १७ द्विपदा संख्या में आद्यन्त संख्या १ और ७ की समानता देखकर आश्चर्यजनक कल्पना की है ।

ऋक्सर्वानुक्रमणी और ऋक्संख्या

आचार्य कात्यायन ने ऋक्सर्वानुक्रमणी में प्रतिसूक्त जो ऋक्संख्या लिखी है, उसका योग करने पर बालखिल्य सूक्तों के बिना १०४७२ ऋचाएं

क्रमणीव्याख्याता षड्गुरुशिष्यः प्रथमं पाठमनुससार, पण्डितजगन्नाथस्तु द्वितीयम् । तत्र प्रथमपाठानुसारं बालखिल्यऋचो विहाय कात्यायनोक्तानां प्रतिसूक्तर्क्संख्यानां संकलने (१०४७२) द्विसप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरसहस्रमृचो भवन्ति । द्वितीयपाठानुसारं बालखिल्यानामृचां परिगणने (१०५५२) द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचः सम्पद्यन्ते । अयमेव च सर्वानुक्रमणीटीकाकृतो जगन्नाथस्य पक्षः । अत्रोऽभयथा पाठेऽपि नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेण परिगणिताः । चरणव्यूहव्याख्याता महिदासोऽप्याह—

'बालखिल्यसहिता सर्वानुक्रमणीयमन्त्ररूपी संख्या उच्यते—द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतदशसहस्रम् १०५५२ । बालखिल्यव्यतिरिक्तसंख्या तु द्विसप्तत्यधिकचतुःशतदशसहस्रमृक् १०४७२ । एतत्संख्या नित्यद्विपदानैमित्तिकद्विपदासहिता [पृ० १७]' इति ।

वेङ्कटमाधवीया ऋग्गणना

वैक्रमाब्दस्य द्वादशशताब्द्यां लब्धजनिमा वेङ्कटमाधव ऋग्वेदस्य लघु-

---

होती है[1] । ११ बालखिल्य सूक्तों के ८० मन्त्र मिलाने पर १०५५२ ऋक्संख्या उपलब्ध होती है । इस संख्या में नैमित्तिक द्विपदाएं सम्मिलित हैं । ऋक्सर्वानुक्रमणी के टीकाकार जगन्नाथ के मत में भी ऋग्वेद में १०५५२ ऋचाएं हैं ।[2] चरणव्यूह के टीकाकार महिदास का भी यही निर्णय है । वह लिखता है—'बालखिल्यसहिता०' ।

अर्थात्—बालखिल्य-सहित सर्वानुक्रमणी-निर्दिष्ट मन्त्र-संख्या १०५५२ है । बालखिल्य ऋचाओं के विना १०४७२ है । इस संख्या में नित्य और नैमितिक दोनों प्रकार की द्विपदा ऋचाएं सम्मिलित हैं ।

वेङ्कटमाधव की ऋक्संख्या

वेङ्कटमाधव ने ऋग्वेद के दो भाष्य लिखे हैं । एक लघु और दूसरा बृहत्[3] । वेङ्कटमाधव का काल विक्रम की १२वीं शताब्दी के लगभग माना

---

१. ऋक्सर्वानुक्रमणी के दो प्रकार के पाठ उपलब्ध होते हैं । एक पाठ में बालखिल्य ऋचाओं के ऋषि देवता छन्दों का निर्देश मिलता है । दूसरे पाठ में नहीं मिलता । अत एव यहां पृथक् निर्देश किया है ।

२. ऐतरेयालोचन पृष्ठ १४२, १४३ ।

३. देखो श्री पं० भगवद्दत्तजी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, खण्ड २, पृ० ३६ ।

भाष्यस्य[1] पञ्चमाष्टकस्य पञ्चमाध्यायस्योपोद्घात ऋग्वेदीयर्चां संख्यामित्थं निर्दिदेश—

शतैश्चतुर्भिरधिकमयुतं गणितं मया ।
द्वे च यान्यतिरिच्येते द्विपदाश्चात्र संगताः ॥२१॥
पृथग् यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिकाः ।
चतुःशतादशीतिश्च वाक्यं च ग्रहवानयम् ॥२२॥

अर्थाद् ऋग्वेदे १०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचः सन्ति । यदा तु द्विपदाः पृथग् गण्यन्ते, तदा १०४८० अशीत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति ।

अत्र द्विपदापक्ष ऋचः परिगणयन् बभ्राम माधवः । तथा हि—द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रासु (१०४०२) ऋक्षु केवलं चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिका

जाता है । वेङ्कट ने ऋग्वेद के लघुभाष्य के ५वें अष्टक के ५वें अध्याय के उपोद्घात में ऋग्वेद की ऋक्संख्या का उल्लेख इस प्रकार किया है—'शतैश्चतुर्भिः'० ।

अर्थात्—मैंने ऋग्वेद में १०४०२ ऋचाएं गिनी हैं । इनमें द्विपदाएं सम्मिलित हैं । जब द्विपदाएं पृथक् गिनी जाती हैं, तब १०४८० ऋचाएं होती हैं ।

यहां वेङ्कटमाधव ने १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को ७० चतुष्पदा मानकर जो १०४०२ ऋक्संख्या लिखी है, वह ठीक है । परन्तु द्विपदाओं को पृथक्

---

१. वेङ्कटमाधवेनर्ग्वेदस्य द्वे भाष्ये विरचिते । प्रथमं लघु, अपरं बृहत् । लघुभाष्यस्य डाक्टरलक्ष्मणस्वरूपेण सम्पादितस्य त्रयो भागाः प्रकाशिताः । बृहद्भाष्यस्याडियारनगराद् द्वयोः खण्डयोः प्रथमाष्टकं प्रकाशितम् । इदं बृहद्भाष्यमतिपाण्डित्यपूर्णम् । लघुभाष्यस्य प्रत्यध्यायमादौ ये विषयाः संक्षेपत उपन्यस्तास्तेऽस्मिन् भाष्ये विस्तरशो व्यवहृताः । अस्य बृहद्भाष्यस्यैक एव त्रुटिबहुलो हस्तलेख उपलब्धः । बृहद्भाष्यस्य रचयिता अपरो माधव इति तत्संपादकः प्रतिजानीते, परं तन्मिथ्या । निघण्टुटीकाकारेण वेङ्कटमाधवनाम्नोद्धृतानां पाठानामत्र दर्शनात्, लघुभाष्यस्योद्धरणे 'प्रथमभाष्यम्' इति विशेषणस्य निदर्शनाच्च । (द्र०—नि० भाष्य १।१४।१८) । अत्र विस्तरशो विचारः श्रीपण्डितभगवद्दत्तविरचिते 'वैदिकवाङ्मय का इतिहास' ग्रन्थस्य प्रथमभागस्य द्वितीयखण्डे (पृ० ३५-३७) द्रष्टव्यः ।

द्विपदा ऋच एव चतुष्पदीकृत्य सप्ततिः परिगणिताः । अतो द्विपदापक्षे शिष्टा सप्ततिसंख्यैव परिवर्धनीया । वेङ्कटमाधवेन त्वष्टसप्ततिसंख्या वर्धिता । अतो मन्यामहे तेन द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रासु (१०४०२) नित्यनैमित्तिकानां १५७ द्विपदानामेकां विहाय षट्पञ्चाशदधिकशतर्चां चतुष्पदीकृता अष्टसप्तति-संख्या परिगणितेति मतं स्यात् । सप्तपञ्चाशदुत्तरशतर्क्षु द्विपदासु सप्तदश नित्या द्विपदास्ता ह्युभयथाऽपि परिगणने न भिद्यन्ते । अवशिष्टाश्चत्वारिंश-दुत्तरशतं द्विपदा एव द्विपदापक्षे चतुष्पदापक्षे च संख्याभेदं जनयन्ति । अतो द्विपदापक्षे सप्ततिसंख्यैव परिवर्धनीया, नाष्टसप्ततिरिति दिक् ।

एतदनन्तरमृग्वेदस्य वर्गसंख्यां निदर्शयन्नेवमृक्संख्यामाह—

एकर्च एको वर्गः स्याद् द्वृचौ द्वौ नवकावुभौ ।
एकोनं स्यात् त्रिकशतं चतुष्कं पञ्चसप्ततिः ॥२३॥
अधिकं च शतं वर्गाश्चतुःपञ्चाशदष्टका ।
एकविंशशतं प्राहुः सप्तकानां च वैदिकाः ॥२४॥

गिनकर जो १०४८० ऋक्संख्या लिखी है, वह ठीक नहीं । क्योंकि जब द्विपदाएं पृथक गिनी जायेंगी, तब नैमित्तिक द्विपदाओं की केवल ७० संख्या बढेगी, जो कि पहली गणना में चतुष्पदा बनाकर गिनी गई हैं । अतः १४० द्विपदाओं की आधी संख्या ७० ही बढानी चाहिए । इसलिए वेङ्कटमाधव का ७८ संख्या बढ़ाकर १०४८० संख्या लिखना भूल है ।

वेङ्कटमाधव की भूल का कारण

हम ऊपर कह आए हैं कि ऋग्वेद में १४० नैमित्तिक, और १७ नित्य द्विपदाएं हैं, अर्थात् समस्त द्विपदाएं १५७ हैं । गणना-भेद से केवल नैमित्तिक द्विपदाजन्य संख्या बढ़ेगी, नित्य द्विपदाओं की संख्या तो दोनों गणनाओं में समान रहेगी । प्रतीत होता है कि वेङ्कटमाधव ने १०४०२ ऋक्संख्या में भूल से समस्त (नित्यनैमित्तिक) १५७ द्विपदाओं में से १५६ समसंख्याक ऋचाओं की (१५६÷२=) ७८ चतुष्पदा ऋचाएं सम्मिलित समझ लीं । अतएव जब उसने द्विपदाओं को पृथक् गिना, तब पूर्वोक्त १४०÷२=७० के स्थान में ७८ संख्या को द्विगुणित कर दिया । यह वेङ्कटमाधव की महती भूल है ।

इसके आगे २३, २४, २५ श्लोकों में वेङ्कटमाधव वर्गानुसार ऋक्संख्या का उल्लेख करता है, जो इस प्रकार है—(गणना अगले पृष्ठ पर देखें)

शतानि त्रीणि षट्कानां चत्वारिंशत् त्रयस्तथा ।
पञ्चकानां सहस्रं च द्वे शते नवकं तथा ।।२५।।

एषा वर्गसंख्या तदनुसारिणी चक्संख्येत्थमवगन्तव्या—

प्रतिवर्गमृक्संख्या		वर्गसंख्या		ऋक्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	६६	=	२६७
४	×	१७५	=	७००
५	×	१२०६	=	६०४५
६	×	३४३	=	२०५८
७	×	१२१	=	८४७
८	×	५४	=	४३२
६	×	२	=	१८
—		———		———
योगः		२००६		१०४०२

एवमृग्वेदे षडधिकद्विसहस्रं वर्गाः, द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचश्च परिसंख्याताः ।

तदनन्तरमनुवाकानुक्रमण्युक्तर्क्गणनां दूषयन्नाह—

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि च ।
ऋचामशीतिः पादश्च पाठोऽयं न समञ्जसः ।।

तदनुसार ऋग्वेद में २००६ वर्ग, और १०४०२ ऋचाएं होती हैं । वर्ग-संख्या तो शौनकीय अनुवाकानुक्रमणी से मिलती है, परन्तु मन्त्रसंख्यानुसार निर्दिष्ट वर्गसंख्या में पर्याप्त भेद है । हां, वेङ्कटमाधव की दोनों (प्रतिवर्ग-गणना और समस्त गणना की) ऋक्संख्याएं परस्पर अवश्य मिलती हैं ।

वह आगे लिखता है—**'ऋचां दश०'**—

अर्थात्—अनुवाकानुक्रमणी आदि में ऋग्वेद की जो १०५८० और १ पाद ऋग्गणना लिखी है, वह ठीक नहीं है ।

एतेन प्रतीयते यन्माधवोऽनुवाकानुक्रमण्युक्तपरिगणनाप्रकारं नावबुबुधे, अन्यथा तद्गणनं नादूदुषत् ।

महिदासीया ऋग्गणना

महिदासेन स्वीये चरणव्यूहव्याख्याने ऋक्संख्या विस्तरशो न्यरूपि । तत्र तेन द्विपदापक्षे बालखिल्यसहिता १०५५२ द्वापञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तर-दशसहस्रमृचः, बालखिल्यैर्विना १०४७२ द्वासप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदश-सहस्रमृचः । द्विपदापक्षाभावे च बालखिल्यरहिता १०४०२ द्व्यधिकचतुःशतो-त्तरदशसहस्रमृचः परिगणिता इत्युक्तं पुरस्तात् । एतस्मिन्नेव प्रकरणे (पृ० २४, २५) प्रतिवर्गर्क्संख्यानुसारेण वर्गसंख्याप्रतिपादकान् कांश्चिच्छ्लोका-नुदाजहार । तथा हि—

एकर्चे एकवर्गश्च एकर्चे नवकस्तथा ।
द्वौ वर्गौ तु द्वृचौ ज्ञेयो ऋक्त्रयस्य शतं स्मृतम् ॥
चतुर्ऋचां पञ्च सप्तत्यधिकं च शतं तथा ।
पञ्चर्चे तु द्विशतकं सहस्रं रुद्रसंयुतम् ॥

वेङ्कटमाधव ने केवल स्वसंख्यात ऋक्संख्या के आधार पर अनुवाकानु-क्रमणी आदि में निर्दिष्ट '१०५८० और १ पाद' ऋक्संख्या को अशुद्ध बताया है । प्रतीत होता है, उसने उसके 'पारणम्' पद पर किञ्चिन्मात्र ध्यान नहीं दिया । अन्यथा वह इस संख्या को अशुद्ध कहने का साहस न करता ।

महिदास की ऋक्संख्या

चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने ऋग्वेद की ऋग्गणना के विषय में कुछ विस्तार से लिखा है । यद्यपि इस ग्रन्थ के अत्यधिक अशुद्ध मुद्रित होने के कारण अनेक स्थानों में उसका वास्तविक अभिप्राय पूर्णतया समझ में नहीं आता, तथापि उससे ऋग्वेद की ऋग्गणना-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें विदित होती हैं ।

महिदास के मत में ऋग्वेद में बालखिल्य-सहित १०५५२ मन्त्र हैं, बाल-खिल्य के विना १०४७२ । इनमें नित्य और नैमित्तिक दोनों प्रकार की द्विपदाएं सम्मिलित हैं, पृष्ठ १७ ।

आगे (पृष्ठ २४, २५ पर) महिदास ऋग्वेद के वर्गों तथा ऋचाओं की संख्या के प्रदर्शक कुछ श्लोक उद्धृत करता है, जो इस प्रकार हैं—'एकर्चे०'

पञ्चचत्वार्यधिकं षड्ऋचां तु शतत्रयम् ।
सप्तऋचां शतं ज्ञेयं विंशतिश्चाधिकाः स्मृताः ।
अष्टऋचां तु पञ्चाशत् पञ्चाधिकास्तथैव च ।
दशाधिकद्विसहस्राः पञ्चशाखासु निश्चिताः ।।
वर्गाः संज्ञानसूक्तस्य चत्वारश्चात्र मीलिताः ।
एवं पारायणे प्रोक्ता ऋचां संख्या न न्यूनतः ।।

एषा गणनैवं विस्पष्टं प्रतिपत्तव्या—

प्रतिवर्गमृक्संख्या		**वर्गसंख्या**		**समस्तर्क्संख्या**
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	१००	=	३००
४	×	१७५	=	७००
५	×	१२११	=	६०५५
६	×	३४५	=	२०७०
७	×	१२०	=	८४०
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
योगः		२०१०		१०४१९

एवमाहृत्य (२०१०) दशाधिकद्विसहस्रं वर्गाः, १०४१९ एकोनविंशत्यधिकचतुःशतोत्तर-दशसहस्रमृचः संपद्यन्ते । एषा वर्गसंख्या ऋक्संख्या च शाकलचरणान्तर्गतानां पञ्चानां शाखानाम् । अत्र संज्ञानसूक्तस्य चत्वारो वर्गाः पञ्चदशर्चश्चापि संकलिताः । तदभावे १०४०४ चतुरधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति । एषा छन्दःसंख्यापरिशिष्ट प्रतिपादितायाः संख्यायाः सकाशाद् द्व्यधिका । तच्चाधिक्यं शाखान्तरकृतं द्रष्टव्यम् ।

इन श्लोकों के अनुसार वर्गों और ऋचाओं की संख्या इस प्रकार है—(गणना ऊपर देखें) ।

यह वर्गसंख्या शाकल चरण की पांच शाखाओं की है । इसमें संज्ञान सूक्त के चार वर्ग सम्मिलित हैं । इसी प्रकार १०४१९ मन्त्रसंख्या में संज्ञान सूक्त की १५ ऋचाओं का भी समावेश है । उन्हें न्यून करने पर १०४०४

कातीय-चरणव्यूहानुसारं वर्गसंख्या मन्त्रसंख्या च

एकर्चं एकवर्गश्च एकश्च नवर्चस्तथा ।
द्वौ वर्गौ द्वृचौ ज्ञेयौ त्र्यूनं तृचशतं स्मृतम् ॥
चतुर्ऋचं समाख्यातं षट्सप्तत्युत्तरं शतम् ।
पञ्चर्चं द्वादशशतान्यष्टाविंशोत्तराणि च ॥
शतत्रयं षड्चं च सप्तपञ्चाशदुत्तरम् ।
सप्तर्चमेकोनत्रिंशद् उत्तरं शतमेककम् ॥
अष्टर्चं पञ्चपञ्चाशद् वर्गाः स्युर्नाधिकान्तराः ।
द्र०—कातीयपरिशिष्टे नासिकमुद्रिते ।

एषु श्लोकेषु प्रतिपादिता वर्गसंख्या मन्त्रसंख्या चैवं विज्ञेया—

प्रतिवर्गर्क्संख्या		वर्गसंख्या		ऋक्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	९७	=	२९१
४	×	१७६	=	७०४
५	×	१२२८	=	६१४०
६	×	३५७	=	२१४२
७	×	१२९	=	९०३
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
योगः		२०४९		१०६३४

कातीयचरणव्यूहस्य टीकाकारेण वर्गसंख्या २०४४ ऋचां संख्या १०६३० च कथमुक्तेति नास्माभिर्ज्ञायते । सम्भाव्यते गणनाकाले द्वौ वर्गौ द्वृचौ ज्ञेयौ

ऋक्संख्या उपलब्ध होती है, जो पूर्वोक्त छन्दःसंख्या-परिशिष्ट की संख्या से २ संख्या अधिक है । यह अधिकता शाखान्तरकृत प्रतीत होती है ।

कात्यायन चरणव्यूह, जो नासिक से प्रकाशित कात्यायन-परिशिष्टों में छपा है, उसके अनुसार वर्गसंख्या २०४६, तथा मन्त्रसंख्या १०६३४ होती

वचनोक्तताया वर्गसंख्याया मन्त्रसंख्यायाश्च गणना परित्यक्ता स्यात् । इयं कातीयचरणव्यूहोक्ता वर्गसंख्या ऋक्संख्या च ऋग्वेदस्य कस्याः संहितायाः (शाखायाः) इति न जानीमः ।

आस्माकीना वर्गगणना ऋक्संख्या च

ऋक्संख्यागणनाय शौनकवेङ्कटमाधवमहिदासैर्वर्गान्तर्गतर्चोऽनुसृत्य वर्गाः संख्याताः । तत्रैतेषां वर्गपरिसंख्याने महान् भेदो वर्तते । एषु कस्य समञ्जसा वर्गसंख्येति परिज्ञानायास्माभिरपि सूक्ष्मेक्षिकया वर्गाः संख्याताः । आस्माकीना वर्गगणना एभ्यो नितरां विसंवदतीति स्वीयवर्गगणनापरिशुद्धयै (१) द्विपदा-पक्षे, (२) नैमित्तिकद्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य, (३) बालखिल्यानां दश वर्गान् न्यूनीकृत्य त्रिधा पुनर्वर्गाः परिगणिताः । एवं त्रिधा परिगणनेऽपि नैवास्माभिः स्वीयगणनायां कश्चिद्दोष उपलब्धः । सा चेत्थं त्रिधा वर्गगणना--

(१) नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेण परिगणय्य प्रत्यष्टकं बालखिल्य-सहिता वर्गसंख्या एवं वेदितव्या—

है । टीकाकार ने वर्गसंख्या २०४४ तथा मन्त्रसंख्या १०६३० कैसे लिखी, यह अज्ञात है । इसी प्रकार यह वर्ग और मन्त्रों की संख्या ऋग्वेद की किस शाखा की है, यह भी अज्ञात है ।

हमारी वर्गों और ऋचाओं की गणना

शौनक वेङ्कटमाधव और महिदास ने वर्गान्तर्गत ऋक्संख्यानुसार जो वर्ग-संख्या लिखी है, उसमें परस्पर पर्याप्त विभिन्नता है । यह तीनों की वर्गानुसार ऋग्गणना की दी हुई सारणियों की तुलना से व्यक्त है । इन तीनों में से किसकी गणना ठीक है, इसके ज्ञान के लिये हमने भी ऋग्वेद की वर्गान्तर्गत ऋक्संख्या के क्रम से वर्संख्या की गणना की है । गणना करने पर ज्ञात हुआ कि हमारी गणना पूर्वोक्त तीनों गणनाओं से भिन्न है । अतः हमने अपनी गणना की अनेक प्रकार से परीक्षा की, किन्तु हमें कहीं भूल उपलब्ध नहीं हुई । हमने वर्गगणना तीन प्रकार से की है । एक—द्विपदापक्ष में, दूसरी—नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर, तीसरी—नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर बालखिल्य के ८० मन्त्रों के १८ वर्ग न्यून करके ।

(१) नैमित्तिक द्विपदाओं को द्विपदारूप में गिनकर ऋग्वेद की बाल-खिल्य-सहित समस्त वर्गसंख्या इस प्रकार है—(गणना पृष्ठ २९१ पर देखें)

अष्टकं	एकर्चः	द्वृचः	तृचः	चतु०	पञ्च०	षड०	सप्त०	अष्ट०	नव०	दश०	एका०	द्वाद०	योगः
१	१	...	१२	२२	१७३	४२	५	४	...	५	१	...	२६५
२	...	...	१७	१५	१२४	४६	१२	७	...	...	...	...	२२१
३	...	...	४	१६	१३५	४१	२०	६	...	...	...	...	१२५
४	—	...	१२	२६	१५८	२९	१५	१०	—	...	...	...	२५०
५	...	...	१३	१७	१३८	४०	२०	७	...	३	...	—	२३८
६	—	...	११	२८	२०७	५८	१६	१०	—	१	...	...	३३१
७	...	...	८	३६	१५६	३३	१०	२	१	१	...	१	२४८
८	—	...	२३	२१	१२०	५२	२४	६	...	...	...	...	२४६
योगः	१	...	१००	१८१	१२११	३४१	१२२	५५	१	१०	१	१	२०२४
बालखिल्य-वर्गाः	—	—	२	६	१०	...	...	...	...	...	...	...	१८
बालखिल्य-रहितवर्गाः	१	...	९८	१७५	१२०१	३४१	१२२	५५	१	१०	१	१	२००६

वर्गान्तर्गतर्क्संख्यानुसारं समस्तर्ग्वेदस्य वर्गसंख्या ऋक्संख्या चेत्थं ज्ञेया—

प्रतिवर्गर्क्संख्या		वर्गसंख्या		समस्तर्क्संख्या
१	×	१	=	१
२	—	...	=	...
३	×	१००	=	३००
४	×	१८१	=	७२४
५	×	१२११	=	६०५५
६	×	३४१	=	२०४६
७	×	१२२	=	८५४
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
१०	×	१०	=	१००
११	×	१	=	११
१२	×	१	=	१२
योगः		२०२४		१०५५२

(२) चत्वारिंशदुत्तरशतं नैमित्तिकद्विपदाश्चतुष्पदीकृत्यैवं वर्गसंख्या ऋक्संख्या च वेद्या—

प्रतिवर्गर्क्संख्या		वर्गसंख्या		समस्तर्क्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	१०१	=	३०३
४	×	१८०	=	७२०
५	×	१२२०	=	६१००
६	×	३४३	=	२०५८
७	×	१२१	=	८४७
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
योगः		२०२४		१०४८२

वर्गान्तर्गत ऋक्संख्यानुसार समस्त ऋग्वेद की वर्गसंख्या तथा तदाश्रित ऋक्संख्या इस प्रकार है—(ऊपर टेबल १ देखें)

(२) ऋग्वेद में आई हुई १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा बनाकर वर्गसंख्या और तदाश्रित ऋक्संख्या इस प्रकार है—(ऊपर टेबल २ देखें)

अस्मिन् परिगणने वर्गसंख्या तु सैव २०२४ चतुर्विंशत्युत्तरद्विसहस्रम्, परं मन्त्रसंख्यायां नैमित्तिकद्विपदानां चतुष्पदीभावे सप्ततिसंख्याया न्यूनता जायते।

(३) यदा तु चतुष्पदापक्षे बालखिल्यानामृचामष्टादशवर्गा अशीतिऋँचश्च परिहीयन्ते, तदेयं वर्गसख्या ऋक्संख्या च बोध्या—

प्रतिवर्गमृक्संख्या		वर्गसंख्या		समस्तर्क्संख्या
१	×	१	=	१
२	×	२	=	४
३	×	९९	=	२९७
४	×	१७४	=	६९६
५	×	१२१०	=	६०५०
६	×	३४३	=	२०५८
७	×	१२१	=	८४७
८	×	५५	=	४४०
९	×	१	=	९
योग:		२००६		१०४०२

सम्प्रति शौनक-माधव-महिदासानामस्माकं च बालखिल्यरहितानां वर्गाणां संख्यापरिगणने यो भेदस्तद्विवृत्यै सर्वेषामपि वर्गान्तर्गतर्क्संख्यानुसारं वर्गाः परिसंख्यायन्ते—

इस गणना में नैमित्तिक द्विपदाओं की दो-दो ऋचाओं को एक चतुष्पदा मानकर गिना है। अतः इस गणना में वर्गसंख्या तो वही २०२४ है, परन्तु ऋक्संख्या में ७० संख्या न्यून हो गई है।

(३) यदि नैमित्तिक द्विपदाओं को चतुष्पदा गिन कर दर्शाई हुई उपर्युक्त वर्गसंख्या में से बालखिल्यान्तर्गत १८ वर्ग और उनकी ८० ऋचाएं न्यून कर दें, तो वर्गसंख्या निम्नलिखित होगी—(गणना ऊपर देखें)।

अब हम क्रमशः शौनक, वेङ्कटमाधव, अपनी, और महिदास की वर्गगणना आगे लिखते हैं। इससे प्रत्येक की वर्गगणना में जो भेद है, वह व्यक्त हो जाएगा (गणना आगे देखें पृष्ठ २९४ पर)।

शौनक और वेङ्कटमाधव ने जो वर्गगणना लिखी है, उसमें १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को ७० चतुष्पदा बनाकर गणना की है। और उसमें बालखिल्य

प्रतिवर्गर्क्संख्या	शौनकीया	वेङ्कटमाधवीया	आस्माकीना	महिदासीया
१	१	१	१	१
२	२	२	२	२
३	९७	९९	९९	१००
४	१७४	१७५	१७४	१७५
५	१२०७	१२०९	१२१०	१२११
६	३४६	३४३	३४३	३४५
७	११९	१२१	१२१	१२०
८	५९	५४	५५	५५
९	१	२	१	१
योगः	२००६	२००६	२००६	२०१०

इदमत्रावधेयम्—शौनकादीनां वर्गसंख्याने बालखिल्या ऋचो न संख्यायन्ते, न च नैमित्तिका द्विपदा द्विपदारूपेण । अतोऽस्माभिस्तत्पक्षीया एव स्वीया वर्गसंख्याऽत्र निर्दिष्टा । सर्वश्चैष वर्गसंख्याभेदोऽवान्तरशाखाभेदकृत एवेत्यनुमिनुमः । महीदासीया वर्गसंख्या तु शाकलचरणान्तर्गतानां पञ्चानां शाखानामिति स एव विस्पष्टं जगाद ।

दयानन्दसरस्वतीस्वामिना परिसंख्याता ऋक्संख्या

ऋग्वेदभाष्यकृता दयानन्दसरस्वतीस्वामिना स्वीयर्ग्वेदभाष्यस्योपोद्घाते (पृष्ठ ४३२—४३७) ऋग्वेदान्तर्गतानामृचां परिगणनमकारि । तत्र प्रतिमण्डलं या ऋक्संख्याः परिसंख्यातास्तासामयं योगः—

ऋचाओं की गणना नहीं है । अतः हमने तुलना के लिए अपनी वर्गगणना भी इसी प्रकार की लिखी है । यह भी ध्यान रहे कि महिदास की वर्गगणना शाकलचरण की पांच संहिताओं की है । यह हम उसी के शब्दों में पूर्व लिख चुके हैं । परन्तु उसकी गणना में भी बालखिल्य ऋचाओं का समावेश नहीं है ।

हमारा विचार है कि चारों की वर्गसंख्याओं में जो विभिन्नता है, उसका कारण शाखाभेद है ।

स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्गणना

ऋग्वेद-भाष्यकार भगवत्पाद दयानन्द सरस्वती ने अपने ऋग्वेदभाष्य की अनुभूमिका पृष्ठ ४३२–४३७ में ऋग्वेद की ऋक्संख्या का उल्लेख किया है ।

१९७६+४२९+६१७+५८९+७२७+७६५+८४१+१७२६+१०९७+१७४५=१०५२१।

अत्र प्रतिमण्डलक्संख्यायां लेखकप्रमादाद् द्वे अशुद्धी बभूवतुः। तत्रैका— अष्टममण्डलान्तर्गतविंशतितमसूक्तमन्त्राणां २६ षड्विंशतिसंख्यास्थाने ३६ षट्त्रिंशत् संख्या लिखिता। तेन तन्मण्डलीयग्योगोऽपि १७१६ षोडशाधिकसप्तशतोत्तरैकसहस्रस्थाने १७२६ षड्विंशत्यधिकसप्तशतोत्तरैकसहस्रं संजातः। द्वितीया—नवममण्डलस्य प्रतिसूक्तनिर्दिष्टसंख्यायोगकाले दृष्टिदोषात् काचिद् एकादश संख्या परित्यक्ता। तेन तद्योगोऽपि ११०८ अष्टाधिकशतोत्तरैकसहस्रस्थाने १०९७ सप्तनवत्यधिकैकसहस्रं बभूव। इमौ दोषौ परिमृज्य सकलक्संख्या १०५२२ द्वाविंशत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रं संपद्यते।[1]

उन्होंने प्रतिमण्डल जो ऋक्संख्याएं लिखी हैं, उनका योग क्रमशः इस प्रकार है—

१९७६+४२९+६१७+५८९+७२७+७६५+८४१+१७२६+१०९७+१७५४=१०५२१।

इस प्रतिमण्डल ऋक्संख्या में लेखक के प्रमाद से दो अशुद्धियां हुई हैं। **प्रथम**—ऋग्वेद के आठवें मण्डल के २४वें सूक्त की मन्त्रसंख्या २६ के स्थान में ३६ लिखी है, अतएव उसका योग भी १७१६ के स्थान में १७२६ हो गया है। अर्थात् यहां १० संख्या अधिक गिनी गई है। वस्तुतः इस मण्डल की ऋक्संख्या १७१६ होनी चाहिए। **द्वितीय**—नवम मण्डल की प्रतिसूक्त लिखित संख्या के योग में ११ संख्या न्यून है। प्रतीत होता है, योग करते समय किसी सूक्त की ११ ऋचाएं गिनने से रह गईं। अतः इस मण्डल की ऋचाओं का योग १०९७ के स्थान में ११०८ होना चाहिए। इस प्रकार यदि अष्टम और नवम मण्डल के योग को शुद्ध कर लिया जाए, तो उनका पूर्ण योग १०५२२ होगा।[1]

---

१. दयानन्ददिग्विजयार्क के द्वितीय अङ्क में स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदभाष्य का नमूना छपा है। उसमें अष्टम मण्डल की १७२६ ऋक्-संख्या, और नवम मण्डल की ११०८ संख्या देकर समस्त ऋक्संख्या १०५३२ लिखी है, वह अशुद्ध है। अष्टम मण्डल की भूल को न सुधारकर अशुद्ध संख्या (१७१६ के स्थान में १७२६) ही स्वीकार कर ली और नवममण्डल की ११ संख्या की भूल सुधार ली। अतः पूर्णयोग १०५३२ अशुद्ध हो गया।

अयमृचां योगो मैक्समूलरीयर्क्संस्करणानुसारं विद्यते। तदीयर्क्संस्करणे च ये दोषास्ते पुरस्तात् प्रतिपादिताः। अतोऽत्रापि प्रथममण्डलान्तर्गताः षष्टि-नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशत् परिगणिताः। एतद्दोषपरिमार्जने कृते सैव १०५५२ द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृक्संख्या संपद्यते।

प्रतिमण्डलमृक्संख्यामुक्त्वा सर्वर्क्परिगणनां ब्रुवन् स्वामिदयानन्दसरस्वत्याह—'दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च १०५८९ मन्त्रा सन्तीति वेद्यम्'।

एषा संख्या प्राङ्निर्दिष्टर्क्संख्यातो नितरां भिद्यते। न च तद्भेदे किञ्चित् कारणमुक्तम्। अतो मन्यामहे, अत्रापि लेखकप्रमाद एव कारणं स्यात्। स चेत्थम्—प्रतिमण्डलमुक्तानामृक्संख्यानां कृत्स्नं योगं कुर्वता लेखकेनैकविंशत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रसंख्या अङ्कैः १०५२१ निर्दिष्टा। तदनु स्वामिभिस्तस्मिन्नस्पष्टाङ्कैर्लिखिते योगे एकाङ्को नवाङ्कत्वेन, द्व्यङ्कोऽष्टाङ्कत्वेन (१०५८९) चावबुद्धयाक्षरेषु—'दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च मन्त्राः' इत्येवं सर्व ऋग्योगोऽलेखि। नागर्यां लिप्यामेतयोरङ्कयोरस्पष्टलेखने प्रायेणैतादृशो भ्रमो जायते। तेन 'दशसहस्राणि पञ्चशतानि एकोननवतिश्च मन्त्राः' इति लेखो लेखकपाठकभ्रममूलक एव।

यह योग मैक्समूलर के ऋक्संस्करण के अनुसार है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में प्रथम मण्डल की ६० नैमित्तिक द्विपदाएं ३० चतुष्पदा बनाकर छापी गई हैं (शेष ८० द्विपदारूप में ही छापी हैं)। अतः १०५२२ संख्या में प्रथम मण्डलस्थ द्विपदाओं की शेष ३० संख्या और सम्मिलित कर ली जाए, तो सर्वयोग १०५५२ होगा। इसमें नित्य नैमित्तिक द्विपदा तथा बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलित हैं। यह संख्या ऋक्-सर्वानुक्रमणी, उसके टीकाकार जगन्नाथ, चरणव्यूहटीकाकार महिदास, और छन्दःसंख्या-परिशिष्ट की दी हुई ऋक्संख्या से पूर्णतया मिल जाती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने प्रतिमण्डल ऋक्संख्या का पृथक्-पृथक् उल्लेख करके अन्त में समस्त ऋचाओं का योग अक्षरों और अङ्कों दोनों में १०५८९ लिखा है। इस अशुद्धि का कारण भी लेखक-प्रमाद ही है। प्रतीत होता है प्रतिलिपि करते समय लेखक ने अस्पष्ट अङ्कों में लिखे गये १०५२१ योग में २ को ८ और १ को ९ पढ़ लियां होगा, और पूर्णयोग १०५८९ लिख दिया होगा। शीघ्रता में लिखी गई संख्याओं के पढ़ने में प्रायः ऐसी भूलें हो जाती हैं।

पण्डितभगवद्दत्तमहोदयः स्वीये वैदिकवाङ्मयैतिह्ये स्वामिदयानन्द-निर्दिष्टविभिन्नक्संख्यासमन्वयं प्रतिपादयन्नाह—

'यदि स्वामिदयानन्दस्य १०५२१ ऋग्गणनाया नैमित्तिकद्विपदानामर्धासु सप्ततिसंख्यासु पञ्चममण्डलस्य चतुर्विंशसूक्तस्य द्विगुणत्वेन परिगणितां द्विसंख्यां परिहायाष्टषष्टिसंख्याया योगः क्रियेत, तर्हि १०५८९ संख्योपपद्यते' [भा० १, पृ० १३७]।

वस्तुतः पण्डितभगवद्दत्तमहोदयेनापि नैतदवगतं यन्मैक्समूलरीयऋक्-संस्करणे कति ऋचो द्विपदारूपेण मुद्रिताः, कति च चतुष्पदारूपेण। यदि ह्यस्य ज्ञानमभविष्यत्तर्हि न स एवमवक्ष्यत्। यतो हि मैक्समूलरीये ऋक्संस्करणे षट्सप्ततिर्द्विपदा द्विपदारूपेणैव मुद्रिताः। अतो नैव तासां पुनर्द्विगुणीभावो युज्यते।

श्री० पं० भगवद्दत्त जी ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' के प्रथम भाग पृष्ठ १३७ पर स्वामी दयानन्द सरस्वती की १०५२१ और १०५८९ दोनों संख्याओं में सामञ्जस्य दर्शाने का प्रयत्न किया है। उनका लेख इस प्रकार है—

स्वामी दयानन्द सरस्वती की १०५२१ की गणना में यदि नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं का आधा अर्थात् १४०÷२=७०, और इनमें से ऋ० ५।२४ को २ कम करके (जो पहले ही द्विगुणित हैं) ६८ जोड़ी जाएं, तो कुल संख्या १०५८९ हो जाती है।

पण्डितजी ने उक्त समाधान करते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि १०५२१ (१०५२२) संख्या में कितनी द्विपदाएं द्विपदारूप में गिनी गई हैं, और कितनी द्विपदाएं चतुष्पदाएं बनाकर आधी गिनी गई हैं। उन्होंने भी मैक्समूलर सम्पादित ऋक्संस्करण या तदाश्रित अन्य संस्करण को ही प्रमाण मानकर सामञ्जस्य दर्शाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः जिस प्रकार उन्होंने ऋ० ५।२४ के दो मन्त्रों को, जिन्हें प्रथम ही द्विपदा मानकर ४ ऋचाएं गिना गया है, पुनः द्विगुणित करने में छोड़ दिया। इसी प्रकार प्रथम और पञ्चम मण्डलातिरिक्त ७६ नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं को (जिन्हें मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में द्विपदारूप में ही छापा है) भी पुनः द्विगुणित नहीं करना चाहिए था। केवल प्रथम मण्डल की द्विपदाएं, जो ३० चतुष्पदा बनाकर छापी गई हैं, पुनः द्विगुणित करनी चाहिएं थीं।

एवं चैतद् भाष्यकृतोक्तयोः १०५२१, तथा १०५८९ संख्ययोः सामञ्जस्यं नोपपद्यते । वस्तुत उभयोरपि योगयोर्लेखकगणकप्रमाद एव कारणम् ।

अध्यापकमैकडानलस्य ऋग्गणना

अध्यापकमैकडानलेन स्वसम्पादिताया ऋक्सर्वानुक्रमण्या उपोद्घाते ऋग्वेदस्य ऋग्गणनामधिकृत्य विस्तरेण लिखितम । तत्र तस्य बह्व्यो भ्रान्तयः संजाताः । तद्यथा—

प्रथमा—मैकडानलस्य प्रतिछन्दोऽनुसारं परिगणितानामृचां सर्वयोगः १०४४२ द्विचत्वारिंशदधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रं भवति । तत्र द्विपदां योगः १२७ सप्तविंशत्युत्तरैकशतम्, प्रथममण्डले चैकत्रिंशद् द्विपदाः परिगणिताः । ऋक्सर्वानुक्रमण्यनुसारं प्रथममण्डले पञ्चषष्टितमसूक्तादासप्ततितमसूक्तमेकषष्टि-द्विपदाः सन्ति । मैक्समूलरेणाऽऽद्यमण्डलस्थाः षष्टिर्द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशन्मन्त्रा मुद्रिता इत्युक्तं पुरस्तात् । मन्यामहे मैकडानलो मैक्समूलरीये ऋग्वेदे

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती की १०५२१ और १०५८९ संख्या में कोई सामञ्जस्य नहीं बनता। वस्तुतः दोनों विभिन्न संख्याओं का कारण लेखक-प्रमाद ही है, जैसा हम ऊपर दर्शा चुके हैं। इसलिए स्वामी दयानन्द सरस्वती का सर्वयोग भी १०५२२ होना चाहिए।

प्रो० मैकडानल की ऋग्गणना

प्रोफेसर मैकडानल ने स्वसम्पादित ऋक्सर्वानुक्रमणी की भूमिका पृष्ठ १७, १८ पर ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में विस्तार से लिखा है। उस लेख में प्रो० मैकडानल ने ऋग्वेद की ऋग्गणना के विषय में सबसे अधिक भूलें की हैं।

पहली भूल—मैकडानल ने प्रतिछन्द ऋक्संख्या का निर्देश करके सर्वयोग १०४४२ लिखा है। इस प्रतिछन्द संख्या में द्विपदा ऋचाओं का योग १२७ है। प्रथम मण्डल में ३१ द्विपदाएं लिखी हैं। कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के अनुसार प्रथम मण्डल के ६५-७० सूक्त तक ६१ द्विपदा ऋचाएं हैं। इन ६१ द्विपदाओं में ७०वें सूक्त की ११वीं ऋचा नित्य द्विपदा है, शेष ६० नैमित्तिक है। मैकडानल ने मैक्समूलर के ऋक्संस्करण के अनुसार ६१ ऋचाओं को ३१ गिन लिया। मैक्समूलर ने ६० द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा

चतुष्पदीकृतास्त्रिंशदृचो भ्रान्त्या द्विपदा मत्वा त्रिंशदेव द्विपदासु परिगणितवान् (एका तत्र नित्यद्विपदा रूपा) । सर्वानुक्रमण्याश्च सम्पादनं विदधत् सर्वानुक्रमण्यां मैक्समूलरीयक्संस्करणे चाद्यमण्डलान्तर्गतानां पञ्चषष्टितमादासप्ततितमं षण्णां सूक्तानां परस्परमृक्संख्याभेदं दृष्ट्वाऽपि मैक्समूलरीयं दोषं नावगतवान् ।

द्वितीया—छन्दःसंख्यापरिशिष्टे सप्तदश द्विपदा निर्दिष्टाः । मैकडानलेन द्विपदानामृचां योगः सप्तविंशत्युत्तरशतमुक्तः (१७ नित्याः + ३० प्रथमे मण्डले + ८० अन्यमण्डलस्थाः) । अनयोः संख्ययोर् (छन्दःसंख्योक्तायां स्वीयायां च) आद्यन्तयोरङ्कयोः साम्यं (आदावेकाङ्कोऽन्ते सप्ताङ्कः) दृष्ट्वा मैकडानल ऊहितवान्—नूनं छन्दःसंख्यापरिशिष्टे द्विपदायोगे मध्यवर्ती द्वयङ्को नष्ट इति । (अर्थात् १२७ स्थाने कथञ्चित् प्रमादात् १७ संख्या निर्दिष्टा) । महदाश्चर्यम् ! यन्मैकडानल इदमपि नावबुबुधे, यच्छन्दःसंख्यापरिशिष्ट

बनाकर छापा है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। अतः मैकडानल की लिखी हुई ३१ द्विपदाओं में ३० चतुष्पदाएं हैं और १ द्विपदा। आश्चर्य की बात तो यह है कि मैकडानल ने ऋक्सर्वानुक्रमणी का सम्पादन करते हुए प्रथम मण्डल के ६५-७० सूक्त तक ऋक्सर्वानुक्रमणी और मैक्समूलर-मुद्रित ऋग्वेद में प्रतिसूक्त ऋक्संख्या में भेद देखकर भी मैक्समूलर की द्विपदा-ऋचाओं की मुद्रण-सम्बन्धी भयानक भूल का परिशोध नहीं किया। इससे भी अधिक आश्चर्य इस बात पर है कि उसने मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में चतुष्पदा बनाकर छापी गई ऋचाओं को द्विपदा समझकर द्विपदाओं में गणना कर ली। यह है, पाश्चात्य विद्वानों का पाण्डित्य ! जिन्हें द्विपदा और चतुष्पदा ऋचाओं के भेद का भी ज्ञान नहीं। अतः प्रथम मण्डल के ६५-७० सूक्त की ऋचाओं को द्विपदा मानकर गिना जाय, तो उनकी संख्या ३१ के स्थान में ६१ होगी, और द्विपदाओं का सर्वयोग १२७ न होकर १५७ होगा। अत एव मैकडानल का सर्वयोग भी १०४४२ के स्थान में १०४७२ हो जायगा, जो कि सर्वसम्मत है। इसमें बालखिल्य ऋचाएं सम्मिलत नहीं हैं।

दूसरी भूल—मैकडानल लिखता है—'छन्द परिशिष्ट में १२७ के स्थान में १७ द्विपदाएं गिनी हैं। सम्भव है छन्दःसंख्या की गणना में मध्यवर्ती २ संख्या खण्डित हो गई हो। मैकडानल की इस कल्पना के विषय में हम पूर्व ही लिख आए हैं। अतः यहां पुनः लिखना पिष्टपेषणवत् होगा। प्रतीत होता है कि मैकडानल को द्विपदाओं के नित्य और नैमित्तिक भेदों

उक्ता सप्तदशसंख्या नित्यानां द्विपदानामस्तीति । अतो मन्यामहे— मैकडानलो द्विपदानां नित्यनैमित्तिकभेदमपि नावबुबुध इति ।

तृतीया—मैकडानलो निर्दिशति यत्—'ऋग्वेदस्य शाकलसंहितायामृचां पूर्णयोगो १०४४२ द्वाचत्वारिंशदधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रं जायते । छन्दः-संख्यापरिशिष्टे तु १०४०२ द्व्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृच उक्ताः' [ऋक्सर्वा० भूमिका पृ० १७] ।

छन्दःसंख्यापरिशिष्टे यदङ्मानमुक्तं तत्र १४० चत्वारिंशदुत्तरमेकशतं द्विपदाश्चतुष्पदीकृताः सप्ततिः परिगणिताः । तासां द्विपदापक्षे १०४७२ सप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रं योगो जायत इत्यवोचाम पुरस्तात् । मैक-डानलीये ऋग्योगे प्रथममण्डलस्थद्विपदायोगे त्रिंशत्संख्याया अशुद्धिर्वर्तत इत्यप्यनुपदमुक्तमेव । तस्याः परिशोधने विहिते मैकडालस्य सर्वयोगोऽपि १०४७२ द्वासप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमेव भवति । संभाव्यते छन्दःसंख्यापरिशिष्ट-स्य ऋग्गणना प्रकारं नावगतवान् मैकडानलः ।

चतुर्थी—तदग्रे च मैकडानल आह—'१२७ सप्तविंशत्यधिकैकशतद्वि-पदानां द्विगुणीभावे मदीयो योगः (१०४४२+१२७=) १०५६९ एकोन-षष्ट्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रं सपद्यते' (ऋक्सर्वा० भूमिका० पृ० १८] ।

का कुछ भी ज्ञान नहीं था । अन्यथा वह छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्त १७ नित्य द्विपदाओं के विषय में इस प्रकार की कल्पना कदापि नहीं करता ।

तीसरी भूल—मैकडानल लिखता है—'ऋग्वेद की शाकल संहिता की ऋचाओं का सर्वयोग १०४४२ होता है, जबकि छन्दःसंख्यापरिशिष्ट में १०४०२ है' । ऋक्सर्वा० की भूमिका पृष्ठ १७ ।

छन्दःसंख्या-परिशिष्ट का १०४०२ योग १४० नैमित्तिक द्विपदाओं को ७० चतुष्पदा गिन कर लिखा गया है, यह हम पूर्व दर्शा चुके हैं । तदनुसार द्विपदा पक्ष में वह योग १०४७२ होगा । मैकडानल के योग में प्रथम मण्डलस्थ द्विपदाओं की गणना में जो ३० संख्या की भूल हमने ऊपर दर्शाई है, उसे ठीक करने पर उसका योग भी १०४७२ होगा । अतः छन्दःसंख्या-परि-शिष्टोक्त १०४०२ संख्या के गणना-प्रकार को न समझकर उसमें भिन्नता दर्शाना तीसरी भूल है ।

चौथी भूल—मैकडानल लिखता है—'१२७ द्विपदाओं को दूसरी बार गिनकर मेरा योग (१०४४२+१२७)=१०५६९ होता है ।' ऋक्सर्वा० भूमिका पृष्ठ १८ ।

अत्र मैकडानल ऋक्सर्वानुक्रण्याः— 'द्विद्विपदास्त्वृचः समामनन्ति' इति सूत्रस्यार्थमवधीयं द्विपदात्वेन परिगणिता अप्यचः पुनर्द्विगुणीकृतवान् । वस्तुतोऽध्ययनकाले चतुष्पदीकृता एवर्चो यज्ञकाले (द्विपदापक्षे) द्विगुणीक्रियन्ते, न तु द्विपदा एव ।

पञ्चमी— एतद्विषयकस्य पण्डितभगवद्दत्तीयपत्रस्योत्तरं परिददन् मैकडानल आह 'ऋग्वेदस्य पञ्चममण्डलस्य चतुर्विंशतितमस्य सूक्तस्य द्वे द्विपदे सर्वानुक्रमण्यामेव कथं द्विगुणीकृते इति न ज्ञायते ·····कथमपि तयोः पुनर्द्विगुणीकरणं नोचितं प्रतिभाति । तथा सति मदीय ऋचां योगः १०५६६ एकोनसप्तत्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रस्थाने १०५६५ पञ्चषष्ट्यधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रं भविष्यति'[1] [वैदिकवाङ्मयस्येतिहासः, भाग १, पृष्ठ १३६ उद्धृतम्] ।

कात्यायन के 'द्विद्विपदास्त्वृचः समामनन्ति' इस परिभाषा-सूक्त का षड्गुरुशिष्य की वृत्ति सहित शुद्ध अर्थ हम पूर्व लिख चुके हैं । तदनुसार यज्ञकाल में द्विपदारूप में प्रयुक्त होनेवाली (१४०) ऋचाएं दो-दो ऋचाएं मिलकर अध्ययनकाल में एक चतुष्पदा ऋक् बनती है । मैकडानल के उपर्युक्त लेख को देखने से विदित होता है कि उसने कात्यायन के इस सूत्र का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझा । अत एव उसने द्विपदारूप से गिनी गई ऋचाओं को पुनः द्विगुणित करके १०४४२ में १२७ संख्या और जोड़ दी, जो सर्वथा अयुक्त है ।

पांचवीं भूल—पं० भगवद्दत्त जी को ऋग्वेद की ५।२४ के विषय में जो भ्रांति हुई, उसका उल्लेख हम पूर्व कर आए हैं । उन्होंने ऋग्वेद ५।२४ के विषय में १६-७-१९१९ को एक पत्र प्रो० मैकडानल को लिखा था । उसके उत्तर में ८-८-१९१९ को मैकडानल ने लिखा है—

मुझे यह प्रश्न समझ में नहीं आता कि ऋ० ५।२४ की दो द्विपदा ऋचाओं को सर्वानुक्रमणी में ही क्यों द्विगुणित कर दिया·····किसी दशा में ५।२४ की द्विपदाओं को द्विगुणित करना ठीक प्रतीत नहीं होता । ऐसा करने से मेरी मन्त्रगणना (१०५६९ के स्थान में) १०५६७ हो जाएगी ।[1] देखो— 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' भाग १, पृष्ठ १३६ ।

---

1. *I am unable to look into the question why the two dvipadas of V. 24 are doubled in the text of the Sarvanukramni (1, 2|3, 4) unless it is inten-*

अत्र यद् द्विपदयोः पुनर्द्विगुणीकरणमुक्तं तदपि नैव क्षोदक्षमम् । एतस्या भ्रान्तेर्मूलमपि मैक्समूलरीयमृक्संस्करणमेव । यतो हि तत्र (५।२४) चतस्रो द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य द्वे ऋचे मुद्रिते, मन्त्रसंख्या तु प्रतिमन्त्रं द्विर्द्विर्निर्दिष्टा । सर्वानुक्रमण्यां चतस्र एव द्विपदा उक्ताः । अतः—'सर्वानुक्रमण्यामेव द्वे द्विपदे कथं द्विगुणीकृते' इति वचनं भ्रममूलकमेव ।

इस लेख से स्पष्ट है कि मैकडानल ने भी पं० भगवद्दत्त जी के कथन को स्वीकार कर लिया। सम्भव है उसने भी ऋ० ५।२४ की ऋचाओं को पुस्तक खोलकर नहीं देखा, या उसे द्विपदा और चतुष्पदा के भेद का बोध न रहा हो। 'सर्वानुक्रमणी में ५।२४ की दो द्विपदाओं को क्यों द्विगुणित कर दिया' यह लिखना भी अयुक्त है।

---

ded to express that they ere treated as sacrificial, and not as recited dvipadas (cp. commentary on Introduction S. 12, 10, where 1.65 is quoted). In any case it seems wrong to re-double the two dvipadas of V. 24. This would make my total 10,565. The commentator of the Caranavyuha, according to a marginal note I made long ago in my edition of the Sarvanukramni, gives the total 10, 552 only 13 less than my total (counting the Valkhilyas); in another place in the same com. 10, 566 is given as the total, counting the 140 naimittikadvipadas. only I more than my corrected total. If tne I odd pada is here counted as I verse, the total would be exactly the same.

The question of the treatment of the 94 verses consisting of 3 ardharcas should be taken into consideration in calculating totals : when sacrificial, 3 ardharcas count as one verse, if recited, as two verses.

षष्ठी—पुरस्तान्निर्दिष्टे पत्रोद्धरणे मैकडानलः पञ्चममण्डलस्य चतुर्विंशतितमसूक्तस्य पुर्नद्विगुणीभावे स्वकीयमृग्योगं संशोधयन् चतुःसंख्या न्यूनीकृत्य १०५६६ स्थाने १०५६५ उक्तवान्। अत्रेदं चिन्त्यम्, यद् द्वयोर्द्विपदयोः पुर्नद्विगुणीभावं संशोधयता द्विसंख्यैव न्यूनीकर्तव्याऽऽसीन्न तु संख्याचतुष्टयम्। तथा सति १०५६९ स्थाने १०५६७ ऋचां योगस्तेन वक्तव्यो न तु १०५६५।

सत्यव्रतसामश्रमिण ऋग्गणना

पण्डितसत्यव्रतसामश्रमिणा 'ऐतरेयालोचने' ऋग्गणनामधिकृत्य बहु प्रपञ्चितम्, तत्र च स बहुधा बभ्राम। छन्दःसंख्यापरिशिष्टोक्तक्संख्याने या तस्य भ्रान्तिः सा पुरस्तात् प्रदर्शिता। ततोऽन्याऽत्र प्रदर्श्यंते—

ऐतरेयालोचने सामश्रमिणोक्तम्—'अस्मत्परिगणनया त्वाश्वलायनसंहितायां १०५२२ ऋचो दृश्यन्ते' इति। तदग्रे च—'तद् बालखिल्यसहिताः

छठी भूल—सर्वानुक्रमणी में द्विपदाओं को द्विगुणित नहीं किया, अपितु उन्हें ४ द्विपदा लिखा है, जो उचित है। प्रो० मैकडानल की यह भूल मैक्समूलर के ऋक्संस्करण से हुई है, इसका वर्णन हम विस्तार से पूर्व कर चुके हैं। यहां पर मैकडानल ने एक और भारी भूल की है। उसके कथनानुसार ऋक्सर्वानुक्रमणी में ५।२४ की दो ऋचाओं को द्विगुणित किया है। अतः उसके द्विगुणितत्व को हटाने के लिए दो संख्या न्यून करनी चाहिए थी, परन्तु उसने दो के स्थान में चार संख्या न्यून कर दी।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी की ऋग्गणना

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने ऋग्वेद की ऋक्संख्या के विषय में 'ऐतरेयालोचन' के पृष्ठ १४२-१४३ पर कुछ लिखा है। उसमें उन्होंने भी अनेक भूलें की हैं। उनमें से सबसे प्रधान भूल छन्दःसंख्या-परिशिष्ट-उल्लिखित ऋग्गणना के विषय में है। इसके विषय में हम पूर्व लिख चुके है। अतः उसका यहां पुनः पिष्टपेषण करना उचित नहीं। 'ऐतरेयलोचन', पृष्ठ १४३ पर लिखा है—

'अस्मत् परिगणनया त्वाश्वलायनसंहितायाम् १०५२२ ऋचो दृश्यन्ते।'

पुनः आगे लिखता है—'तद्वालखिल्यसहिताः १०५२२ ऋचः श्रूयन्ते इति त्वस्माभिः सुनिश्चितम्।

१०५२२ ऋचः श्रूयन्त इति त्वस्माभिः सुनिश्चितम्' [ऐतरेया० पृ० १४३] इति।

उपलभ्यमाना ऋक्संहिता नाश्वलायनी, अपि तु शाकलचरणस्यैव काचिदियं शाखेत्यत्र नास्ति कस्यापि विदुषो वैमत्यम्। आश्वलायनी शाखा तु शाकलचरणाद् बहिर्भूता स्वतन्त्रा संहितेति नाविदितं वैदिकविदुषाम्। अत एतस्या आश्वलायनीनाम्ना निर्देशो भ्रान्तिमूलक एव। यच्चात्र सामश्रमिणा ऋग्वेदस्य सकलर्ग्योगः १०५२२ उक्तः, सोऽपि मैक्समूलरीयर्क्संस्करणानुसारी। तत्र प्रथममण्डलस्थाः षष्टिर्नैमित्तिका द्विपदाश्चतुष्पदीकृत्य त्रिंशन्मुद्रिताः, अवशिष्टास्तु द्विपदात्वेनेत्युक्तं पुरस्तात्। अतोऽत्रापि सामश्रमिणः सुनिश्चिता अपि सँख्या दुर्निश्चितैव बभूव। वस्तुतस्तु द्विपदापक्षे १०५५२ सुनिश्चिता संख्या, तदभावेऽध्ययनकाले १०४८२ सुनिश्चिता संख्या विज्ञेया, यथोक्ता पुरस्तादस्माभिः।

हरिप्रसादस्य ऋग्गणना

पण्डितहरिप्रसादेन 'वेदसर्वस्व' ग्रन्थे (पृ० ६५-६८) ऋक्संख्याविषये

पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने यहां दो भूलें की हैं। एक--ऋग्वेद की वर्तमान संहिता को आश्वलायनी लिखा है, वह अयुक्त है। वह वस्तुतः शाकल संहिता है। दूसरी—पण्डित जी ने बालखिल्य सहित जो १०५२२ सुनिश्चित ऋक्संख्या लिखी है, वह भी अयुक्त है। उनकी गणना का आधार भी मैक्स-मूलर सम्पादित या तदाश्रित अन्य ऋक्संस्करण है। मैक्समूलर के ऋक्संस्करण में प्रथम मण्डल की ६० द्विपदाओं को ३० चतुष्पदा बनाकर छापा है, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। अतएव उसके अनुसार ऋग्गणना करने में पं० सत्य-व्रत सामश्रमी की सुनिश्चित ऋक्संख्या में भी ३० की न्यूनता रह गई। इसलिये उनकी पूर्णसंख्या भी १०५५२ होनी चाहिए। अध्ययन काल में नैमित्तिक १४० द्विपदाओं को चतुष्पदा मानने पर १०४८२ संख्या जाननी चाहिये।

पं० हरिप्रसाद की ऋग्गणना

पं० हरिप्रसाद ने अपने 'वेदसर्वस्व' ग्रन्थ में पृष्ठ ६५-६८ तक ऋग्वेद की मन्त्र-संख्या के विषय में लिखा है। उनका समग्र लेख प्रायः पं० सत्यव्रत

किञ्चिदलेखि। तत्र प्रायः सामश्रमिणोऽनुकृतिरेव। तेन सामश्रमिणो ये दोषास्ते तत्र वर्तन्त एव। अयं तु तत्र विशेषः—

हरिप्रसादो वेदसर्वस्वस्य ६७ सप्तषष्टितमे पृष्ठ आह —'चरणव्यूहटीकाकारेण महिदासेन ऋग्वेदे १०४७२ द्वासप्तत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रमृच उक्ताः। सैषा संख्या नैमित्तिकद्विपदासहिता वर्तते। तासां च १४० चत्वारिंशदधिकं शतं संख्या विद्यते। अतो यदि १४० चत्वारिंशदधिकशतं संख्या न्यूनीक्रियेत, तर्हि ऋग्वेदस्य १०३३२द्वात्रिंशदधिकत्रिशतोत्तरदशसहस्रमृक्संख्याऽवशिष्यते' इति।

अत्र सर्वासामपि १४० चत्वारिंशदधिकशतानां नैमित्तिकद्विपदानां न्यूनीकरणं नाम तस्य महान् भ्रमः। किमेता ऋग्वेदस्यावयवा न सन्ति, यदेताः सर्वा अपि निष्कास्यन्ते? वस्तुतोऽत्र चतुष्पदापक्षे १४० चत्वारिंशदधिकशतसंख्याया अर्धा ७० सप्ततिसंख्यैव न्यूनीकरणीया।

उपसंहारः

अनेन ऋक्संख्याविमर्शेणावगम्यते यन्माधव-मैक्समूलर-मैकडानल्ड-सत्यव्रत-

---

सामश्रमी के संस्कृतलेख का भाषानुवादमात्र है। अतः उनके लेख में भी वे समस्त दोष विद्यमान हैं, जो उनके आधारभूत पं० सत्यव्रत सामश्रमी के लेख में हैं। इसलिये उन पर पुनः लिखना पिष्टपेषणवत् होगा। हां, उनके लेख में जो नए दोष है, उनका कुछ निर्देशन हम यहां कराते हैं—

पं० हरिप्रसाद ने 'वेदसर्वस्व' के पृष्ठ ६७ पर लिखा है—

'चरणव्यूह के टीकाकार महिदास ने ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या दस हजार चार सौ बहत्तर (१०४७२) लिखी है। परन्तु यह नैमित्तिक द्विपदा ऋचाओं सहित है, जिनकी संख्या एक सौ चालीस (१४०) होती है। यदि वह निकाल दी जाए, तो शेष संख्या दस हजार तीन सौ बत्तीस (१०३३२) रह जाती है।

इस लेख से विदित होता है कि पं० हरिप्रसाद ने न तो द्विपदा ऋचाओं का स्वरूप ही समझा, और न महिदास का ऋग्गणना-प्रकार ही। १४० नैमित्तिक द्विपदाओं की ७० चतुष्पदा ऋचाएं बनती हैं। अतः यदि नैमित्तिकद्विपदात्व ही न्यून करना है, तो ७० संख्या न्यून करनी चाहिए। पूरी १४० द्विपदाओं को निकालना किसी प्रकार उचित नहीं है।

उपसंहार

इस ऋक्संख्या-विमर्श से यह स्पष्ट है कि वेङ्कटमाधव मैक्समूलर मैकडानल्ड

सामश्रमिप्रभृतयो नित्यनैमित्तिकद्विपदानां स्वरूपमेव नावबुबुधिरे। तदनवबोधादेव च ऋग्वेदस्य ऋग्गणनायामेते बहुधा बभ्रमु:, अन्यांश्च भ्रमयाञ्चक्रु:।

तदेवमृक्सर्वानुक्रमणीमनुसरन् यज्ञप्रक्रियायां नित्यनैमित्तिकद्विपदासहिताः सबालखिल्या १०५५२ द्विपञ्चाशदधिकपञ्चशतोत्तरदशसहस्रमृचो भवन्ति। ता एव चाध्ययनकाले १४० चत्वारिंशदधिकशतानां नैमित्तिकानां द्विपदानां चतुष्पदीभावे १०४८२ द्व्यशीत्यधिकचतुःशतोत्तरदशसहस्रं जायन्ते। नैवास्यामृक्संहितायां महति सुदीर्घे काले एकाक्षरवर्णमात्रस्यापि भेदः समजनि, ऋचां नैयूनाधिक्यस्य तु कथैव का? यः कश्चिदपि प्राचीनानामर्वाचीनानां च विदुषां मते ऋक्संख्याभेदः समुपलभ्यते, स सर्वोऽपि ऋग्गणनाप्रकारभेदात् शाखाभेदात् तत्तद्विदुषामज्ञानाद्वा दृश्यते, न तु वास्तविकः। इत्यलमतिपल्लवितेन॥

और सत्यव्रत सामश्रमी प्रभृति लेखकों ने नित्य नैमित्तिक द्विपदाओं के भेद को यथार्थरूप में नहीं समझा। इसी कारण ये लोग ऋग्वेद की ऋक्संख्या की गणना में बहुत प्रकार से भ्रान्त हुए हैं, तथा उन्होंने औरों को भी भ्रान्त किया है।

इस प्रकार ऋग्वेदीया ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार नित्य नैमित्तिक उभयविध द्विपदाओं, तथा बालखिल्य ऋचाओं सहित ऋग्वेद में १०५५२ दस सहस्र पांच सौ बावन ऋचाएं हैं। नैमित्तिक १४० द्विपदाओं को अध्ययनकाल में चतुष्पदा बनाकर (७०) गणना करने पर १०४८२ दस सहस्र चार सौ बयासी ऋचाएं होती हैं।

इस ऋक्संहिता में गत सुदीर्घ काल में एक अक्षर व मात्रा का भी भेद नहीं हुआ। उस अवस्था में ऋक्संख्या में भेद होना तो उपपन्न ही नहीं होता। इस कारण प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों की ऋक्संख्या में जो भेद उपलब्ध होता है, वह सब ऋग्गणना प्रकार के भेद से, शाखा-भेद से तथा गणक विद्वानों के अज्ञान वा प्रमाद के कारण दिखाई पड़ता है। वास्तव में 'अग्निमीळे के 'अ' से 'सुसहासति' तक कहीं अक्षर वर्ण मात्रा स्वर का भी भेद नहीं है॥

o——o

क्या ऋषि मन्त्र-रचयिता थे ?

ब्रिटिश राज्य के प्रारम्भिक काल से स्कूलों और कालेजों के इतिहास-विषयक पाठ्य-ग्रन्थों में पढ़ाया जाता है कि वेदों की रचना ईसा से लगभग २५०० वर्ष पूर्व से १५०० वर्ष पूर्व तक हुई। एतद्देशीय श्री पं० बालगंगाधर तिलक प्रभृति विद्वान् वेदोत्पत्ति काल को ईसा से ५ हजार वर्ष पूर्व तक ले गये। परन्तु ये भी वेदों को विभिन्न ऋषियों के विभिन्न काल में रचे गये मन्त्रों का संग्रह ही मानते हैं, अर्थात् वेद पौरुषेय हैं। इस विषय में ये भी पाश्चात्य विद्वानों के ही अनुगामी हैं।

बौद्ध और जैनमत का प्रादुर्भाव पाश्चात्य ऐतिहासिकों के मतानुसार ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् मन्त्र-रचनाकाल से एक १००० सहस्र वर्ष पश्चात् हुआ। बौद्ध और जैन वेद को अपौरुषेय या स्वत:प्रमाण नहीं मानते। उन्होंने वेदों पर अनेक आक्षेप किये, परन्तु उनमें कहीं पर भी **'वेद ऋषियों द्वारा बनाए गये'** इसके प्रबल प्रमाण देखने को नहीं मिलते। इस प्रमाण अभाव से इतना तो स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वानों की उक्त ऐतिहासिक कल्पना कि मन्त्र ईसा से १५०० वर्ष पूर्व तक बनते रहे, मिथ्या है। यदि वेद बौद्ध और जैनमत के प्रादुर्भाव से १००० वर्ष पूर्व ही रचे गये होते, तो उनको वेद के रचयिता ऋषियों का अवश्य ज्ञान होता, और वे वेद को पौरुषेय सिद्ध करने के लिए इस महास्त्र का प्रयोग अवश्य करते। परन्तु उनके ग्रन्थों में वेद को अप्रमाण और पौरुषेय सिद्ध करने के लिए जो युक्तियां दी गई हैं, वे वे ही युक्तियां हैं, जो पूर्वमीमांसा और न्यायभाष्य आदि ग्रन्थों में पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित की गई हैं। इससे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वेदमत के सब से पुराने विरोधी बौद्ध और जैनमत के विद्वानों को भी वेद के रचयिताओं का वास्तविक ज्ञान नहीं था।

जैन और बौद्धमत के अतिरिक्त जितना भी प्राचीन भारतीय वाङ्मय हैं, उसमें वेद को एक स्वर से **अपौरुषेय** वा **महाभूत** (=परमेश्वर) **निःश्वसित** कहा गया है।

यदि पाश्चात्य ऐतिहासिकों के मतानुसार ऋषियों को वेदमन्त्रों के रचयिता माना जाय, तो कई ऐसी भयंकर ऐतिहासिक उलझने उपस्थित हो जाती हैं, जिनका सुलझाना सर्वथा असम्भव है। उदाहरणार्थ हम यहां दो उलझनों का संकेतमात्र करते हैं—

१. ऋग्वेद की कात्यायन-विरचित ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद के अनेक ऐसे ऋषि हैं, जो प्रायः महाराज युधिष्ठिर के समकालिक हैं। यथा—

घोर आङ्गिरस ऋग्वेद ३।३६।१० का ऋषि है। उसका पुत्र कण्व घोर ऋग्वेद १।३६-४० तथा ६।६४ का ऋषि है। इसी कण्व के ऋक्सर्वानुक्रमानुसार अनेक पुत्र ऋग्वेद के अष्टम मण्डल के कई सूक्तों के ऋषि हैं। अर्थात् घोर आङ्गिरस तथा उसके पुत्र तथा पौत्रों के ऋग्वेद में कई सूक्त हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् (३।१७।६) के अनुसार इसी घोर आङ्गिरस ने देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण को अध्यात्मविद्या का उपदेश दिया था[1]। अतः यह स्पष्ट है कि यह घोर आङ्गिरस तथा उसके पुत्र पौत्रादि महाराज युधिष्ठिर के समकालिक हैं। भगवान् वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन तथा उनके शिष्य जैमिनि प्रभृति भी महाराज युधिष्ठिर के काल में विद्यमान थे, यह सर्वलोकविदित है।

भगवान् कृष्ण द्वैपायन और जैमिनि ने अपने मीमांसाशास्त्र में वेद को न केवल अपौरुषेय ही माना है, अपितु जैमिनि ने वेद के अपौरुषेयत्व पक्ष की प्रयत्नपूर्वक स्थापना भी की है।

अब ऐतिहासिक उलझन उत्पन्न होती है कि जब ऋग्वेद के अनेकों सूक्तों के रचयिता घोर आङ्गिरस तथा उसके पुत्र पौत्र भगवान् कृष्णद्वैपायन और जैमिनि के काल में प्रत्यक्ष विद्यमान थे, तब इन दोनों ने वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने की क्यों चेष्टा की? तथा तात्कालिक विद्वानों नेउनके मिथ्या-प्रलाप को कैसे स्वीकार कर लिया? क्या कोई आधुनिक राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'भारतभारती' को अपौरुषेय सिद्ध करने की चेष्टा कर सकता है? या करने पर भी क्या विद्वत्समाज उसे स्वीकार करेगा?

---

१. तद्धैतद घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाच ।

अस्तु, यह समस्या है ऋषियों को मन्त्र-रचयिता माननेवालों के सामने, जिनका प्रमाणपूर्वक हल करना उनका काम है। मन्त्रद्रष्टृत्ववाद में तो ऐसी कोई समस्या उत्पन्न ही नहीं होती।

२. ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार यह मानना पड़ता है कि ऋग्वेद की पूर्त्ति भारतयुद्ध के आस पास हुई, क्योंकि ऋग्वेद के अनेक ऋषि उसी काल में हैं। परन्तु महाभारत में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख उपलब्ध होते हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि भारतयुद्ध से सहस्रों वर्ष पूर्व भी न केवल ऋग्वेद अपितु षडङ्गपूर्वक चारों वेदों का पठन-पाठन होता था। यथा—

पुरा कृतयुगे राजन्नार्ष्टिषेणो द्विजोत्तमः।
वसन् गुरुकुले नित्यं नित्यमध्ययने रतः॥
तस्य राजन् गुरुकुले वसतो नित्यमेव च।
समाप्तिं नागमद्विद्या नापि वेदा विशाम्यते॥

शल्यपर्व अध्याय ४०।३,४॥

दाशरथि राम के राज्य का वर्णन करते हुए लिखा है—

वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः प्राप्नुवन्ति दिवौकसः। द्रोणपर्व अ० ५९।१५॥

महाराज ययाति देवयानी से कहता है—

ब्रह्मचर्येण कृत्स्नो मे वेदः श्रुतिपथं गतः। आदिपर्व अध्याय ८१।१४॥

महाराज राम के लिये रामायण में लिखा है—

वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः। बालकाण्ड सर्ग १।१४॥

पाश्चात्यमतानुयायी विद्वानों को इस समस्या पर भी गहराई से विचार करना होगा कि भारत युद्धकाल तक जब ऋग्वेद बनता रहा, तब उससे सहस्रों वर्ष पूर्व चारों वेदों के अध्ययन का उल्लेख क्यों मिलता है? **इन वर्णनों को केवल कवि-कल्पना-प्रसूत कहने से पीछा नहीं छूट सकता।** क्योंकि महाभारत का रचयिता वही कृष्ण द्वैपायन है, जिसने वेद की अनेक शाखाओं का प्रवचन किया, और वेदान्तसूत्र रचे। इसी प्रकार महाभारत का प्रवक्ता वैशम्पायन भी वही है, जो कृष्णद्वैपायन का साक्षात् शिष्य और कृष्णयजुर्वेद की विविध शाखाओं का प्रवक्ता है। अतः ऐसे प्रमाणीभूत आचार्य अपने ग्रन्थों में मिथ्या बातों का निर्देश करेंगे, यह कथंचित् भी नहीं माना जा सकता। मन्त्र-द्रष्टृत्ववाद में न कोई ऐतिहासिक कठिनाइयां उपस्थित होती हैं, और न कृष्णद्वैपायन आदि को मिथ्यावादी ही कहना पड़ता है।

अस्तु, क्या ऋषि मन्त्र-रचयिता थे ? इस प्रश्न पर अनेक दृष्टियों से विचार करना आवश्यक है। उन सब दृष्टियों से विचार करने के लिये कई महाग्रन्थों की आवश्यकता है। इसलिये हम आज केवल एक दृष्टि से ही इस प्रश्न पर विचार करते हैं, और वह है—"ऋषियों के लिये **मन्त्रकार या मन्त्रकृत** शब्द का व्यवहार क्यों होता है ?

इसी प्रसङ्ग में हम कुछ ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण भी उपस्थित करेंगे, जिनसे यह स्पष्ट होगा कि **पाश्चात्यमतानुसार जिन ऋषियों को तत्तत् मन्त्रों का रचयिता माना जाता है, उनसे पूर्व भी वे मन्त्र विद्यमान थे।** इन ऐतिहासिक प्रमाणों से तथाकथित मन्त्रकार ऋषियों से पूर्व ही मन्त्रों की सत्ता सिद्ध हो जाने पर "**मन्त्रकार**" या "**मन्त्रकृत्**" शब्द का क्या अभिप्राय है, वा हो सकता है, यह निर्णय करना भी सरल हो जायगा। तदनन्तर प्राचीन वैदिकसाहित्य में मन्त्रकार या मन्त्रकृत् शब्दों का कितने अर्थों में प्रयोग हुआ है, उसका निदर्शन करावेंगे। और अन्त में ऋक्सर्वानुक्रमणी के '**यस्य वाक्यं स ऋषिः**' सूत्र पर विचार करेंगे।

पूर्वपक्ष

वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय नहीं है, अपितु रामायण महाभारतादि के समान मनुष्यों की कृतिमात्र है। भेद केवल इतना ही है कि रामायणादि ग्रन्थ एककर्तृक हैं, जबकि वेद अनेककर्तृक गुरुग्रन्थसाहब के समान है। अर्थात् इनमें भिन्न-भिन्न काल में होनेवाले अनेक ऋषियों की प्रार्थनाओं का संग्रह-मात्र है। उत्तरकालीन साहित्य ने उन्हीं मन्त्र-कर्त्ताओं को आदरार्थ ऋषि की पदवी प्रदान की। कालान्तर में जनता ने उन्हीं मन्त्रकर्त्ता ऋषियों को **मन्त्रद्रष्टा** की पदवी प्रदान कर वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास किया। साधारण मनुष्यों ने उसी प्रकार मान लिया। हमारे इस मन्तव्य की पुष्टि वेदोत्तरकालीन वैदिक तथा लौकिक उभयविध साहित्य से होती है। उनमें से कुछ एक प्रमाण हम उदाहरणरूप में उपस्थित करते हैं—

(१) **देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः, ते ह पाप्मानं नापजघ्निरे। तान् होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्** ॥ ऐ० ब्रा० ६।१ ॥

(२) **शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत्** ॥ ताण्ड्य० ब्रा० १३।३।२४ ॥

(३) **नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यो मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुर्माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम् ।।**

(तैत्ति० आ० ४।१।१)

(४) **नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ।** (शाङ्खा० आ० ७।१)

(५) **यावन्तो वा मन्त्रकृतः ।।** (कात्या० श्रौ० सू० ३।२।६)

(६) **इत ऊर्ध्वान् मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते 'यर्थाषिमन्त्रकृतो वणीते' इति विज्ञायते ।।** (सत्या० श्रौ० सू० २।१।१३)

(७) **दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः ।।** (मान० गृ० सू० १।८।२)

(८) **श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसर्षीणां मन्त्रकृतां बभूव ।।**

(काठ० गृ० सू० ४१।१३)

(९) **कुत्स ऋषिर्भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः ।।**

(निरु० ३।११)

(१०) **यस्य वाक्यं स ऋषिः ।।** (सर्वानुक्र० परि० प्रक० २।४)

(११) **अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ।।**

(रघुवंश ५।४)

इन उपर्युक्त प्रमाणों में स्पष्ट ही ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता कहा गया है। इनसे यह स्पष्ट है कि **जिस-जिस मन्त्र पर जिस-जिस ऋषि का नाम लिखा है, वही-वही उस मन्त्र का रचयिता है।** जैसा कि कात्यायन ने अपनी सर्वानुक्रमणी के परिभाषा-प्रकरण में स्पष्ट कर दिया है—**"यस्य वाक्यं स ऋषिः"** अर्थात् जिसका बनाया मन्त्र है, वही उस मन्त्र का ऋषि है। अतः वेद को अपौरुषेय मानना निराधार एवं अन्धपरम्परामात्र है ।।

उत्तरपक्ष

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त प्रमाणों में जो **'मन्त्रकृत्'** आदि पद आये हैं, वे ही पूर्वपक्षी के मतानुसार वेद को ऋषिप्रणीत सिद्ध करने में सब से अधिक साधक हैं। 'मन्त्रकृत्' शब्द का क्या अर्थ है, इसका प्रयोग ऋषियों के लिये क्यों किया गया, इसकी विवेचना हम आगे चलकर करेंगे। हम पहले कुछ ऐसे हेतु तथा ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करेंगे, जिनसे यह अनायास ही सिद्ध हो जायगा कि ऋषि मन्त्रों के रचयिता नहीं माने जा सकते।

प्रथम हम पूर्वपक्षी के—"जिस-जिस मन्त्र पर जिस-जिस ऋषि का नाम लिखा है, वही-वही उस-उस मन्त्र का रचयिता है" इस कथन की कसौटी पर रगड़कर परीक्षा करेंगे। और यह दिखायेंगे कि यह कथन सर्वथा भ्रममूलक है।

प्रथम हेतु

एक सूक्त के अनेक ऋषि

(क) दो चार छः मनुष्यों ने समानविषयक सर्वथा समानाक्षरों में कोई रचना की हो, इसका उदाहरण संसार की किसी भाषा में नहीं मिलता। विषय एक होते हुए भी रचना-शैली में भेद होना अनिवार्य है। किन्तु वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं, जिनके दो से लेकर सौ तक ऋषि हैं। यथा—

(१) कुमारं कुमारो वृशो वा जान उभौ वा शक्वर्यन्त्यं कंवीत्यृचोऽस्तु वृश एव ॥ (सर्वा० ५।२)

(२) एते कुमार आग्नेयोऽपश्यद्, वसिष्ठ एव वा वृष्टिकामः ॥ (सर्वा० ७।१०१,१०२)

(३) बभ्रुर्दश कश्यपो वा मारीचो द्वैपदम् ॥ (सर्वा० ८।२९)

(४) पन्तं त्र्यस्त्रिंशच्छ्रुतकक्षः सुकक्षो वाऽऽद्यानुष्टुप् ॥ (सर्वा० ८।९२)

(५) गौर्धयति द्वादश बिन्दुः पूतदक्षो वा ॥ (सर्वा० ८।९४)

(६) समिद्ध एकादश काश्यपोऽसितो देवलो वा······॥(सर्वा० ९।५)

(७) अनस्वन्ता षट् त्रैवृष्णपौरुकुत्स्यौ द्वौ त्र्यरुणत्रसदस्यू राजानौ भारतश्चाश्वमेधोऽन्त्यास्तिस्रोऽनुष्टुभो नात्मात्मने दद्यादिति सर्वास्त्रि केचिद-न्त्यैन्द्राग्नी ॥ (सर्वा० ५।२७)

(८) स यो वृषैकोना वार्षगिरा ऋजिष्वाम्बरीषसहदेवभयमान-सुराधसः ॥ (सर्वा० १।१००)

(९) त्यान्नु सैका मत्स्यः साम्मदो मैत्रावरुणिर्मान्यो वा बहवो वा मत्स्या जालनद्धा आदित्यानस्तुवन् ॥ (सर्वा० ८।६७)

(१०) पवस्व शतं वैखानसा अष्टादश्यनुष्टुप्परास्तिस्र आग्नेय्यः ॥ (सर्वानु० ९।६६)

असिद्धगोत्रास्तु पवस्वसूक्तं वैखानसा नाम शतं विदुस्ते ।।

(आर्षानु० ६।१६)

ये उदाहरणार्थ ऋग्वेद के थोड़े से स्थल उपस्थित किये हैं । इनसे स्पष्ट होता है कि ऋषि मन्त्र-रचयिता नहीं हो सकते ।

पूर्वपक्षी—इन उपर्युक्त प्रमाणों से किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि कई ऋषियों ने मिलकर कोई मन्त्र बनाया हो । अपितु जहां कात्यायन को ऋषि नाम में सन्देह हुआ, वहां दो चार छ: के नाम लिखकर 'वा' शब्द लिख दिया । इससे यह भी प्रतीत होता है कि सर्वानुक्रमणीकार के काल तक निश्चित ऐतिहासिक परम्परा टूट गई थी । ऐसी अवस्था में एक सूक्त के विषय में कई नाम लिखना कुछ भी अर्थ नहीं रखता ।

सिद्धान्ती—अपनी इष्टसिद्धि में बाधा देखकर झट कल्पना कर लेना कि 'कात्यायनादि के काल तक ऐतिहासिक परम्परा टूट गई थी,' सर्वथा अयुक्त है । हमारा यह निश्चय है कि उस काल तक ऐतिहासिक शृङ्खला अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी । अत: नामों में किसी प्रकार का भी सन्देह न होते हुए, जो अनेक नाम लिखे हैं, वे हमारे पक्ष के ही पोषक हैं । इसमें एक स्पष्ट प्रमाण भी देते हैं । यास्कीय निरुक्त, जिससे सर्वानुक्रमणीकार के आचार्य शौनक[1] का अच्छा परिचय था,[2] वह अवश्य ही कात्यायन जैसे विद्वान् के पास रहा होगा । तथा जिन ग्रन्थों के आधार पर कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी बनाई, उनमें से बृहद्देवता में भी यास्क का मत स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है[3] । निरुक्त में लिखा है—

"**त्रितं कूपेऽवहितमेतत्सूक्तं प्रतिबभौ**"। (निरुक्त ४।६)

अर्थात् कुएं में पड़े हुए त्रित को यह (ऋ० १।१७५) सूक्त प्रतिभासित हुआ था । इसी तरह बृहद्देवता में भी अ० ३ श्लोक १३२ से १३६ तक

---

१. ननु च एको हि शौनकाचार्यशिष्यो भगवान् कात्यायन:, कथं बहुवचनम् ? ।।वेदार्थ-दीपिका पृ० ५७ ।।

२. देखो—बृहद्देवता २।१११ ।।इत्यादि।

३. बृहद्देवता में उद्धृत यास्क के जो मत निरुक्त में नहीं मिलते, वे सम्भवत: यास्कीय तैत्तिरीयसर्वानुक्रमणी में मिलेंगे । देखो—वैदिक वाङ्मय का इतिहास 'वेदों के भाष्यकार'; पृष्ठ २०४, प्रथम संस्करण । पृष्ठ २०० द्वितीय संस्करण ।

लिखा है । जब निरुक्त तथा बृहद्देवता द्वारा कात्यायन को यह निश्चित मालूम था कि इस सूक्त का रचयिता **त्रित** ही है, पुनः निश्चित होते हुए भी **चन्द्रमा एकोनाप्त्यस्त्रितो वा**…"में 'वा' शब्द का प्रयोग करना क्या हमारे मन्तव्य का पोषक नहीं ? अर्थात् जहां-जहां कात्यायन ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है, वहां सन्देह से नहीं, अपितु निश्चित ज्ञान होते हुए ही किया है, यह मानना पड़ता है । अतः सर्वानुक्रमणी में 'वा' शब्द का अर्थ विकल्प करना उचित नहीं है । 'वा' शब्द केवल विकल्पार्थक ही नहीं, अपितु **'समुच्चयार्थक'** भी है । यथा—

(१) **निरुक्त १।४—'अथापि समुच्चयार्थे भवति—वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा' ॥**

(२) वैजयन्ती कोश पृ० २८४—।

वि निषेधे पृथग्भावे वा विकल्पोपमानयोः ।
समुच्चये चैव पापे च वाक्यारम्भप्रसिद्धयोः ॥

कात्यायन मुनि ने 'वा' शब्द के प्रयोग का अन्य प्रयोजन भी लिखा है—**'ऋषिश्चान्यस्मादृषेरवाविशिष्टः'**(सर्वा० परि० १२।२) । यह सर्वानुक्रमणी के परिभाषा-प्रकरण का सूत्र है । इसका यह अभिप्राय है—**'जहां तक अगले सूत्र में ऋषि का नाम न आवे, वहां तक पूर्व ऋषि नाम के की अनुवृत्ति जाती है । परन्तु 'वा' शब्द विशिष्ट ऋषि के नाम की अनुवृत्ति आगे नहीं जाती**[1] । अर्थात् पूर्वानुवृत्त ऋषि नाम के साथ में 'वा' शब्द विशिष्ट ऋषि नाम का समुच्चय होता है । यथा—**'आप्त्यस्त्रितो वा'** (सर्वा० १।१०५), इसमें 'वा' शब्द विशिष्ट त्रित शब्द है । अतः इसकी अनुवृत्ति **'इन्द्रं मित्रं'** (सर्वा० १।१०६) इत्यादि सूत्रों में नहीं जाती, अपितु पुर्वानुवृत्त कुत्स की ही अनुवृत्ति अगले सूत्रों में जाती है । किन्तु **'आप्त्यस्त्रितो वा'** इस सूक्त में पूर्वानुवृत्त कुत्स के साथ त्रित का समुच्चय ही होता है, विकल्प नहीं । यदि इतने पर भी किसी को सन्तोष न हो, तो वह ऋग्वेद ३।२३; ५।२७; ८।२; ६।६८ की अनुक्रमणी देखें । वहां क्रमशः कात्यायन के वचन निम्न प्रकार हैं—

(१) **निर्मथितो देवश्रवा देववातश्च भारतौ**…॥

---

१. तुलना करो—**'चानुकृष्टं नोत्तरत्र'** इस व्याकरणशास्त्रीय परिभाषा के साथ ॥

(२) ····· त्रैवृष्णपौरुकुत्स्यौ द्वौ त्र्यरुणत्रसदस्यू राजानौ भारतश्चाश्वमेध:·······।।

(३) इदं वसो द्विचत्वारिंशन्मेधातिथिराङ्गिरसश्च प्रियमेध: ·····।।

(४) अभि नो द्वादशाम्बरीष ऋजिष्वा च ···· ।।

यहां निश्चय ही 'च' शब्द समुच्चयार्थक है । शौनकीय आर्षानुक्रमणी में ऋ० ९।९८ के सम्बन्ध में और भी स्पष्ट लिखा है—

अम्बरीषोऽभि न: सूक्ते मान्धातृतनयस्तथा ।
भारद्वाज ऋजिष्वा च तावेतौ सहितावृषी ।। आर्षा० ९।३५।।

उक्त श्लोक में शौनक ने 'तावेतौ सहितावृषी' पदों द्वारा 'च' शब्द के समुच्चयार्थकत्व में किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं रहने दिया ।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जहां-जहां कात्यायन ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है । वहां-वहां पुर्वानुवृत्त ऋषि के साथ 'वा' विशिष्ट ऋषि नाम का समुच्चय होता है । तथा अनेक ऐसे भी स्थल हैं, जहां कात्यायन की सर्वानुक्रमणी में 'वा' शब्द है, उसके स्थान में शौनक की आर्षानुक्रमणी में 'च' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो कि हमारे मन्तव्य का ही साधक है । यथा—

(१) पान्तं त्र्यर्धस्त्रिंशच्छ्रुतकक्ष: सुकक्षो वा ।। (सर्वा० ८।९२)
श्रुतकक्ष: सुकक्षश्च तावप्यङ्गिरस: सुतौ ।
पान्तं मा वा इति त्वस्य तावृषी अवगम्यताम् ।।
(आर्षा० ८।४०)

(२) चन्द्रमा एकोनाप्त्यस्त्रितो वा ·····।। (सर्वा० १।१०५)
चन्द्रमा सूक्तमाद्यं च त्रितं प्रतिबभावृषिम् ।। (आर्षानुक्रमणी[1])

इससे भी यही सिद्ध हुआ कि कात्यायन का 'वा' शब्द तथा शौनक का 'च' शब्द दोनों एकार्थ के ही बोधक हैं । अत: यह मानना पड़ेगा कि 'एक सूक्त के अनेक ऋषि हैं' ।।

---

१. आर्षानुक्रमणी का यह पाठ सर्वानुक्रमणी के टीकाकार षड्गुरुशिष्य ने (वेदार्थदीपिका पृष्ठ १२ पर उद्धृत किया है । कलकत्ता मुद्रित आर्षानुक्रमणी में इस प्रकार पाठ है—चन्द्रमा इति सूक्तस्य त्रित आप्त्योऽथवा ऋषि: ।। पृष्ठ २४३।।

पूर्वपक्षी—उपर्युक्त समस्त प्रमाण सूक्तविषयक दिये हैं। सम्भव है उन सूक्तों में कुछ मन्त्र किसी एक ने बनाये हों, कुछ अन्य ने। किन्तु सर्वानुक्रमणीकार ने सब के नाम मिलाकर ही लिख दिये हों। अत: इतने मात्र से ऋषियों का मन्त्रकर्तृत्व नहीं हट सकता।

सिद्धान्ती—यदि पूर्वपक्षी किसी प्रकार भी यह सिद्ध कर देवे कि अमुक सूक्त के इतने मन्त्र किसी एक ने बनाये तथा इतने अन्य ने, किन्तु कात्यायन आदि ने सब का नाम समानरूप से एक सूक्त के विषय में लिख दिया, तब तो ठीक है, अन्यथा कात्यायन जैसे प्रामाणिक आचार्य पर ऐसा मिथ्या अभियोग लगाना सर्वथा अनुचित है। अभ्युपगमवाद से तुम्हारा कथन स्वीकार कर भी लें, तो भी "**पवस्व शतं वैखानसा:**···" (सर्वा० ९।६६) अर्थात् '**पवस्व**' प्रतीकवाले सूक्त के १०० वैखानस ऋषि हैं, इसकी क्या गति होगी? क्योंकि इस सूक्त में केवल ३० ही मन्त्र हैं। इसलिये इसका यही अर्थ करना पड़ेगा कि इस सूक्त को १०० ऋषियों ने देखा। इतना ही नहीं, अपितु जहां किसी सूक्त को कई ऋषियों ने मिलकर देखा, वहां कात्यायन ने स्पष्ट पृथक्-पृथक् निर्देश कर दिया है कि इस सूक्त के इतने मन्त्र अमुक ने देखे, इतने अमुक ने। यथा—

(१) **इन्द्रमच्छ षलूनाग्निश्चाक्षुषश्चक्षुर्मानवो मनुराप्सव इति तृचा:, पञ्चाग्नि: ॥** (सर्वा० ९।१०६)

अर्थात् '**इन्द्रमच्छ**' प्रतीकवाले सूक्त में १४ मन्त्र हैं। उनमें से यथाक्रम चाक्षुष अग्नि, मानव चक्षु, तथा आप्सव मनु ने तीन-तीन मन्त्र देखे, शेष पांच मन्त्र अग्नि ने।

(२) **अग्ने त्वं गौपायना लौपायना वा बन्धु: सुबन्धु: श्रुतबन्धुर्विप्रबन्धुश्चैकर्चा द्वैपदम् ॥** (सर्वा० ५।२४)

इसकी टीका करते हुए षड्गुरुशिष्य ने लिखा है—

"**बन्ध्वादयश्चत्वार ऋषयो यथाक्रममेकर्चा:**[१]।

एका ऋग्दृश्या यस्य स एकर्च:।"

अर्थात् बन्ध्वादि चार ऋषियों ने क्रम से एक-एक ऋचा देखी। इस सूक्त में चार ही मन्त्र हैं।

---

१. सर्वानुक्रमणीकार के मत में ये द्विपदाएं हैं। अध्ययनकाल में दो दो द्विपदा की एक-एक ऋचा मानी जाती है। द्र०—पूर्व पृष्ठ २६८-२६९।

(३) **उत्तिष्ठतैकर्चाः शिबिरौशीनरः काशिराजः प्रतर्दनो रौहिदश्वो वसुमना आद्यानुष्टुप्** । (सर्वा० १०।१७९)

(४) **प्रथश्चैकर्चाः प्रथो वासिष्ठः सप्रथो भारद्वाजो घर्मः सौर्यो वैश्वदेवम्** ।। (सर्वा० १०।१८१)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध हुआ कि उपर्युक्त सूक्तों को, जिन पर अनेक ऋषियों के नाम लिखे हैं, अनेक ऋषियों ने मिलकर भी नहीं बनाया। इस लिये यह मानना पड़ेगा कि वे सब ऋषि सम्पूर्ण सूक्त के हैं, एक-एक भाग के नहीं।

ऋग्वेदभाष्यकार माधव का मत—माधव (=वेङ्कटमाधव) अपने ऋग्वेद के बृहद्भाष्य में एक सूक्त के बहुत ऋषियों के सम्बन्ध में लिखता है—**'बह्वृषिकेषु सूक्तेषु एकः प्रधानो द्रष्टा । अन्ये तु प्रोत्साहकाः । अजमेढस्तु पुरुमीढं स्तुहि इत्येतावद्रुवाचेति शाट्यायनोक्तम्'** ।। मद्रास सं० भाग २, पृ० ६६१ ।

यह माधवोक्त पक्ष भी हमें जंचता नहीं है।

एक मन्त्र के अनेक ऋषि

(ख) चारों वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जो अर्थभेद से कई बार आये हैं। यदि पूर्वपक्षी के कथनानुसार वेद ऋषियों की कृतियों का संग्रहमात्र होवें, तो सर्वत्र तत् तत् मन्त्र का ऋषि भी समान ही होना चाहिये । किन्तु स्पष्ट ही उन मन्त्रों के भिन्न-भिन्न ऋषि हैं। यथा—

(१)	अथर्ववेद	१।४।१-३	सिन्धुद्वीप	ऋग्वेद १।२३।१६-१८	मेधातिथि काण्व ।
(२)	,,	१।५।१-४ १।६।१-३	,,	,, १०।९।१-७	त्रिशिरा तथा सिन्धुद्वीप । सातवें मन्त्र का ऋषि १।२३।२१ में मेधातिथि है।
(३)	,,	१।२०।४	अथर्वा	ऋग्वेद १०।१५२।१	शास भारद्वाज
(४)	,,	१।२१।१-४	,,	,, १०।१५२।२-५	,,
(५)	,,	२।३३।१,२,५	,,	,, १०।१६३। १,२,४	विवृंहा काश्यप
(६)	अथर्ववेद	४।१५।१३	,,	अथर्ववेद ७।१०३।१	वसिष्ठ

(७)	ऋग्वेद १।१३९।११	परुच्छेप	यजुर्वेद ७।१९	वत्सार काश्यप
(८)	,, १।११५।१	कुत्स	,, १३।४६	विरूप
(९)	,, १।२२।१९	मेधातिथि	,, १३।३३	गोतम
(१०)	,, १।१३।१९	,,	ऋग्वेद ५।५।८	वसुश्रुत
(११)	,, १।२३।२१-२३	,,	,, १०।९।७-९	त्रिशिरा, तथा सिन्धुद्वीप

नोट—यह तालिका अजमेरमुद्रित मूल ऋग्वेद, तथा सभाष्य यजुर्वेद के अनुसार है। और अथर्ववेद के ऋषि बृहत्सर्वानुक्रमणी से लिये गये हैं।

यद्यपि इस तरह के बहुत से प्रमाण दिये जा सकते हैं, तथापि यहां थोड़े से उदाहरणमात्र लिखे हैं। पूर्वपक्षी के पास इस दोष का कोई समाधान नहीं। अतः अन्त में यही मानना पड़ेगा कि ये ऋषिगण मन्त्रों के रचयिता नहीं, अपितु द्रष्टामात्र हैं। बस यही एकमात्र इस दोष का समाधान हो सकता है॥

द्वितीय हेतु

मन्त्र रचना-काल से पूर्व मन्त्र की विद्यमानता

ऋषियों को मन्त्र-रचयिता मानने में यह अवश्य ही मानना पड़ेगा कि जिस मन्त्र की जिस ऋषि ने जिस काल में रचना की, वह मन्त्र उस से पूर्व विद्यमान नहीं था। यदि किसी प्रकार पूर्वपक्षी के मतानुसार जो मन्त्र रचना-काल है, उससे पूर्व उन मन्त्रों की विद्यमानता सिद्ध हो जावे, तो सारा का सारा मन्त्रकर्तृत्ववाद तथा तदाश्रित अनित्यैतिह्यवाद धूल में मिल जावेगा। अब यह विचारना शेष है कि क्या जो मन्त्र-रचयिता माने जाते हैं, उन से पूर्व मन्त्र विद्यमान थे या नहीं? हम कहेंगे अवश्य थे। अब हम इस विषय में कुछ ऐतिहासिक प्रमाण उपस्थित करते हैं—

प्रथम प्रमाण

'कस्य नूनम्' और शुनःशेप

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २४ वें की अति प्रसिद्ध ऋचा "**कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्**" का ऋषि सर्वानुक्रमणी में इस प्रकार लिखा है—"**कस्य पञ्चोनाजीगर्त्तिः शुनःशेपः स कृत्रिमो देवरातो**······। अर्थात् '**कस्य नूनं**' इस १५ मन्त्रवाले सूक्त का अजीगर्त का पुत्र शुनःशेप ऋषि है, वह विश्वामित्र का

देवरात नामक कृत्रिम पुत्र था··· - । ऐतरेय ब्राह्मण में शुनःशेप की कथा इस प्रकार लिखी है—

सो (रोहितः)ऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्य उपेयाय । तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः शुनःपुच्छः शुनःशेपः शुनोलाङ्गूल इति ।। तं होवाच ऋषेऽहं ते शतं ददाम्यहमेषामेकेनाऽऽत्मानं निष्क्रीणा इति ।। स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच नन्विमिति नो एवेमर्मिति, कनिष्ठं माता । तौ ह मध्यमे सम्पादयाञ्चक्रतुः शुनःशेपे, तस्य ह शतं दत्त्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय ·····। तस्य ह विश्वामित्रो होताऽऽसीज्जमदग्निरध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्माऽयास्य उद्गाता ।। तस्मा उपकृताय नियोक्तारं न विविदुः, स होवाचाऽजीगर्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं नियोक्ष्यामि इति, तस्मा अपरं शतं ददुस्तं स नियुयोज ।। तस्मा उपाकृताय नियुक्तायाऽऽप्रीताय पर्यग्निकृताय विशसितारं न विविदुः, स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं विशसिष्यामि इति । तस्मा अपरं शतं ददुः, सोऽसिं निःशान एयाय । अथ ह शुनःशेप ईक्षाञ्चक्रेऽमानुषमिव वै मा विशसिष्यन्ति, हन्ताहं देवता उपधावामीति, स प्रजापतिमेव प्रथमं देवतानामुपससार 'कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्' इत्येतयर्चा ।। (ऐत०ब्रा० ३३।३,४)

इस सम्पूर्ण कथा का सारांश यह है—हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहिताश्व जङ्गल में क्षुधा से पीड़ित सुयवस के पुत्र अजीगर्त ऋषि के पास गया। अजीगर्त के शुन:पुच्छ: शुन:शेप शुनोलाङ्गूल नामक तीन पुत्र थे। रोहित ने ऋषि से कहा कि एक लड़के को १०० सौ गायों के बदले दे दो। बड़े पुत्र के लिये पिता ने मना कर दिया, छोटे के लिये माता ने। अतः मध्यम लड़के (=शुन:शेप) को उन दोनों ने रोहित के हाथ बेच दिया। हरिश्चन्द्र के यज्ञ में विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा, और अयास्य उद्गाता थे। जब शुन.शेप को यूप में बांधने का समय आया, तब बांधनेवाला कोई पुरुष नहीं मिला। ऐसी अवस्था में अजीगर्त ने कहा कि मुझे १०० गौवें और दी जावें, तो मैं बांधता हूं। तदनन्तर जब मारने का समय आया, तब भी किसी अन्य के न मिलने पर अजीगर्त ने ही १०० सौ गौवों के बदले मारना स्वीकार कर लिया। इस समय शुन.शेप ने विचारा कि मुझे यह पशु की तरह मारेंगे, इसलिये देवताओं की शरण जाता हूं। उसने देवों में प्रधान प्रजापति की 'कस्य नूनं' ऋचा द्वारा रक्षा के लिये प्रार्थना की···इत्यादि।

इसी प्रकार की कथा षड्गुरुशिष्य ने भी 'वेदार्थदीपिका' में लिखी है।

[सर्वा० टी० पृ० ८४-८६]

नोट—इस प्रकरण में हम अन्य भी इसी प्रकार की कथाएं उद्धृत करेंगे। जिनका अभिप्राय प्रकृतविषय में पूर्वपक्षी के मतानुसार वास्तविक घटना मानकर उस-उस घटना से पूर्व मन्त्र की सत्ता का सिद्ध करना मात्र है। इन कथाओं का वास्तविक स्वरूप क्या है? क्या वैदिक ऋषिगण ऐसा घृणित कार्य करने को उद्यत रहते थे? आदि का विवेचन यहां नहीं किया जायगा, क्योंकि यह इस निबन्ध का विषय नहीं है।[1] इस विषय के लिये एक स्वतन्त्र वृहदाकार निबन्ध की आवश्यकता है। इसी प्रकार की बहुत सी कथाओं क अत्युत्तम सङ्गति आर्यसमाज के प्रमुख विद्वान् स्वर्गीय श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' में दर्शाई है, जो प्रत्येक वेदप्रेमी के देखने योग्य है।

इस कथा से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) **अजीगर्त** किसी दुर्भिक्ष के समय जङ्गल में क्षुधा से पीड़ित था।

(२) उसके पिता का नाम **सुयवस** था।

(३) उसके **शुनःपुच्छ, शुनःशेप, शूनोलाङ्गूल** नामवाले तीन पुत्र थे।

(४) अजीगर्त को हरिश्चन्द्र के यज्ञ में कुल मिलाकर ३०० गायें मिली थीं।

(५) जब मारने का समय आया, तब शुनःशेष ने **'कस्य नूनं'** इस मन्त्र द्वारा प्रथम देवों में प्रधान प्रजापति की प्रार्थना की थी, इत्यादि।

'कस्य नूनं' और अजीगर्त

इसी मन्त्र की व्याख्या करते हुए वररुचि ने, जिस का समय न्यूनातिन्यून विक्रम की ७वीं शताब्दि है[2], अपने 'निरुक्त-समुच्चय' ग्रन्थ में लिखा है—

---

१. ऐतरेय ब्राह्मणोक्त शुनःशेप की कथा के तात्पर्य का वर्णन हमने वेदवाणी वर्ष २५ अंक १, पृष्ठ ५, कालम २ की सम्पादकीय टिप्पणी में किया है। पाठक उसे देखें।

२. अधिक सम्भव है कि वररुचि अतिप्राचीन ग्रन्थकार हो, किन्तु हम अभी यह वर्णन कर सके हैं कि यह स्कन्द स्वामी से पूर्ववर्त्ती है। देखो—मेरे द्वारा सम्पादित निरुक्त-समुच्चय की भूमिका पृष्ठ १-३, संस्करण २॥

अस्याः प्रथमं तावदाख्यानं प्रस्तूयते—अजीगर्तो नाम ब्रह्मर्षिः सुवचस्य (?) सूनुः पुत्रदारसहितो दुर्भिक्षे क्षुधया पीड्यमानो निरतिशयतपो महाभाग्ययुक्तः प्राधान्यात् प्रजापतिमेव देवानां मध्ये प्रथमं प्रार्थयते—'कस्य नूनम्' इति ॥ (निरुक्त-समुच्चय पृष्ठ ७७)

अर्थात्—इस मन्त्र का पहिले आख्यान(=इतिहास)लिखते हैं। ब्रह्मर्षि सुवच (?)का अतिशय तपस्वी तथा महाभाग्यवाला अजीगर्त नामक पुत्र स्त्री-पुत्र सहित दुर्भिक्ष में क्षुधा से पीड़ित होकर देवों में प्रथम प्रजापति की प्रार्थना करता है—'कस्य नूनम्' इत्यादि मन्त्र द्वारा।

इस कथा से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) अजीगर्त्त किसी दुर्भिक्ष के समय क्षुधा से पीड़ित था।

(२) अजीगर्त्त के पिता का नाम **सुवच** (?) था।

(३) उसने प्राणरक्षा के लिये प्रथम देवों में प्रधान देव प्रजापति की 'कस्य नूनम्' मन्त्र द्वारा प्रार्थना की थी।

टिप्पणी—निरुक्त-समुच्चय में अजीगर्त के पिता का नाम **सुवच** लिखा है। सम्भव है यहां **सुयवस** ही हो,जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है। इसका हस्तलेख अति अशुद्ध तथा स्थान-स्थान पर खण्डित है। अत: सम्भव है, यहां लेखक-दोष से ही सुयवस में यकार का लोप तथा सकार के स्थान पर चकार हो गया हो।

निरुक्त समुच्चय के इस लेख को हम कल्पित भी नहीं कह सकते। क्योंकि वररुचि नैरुक्त सम्प्रदाय का प्रामाणिक पुरुष है, इसकी प्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि उस के ग्रन्थ को ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार स्कन्दस्वामी ने अपने निरुक्त-भाष्य में उद्धृत किया है।[1]

---

१. तुलना करो—नैरुक्तपक्षे तु पुरुरवा मध्यमस्थानः वाय्वादीनामेक-(त्वात् ! तमः) पुरु रौतीति पुरुरवा, उर्वशी विद्युत्। (निरुक्तसमु० पृष्ठ ८५, द्वि० संस्करण)

अत्र च नित्यपक्षे केचित् उर्वशी विद्युत्, वायुः पुरुरवा इति मन्यन्ते। (स्कन्द स्वामी निरुक्तभाष्य भाष्य० २ पृष्ठ ३४३)। इस विषय में जो अधिक देखना चाहें, वे मेरे द्वारा सम्पादित 'निरुक्त-समुच्चय' की भूमिका में देखें।

इन दोनों आख्यानों की तुलना करने पर यह सहजतया जाना जा सकता है कि एक ही **'कस्य नूनं'** ऋचा द्वारा दोनों ही पिता-पुत्रों ने भिन्न-भिन्न काल में रक्षा के लिये प्रजापति की प्रार्थना की थी। उपर्युक्त मन्त्र शुनःशेप के पिता अजीगर्त के समय उपस्थित ही नहीं था, अपितु इस मन्त्र द्वारा अजीगर्त्त ने प्राणरक्षार्थ परमेश्वर की प्रार्थना भी की थी। पुनःइन मन्त्रों को शुनःशेप द्वारा हरिश्चन्द्र के याग में निर्मित मानना अज्ञानता नहीं तो और क्या है ?

पूर्वपक्षी—शुनःशेप ने जब इस मन्त्र को बना लिया होगा, तदनन्तर अजीगर्त ने इसी मन्त्र के द्वारा प्रार्थना की होगी।

सिद्धान्ती—यह कहना केवल दुराग्रहमात्र है। जब यह स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मणानुसार शुनःशेप ने हरिश्चन्द्र के याग में प्रार्थना की थी, बस पूर्वपक्ष में यही काल मन्त्र बनाने का भी मानना पड़ेगा। किन्तु निरुक्त-समुच्चय के पाठ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अजीगर्त ने हरिश्चन्द्र के यज्ञ से पूर्व ही इसी मन्त्र द्वारा प्रजापति की प्रार्थना की थी। अजीगर्त का हरिश्चन्द्र के यागान्तर इस मन्त्र से प्रार्थना करना भी नहीं बन सकता। क्योंकि उस यज्ञ में उसे सब मिलाकर ३०० तीन सौ गायें मिल चुकी थीं। अतः याग हो चुकने के पश्चात् प्रार्थना करने का प्रयोजन ही क्या ? अतः क्या सिद्ध हुआ कि उक्त मन्त्र तथा तत्सहपठित अन्य मन्त्र, पूर्वपक्षानुसार सम्भावित मन्त्रनिर्माण-काल से पूर्व वर्तमान थे। इसलिये शुनःशेप द्वारा इसका हरिश्चन्द्र के याग में बनाया जाना किसी प्रकार भी नहीं बन सकता। शुनःशेप ने इन्हें उक्त यज्ञ से पूर्व ही बनाया हो, इसमें न कोई प्रमाण ही है और न ही पूर्वपक्षी को यह अभिमत है।

इसलिये इन कथाओं से यह सिद्ध हुआ कि यह मन्त्र तथा तत्सम्बन्धी अन्य मन्त्र, जिनका ऋषि सर्वानुक्रमण्यनुसार **शुनःशेप** है, उनका कर्त्ता शुनःशेप तथा **अजीगर्त** में से अन्यतर कोई भी नहीं है। ये सब मन्त्र आरम्भ-काल से इसी रूप रूप में चले आ रहे थे। कालान्तर में इन्हीं मन्त्रों द्वारा शुनःशेप तथा अजीगर्त्त दोनों ने ही दुःख-निवारणार्थ प्रजापति की प्रार्थना की, तथा मन्त्रार्थ का साक्षात्कार किया। निरुक्त-समुच्चयान्तर्गत **'प्रथमं प्रार्थयते'** पद विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे यह अभिव्यक्त हो रहा है कि अजीगर्त ने अगले मन्त्रों से भी यथाक्रम अग्नि आदि देवों की प्रार्थना की थी। अतः समस्त सूक्तगत मन्त्रों का कर्त्ता कोई ऋषिविशेष नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

दूसरा प्रमाण

'अयं सो अग्निः' और विश्वामित्र

ऋग्वेद के तृतीय मण्डलान्तर्गत २२वें सूक्त **"अयं सो अग्निः"** के विषय में तैत्तिरीयसंहिता तथा काठकसंहिता में लिखा है—

अय ँ सो अग्निरित्येतद्विश्वामित्रस्य सूक्तम् । तै० सं० ५।२।३।।

पूर्वपक्षानुसार इस वाक्य का अर्थ होगा—**'अयं सो अग्निः'**इस प्रतीकवाले सूक्त को विश्वामित्र ने बनाया।

'अयं सो अग्निः' और गाथी

सर्वानुक्रमणी द्वारा हमें यह मालूम है कि यह सूक्त विश्वामित्र के पिता गाथी (=गाधी) के समय भी विद्यमान था। सर्वानुक्रमणी में लिखा है **"अयं स उपान्त्यानुष्टुप्पुरीष्येभ्योऽग्निभ्यः"** (सर्वा० ३।२२)। इस सूत्र में १९ वें सूत्र से गाथी की अनुवृत्ति आ रही है। आर्षानुक्रमणी में भी निम्न-प्रकार लिखा है—

अग्निं होतारमारभ्य गाथी नाम स कौशिकः ।
सूक्तान्यपश्यच्चत्वारि सूक्ते निर्मथिते परे ।। आर्षा० ३।४।।

अर्थात्—**'अग्निं होतारं'** (३।१९) प्रतीकवाले १९ वें सूक्त से २२वें सूक्त तक ४सूक्त गाथी कौशिक ने देखे। यहां यह भी स्मरण रहे कि **'सूक्तान्यपश्यत्'** में दृश् धातु का ही प्रयोग किया है, **कृञ्** का नहीं।

जब इस सूक्त के द्रष्टा विश्वामित्र के पिता गाथी भी हैं, तब यह सूक्त विश्वामित्र का बनाया है, ऐसा कहना सर्वथा मूर्खता है ।।

तृतीय प्रमाण

नाभानेदिष्ठ और यदु तथा तुर्वशु

ऋग्वेद म० १० सूक्त ६१, ६२ का ऋषि सर्वानुक्रमण्यनुसार **मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ** है। ६२ वें सूक्त के १० वें मन्त्र में **'यदु'** और तुर्व नाम आते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

उत दासा परिविषे स्मद्दिष्टी गोपरीणसा । यदुस्तुर्वश्च मामहे ।।

पाश्चात्य मतानुसार **यदु और तुर्वशु** ये दो राजा थे। दोनों की परस्पर मित्रता थी। ऋग्वेद में यदु तथा तुर्वशु नाम प्राय: साथ-साथ आते हैं। प्रकृत मन्त्र में **'तुर्वशु'** के **'शु'** अक्षर का छान्दस लोप होकर **'तुर्व'** शब्द शेष रह गया है। महाभारत आदि में यही नाम तुर्वशु या तुर्वसु रूप में मिलता है। इस मन्त्र का देवता **'सावर्णि मनु की दानस्तुति'** है। उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करता हुआ सायण भी लिखता है—**"यदुश्च तुर्वश्च एतन्नामानौ राजर्षी"**। अब हमें यह विचारना चाहिये कि यदु तथा तुर्वशु दोनों राजा किस समय में हुए थे। इसके पता लगाते ही सारी ग्रन्थि सुलझ जायेगी।

यदु और तुर्वशु का काल

महाभारतानुसार यदु तथा तुर्वशु मनु की छठी पीढ़ी में हुए थे। देखो—महाभारत आदिपर्व अध्याय ९५—

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनु-
र्मनोरिला इलायाः पुरुरवाः।
पुरुरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद्ययाति-
र्ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः॥ ७॥
उनशसो दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्मिष्ठा नाम।
अत्रानुवंशश्लोको भवति॥८॥

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत।
द्रुह्युं चानुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी॥९॥

अर्थात्—दक्ष से अदिति, अदिति से विवस्वान्, विवस्वान् से मनु, मनु से इला नाम की कन्या, इला से पुरुरवा, पुरुरवा से आयु:, आयु: से नहुष, नहुष से ययाति। ययाति की दो स्त्रियां थीं—एक उशना की लड़की देवयानी, द्वितीय वृषपर्वा की दुहिता शर्मिष्ठा। देवयानी से यदु तथा तुर्वसु नाम के दो लड़के हुए। शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु तथा पुरु तीन लड़के हुए। पूर्वपक्षी के मतानुसार महाभारतीय तुर्वसु व्यक्ति ही वेद का तुर्वश है।

इला 'नाभानेदिष्ठ' की बहन थी। नाभानेदिष्ठ मनु का पुत्र था। देखो महाभारत आदिपर्व अ० ७५, श्लोक १५-१७।

वेनुं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च।
कारूषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम्॥

पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ।
नाभानेदिष्ठं दशमं मनोः पुत्रान् प्रचक्षते ॥

अब यहां यह विचारणीय है कि मनु की **प्रथम पीढ़ी में नाभानेदिष्ठ** हुआ। उसने ऋग्वेद म० १० के ६१ तथा ६२ सूक्त बनाये। **यदु तथा तुर्वश मनु की छठी पीढ़ी में** हुए। नाभानेदिष्ठ के काल में उनका नामोनिशान भी न था। पुनः नाभानेदिष्ठ ने अपनी रचना में उनके नाम कैसे लिये ? यदि मन्त्र में मनु की छठी पीढ़ी में होनेवाले यदु तुर्वश ही अभिप्रेत हों, तो उसका कर्त्ता नाभानेदिष्ठ नहीं हो सकता। यदि नाभानेदिष्ठ की ही कृति अभिप्रेत हो, तो भावी काल में होनेवाले यदु तथा तुर्वसु नामक राजाओं का वर्णन उपर्युक्त मन्त्र में नहीं हो सकता। **"उभयतःपाशा रज्जुः"** वाली लोकोक्ति चरितार्थ होगी। एक पक्ष अवश्य छोड़ना पड़ेगा।

पूर्वपक्षी—वैदिक काल में मनुष्यों की आयु बहुत अधिक होती थी, अतः सम्भव है कि जब यदु और तुर्वशु उत्पन्न हो गये होंगे, तो तब नाभानेदिष्ठ ने ये सूक्त रचे होंगे।

सिद्धान्ती—तुम्हारी यह कल्पना ठीक नहीं। क्योंकि तुम्हारे पास कोई प्रमाण नहीं कि नाभानेदिष्ठ ने ये सूक्त अपनी आयु के अन्तिम भाग में रचे थे। इसके विपरीत हम ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ के प्रमाण[1] से सुनिश्चित रूप से जानते हैं कि नाभानेदिष्ठ को गुरुकुल से वापस आने पर उसके पिता मनु से दायभाग रूप में ये दोनों सूक्त प्राप्त हुए थे। उस काल में यदु और तुर्वशु अभी उत्पन्न भी नहीं हुए थे। पुनः नाभानेदिष्ठ के मन्त्रों में यदु और तुर्वशु का नाम कैसे आया ? अतः इसका वास्तविक समाधान वेद को अपौरुषेय माने विना तीन काल में भी नहीं हो सकता। उपर्युक्त प्रमाणों से भी यही सिद्ध हुआ कि ये सूक्त नाभानेदिष्ठ की कृति भी नहीं माने जा सकते। और इस मन्त्र में आये यदु तथा तुर्वशु शब्द भी किसी व्यक्तिविशेष के वाचक नहीं, अपितु मनुष्य-मात्र के पर्याय हैं। देखो—निघण्टु २।३।।···**व्राताः । तुर्वशाः । द्रुह्यवः । यदवः । अनवः । पूरवः । ·········इति पञ्चविंशतिर्मनुष्य-नामानि ।**[2] अतः सायण का भी **'यदुश्च तुर्वश्च एतन्नामकौ राजर्षी'** लेख प्रलापमात्र है।

---

१. नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं···स पितरमेत्याब्रवीत् ।

२. वेद में इतिहास माननेवाले व्यक्ति निघण्टु २।३ में पठित समस्त

चतुर्थ प्रमाण

ऋग्वेद मं० ३ सूक्त ३३ वें के पहले मन्त्र में "**विपाट्छुतुद्री**" पद आया है। इस सूक्त का ऋषि सर्वानुक्रमण्यनुसार विश्वामित्र है। देखो—सर्वानुक्रमणी पृ० १५—"**प्रपर्वतानां सप्तोना संवादो नदीभिर्विश्वामित्रस्योत्तितीर्षोस्तत्र इत्यादि।**" आर्षानुक्रमणी ३।६ में लिखा है—

प्रपर्वतानामित्यस्मिन् विपाडित्येवमादिभिः।
नदीभिः सह संवादो विश्वामित्रस्योत्तितीर्षोः ।।

दोनों ग्रन्थों में ही विश्वामित्र का नदी के साथ संवाद करना लिखा है। क्या वेद में इतिहास माननेवाले इसका कोई उत्तर दे सकते हैं कि जड़ नदी ने विश्वामित्र के साथ किस तरह संवाद किया था? वह संवाद किस कारण तथा किस काल में हुआ था? इसका उत्तर इन ग्रन्थों में कुछ भी नहीं मिलता। हां, निरुक्त २।२४ से अवश्य कुछ थोड़ा सा प्रकाश इस विषय पर पड़ता है। यास्क मुनि लिखते हैं—

तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव······। स वित्तं गृहीत्वा विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदमाययौ। अनुययुरितरे। स विश्वमित्रो नदीस्तुष्टाव गाधा भवत इति।

अर्थात्—इस विषय में इतिहास कहा जाता है—कि विश्वामित्र ऋषि पिजवन के पुत्र सुदाः(सुदास) राजा के पुरोहित थे। पुरोहिताई से मिला धन लेकर विपाट् और शुतुद्री के सङ्गम पर आये। लुटेरे चोर डाकुओं ने इन का पीछा किया। विश्वामित्र ने नदियों की स्तुति कर कहा कि तुम गाध=थोड़े जलवाली हो जाओ।

बृहद्देवता (४।१०५, १०६) में भी ऐसी ही कथा लिखी है—

मनुष्यनामों को मनुष्यमात्र का वाचक नहीं मानते। उनके मत में "तुर्वशाः, द्रुह्यवः, यदवः, अनवः, पूरवः" नाम ययाति के पुत्र तुर्वशु, द्रुह्यु, यदु, अनु, और पुरु के वंशजों के वाचक हैं, न कि मनुष्यमात्र के। यह कल्पना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि यास्क ने स्वयं निघण्टुपठित इन नामों में से '**पूरवः**' पद की व्याख्या करते हुए लिखा है—'**पूरवः पूरयितव्याः मनुष्या**' (निरु० ७।२३)। यदि यास्क को स्वनिघण्टुपठित 'पूरवः' पद का अर्थ 'पुरु' का वंशज अभिप्रेत होता, तो '**पूरवः पुरो राजर्षेरपत्यानि**' ऐसा अर्थ करता। इससे यह स्पष्ट है कि ये नाम व्यक्तिविशेष के वंशजों के वाचक नहीं हैं।

सूक्तं प्रेति तु नद्यश्च विश्वामित्रः समूदिरे ।
पुरोहितः सन्निज्यार्थं सुदासा सह यन्नृषिः ।
विपाट्छुतुद्र्योः सम्भेदं शमित्येते उवाच ह ।।

यहां पर भी वैदिक शब्द कुछ स्वरूपभेद से लौकिक साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं । यथा—विपाट्=विपाशा, शुतुद्री=शतद्रु, सुदाः=सुदास ।

इतिहास देखने से मालूम होता है कि राजा **सुदाः या सुदास** अयोध्या के महाराज ऋतुपर्ण के पुत्र थे । भागवत में लिखा है—

ऋतुपर्णो नलसखो योऽश्वविद्यामयान्नलात् । दत्त्वाक्षहृदयं चास्मै सर्वकाम-स्तु तत्सुतः ।। ततः सुदासः······(भाग० स्क० ९। अ० ९। श्लोक १७, १८)

ऐसा ही टी० आ० कृष्णाचार्य मुद्रापित महाभारत आदिपर्व अ० १२८, श्लोक ४९ में लिखा है । देखो—महाभारत वर्णानुक्रमणी पृ० १९४—

"सौदासः क्षत्रियः ऋतुपर्णपुत्रस्य सुदासस्य पुत्रः ।"

निरुक्त में सुदास के पिता का नाम '**पिजवन**' लिखा है । राजा **ऋतुपर्ण** का यह उपनाम होगा । उस काल में उपनाम रखने की बड़ी परिपाटी थी । यथा—**सौदास मित्रसह कल्माषङ्घ्रि** ये तीनों नाम सुदास के पुत्र के थे । देखो—भागवत स्कन्ध ९ । अ० ९ । महाभारत में इसे **कल्माषपाद** भी कहा गया है ।

अतः यह सिद्ध हुआ कि विश्वामित्र ने ऋतुपर्ण के पुत्र सुदास का उसके राज्यकाल में यज्ञ कराया था । वहीं से उसे धन मिला था । ऋषियों को मन्त्र-रचयिता माननेवालों के पक्ष में विश्वामित्र ने उपर्युक्त मन्त्र तथा तत्सहपठित अन्य मन्त्रों को **विपाशा तथा शतद्रु के सङ्गम** पर पहुंच कर बनाया था, ऐसा मानना होगा ।

विपाट् शुतुद्री नाम कब और क्यों रक्खे गये ?

उपर्युक्त नदियों के नाम किस कारण से हुए, तथा किस समय में पड़े, इस पर भी थोड़ासा विचार करना ही होगा । इसी से यहां की भी ग्रन्थि सुलझेगी । शुतुद्री नाम ऋ० १०।७५।५ में भी आया है । इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्क मुनि ने लिखा है—

'आर्जीकीयां विपाड् इत्याहुः । ऋजीकप्रभवा वा । ऋजुगामिनी वा । विपाड् विपाटनाद्वा विप्रापणाद्वा । पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः । तस्माद्विपाडुच्यते । पूर्वमासीदुरुञ्जिरा ।" (निरु० ९।२६)

अर्थात्—आर्जीकीया को विपाट् कहते थे। विपाट् नाम पड़ने का कारण यह है कि इसमें मरने की इच्छावाले वसिष्ठ के बन्धन टूट गये थे।

महाभारत में यह कथा इस प्रकार आई है—

ततः पाशैस्तदात्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः॥
अथ छित्त्वा नदी पाशांस्तस्यारिबलसूदन।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत्॥
उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः सः महानृषिः।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः॥

महाभा० आ० प० अ० १७७। श्लोक ४-६॥

शुतुद्री (शतद्रु) नाम पड़ने का कारण निरुक्तकार ने नहीं लिखा। महाभारत में इस प्रकार लिखा है—

दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत्॥
सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता॥

अर्थात्—पुत्रशोक से सन्तप्त-हृदय वसिष्ठ ने मरने की इच्छा से अपने आपको पाशों से बान्धकर नदी में छोड़ दिया। उस नदी में वसिष्ठ के पाश टूट गये। अतः उसका नाम महर्षि वसिष्ठ ने विपाशा रख दिया। कुछ दूर आगे चलकर वसिष्ठ ने एक और अतिवेगवाली भयानक नदी देखी। उसके स्रोत में भी वे मरने की इच्छा से कूद पड़े। किन्तु ऋषि को अग्नितुल्य प्रभाव वाला समझकर वह सैकड़ों तरह दौड़ गई (=अनेक छोटी-छोटी धाराओं में विभक्त हो गई), अतः उसका नाम शतद्रु हुआ।

उपर्युक्त आख्यान से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महर्षि वसिष्ठ ने दोनों नदियों का नाम **विपाशा** तथा **शतद्रु** अपने **पुत्रों के मरणान्तर** रक्खा था।

वसिष्ठपुत्रघातक सौदास—वसिष्ठ के शक्ति आदि पुत्रों के मरने का इतिहास महाभारत में बड़े विस्तार से आया है। हम यहां उसका सारमात्र ही लिखते हैं। जो अधिक देखना चाहें, वे महाभारत आदिपर्व अ० १७६ से १७८ देखें।

"विश्वामित्र तथा वसिष्ठ का नन्दिनी नामक गौ के लिये परस्पर घोर युद्ध हुआ, जिसमें विश्वामित्र पराजित हो गया। पराजय से दुःखित होकर वह राज्यादि का त्याग कर जङ्गल में तपस्या के लिये चला गया। किन्तु मन में प्रतीकार का भाव बराबर बना रहा। एक समय इक्ष्वाकु वंशज राजा सौदास उपनाम कल्माषपाद आखेट खेलने के लिये वन में गया। लौटते समय अकस्मात् राजा तथा वसिष्ठ का पुत्र शक्ति दोनों एक रास्ते पर आमने-सामने आ गये। दोनों एक-दूसरे को रास्ता छोड़ने के लिये कहने लगे। अन्त में राजा ने शक्ति को कोड़े से मारा। शक्ति ने क्रुद्ध होकर शाप दिया कि राक्षस तुल्य कर्म करने से आज से तू मांसाहारी राक्षस होगा। विश्वामित्र ने प्रतीकार का उपयुक्त काल समझकर राजा के पास एक राक्षस को सहायतार्थ भेज दिया। कालान्तर में राजा ने वसिष्ठ के पुत्र शक्ति को मार दिया। शेष पुत्रों को विश्वामित्र ने उसी राक्षस द्वारा मरवा दिया॥" इत्यादि।

इस कथा से निम्न परिणाम निकलते हैं—

(१) वसिष्ठ के पुत्र शक्ति को राजा सुदास के पुत्र सौदास[1] अपरनाम कल्माषपाद ने मारा था।

(२) यह घटना सौदास के राज्यकाल में हुई थी। क्योंकि महाभारत नें सर्वत्र सौदास के लिये नृपति शब्द का प्रयोग किया गया है।

(३) इसी काल में वसिष्ठ ने आत्महत्या करने का यत्न किया था।

(४) उसमें विफल होकर इसी समय (सौदास के राज्यकाल में) क्रमशः दोनों नदियों का नाम विपाशा तथा शतद्रु रक्खा था।

इस घटना से पूर्व इन नदियों का नाम क्या था, इस विषय में महाभारत में कुछ नहीं लिखा। किन्तु यास्क ने विपाशा का पूर्व नाम **'उरुञ्जिरा'**

---

१. किन्हीं-किन्हीं ने सुदास तथा सौदास को एक ही व्यक्ति माना है। देखो—भागलपुर से प्रकाशित गङ्गा मासिक पत्र का वेदाङ्क, संवत् १९८८ पौष मास पृष्ठ १८३। किन्तु यह उनकी भूल है। प्रथम तो सौदास शब्द ही स्पष्ट अपत्यप्रत्ययान्त है। द्वितीय—भागवत में भी वंश-वर्णन इसी प्रकार है—ऋतुपर्णो नलसखः·····ततः सुदासः·····तत्पुत्रः सौदासः·······॥" भाग० स्क० ९, श्लोक १८।

लिखा है, "**पूर्वमासीदुरुञ्जिरा**'। शतद्रु के विषय में उसने कहीं कुछ नहीं लिखा, अत: इसका पूर्व नाम अज्ञात ही है।

ऐतिहासिक मन्तव्यानुसार यह मानना पड़ेगा कि जिस मन्त्र में 'विपाट्' तथा 'शुतुद्री' नाम आया है, वह मन्त्र उपर्युक्त घटना के अनन्तर ही बना होगा। चाहे वह काल सौदास का राज्यकाल हो या अन्य का, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

विपाट् शुतुद्री पद घटित मन्त्र और विश्वामित्र

हम निरुक्त २।२४ द्वारा ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि विश्वामित्र ने सौदास के पिता सुदास का यज्ञ कराया था। उसमें मिले धन को लेकर विपाट् तथा शुतुद्री के सङ्गम पर पहुंच कर जिन मन्त्रों द्वारा उसने इन नदियों की स्तुति की थी, उनमें '**विपाट्छुतुद्री**' पद भी आया है। अब ऋषियों को मन्त्र-रचयिता माननेवाला पूर्वपक्षी इस बात का उत्तर दे कि जब सुदास के राज्यकाल में उपर्युक्त दोनों नदियों के नाम विपाट् शुतुद्री थे ही नहीं, पुनः विश्वामित्र ने दोनों नदियों की स्तुति विपाट्-शुतुद्री पदघटित ऋचा से कैसे की? इसका उत्तर पूर्वपक्षी किसी प्रकार भी नहीं दे सकता। अत: यह मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त ऋचा तथा तत्सहपठित अन्य ऋचाओं के कर्त्ता महर्षि विश्वामित्र नहीं हैं। ये ऋचाएं सृष्टि के आरम्भकाल से इसी रूप में चली आयी हैं। उपर्युक्त मन्त्र, जिसके द्रष्टा विश्वामित्र हैं, में आये विपाट् शुतुद्री नाम भी किसी नदीविशेष के नहीं हैं।

लोक में विपाशा शुतुद्री नाम कैसे पड़े?

कदाचित् यहां शङ्का हो कि ये नाम इन नदियों के क्यों पड़ गये? इसका उत्तर यह है कि सृष्टि के आरम्भ में तथा तदनन्तर भी वेद से ही तत्तद्गुणविशिष्ट नाम चुनकर ऋषियों ने तत्तद् ग्राम नदी पर्वत आदि के नाम रखे (आजकल भी कई लोग अपने पुत्र पुत्रियों का नाम वेद से ही चुन कर रखते हैं)। इसलिये उनमें अन्वर्थता भी आ गई। इस बात को निरुक्त-कार यास्क मुनि भी '**पूर्वमासीदुरुञ्जिरा**" पदों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। अर्थात् विपाट् का पूर्व नाम उरुञ्जिरा था। किन्तु उसमें पाश टूट जाने से वसिष्ठ ने उसका अन्वर्थ वैदिक नाम विपाट् रखा। लोक में उसी का दूसरा टाप्-प्रत्ययान्त 'विपाशा' रूप प्रसिद्ध हुआ। प्राचीनकाल में वैदिक शब्दों से ही समस्त पदार्थों के नाम रखे गये, इसमें मनु का भी साक्ष्य है। यथा—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।[१] मनु० १।१२।।

अब हम उन प्रमाणों को लिखते हैं, जिन्हें भारतीय इतिहास के प्रामाणिक विद्वान् श्री माननीय पं० भगवद्दत्त जी बी० ए० रिसर्चस्कालर ने अपने **'ऋग्वेद पर व्याख्यान'** और **'वैदिक वाङ्मय का इतिहास'** नामक पुस्तकों में लिखा है। हम उनको यहां संक्षेप से ही लिखेंगे, जो विस्तार से देखना चाहें, वे उक्त ग्रन्थों में देखें।

पञ्चम प्रमाण

ऋग्वेद मण्डल १० के ६१, ६२वें सूक्त का ऋषि सर्वानुक्रमण्यनुसार **नाभानेदिष्ठ** है। नाभानेदिष्ठ का नाम ६१वें सूक्त के १८वें मन्त्र में मिलता हैं (ये दोनों सूक्त नाभानेदिष्ठ विरचित नहीं हैं, यह हम पूर्व पृष्ठ ३२३-३२५ में प्रकारान्तर से बता चुके हैं)। ऐतरेय ब्राह्मण ५।१४ में नाभानेदिष्ठ के इन सूक्तों के विषय में लिखा है—

"नाभानेदिष्ठं शंसति। नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन् ।सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेति···। स पितरमेत्याब्रवीत् त्वां ह वाव मह्यं तता भाक्षुरिति। तं पिताब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथा, अङ्गिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते। ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यन्ति। तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय, तेषां यत्सहस्रं सत्रपरिवेषणं तत्ते स्वर्यन्तो दास्यन्तीति" ।।

अर्थात्—जब नाभानेदिष्ठ ब्रह्मचर्य वास कर रहा था, उसी समय मनु के शेष पुत्रों ने पिता की समस्त सम्पत्ति आपस में बांट ली। नाभानेदिष्ठ ने गुरुकुल से वापस आकर अपना भाग मांगा। अन्य द्रव्य न रहने पर उसके पिता ने कहा कि ये अङ्गिरा गोत्र के व्यक्ति स्वर्गप्राप्ति के लिये यज्ञ कर रहे है, परन्तु हर छठे दिन मोह को प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् कर्तव्य कर्म भूल जाते हैं। उनको छठे दिन ये दोनों (१०।६१,६२) सूक्त बताओ। वे स्वर्ग को जाते हुए अपना समस्त यज्ञीय द्रव्य तुम्हें दे देंगे। उसे ही तुम अपना भाग समझो।

यह कथा कुछ भेद से तै० सं० ३।१।९ में भी मिलती है। भागवत स्कं० ९, अ० ४, श्लोक १-१४ में भी इस कथा का उल्लेख मिलता है।

---

१. इस श्लोक का शुद्ध अर्थ हमारे 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' भाग १, पृष्ठ २-३, सं० ३ में देखें।

इस कथा से व्यक्त होता है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के ६१, ६२वें सूक्त नाभानेदिष्ठ को उसके पिता मनु से प्राप्त हुए थे। अर्थात् नाभानेदिष्ठ इन सूक्तों का रचयिता नहीं है। ये दोनों सूक्त तो उसके पिता को भी ज्ञात थे।

षष्ठ प्रमाण

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १६, २२, २३ सूक्तों का ऋषि सर्वानुक्रमणी में **'वामदेव'** लिखा है। परन्तु गोपथ ब्राह्मण (उत्तरार्ध ६।१) से ज्ञात होता है कि इन सम्पात सूक्तों को प्रथम **विश्वामित्र** ने देखा था। पुनः विश्वामित्र से देखी हुई इन्हीं ऋचाओं को वामदेव ने जनसाधारण में फैला दिया। गोपथ ब्राह्मण का पाठ इस प्रकार है—

'तान वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्। एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्नत्र ··। तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत'।

यह पाठ ऐतरेय ब्रा० ६।१८ में भी कुछ भेद से उपलब्ध होता है। ब्राह्मण के उपर्युक्त पाठ से जाना जाता है कि **सम्पात सूक्त वामदेव से पूर्व इसी रूप में विद्यमान थे, और इनका प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र था।** अर्थात् न तो वामदेव ने ही इनको बनाया, और न विश्वामित्र ने ही।

सप्तम प्रमाण

ऋक्सर्वानुक्रमणी के अनुसार ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ३० से ३२ का ऋषि **कवष ऐलूष** है। सूक्त ३० के विषय में कौषीतकि ब्राह्मण १२।३ में लिखा है—

'कवषस्यैष महिमा सूक्तस्य चानुवेदिता।'

यहां **'अनुवेदिता'** में **"अनु"** पद ध्यान देने योग्य हैं। इससे विदित होता है कि इस सूक्त का जाननेवाला कोई कवष ऐलूष से पहले भी हो चुका है। अन्यथा **'अनु'** पद का निर्देश करना व्यर्थ है। **'कवषस्यैष महिमा सूक्तस्य च वेदिता'** कहना ही पर्याप्त है। इससे स्पष्ट है कि इस सूक्त का रचयिता कवष ऐलूष नहीं है।

इस प्रकार ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा यह सुविशदतया दिखला दिया कि ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता किसी प्रकार भी नहीं माना जा सकता। वे मन्त्र उन

ऋषियों से, जिन्हें उन मन्त्रों का रचयिता कहा जाता है, पूर्व भी इसी रूप में वर्तमान थे।

'मन्त्रकृत्' शब्द का अर्थ

अब केवल **'मन्त्रकृत्'** शब्द का क्या अर्थ है, इसकी विवेचना करनी शेष है। मन्त्रकृत् शब्द मन्त्र उपपद होने पर कृञ् धातु से भूतार्थ में **'सुकर्म-पापमन्त्रपुण्येषु कृञः"** (अष्टा० ३।२।८९) सूत्र से क्विप् प्रत्यय होकर बना है।

मन्त्र शब्द केवल वेदमन्त्रों के लिये ही प्रयुक्त नहीं होता: अपितु इसका अर्थ **'विचार'** भी होता है। देखो वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड—

> **तदिहैव निवेशोऽस्तु मन्त्रः प्रस्तूयतामिह।**
> **यथेदं वानर-बलं परं पारमवाप्नुयात्॥**
> **सम्प्राप्तो मन्त्रकालो नः सागरस्येह लङ्घने।**
> सर्ग ४, श्लोक १०१, १०२।

अमात्य का नाम भी 'मन्त्री' इसलिये होता है कि वह भी राज्यादि के कार्य का सम्यक्तया विचार किया करता है। अत: साधारणरूप से 'मन्त्रकृत्' शब्द का अर्थ 'विचार करनेवाला' है। यही इसका शुद्ध यौगिकार्थ है। अब यह विचारना है कि पूर्वपक्षी द्वारा उद्धृत प्रमाणों में इस शब्द का क्या अर्थ है ?

(१) मन्त्रार्थद्रष्टा

मन्त्रकृत् शब्द में **'कृञ्'** धातु ही विवादग्रस्त है। पूर्वपक्षी इसका अर्थ 'बनाना' मानता है। हमारा पक्ष है कि कृञ् धातु का केवल 'अभूतप्रादुर्भाव' (=बनाना)मात्र ही अर्थ नहीं है, अपितु इसके अनेक अर्थ हैं। जैसा कि आगे सप्रमाण सिद्ध किये जायेंगे। धातुपाठ में पठित अर्थ केवल उपलक्षणमात्र है। महाभाष्यकार लिखते हैं—**"बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति"** (१।३।१) अर्थात् धातु बहुत अर्थवाली होती हैं।

हम सर्वप्रथम नवम प्रमाण को लेते हैं—**"कुत्स ऋषिर्भवति कर्त्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः"**। इसका अर्थ पूर्वपक्षी इस प्रकार समझता है—'औपमन्यवाचार्य के मत में कुत्स शब्द मन्त्रों का रचयिता होने से ऋषि के लिये प्रयुक्त होता है'। हमारी यह निश्चित धारणा है कि यहां **'कर्त्ता'** पद का अर्थ

'बनानेवाला' नहीं, अपितु **'द्रष्टा'** है। और ऐसा ही यास्क तथा औपमन्यव आचार्य भी समझते थे। सो कैसे? देखो, 'ऋषि' शब्द का निर्वचन करते हुए यास्काचार्य लिखते हैं—**'ऋषिर्दर्शनात्'** (निरु० २।११)। अर्थात् यास्काचार्य के मत में द्रष्टा होने से ही ऋषि कहाता है। यदि यहां यास्क को 'रचयिता' अर्थ अभिप्रेत होता, तो **'ऋषिर्दर्शनात्'** ऐसा निर्वचन कभी न करते। अपने इस अर्थ में प्राचीन नैरुक्ताचार्य्य औपमन्यव का भी प्रमाण देते हैं—**"स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः"**। अर्थात् मन्त्रों को देखने से 'ऋषि' कहाता है, ऐसा औपमन्यवाचार्य का भी मत है। यहां स्पष्ट है कि यास्क ने अपने तथा औपमन्यव के मत में ऋषि का अर्थ **द्रष्टा** ही किया है। जिस औपमन्यव का **'स्तोमान् ददर्श'** वाक्य है। उसी का **'कर्ता स्तोमानाम्'** यह वाक्य भी है। इन दोनों वाक्यों को यदि पारस्परिक तुलनात्मक दृष्टि से विचारा जाय, तो ननुनच के लिये कुछ भी स्थान नहीं रहता। प्रथम वाक्य में ऋषि को मन्त्रद्रष्टा माननेवाला आचार्य ही यदि द्वितीय वाक्य में ऋषि को मन्त्र-रचयिता कहे, तो वह अवश्य ही उन्मत्त कहलायेगा। तथा उन दोनों परस्परविरोधी वाक्यों को प्रमाणरूप से उद्धृत करनेवाला यास्क उससे भी अधिक प्रमत्त ठहरेगा। अतः इन दोनों वाक्यों की परस्पर संगति लगाने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि **'कर्त्ता स्तोमानाम्'** इस वाक्य में कर्त्तापद का अर्थ दोनों को द्रष्टा ही अभिमत है। इससे यह भी प्रकट हुआ कि **कृञ् धातु का अर्थ 'दर्शन'** भी होता है। इसलिये मन्त्रकृत् पद का अर्थ 'मन्त्रार्थद्रष्टा' ही उपयुक्त है। अब इसमें अन्य भी प्रमाण दिये जाते हैं।

(१) ऐतरेय ब्राह्मणवाले प्रथम प्रमाण का अर्थ करता हुआ सायण लिखता है—

ऋषिरतीन्द्रियार्थद्रष्टा मन्त्रकृत् करोतिधातुस्तत्र दर्शनार्थः।

पूना० सं० पृष्ठ ६७७।

अर्थात् 'मन्त्रकृत्' यहां करोति धातु दर्शनार्थक है।

(२) तैत्तिरीयारण्यकवाले तृतीय प्रमाण पर भट्टभास्कर मिश्र लिखता है—

अथ नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्राणां द्रष्टृभ्यः, दर्शनमेव कर्तृत्वम्।

मैसूर सं०, भा० ३, पृष्ठ १।

अर्थात्—ऋषियों का मन्त्रद्रष्टा होना ही उनका मन्त्रकर्तृत्व है। वास्तव में वे मन्त्र-रचयिता नहीं, मन्त्रद्रष्टा ही हैं।

(३) कात्यायन श्रौतसूत्रवाले पंचम प्रमाण पर कर्क लिखता है—

मन्त्रकृतो मन्त्रदृश उच्यन्ते। नहि मन्त्राणां करणं भवति, अनित्यत्व-प्रसङ्गात्। तेन दर्शनार्थः कृञिति अध्यवसीयते। दृश्यते चानेकार्थता धातूनां गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः'। (अष्टा० ७।३। ७७) इत्यात्मनेपदप्रतिपादने गन्धादीनर्थान् कृञो दर्शयति।

अर्थात्—'मन्त्रकृतः' शब्द से मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं। मन्त्र रचे नहीं जाते। अन्यथा उनकी अनित्यता प्राप्त होगी। इसलिये कृञ् धातु दर्शनार्थक माननी चाहिए। धातुओं की अनेकार्थता देखी जाती है। सूत्रकार पाणिनि ने ही 'गन्धनावक्षेपण' आदि सूत्र द्वारा कृञ् की अनेकार्थकता दिखाई है।

इसी प्रकार अन्य भी कई प्रमाण दिये जा सकते है। किन्तु यहां इतने ही पर्याप्त हैं। इन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कृञ्' धातु का अर्थ ऐसे स्थलों में 'दर्शन' ही होता है।

मन्त्रार्थाध्यापक

ताण्ड्यब्राह्मणवाले द्वितीय प्रमाण का पूरा पाठ इस प्रकार है—

शिशुर्ह वा आङ्गिरसो मन्त्रकृदासीत्, स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत्। तं पितरोऽब्रुवन्नधर्मं करोषीति, यो नः पितॄन् सतः पुत्रका इत्यामन्त्रयस इति। सोऽब्रवीदहं वाव वः पिताऽस्मि यो मन्त्रकृदस्मीति। तं देवेष्वपृच्छन्तः। ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति।

ताण्ड्यब्राह्मण की इस कथा का अभिप्राय मनुस्मृति में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अध्यापयामास पितॄन् शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥१०१॥

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान् समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान्॥१५२॥

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥१५३॥

किसी समय अङ्गिरा मुनि का विद्वान् पुत्र आङ्गिरस अपने पितरों को पढ़ा रहा था। पढाते हुए उसने 'हे बालको' ऐसा सम्बोधन किया। इससे क्रुद्ध होकर उन्होंने इसका अभिप्राय देवों=विद्वानों से पूछा। उन्होंने उत्तर दिया कि आङ्गिरस ने उचित ही कहा है। अज्ञ=अविद्वान् ही बालक होता है, तथा मन्त्रदाता=वेद पढानेवाला ही पिता होता है। अन्यों ने भी ऐसा ही कहा।

यहां स्पष्टरूप से **'एष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति'** पदों का भाव **'पिता भवति मन्त्रदः'** पदों द्वारा खोला गया है। **'मन्त्रदः'** का अर्थ **मन्त्र का देने वाला** अर्थात् **मन्त्राध्यापक** ही होता है। अतः **'एष वाव पिता यो मन्त्रकृदिति'** का अर्थ भी 'यही मन्त्राध्यापक पिता है' करना उचित है। अतः इस सम्पूर्ण प्रमाणवाक्य का अर्थ इस प्रकार हुआ—

बालक आङ्गिरस वेदाध्यापकों में श्रेष्ठ वेदाध्यापक था। उसने अपने पितरों के लिये 'हे बालको' ऐसा सम्बोधन किया। इस पर पितरों ने कहा कि हमको तू बालक कहता है, अधर्माचरण करता है। वह (=आङ्गिरस) बोला—मैं ही मन्त्राध्यापक पिता हूं। पितरों ने इसका अभिप्राय देवों= विद्वानों से पूछा, उन्होंने कहा यही तुम्हारा पिता है, जो कि मन्त्राध्यापक है।

इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि **'कृञ्' धातु का अर्थ 'अध्यापन' भी है।**

इतना ही नहीं, बौद्ध साहित्य से भी मन्त्रकर्त्ता का अर्थ **मन्त्रप्रवक्ता** ही जाना जाता है। मज्झिम निकाय २।५।९ में महात्मा बुद्ध का निम्न वचन मिलता है—

"माणव ! जो यह वेदों के कर्त्ता=मन्त्र के प्रवक्ता ब्राह्मणों के पूर्वज ऋषि थे, जिनके गीत, संगीत,प्रोक्त पुराने मन्त्रपद को आज भी ब्राह्मण उनके अनुसार गाते हैं ...।"

सायणाचार्य्य ताण्ड्य ब्राह्मण का भाष्य करता हुआ 'मन्त्रकृत्' का अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा' ही करता है। जो प्रकृत में मनुस्मृत्यादि से विरुद्ध होने से चिन्त्य है॥

(३) मन्त्रविनियोजक

हम ऊपर कृञ् धातु के 'दर्शन' तथा 'अध्यापन' ये दो अर्थ सप्रमाण लिख चुके। एतद् अतिरिक्त भी कई अर्थों में इस का प्रयोग होता है। यह पाणिनीय अष्टाध्यायी प्रथमाध्याय तृतीयपाद के सूत्र ३२ से ३५ तक देखने से

स्पष्ट सिद्ध है। वैयाकरणशिरोमणि पतञ्जलि मुनि ने भी "**भूवादयो धातवः**" (१।३।१) सूत्र की व्याख्या करते हुये '**अनेकार्था अपि धातवो भवन्ति**' लिख कर कृञ् धातु के भी कई अर्थ दर्शाये हैं। पाठ इस प्रकार हैं—

करोतिरयमभूतप्रादुर्भावे दृष्टः। निर्मलीकरणे चापि दृश्यते—पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु—उन्मृदान इति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते—कटे कुरु, घटे कुरु स्थापयेति गम्यते॥

अर्थात्—करोति (=कृञ्) धातु अभूतप्रादुर्भाव (=बनाना) मात्र अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता, अपि तु 'पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु' इन प्रयोगों से निर्मलीकरण (=साफ करना), तथा 'कटे कुरु घटे कुरु' इत्यादि स्थलों में स्थापन (=डालने) अर्थ में भी देखा जाता है।

जब महाभाष्यकार के वचनानुसार 'कृञ्' धातु का अर्थ '**स्थापन**' भी है, तब मन्त्रकृत् शब्द का अर्थ होगा—"**यज्ञादौ कर्मण्यनेन मन्त्रेणेदं कर्म कर्तव्यमित्येवं रूपेण यो मन्त्रान् करोति व्यवस्थापयति स मन्त्रकृत्**"। अर्थात्—'यज्ञादि कर्मों में इस मन्त्र से इस कर्म को करना चाहिये' ऐसी व्यवस्था जो करता है, वह 'मन्त्रकृत् कहाता है'। हमारा अपना विचार है कि "**इत ऊर्ध्वात् मन्त्रकृतोऽध्वर्यु र्वृणीते**" (सत्या० २।१।१३०) इत्यादि श्रौत प्रयोगों में 'मन्त्रकृत्' का अर्थ **मन्त्रविनियोजक** ही है। अतः जो मन्त्र-विनियोग को भली-भांति जानता हो, वही यज्ञ में वरण करने योग्य होता है।

भगवान् जैमिनि ने 'करोति' का अर्थ ग्रहण करना लिखा है। यथा—**आदाने करोतिशब्दः** (४।२।६) इसकी व्याख्या करते हुये शबरस्वामी ने लिखा है—

आदाने करोतिशब्दो भविष्यति। स्वरुं करोति स्वरुमादत्ते। यथा काष्ठानि करोति, गोमयानि करोति आदाने करोति शब्दो भवति।

इससे स्पष्ट है कि मन्त्रकृत् शब्द का अर्थ 'मन्त्र को ग्रहण करनेवाला' अर्थात् विनियोग करनेवाला भी है।

सम्भवतः इसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर कुमारिल भट्ट अपने तन्त्रवार्त्तिक ग्रन्थ में पूर्वोक्त ताण्ड्य महाब्राह्मण के पाठ को उद्धृत करके लिखता है—

शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीदित्यत्र मन्त्राकृच्छब्दः प्रयोक्तरि प्रयुक्तः। (पृष्ठ २३१, पूना सं०)

अर्थात्—यहां 'मन्त्रकृत्' शब्द **मन्त्रप्रयोक्ता**=मन्त्रविनियोजक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

वेङ्कटेश्वर मुद्रित रघुवंश के सम्पादक गोविन्द शास्त्री ने 'मन्त्रकृत्' (५।४) शब्द पर टिप्पणी में लिखा है—

"अत्र न मन्त्रान् कुर्वन्तीति मन्त्रकृत इति व्युत्पत्तिर्गरीयसी वेदापौरुषेयत्वभङ्गात् । किन्तु मन्त्रान् कुर्वन्ति प्रयोगविधिनेष्टलाभाय प्रयुञ्जते इति मन्त्रकृतः···।" (सं० १९६६ मुद्रित) ।

अर्थात्—यहां मन्त्र को बनाते हैं, ऐसी व्युत्पत्ति उचित नहीं, क्योंकि इससे वेद का अपौरुषेयत्व नष्ट होता है । अतः जो मन्त्रों का प्रयोगविध्यनुसार इष्टफल की प्राप्ति के लिये प्रयोग करते हैं, वे 'मन्त्रकृत्' कहाते हैं । ऐसा अर्थ ही युक्तियुक्त है ।

इस प्रकार हमने संक्षेप में 'मन्त्रकृत्' शब्द के तीन अर्थ—**मन्त्रार्थद्रष्टा, मन्त्रार्थाध्यापक, मन्त्रविनियोजक** सप्रमाण दर्शा दिये । सम्भव है यह शब्द अन्य भी कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ हो । तथापि इतना निश्चय अवश्य है कि समस्त वैदिक वाङ्मय में **'मन्त्रकृत्'** शब्द **'मन्त्र-रचयिता'** अर्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ ।

मन्त्रकार शब्द का अर्थ

उपर्युक्त जितने अर्थों में 'मन्त्रकृत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उतने ही अर्थों में **'मन्त्रकार'** शब्द भी प्रयुक्त हुआ है । इसमें केवल प्रत्ययमात्र का भेद है ।

मन्त्रवान् तथा ब्रह्मकृत्

मन्त्रकृत् शब्द के अर्थ में खादिर गृह्यसूत्र २।४।१० में **"मन्त्रवान्[1]"** शब्द का प्रयोग मिलता है । महाभारत वनपर्व १३४।३ में प्रयुक्त **'ब्रह्मकृत्[2]'** शब्द का भी अर्थ वही है, जो मन्त्रकृत् शब्द का है । अतः ऐसे शब्दों के प्रयोगमात्र से ऋषियों को मन्त्रों के रचयिता समझ लेना महती भूल है । अब केवल ऋक्सर्वानुक्रमणी का **"यस्य वाक्यं स ऋषिः"** सूत्र का अर्थ दर्शाना शेष है ।

---

१. दक्षिणतस्तिष्ठन् मन्त्रवान् ब्राह्मण··· ।

२. अस्मिन् युगे ब्रह्मकृतां वरिष्ठावास्तां मुनी मातुलभागिनेयौ ।

ऋक्सर्वानुक्रमणी के सूत्र का अर्थ

हम ऊपर सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं कि कात्यायन मुनि ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते हैं। अतः इस सूत्र का अर्थ हुआ—**'यस्य यद् वाक्यं द्रष्टृत्वसम्बन्धेन स तस्य ऋषिः'**। अर्थात् द्रष्टृत्व सम्बन्ध से जिस ऋषि का जो वाक्य=मन्त्र है, उसका वह ऋषि कहाता है। अभिप्राय यह हुआ कि मन्त्र-द्रष्टा ही ऋषि होता है। षड्गुरुशिष्य ने यहां प्रमाण भी दिया है—**उक्तं च ऋषिर्दर्शनात्'**। **अर्थात्** निरुक्त में भी मन्त्रद्रष्टा को ही ऋषि कहा है।

अब हम ऋषि मन्त्रद्रष्टा ही होते हैं, इस विषय में कुछ एक प्राचीन ग्रन्थकारों के प्रमाण उद्धृत करते हैं। जिनसे इस प्रकृत विषय पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

शाखादि-प्रवक्ता और ऋषि-शब्दार्थ

तैत्तिरीयादि संहिता ग्रन्थों तथा ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों, जो कि वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं, उनमें भी ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही लिखा है। यथा—

(१) **स एतं [भूमिर्भूम्ना···] कसर्णीरः काद्रवेयो मन्त्रमपश्यत् ।** (तै० सं० १।५।४)

(२) **स [पूषा] एतं मन्त्रमपश्यत् 'सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रति पश्यामीति ।'** (तै० सं० २।६।८)

(३) **शुनःशेपमाजिगर्त्ति वरुणोऽगृह्णात्, स एतां वारुणीमपश्यत्···उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदिति ।** (तै० सं० ५।२।१)

(४) **उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदिति शुनःशेपो वा एतामाजिगर्तिर्वरुण-गृहीतोऽपश्यत् ।** (का० सं० १९।११)

(५) **स वामदेव···एतं सूक्तमपश्यत् 'कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वीम्' इति ।** (कां० सं० १०।५)

(६) **यास्सेना अभी त्वरीति··· ते देवा एता ऋचो अपश्यन् ।।** (कां० सं० १९।१०)

(७) **ते देवा एतद् यजुरपश्यन्नजोऽसि महोऽसि ।** (कां० सं० १७।७)

(८) **जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय इति गौरिवीतिर्ह वै शाक्त्यो·· एतत् सूक्तमपश्यत् ।** (ऐ० ब्रा० ३।१९)

(९) महीं गामिति काण्वो हैनां ददर्श। (श० ब्रा० ६।२।२।३८)

(१०) इन्द्र एतत्सप्तर्चमपश्यत्। (श० ब्रा० ६।२।२।१)

(११) एतत् कवषः सूक्तमपश्यत् पञ्चदशर्चम्—'प्रदेवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु' इति। (कौ० ब्रा० १२।१)

(१२) इन्द्र क्रतुमाभर इति—वसिष्ठो वा एतं हतपुत्रोऽपश्यत्। (तां० ब्रा० ४।७।३)

(१३) ऋषिर्दर्शनात्। (निरुक्त २।११)

(१४) स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः। (निरुक्त ३।११)

अनुक्रमणिकाकार और ऋषि-शब्दार्थ

मन्त्रों के ऋषि देवता तथा छन्द आदि के निर्देश करनेवाले अनुक्रमणीकार भी ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते थे। यथा—

(१)···गृत्समदो द्वितीयं मण्डलमपश्यत्॥ (सर्वा० २।१)

(२)···गाथिनो विश्वामित्रः, स तृतीयं मण्डलमपश्यत्॥ (सर्वा० ३।१)

(३) इमामृषूपान्त्यां घोणेऽपश्यत्···॥ (सर्वा० ३।३६)

(४) वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत्॥ (सर्वा० ४।१)

(५) बार्हस्पत्यो भरद्वाजः षष्ठं मण्डलमपश्यत्। (सर्वा० ६।१)

(६) सप्तमं मण्डलं वसिष्ठोऽपश्यत्। (सर्वा० ७।१)

(७) एते कुमार आग्नेयोऽपश्यत् वसिष्ठ एव वा वृष्टिकामः। (सर्वा० ७।१०२)

(८)·· आद्यं द्वयृचं प्रगाथोऽपश्यत्। (सर्वा० ८।१)

(९) यत्स्थः षट् प्रगाथोऽपश्यत्। (सर्वा० ८।१०)

(१०)···अन्त्यं वा तृचमाश्विनमनुष्टुभमपश्यत् (सर्वा० ८।४२)

(११) मन्त्रदृग्भ्यो नमस्कृत्य समाम्नायानुपूर्वशः।
सूक्तमर्धर्चपादानामृक्षु वक्ष्यामि दैवतम्॥ (बृहद्देवता० १।१)

(१२) ऋग्वेदमखिलं ये हि द्रष्टारो मुनिपुङ्गवाः। (आर्षानु० १।१)

(१३) मधुच्छन्दःप्रभृतिभिर्ऋषिभिर्हि तपोबलात्।
दृष्टानामनुवाकानामृक्षु वक्ष्याम्यतन्द्रितः॥ (अनुवाकानु० २)

(१४) शाकल्यदृष्टे पदलक्षमेकम्···। (अनुवाकानु० ३९)

(१५) यत्काम ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा वा भवति···। (अथर्वबृहत्सर्वा० १।१)

आश्चर्य का विषय यह है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर ऋषियों को मन्त्र-रचयिता सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा की जाती है, वे ही ग्रन्थकार स्पष्ट शब्दों में **ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा** ही लिख रहे हैं। अतः ऋषियों को मन्त्र-रचयिता कहना दुराग्रहमात्र है।

उपसंहार

हमने इस लेख में अति संक्षेप से ऋषियों के मन्त्ररचयितृत्ववाद पर विचार करते हुए निम्न बातों पर प्रकाश डाला है—

(१) संसार के साहित्य में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता कि दो-चार विद्वानों ने एक विषय की सर्वथा समानाक्षर रचना की हो। वेद में बहुत से मन्त्रों के दो से लेकर १०० तक ऋषि देखे जाते हैं। अतः मानना होगा कि ये मन्त्र उन ऋषियों की कृति नहीं हैं, जो उनके साथ निर्दिष्ट हैं।

(२) सर्वानुक्रमणी में जहां एक से अधिक ऋषि नाम लिखे हैं, वहां प्रयुज्यमान 'वा' शब्द सन्देह का द्योतक नहीं है, अपितु समुच्चायक है।

(३) पूर्वपक्षी जिन ऋषियों को जिन मन्त्रों का रचयिता मानता है, वे मन्त्र उन ऋषियों से पूर्व भी विद्यमान थे। इस विषय में ६ ऐतिहासिक प्रमाण उद्धृत किये हैं।

(४) 'मन्त्रकृत्' शब्द वैदिक साहित्य में मन्त्र-रचयिता के लिये कहीं पर भी प्रयुक्त नहीं हुआ। हमने इस शब्द के क्रमशः **मन्त्रार्थद्रष्टा मन्त्रार्थाध्यापक** तथा **मन्त्रविनियोजक** ये तीन अर्थ सप्रमाण दिखाये हैं। **मन्त्रकार, ब्रह्मकृत्** और **मन्त्रवान्** शब्दों के भी यही अर्थ हैं।

(५) वेदों के व्याख्याकार तित्तिरि, कठ, ऐतरेय, कौषीतकि, याज्ञवल्क्य तथा यास्क आदि महर्षिवृन्द ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा ही मानते थे, इसमें तैत्तिरीय संहितादि कई ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये हैं।

(६) मन्त्रों के ऋषि देवता आदि लिखनेवाले शौनक तथा कात्यायनादि आचार्य भी ऋषियों को मन्त्र-द्रष्टा ही मानते थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में ऋषियों के लिये **'दृश'** धातु का ही प्रयोग किया है।

अब उपर्युक्तविषय में आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती की धारणा को अन्त में उद्धृत कर उन्हीं के शब्दों में इस लेख को समाप्त करता हूं—

"जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ, और प्रथम ही जिससे पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस-उस मन्त्र के साथ उस ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है। जो कोई ऋषियों को मन्त्रकर्त्ता बतलावें, उनको मिथ्यावादी समझें, वे तो मन्त्रों के अर्थ प्रकाशक हैं।।[1]

[सत्यार्थप्रकाश समु० ७, पृष्ठ २१२]

—:o:—

१. सर्वानुक्रमणी आदि में लिखे गये मन्त्रों वा सूक्तों के सभी ऋषि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। यहां विश्वामित्र नदी संवाद (ऋ० ३।३३) में **'नदी'** भी ऋषिका कही है। ऋग्वेद ८।६७ का ऋषि **'जालनद्धा मत्स्यगणाः'** जाल में फंसी मच्छलियों का समूह लिखा है। नदी वा मछलियां मन्त्रों के द्रष्टा नहीं हो सकते। ऐसे स्थलों पर नदी वा जाल में बंधे मत्स्य-समुदाय को कविनिबद्ध व्यक्ति मानना होगा। यह कवि अपौरुषेय पक्ष में स्वयम्भू है। इन मन्त्रों में नदी और जाल में फंसी मछलियों की स्थिति उनके मुख से ही वर्णित की गई है। सर्वानुक्रमणियों में निबद्ध कतिपय ऋषि काल्पनिक भी हैं। इस विषय में सर्वानुक्रमणी में **'ऋषयोऽत्र दृष्टलिङ्गाः'** ऋ० ५।४४ के ऋषि विषय में कहा गया वचन प्रमाण माना जा सकता है। वास्तविकता यह है कि 'ऋषियों को मन्त्रों के रचयिता' मानना तो मिथ्या है, परन्तु सभी ऋषियों को मन्त्रार्थद्रष्टा ऋषि=व्यक्ति विशेष वा 'कविनिबद्ध व्यक्ति' भी मानना सम्भव नहीं, ना ही सभी काल्पनिक व्यक्ति है। इसलिये मन्त्रसम्बद्ध ऋषियों के सम्बन्ध में पूर्ण गम्भीरता से विचार करना शेष है।

श्रौतयज्ञों की वैदिकता

माननीय पाठक वृन्द ! यज्ञ क्या है, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय पर अनेक सुयोग्य लेखक प्रकाश डाल चुके हैं। इस लेख के लिखने का इतना ही प्रयोजन है कि आर्यसमाज के अनेक विद्वान् यह कहते तथा लिखते हैं कि श्रौतयज्ञ वैदिक नहीं हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों में कहीं पर भी इन यज्ञों के करने की आज्ञा या विधि नहीं लिखी। अतएव इनका प्रचार आर्यसमाज में नहीं होना चाहिए। आर्यसमाजियों के लिये अभी कर्मकाण्ड का एकमात्र ग्रन्थ संस्कारविधि ही है। प्रस्तुत लेख में इन यज्ञों की वैदिकता दर्शाना ही हमारा मुख्य प्रयोजन है।

यज्ञ शब्द पर विचार

'यज्ञ' शब्द व्याकरणानुसार 'यज' धातु से नङ् प्रत्यय होकर बनता है। यज धातु के देवपूजा सङ्गतिकरण तथा दान ये तीन अर्थ है। तदनुसार संसार में जितने भी शुभकर्म हैं, वे सब यज्ञ शब्द से कहलाने योग्य हैं।तथापि यहां पर यह अर्थ अभिप्रेत नहीं है। यज्ञ शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ि भेद से दो प्रकार का है। योगरूढि यज्ञ शब्द से उन्हीं क्रियाओं का ग्रहण होता है, जिनका विधान संहिता, ब्राह्मण, तथा श्रौतसूत्रों में है। श्रौतसूत्रों में इस पारिभाषिक यज्ञ शब्द का अर्थ—**'देवता के उद्देश्य से हविः का त्याग करना'** लिखा है—**'द्रव्यं देवतात्यागः**। (कात्या० श्रौत १।२।२)।

यज्ञों की संख्या

यद्यपि ये यज्ञ संख्या में बहुत अधिक हैं, तथापि वेद इन सब यज्ञों को २१ इक्कीस संख्या में विभाजित करता है। अथर्ववेद के प्रथम मन्त्र में कहा है—**"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः"**। अर्थात् ३×७=२१ यज्ञ अनेक रूपों को धारण करके विचरते रहते हैं। इसका भाव यह है कि इन २१ इक्कीस यज्ञों की क्रियाएं ही समस्त यज्ञों में की जाती हैं। अतः

संक्षेप से यज्ञ २१ ही हैं। गोपथकार इसके लिये अन्य ऋचा का प्रमाण देता है ...... **भूय एव आत्मानं समतपत् स एतं त्रिवृतं सप्त तन्तुमेकविंशतिसंस्थं यज्ञमपश्यत् । तदप्येतदृचोक्तम्—'अग्निर्यज्ञं त्रिवृतं सप्ततन्तुमिति''** [गो० ब्रा० पू० १।१२]। इसी प्रकार ऋग्वेद में एक मन्त्र आता है—"**इमं नो अग्न उपयज्ञमेहि पञ्चयामं त्रिवृतं सप्ततन्तुम्**" (ऋ० १०।१२४।१)। अब यह प्रश्न उठता है कि वे २१ इक्कीस यज्ञ कौन कौनसे हैं? इसका उत्तर गोपथकार देता है—"**सप्त सुत्याः सप्त च पाकयज्ञाः, हविर्यज्ञाः, सप्त, तथैकविंशति** [**गो० ब्रा० पू० ५।२४**]। अर्थात् सात पाकयज्ञ, सात हविर्यज्ञ, तथा सात सोमयज्ञ ये मिलकर यज्ञ की २१ संस्थाएं हैं। आगे इन २१ यज्ञों का नामतः उल्लेख किया है—

"सायंप्रातर्होमौ स्थालीपाको नवश्च यः । बलिश्च पितृयज्ञश्चाष्टकाः सप्तमः पशुरित्येते पाकयज्ञाः । अग्न्याधेयमग्निहोत्रं पौर्णमास्यमावास्ये । नवेष्टिश्चातुर्मास्यानि पशुबन्धोऽत्र सप्तम इत्येते हविर्यज्ञाः । अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यषोडशिमांस्ततः । वाजपेयोऽतिरात्राप्तोर्यामात्र सप्तम इत्येते सुत्याः" ।। (गो० १७३)।

पाकयज्ञ—प्रातर्होम, सायं होम, स्थालीपाक, बलिवैश्वदेव, पितृयज्ञ, अष्टका, पशु ।।

हविर्यज्ञ—अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, नवसस्येष्टि, चातुर्मास्य, पशुबन्ध ।।

सोमयज्ञ—अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम ।।

[टिप्पणी—इन २१ संस्थाओं में पशु और पशुबन्ध ये दो नाम आये हैं। यद्यपि वर्तमान पौराणिक याज्ञिक इनमें पशुहिंसा ही मानते है, तथापि यह वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। इनके वास्तविक स्वरूप पर विचार करना चाहिये। हमारा अपना विचार है कि इन यज्ञों में भी जो पशुहिंसा प्रतीत होती है, वह गूढार्थ के न समझने से ही होती हैं। हम अपने विचार पुनः अवसर मिलने पर प्रकट करेंगे।][1]

---

१. इसके लिये देखिये—अगला लेख "श्रौत 'पशुबन्ध' यज्ञ और पाश्वालम्भ"।

यज्ञों के भेद

यज्ञों के दो तरह के विभाग हैं—**श्रौत** और **स्मार्त्त**। पाकयज्ञ स्मार्त्त कहलाते हैं, क्योंकि इनका स्पष्टतया विधान संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। पुन: श्रौतयज्ञों के भी **प्रकृति** तथा **विकृति** दो भेद हैं। इसी प्रकार अवान्तर भेद अनेक हैं, जिनकी यहां लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

यज्ञों का स्वरूप

ये श्रौत वा स्मार्त्त यज्ञ क्या हैं, इसका उत्तर भी प्रसङ्गवश यहां देना अनुचित न होगा।'यज्ञ'नाम उन क्रियाओं का है,जिनके द्वारा हम आध्यात्मिक तथा आधिदैविक जगत् में होनेवाली अप्रत्यक्ष क्रियाओं का प्रत्यक्ष करते हैं। जैसे नाटक खेलनेवाले लोग अप्रत्यक्ष ऐतिहासिक घटनाओं को रङ्गभूमि में प्रत्यक्ष रूप में दिखलाते है, वैसे ही यज्ञ भी एक रङ्गभूमि है, जहां हम अप्रत्यक्ष क्रियाओं का प्रत्यक्ष करते हैं। यद्यपि यह एक स्वतन्त्र विषय है, तथापि हम अपने विचार की प्रामाणिकता सिद्ध करने लिये पाठकों का ध्यान शतपथ की ओर आकृष्ट करते हैं। शतपथ में दर्शपौर्णमास के विषय में लिखा है—

"एषानु देवत्रा दर्शपौर्णमासयोः सम्पत्। अथाध्यात्मम्"।

शत० ५।१।६।२८॥

"एषानु देवत्रा दर्शपौर्णमासयोर्मीमांसा। अथाध्यात्मम्"।

शत० १।२।४।४॥

पाठकवृन्द! इन प्रकरणों पर विचार करें। इतना ही नहीं, शतपथ में स्थान-स्थान पर याज्ञिक प्रक्रिया की समानता अध्यात्म तथा अधिदेव में दर्शाई है। यही कारण है कि **यज्ञ में किञ्चित् भी अन्यथा होने पर प्रायश्चित्त का विधान है।** अन्यथा प्रायश्चित्त का विधान निष्फल होता है। **"परोक्षप्रिया देवाः प्रत्यक्षप्रिया मनुष्याः"** इस कहावत के अनुसार गोपथकार इन यज्ञों का प्रत्यक्ष प्रमाण भी दर्शाते हैं—

"अथो भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु वै व्याधिर्जायते"। गो० ब्रा० पृष्ठ ८४॥

अर्थात् चातुर्मास्य यज्ञ औषधरूप हैं। ऋतुओं की सन्धियों में रोग उत्पन्न होते हैं। अतएव उनके निवारणार्थ यह यज्ञ ऋतुओं की सन्धियों में किये

जाते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यज्ञ लौकिक तथा पारलौकिक उभयविध कल्याण के सोपान हैं।

श्रौतयज्ञ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती

आर्यसमाज की दृष्टि में महर्षि दयानन्द को विशेष स्थान प्राप्त है। अत: वे इन यज्ञों को वेदानुकूल तथा प्रामाणिक मानते हैं या नहीं, यह विचारना भी आवश्यक है। जहां तक प्रक्रिया का सम्बन्ध है, उन्होंने इन यज्ञों की प्रक्रिया का वर्णन अपने ग्रन्थों में नहीं किया। संस्कारविधि में जिन यज्ञपात्रों के चित्र दिये हैं, उन सब का काम संस्कारविधि में नहीं पड़ता। अधिकांशतया उनका कार्य श्रौतयज्ञों में ही होता है। अत: इससे प्रतीत होता है कि वे श्रौत-यज्ञों पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते थे। ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका के प्रतिज्ञाविषय में वे लिखते हैं—

"परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते। कुतः, कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैत-रेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्"। ऋग्वेद-भाष्य भाग १, पृष्ठ ३८८॥

अर्थात् वेदभाष्य में मन्त्रों का याज्ञिक अर्थ नहीं करेंगे, क्योंकि ऐतरेय-शतपथब्राह्मण पूर्वमीमांसा तथा श्रौतसूत्रों में इनका यथावत् विनियोग लिखा हुआ है।

यहां पर **'यथार्थं विनियोजितत्वात्'** पद विशेष ध्यान देने योग्य है। यदि स्वामी जी महाराज श्रौतयज्ञों को प्रामाणिक न मानते, तो इस प्रकार कभी नहीं लिखते। इसी प्रकार भूमिका के ग्रन्थ-प्रामाण्याप्रामाण्य प्रकरण में भी— **"श्रौतसूत्रादिविरुद्धास्त्रिकाण्डस्नानसूत्रपरिशिष्टादयो ग्रन्थाः"** (ऋग्वेद भाष्य भाग १, पृष्ठ ३२१) श्रौतसूत्रों को प्रामाणिक मानकर तद्विरुद्ध त्रिकाण्डस्नानादि ग्रन्थों को हेय लिखा है। संस्कारविधि में वेदारम्भान्तर्गत पाठविधि में इन्हें पठनीय लिखा है। यथा—**"तत्पश्चात् बह्वृच् ऐतरेय ऋग्वेद का ब्राह्मण आश्वलायनकृत श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र···"** (आर्यसमाज शताब्दी संस्करण, पृष्ठ १३१) इत्यादि। इससे भी इनकी प्रामाणिकता सिद्ध है। प्रामाणिकता का अभिप्राय वेदानुकूलतया ही लेना चाहिये। अतएव स्वामी जी महाराज ने उपर्युक्त स्थल पर टिप्पणी की है—**"जो ब्राह्मणग्रन्थ तथा श्रौतसूत्र हिंसापरक हों, उनका प्रमाण नहीं करना चाहिये।"** (संस्कार

विधि शताब्दी सं०, पृष्ठ १३१)। इतना होने पर भी इनकी **प्रामाणिकना** में कोई हानि नहीं पहुंचती। **अतः** स्वामी दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में श्रौत-यज्ञ वैदिक हैं।

श्रौतयज्ञ और वेद

वेद इन यज्ञों को कितना आवश्यक समझता है, इसके लिये अथर्ववेद का शालासूक्त देखिये। वहां लिखा है—

"हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः सदो देवानामसि देवि शाले"।
अथर्व ९।४।७॥

अर्थात् गृह में इतने विभाग होने चाहिएं—हविर्धान=यज्ञीय पदार्थ रखने का स्थान। अग्निशाला=आहवनीयादि अग्नियों का स्थान, पत्नीनां सदः=स्त्रियों के बैठने का स्थान, देवानां सदः=पुरुषों के बैठने का स्थान। इस मन्त्र का अर्थ संस्कारविधि में भी है। जो मनुष्य श्रौतयज्ञ करना चाहता है, उसे कम से कम आहवनीय, गार्हपत्य, तथा दक्षिणाग्नि इन तीन अग्नियों का स्थापन करना होता है। वेद में इनका नामतः उल्लेख अथर्ववेद (कां० ८, सूक्त १०; तथा कां० १५, सू० ६, मं० १४) में है [लेख के विस्तार के डर से सर्वत्र मन्त्र उद्धृत न करेंगे]। अग्न्याधेय वा अग्न्याधान का वर्णन अथर्ववेद (कां० ११, सू० ७, मं० ८) में है।

हविर्यज्ञों में मुख्य द्रव्य व्रीहि और यव हैं। कई एक महानुभाव यह कहते हैं कि यज्ञों का कार्य सुगन्ध करना है। अतएव व्रीहि और यव यज्ञ में डालना व्यर्थ है, क्योंकि इनसे सुगन्ध नहीं होती। उनसे हमारा निवेदन है कि यज्ञ का कार्य केवल वायुशुद्धि ही नहीं है। यह तो एक आनुषङ्गिक प्रयोजन है, वास्तविक प्रयोजन तो अध्यात्म-उन्नति है। यह पूर्व लिखा जा चुका है कि **यज्ञ एक रंगमञ्च है। अतएव इसके प्रत्येक पदार्थ तथा क्रियाएं अध्यात्म तथा अधिदेव जगत् के प्रतिनिधि हैं।** यज्ञ में जो व्रीहि और यव हैं, वे ही अध्यात्म में प्राण और अपान है। वेद कहता है—"**प्राणापानौ व्रीहियवौ**" (अथर्व ११।४।१३)। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना उचित है।

यज्ञ में घृतादि-प्रक्षेप के साधनीभूत ३ स्रुच् होते हैं—जुहू, उपभृत्, और ध्रुवा। यजुर्वेद (अ० २ मं० ६) में—"**घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना···। घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना। घृताच्यसि ध्रुवा नाम्ना···।**" इन तीनों का नाम स्पष्ट मिलता है। यज्ञ में इन्हीं मन्त्रों द्वारा इन तीनों का यज्ञशाला में स्थापन भी होता है।

इसी प्रकार अथर्ववेद (कां० १४ । सू० ४ । मं० ५, ६) में इनका उल्लेख है। अथर्ववेद (कां० १८। सू० ४। मं० २) '**देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि**' में इन तीनों स्रुच् को यज्ञ के शस्त्र कहा है। यज्ञ में ब्रह्मा का आसन दक्षिण दिशा में होता है। वेद भी कहता है—"**ब्रह्मा दक्षिणतस्तेऽस्तु** (अथ० १८।४।१५)। सोमयागों में एक उत्तरवेदि होती है। उसमें सदोमण्डप तथा हविर्धानमण्डप नाम के दो स्थान होते हैं। इसी प्रकार एक यूप होता है (कहीं कहीं एकादश भी होते हैं), इनका वर्णन अथर्ववेदान्तर्गत पृथिवी-सूक्त के ३८ वें मन्त्र में निम्न प्रकार आता है—"**यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते**"। अर्थात्—**स्वदेशभक्ति के भाव से पूरित कोई भक्त मातृ-भूमि की महिमा का वर्णन करते हुए कहता है**—जिस भूमि पर अग्निष्टोमादि याग करने के लिये सदोमण्डप, हविर्धानमण्डप तथा यूप बनाया जाता है, जिस पर ऋग्वेदादि के वेत्ता मन्त्रों से स्तुति करते हैं, जिस पर ऋत्विग् लोग इन्द्र को सोम पिलाने के लिये यागादि कर्मों में युक्त होते हैं, उस मातृ-भूमि की महिमा बहुत बड़ी है। सोमयाग के साधनीभूत पात्नीवत ग्रह तथा हरियोजन चमस का नाम यजुर्वेद (अ० ८। मं० ६, ११) में आता है। यजुर्वेद के १६ वें अध्याय में सौत्रामणि याग का वर्णन है। इसके १५-३० तक के मन्त्रों में अनेक यज्ञीय पदार्थों तथा क्रियाओं का नाम आता है। हम यहां मन्त्रों को उद्धृत न करके केवल नाम ही लिखते हैं। जो अधिक देखना चाहें, उन मन्त्रों को देखें।

वे नाम ये हैं—सोम, आसन्दी, कुम्भी, [1]सुराधानी, उत्तरवेदि, वेदि, यूप, हविर्धान, आग्नीध्र, पत्नीशाल, गार्हपत्य, प्रैष, आप्री, प्रयाज-अनुयाज, वषट्कार पशु, पुरोडाश, सामधेनी, याज्या, धानाः, करम्भ, सक्तु, परीवाप, पयः, दधि, आमिक्षा, वाजिन, आश्रावण, प्रत्याश्रवण, यज, ये यजामहे, द्रोण, कलश, स्थाली, अवभृथ, इडा, सूक्तवाक, शंयु (वाक) पत्नी संयाज, समिष्ट यजुः, दीक्षा, दक्षिणा।

पाठकवृन्द ! इन श्रौत नामों पर विचार करें। वेद में उन्हीं संज्ञाओं का उल्लेख है, जिनका ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रकारों ने वर्णन किया है। बल्कि यों कहना चाहिये कि इन ग्रन्थों के बनानेवाले ऋषियों ने वेद के आधार पर ही इन यज्ञप्रक्रियाओं को पल्लवित किया।

---

१. यह सुरा मदिरा नहीं है, अपितु त्रिदिवससाध्य 'कांजी' के समान पेय पदार्थ है। द्र०—महाभाष्य हिन्दी व्याख्या, भाग १, पृष्ठ २१।

इसके आगे १९ वें अध्याय के ३१ वें मन्त्र में कहा है—

'एतावद्रूपं यज्ञस्य यद्देवैर्ब्रह्मणा कृतम् ।
तदेतत्सर्वमाप्नोति यज्ञे सौत्रामणी सुते ।।'

अर्थात्—देवों (ऋत्विग्) और ब्रह्म के द्वारा रचे गये यज्ञों का इतना ही स्वरूप है। सौत्रामणि यज्ञ करने पर इन सब को प्राप्त कर लेता है। सौत्रामणि यज्ञ करने पर इन सब को प्राप्त कर लेता है। सोमयागों में उद्गातृगण से गेय रथन्तर वैरूप वैराज आदि नाम के अनेक साम हैं। उनके स्तोमों की संख्या भी पृथक्-पृथक् है। इन सामों का वर्णन ताण्डच ब्राह्मण में विस्तार से किया है। वेद में भी स्थल-स्थल पर इन सामों का उल्लेख है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद के पांच मन्त्रों के टुकड़े उद्धृत करते हैं—

......रथन्तरꣳ साम त्रिवृत्स्तोमः...।...बृहत्साम पञ्चदश स्तोमः...। वैरूपꣳ साम सप्तदश स्तोमः...। वैराजꣳ सामैकविंश स्तोमः...।...शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ...।। यजुः १०।१०-१४ ।।

इन मन्त्रों में क्रम से रथन्तर, बृहत्, वैराज, शाक्वर तथा रैवत इन ६ सामों का स्तोमसंख्या के सहित उल्लेख किया गया है।

ऊपर हमने यज्ञीय पदार्थों तथा क्रियाओं के नाम वेद में दिखला दिये। वेद की ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतसूत्रों से कितनी समानता है, यह आप देख चुके। अब यज्ञ की प्रक्रिया का भी दिग्दर्शन वेद से कराया जाता है। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्रों में अतिथि-यज्ञ की अग्निष्टोम से तुलना की गई है। विस्तार के भय से मन्त्रों का संक्षिप्त भावार्थ ही दिया जायेगा—

'यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ।। ३ ।। यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्रणयति ।। ४ ।। या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ।।५।। यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते[1] स एव सः ।।६।। यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ।।७।। यत्कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ।।१०।। यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ।।११।। यत्पुरा परिवेशात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ।।१२।।

---

१. यह 'वध हिंसायाम्' का रूप नहीं है, अपितु 'बन्ध बन्धने' का रूप है। यज्ञों में पशु मारे नहीं जाते, केवल यूप में बांधे जाते हैं। (द्र०—अगला लेख) इसी कारण इनका नाम 'पशुबन्ध है, 'पशुबव' नहीं है।

यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद् ह्वयन्ति ।।१३।। ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तें-ऽशव एव ते ।।१४।। यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ।।१५।। शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीराप: ।।१६।। स्रुक् दर्वीर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम्' ।।१७।। अथर्व ६।६ (१) ।।

जो अतिथिपति (गृहस्वामी) अतिथियों को देखता है, वह देवयजन भूमि के प्रेक्षण तुल्य है। जो उनको नमस्कार करता है, वह दीक्षा ग्रहण के तुल्य है। उनको जलदेना अप: =प्रणयनवत् है।जो उनको तर्पण देता है,वह अग्नीषोमीय पशु के बन्धन तुल्य है। उन के निवास के लिये गृह की व्यवस्था करना सदो-मण्डप तथा हविर्धानमण्डप बनाने के तुल्य है।·· खाट पर चादर और तकिया रखना परिधि रखने के तुल्य है। अतिथियों के लिये अंजन तथा उबटन लाना आज्य (घृत) रखने के तुल्य है। जो भोजन से पूर्व जलपान कराना है, वह पुरोडाश तुल्य है। जो भोजन बनानेवाले को बुलाता है, वह मानो हवि-ष्कृत् (हवि: बनानेवाले) को बुलाता है। भोज्य-सामग्री में जो जौ और धान वर्ते जाते हैं, वह मानो सोम के टुकड़े हैं। ऊखल और मूसल सोम कूटने के पत्थर तुल्य हैं। शूर्प पवित्र (=दो कुशा विशेष) तुल्य, तुष ऋजीष तुल्य, जल अभिषवण के लिये जो जलविशेष है उसके तुल्य, कड़छी दर्वीतुल्य, घड़े द्रोणकलश तुल्य, भोजन परोसने के पात्र वायव्यादि ग्रहों के तुल्य, और भूमि कृष्णाजिन के तुल्य है।।

'उपहरति हवींष्यासादयति ।। ३ ।। तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ।। ४ ।। स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ।। ५ ।। एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथय:' ।। ६ ।।

अथर्व ६।६ (२)।।

अतिथियों के लिये भोजन परोसना वेदि में हवि: रखने के तुल्य है। उनके समीप में पड़ी हुई वस्तुओं में से अतिथि अपनी इच्छानुसार हस्तरूपी स्रुक् से स्रुक्कार (सड़प-सड़प) रूपी वषट्कार द्वारा अपने पेट में हवन करता है। ये ही प्रिय वा अप्रिय अतिथिरूपी ऋत्विग् यजमान को स्वर्ग में पहुंचाते हैं।।

'यत् क्षत्तारं ह्वयत्याश्रावयात्येव तत् ।। १ ।। यत्प्रतिशृणोति प्रत्याश्राव-यत्येव तत् ।।२।। यत्परिवेष्टारः पात्रहस्ता: पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्व-र्यव एव ते ।।३।।' (अथर्व ६।६ (६)।।

जो गृहस्वामी क्षत्ता को बुलाता है, वह आश्रावण के तुल्य है [अथर्व ७।६।६]। क्षत्ता का प्रत्युत्तर देना प्रत्याश्रावणतुल्य है। जो परिवेष्टा लोग हाथ में पात्र लेकर परोसने के लिए इधर-उधर घूमते हैं, वह चमसाध्वर्यु तुल्य हैं, इत्यादि।।

पाठकवृन्द ! वेद के इन मन्त्रों पर विचार करें। वेद ने जहां अतिथियज्ञ की सोमयाग से तुलना करके उसकी महत्ता को बतलाया, वहां साथ ही सोमयाग की प्रक्रिया का भी स्पष्ट उल्लेख किया। इस वर्णन में सोमयाग की समस्त मुख्य-मुख्य क्रियाओं का समावेश हो गया है। क्या अब भी श्रौतयज्ञों की वैदिकता में कोई सन्देह रह सकता है ?

इन श्रौतयज्ञों के नाम वेदों में अनेक स्थलों पर आये हैं। उन सब का उल्लेख न करके अथर्ववेद के **उच्छिष्ट सूक्त** में जितने नाम पाए जाते हैं, उनका वर्णन करके इस लेख को समाप्त करता हूं—

'महाव्रत, राजसूय, अग्निष्टोम अर्क, अश्वमेध, अग्न्याधेय, सत्र, अग्निहोत्र, एकरात्र, द्विरात्र, सद्यःक्री प्रक्री, उक्थ्य, चतूरात्र, पञ्चरात्र, षड्रात्र, षोडशी, सप्तरात्र, विश्वजित्, अभिजित् साह्न, त्रिरात्र, द्वादशाह, चतुर्होतारः, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, इष्टियां [बहुवचन से समस्त नित्य नैमित्तिक इष्टियों का ग्रहण हो सकता है]' । अथर्व ११।७।६-१९ ।

इसी प्रकार अथर्व ७।७९।३ में **'दर्श'**, और ७।८०।२ में **'पौर्णमास'** का उल्लेख है।

श्रौतयज्ञों का जितना वर्णन मैंने वेद में पाया, उतना संक्षेप से पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर दिया। पाठक महानुभाव इस पर विचार करें, और अपने विचार समय-समय पर प्रकट करें। मेरा अपना विचार यह है कि ये समस्त श्रौतयाग वस्तुतः वैदिक हैं। अतएव इनका प्रचार आर्यसमाज में निसन्देह होना चाहिये (पशुयाग का स्वरूप अवश्य विचारणीय है)। जब तक इन यागों का विधि-पूर्वक प्रचार न होगा, तब तक देश की सच्ची उन्नति कभी नहीं हो सकती। जो महानुभाव केवल आध्यात्मिक उन्नति के ही पुजारी हैं, वे भी अपनी आध्यात्मिक उन्नति बिना यज्ञों के नहीं कर सकते।

हमारा प्राचीन इतिहास बताता है कि समस्त अध्यात्मज्ञानी ऋषि-महर्षि इन यज्ञों का अनुष्ठान किया करते थे। इसी कारण से भारत की उन्नति थी। ज्यों-ज्यों यज्ञों का ह्रास होता गया, देश की भी अधोगति होती गई। हो भी

क्यों न, जबकि वेदभगवान् स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—"**अयज्ञियो हतवर्चा भवति**" (अथर्व १२।३।३७)। अर्थात् यज्ञ न करनेवाला वर्चस्वी नहीं रहता।

इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी लिखा है—

'योऽयमनग्निकः स कुम्भे लोष्ठः, तद् यथा कुम्भे लोष्ठः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्पते नैव सस्यं निर्वर्तयति, एवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकः। तस्य ब्राह्मणस्याग्निकस्य नैव दैवं दद्यान्न पित्र्यम्, न चास्य स्वाध्यायाशिषो न यज्ञाशिषः स्वर्गङ्गमा भवन्ति' ।।गो० ब्रा० पृष्ठ ३४।।

अर्थात्—जिसने अग्न्याधान नहीं किया है, वह मनुष्य घड़े में पड़े हुए मिट्टी के ढेले के तुल्य है। अर्थात् जैसे उस मिट्टी से न तो हाथ आदि धोये जा सकते हैं, और न ही धान उत्पन्न हो सकता है, इसी प्रकार अग्निरहित मनुष्य भी देव और पितृ सम्बन्धी कर्म से रहित होता है। स्वाध्याय तथा यज्ञ से होनेवाला फल उसे नहीं मिलता।।

आजकल आर्यसमाज की बहुत ही भयानक परिस्थिति हो रही है। इन यज्ञों का यथावत् अनुष्ठान करना तो दूर रहा, वह इनकी आवश्यकता को ही नहीं समझता। कई एक विद्वान् इनके विरुद्ध प्रचार करते हैं। कई एक महानुभाव संस्कारविधि को बदलने पर कमर कसे बैठे हैं। उनकी दृष्टि में इसमें भी पाखण्ड है, अन्य महानुभाव संस्कारविधि से आये हुए गृह्यसूत्रों के मन्त्रों के स्थान पर वेदमन्त्रों को रखने का प्रस्ताव करते हैं। क्या यह सब हमारी श्रद्धा की न्यूनता को प्रकट नहीं करते ? क्या वेद के अनन्य भक्त ऋषि महर्षि इतने अल्पज्ञ और स्वाध्यायरहित थे, कि उन्हें वेदमन्त्र उपलब्ध न हो सके, और उन्होंने अपने वाक्यों को गृह्यसूत्रों में स्थान दिया ? क्या हम तत्तद्भाव से पूरित वेदमन्त्र ढूंढने में समर्थ हो सकेंगे ? मेरा अपना तो यही विश्वास है कि जिस यज्ञ की जैसी विधि प्राचीन ग्रन्थों में लिखी है, उनको उसी विधि से यथावत् करने से ही लाभ होगा। अन्यथा कुछ भी हाथ नहीं आएगा। कर्मकाण्ड श्रद्धा का विषय है, सूखे तर्क से यहां काम नहीं चलता। वेद भगवान् भी कहते है—'**श्रद्धया अग्निः समिध्यते श्रद्धयाहूयते हविः** (ऋ० १०। १५१।१) अर्थात् श्रद्धाभक्ति से ही यज्ञादि कार्य हो सकते हैं। अन्त में मैं उस विश्वनियन्ता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि वह अपनी दया से हममें श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करे। जिससे हम वेदप्रतिपादित कर्मों का यथावत् अनुष्ठान कर सकें।

[यह लेख मैंने सन् १९३५ के मध्य में **'दिवाकर'** नामक मासिक पत्र के वेदाङ्क (अक्तूबर १९३५) के लिये लिखा था। उस समय तक मैं ब्राह्मणग्रन्थों श्रौतसूत्र एवं मीमांसा में प्रतिपादित द्रव्यमय श्रौतयज्ञों को आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत् का रूपक मानते हुए भी इन्हीं श्रौतयज्ञों का प्रतिपादन ही वेद में भी मानता था। परन्तु आगे वैदिक वाङ्मय के बार-बार अनुशीलन से मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि वेदमन्त्रों में प्रतिपादित यज्ञ **'सृष्टि-यज्ञ'** ही हैं। उन्हीं का निदर्शन कराने के लिये ब्राह्मणादि ग्रन्थोक्त श्रौतयज्ञों का का ऋषियों ने प्रतिपादन किया है। अर्थात् द्रव्यमय श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ के रूपक अथवा व्याख्यान हैं (द्रष्टव्य—पूर्व पृष्ठ ६-१४, ४०-४५, ७३-८०)। श्रौतयज्ञों में पशुयागों की भी गणना है। उनके वास्तविक स्वरूप के लिये देखिए अगला लेख—**"श्रौत 'पशुबन्ध' यज्ञ, और पश्वालम्भन"**।]

—:०:—

श्रौत 'पशुबन्ध' यज्ञ और पश्वालम्भन

प्रस्तुत विषय पर हमने एक लेख इक्कीस वर्ष पूर्व **'श्रौतयज्ञ और पश्वालम्भ'** शीर्षक से लिखा था (द्र०—वेदवाणी वर्ष ८, अङ्क १, कार्तिक-मार्गशीर्ष २०१२)। उसे ही परिष्कृत और परिवर्धित करके उपरिनिर्दिष्ट शीर्षक से नये रूप में छाप रहे हैं। मूल विषय और परिणाम तो लेख का वही है, जो इक्कीस वर्ष पूर्व लिखा था। परन्तु इस सुदीर्घ काल में जो नई उपलब्धियां हुईं, उनको सम्मिलित करने के लिये इसे पुनः तैयार किया है।

इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस लेख से संबद्ध कुछ आवश्यक विषय, जिसकी पृष्ठभूमि पर यह लेख आधृत है, प्रस्तुत संग्रह में मुद्रित **'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा'** शीर्षक निबन्ध में समाविष्ट हो चुका है। उसका यहां पुनः पिष्टपेषण नहीं करेंगे। पाठकों से निवेदन है कि इस लेख को पढ़ने से पूर्व **'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा'** शीर्षक लेख समग्ररूप में (पृष्ठ ६१ से १३७) पढ़ लें, तो अच्छा होगा। अन्यथा प्रस्तुत संग्रह के पृष्ठ ७२ से ९७ तक **'याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ'** प्रभाग के अन्तर्गत प्रकरण अवश्य देख लें।

यज्ञ की परिभाषा एवं यज्ञों के भेद

यज्ञ की परिभाषा—श्रौतयज्ञों के मूल स्वरूप को समझने के लिये आवश्यक है कि हम श्रौतसूत्रकारों के यज्ञ के पारिभाषिक अर्थ को समझ लें। श्रौतसूत्रकारों ने यज्ञ की यह परिभाषा लिखी है—'**द्रव्यं देवतात्यागः** (का० श्रौत १।२।२)। इसका अर्थ है—किसी देवता को उद्देश करके किसी द्रव्य का त्याग करना=देना[1]। यज्ञ में देवतोद्देश से हव्य द्रव्य का त्याग यजमान

---

१. त्याग का अर्थ है—'बुद्धिपूर्वक किसी को कोई वस्तु समर्पित करते हुए उस वस्तु से स्वस्वत्व की निवृत्ति करना। और जिसे वस्तु दी जा रही है,

प्रायः अग्नि में करता है। परन्तु त्याग=प्रक्षेप कहां करे इसका निर्देश पारिभाषिक अर्थ में न करने से **'देवतोद्देश से द्रव्य का त्याग'** इतना ही द्रव्य का तात्पर्य समझना चाहिए। इसीलिये सोमयागों के अन्त में अवभृथ होम **जल** में किया जाता है—**अप्सु जुहोति** (का० श्रौत १०।८।२६), और सोमक्रय के लिये सोमक्रयणी (=जिसे देकर सोम खरीदना होता है) गौ को सोमविक्रयी के समीप ले जाते समय गौ का सातवां पैर जहां भूमि पर पड़ता है, उस स्थान में घृताहुति दी जाती है—**सप्तमे पदे जुहोति** (तै० सं० ६।१।८)। इसी प्रकार वृषोत्सर्ग यज्ञ में वृष (=सांड) का प्रजापति (=प्रजननकर्त्ता) देवता के लिये वृषभ पर विशेष चिह्न अङ्कित करके त्याग=उत्सर्जनमात्र होता है।

यज्ञों के श्रौत स्मर्त दो भेद—संहिता ब्राह्मण और कल्पसूत्रों (=श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रों) में जितने प्रकार के यज्ञों का विधान उपलब्ध होता है, वे यज्ञ श्रौत स्मार्त भेद से दो प्रकार के हैं। श्रौतयज्ञ वे कहाते हैं, जिनका श्रुति (=संहिता=ब्राह्मण[1]) में साक्षात् विधान होता है। स्मार्त यज्ञ उनको कहते हैं, जिनका विधान गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में मिलता है। गृह्यसूत्रों में प्रधानतया संस्कार और गृहस्थ उपयोगी कर्मों का विधान किया है, और धर्मसूत्रों में मानवसमाज के विभाग एवं विभागशः विशिष्ट कर्तव्यों का निरूपण किया है। यतः गृह्य और धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का श्रुति में साक्षात् विधान नहीं मिलता, अतः ऋषियों ने **श्रुति के अन्यार्थपरक वचनों में** इन कर्मों का संकेत उपलब्ध करके इनका विधान=स्मरण किया है।[2] इसलिये

उसका उस वस्तु पर स्वत्व प्राप्त कराना।' 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादानं त्यागः'। इस अभिप्राय के अनुसार **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** (यजुः० ४०।१) का अर्थ होगा—'उस चराचर के ईश द्वारा जो भोज्य पदार्थ प्रदत्त हैं, उन्हीं का भोग करो। अन्य के धन=भोग्य पदार्थों की आकांक्षा मत करो।

१. जैसे याज्ञिकों की मन्त्र और ब्राह्मण की **'वेदसंज्ञा'** और **'आम्नाय संज्ञा'** पारिभाषिक है (द्र०—वेदसंज्ञा-मीमांसा, पूर्व पृष्ठ १४३, १५२; हिन्दी में पृष्ठ १६२, १७३), उसी प्रकार उनके मत में श्रुतिसंज्ञा भी मन्त्र ब्राह्मण की पारिभाषिक है।

२.—द्र०—वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' लेख, पूर्व पृष्ठ १५-१६, हिन्दी में पृष्ठ ४५-४७।

ये गृह्य और धर्मसूत्र 'स्मृति' कहाते हैं। श्रुति और स्मृति का कदाचित् विरोध होने पर श्रुति को प्रमाण माना जाता है, स्मृति प्रमाणार्ह नहीं मानी जाती है—**विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्** (मीमांसा १।३।२)।

इस प्रकार श्रौत-स्मार्त भेद से पशुबन्ध यज्ञों के भी दो भेद हैं। यहां हम श्रौत पशुबन्ध के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे। क्योंकि श्रौतयज्ञ ही मुख्य हैं।

यज्ञों के पुनः तीन भेद—नित्य नैमित्तिक और काम्य—श्रौत और स्मार्त दो भागों में विभक्त यज्ञों के पुनः प्रत्येक के तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। **नित्य यज्ञ** वे कहाते हैं, जिनके यथाकाल नियमतः करने का विधान है। याज्ञिकों के मतानुसार इनके करने में कोई फल नहीं होता, परन्तु करने में प्रत्यवाय (=पाप) होता है। हमारा विचार है कि नैत्यिक कर्म निष्कान भाव=केवल कर्तव्य बुद्धि से क्रियमाण होने से इनका फल आत्मशुद्धि-पूर्वक मोक्षप्राप्ति है। दूसरे **नैमित्तिक कर्म** वे हैं, जो गृहादि दाह होने, भीषण भूकम्प आने, अतिवृष्टि आदि निमित्त होने पर किये जाते हैं। **काम्य कर्म** वे हैं, जो ग्राम-प्राप्ति पशुप्राप्ति धनप्राप्ति यशःप्राप्ति आदि की कामना से किये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न कामनाओं के लिये भिन्न-भिन्न पचासों यज्ञ कहे गए हैं। इन विविध कर्मों का त्रेता युग में विस्तार हुआ—'**तानि त्रेतायां बहुधा संततानि**' (मुण्डक उप० १।२।१)।

पुनः तीन भेद—उक्त तीनों प्रकार के श्रौतयज्ञों के पुनः तीन भेद होते हैं। यह भेद यज्ञीय पदार्थों के भेद के कारण होते हैं। इनमें प्रथम वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य मानव के भोज्य पदार्थ हैं। यथा—यव व्रीहि तिल गोधूम दुग्ध दही घृत आदि। इन्हें **पाकयज्ञ** कहते हैं। क्योंकि इनके हव्य द्रव्य पुरोडाश चरु आदि को अग्नि पर पकाया जाता है। दूसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य सोम अथवा तत्स्थानीय पूतिका (तृणविशेष) होता है। इन्हें **सोमयाग** कहते हैं। तीसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य अज आदि पशु होता है। इनको पशुयज्ञ न कह कर इनका नामकरण **पशुबन्ध** किया है। इनके पशुबन्ध नामकरण में जो रहस्य है, वह आगे स्पष्ट होगा।

प्रकृत निबन्ध का विषय—ये पशुबन्ध याग ही हैं। इन्हीं के विषय में शास्त्रों में विप्रतिपत्ति उपलब्ध होती है। मध्यकालिक एवं अर्वाक्कालिक याज्ञिक पशुयज्ञों में पशु को मारकर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का होम करते रहे,

वा मानते रहे। वैष्णव मतानुयायी पशु के स्थान पर पिष्टपशु बनाकर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों से याग का विधान मानते हैं। महाभारत आदि इतिहासग्रन्थों के अवलोकन से विदित होता है कि प्राचीन ऋषियों का यह मत था कि वेद में प्रयुक्त **अजादि** शब्द पशुवाचक नहीं हैं, अपितु बीजविशेष के वाचक हैं।[1]

यज्ञों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य विषय

प्रकृत पशुयज्ञ विषय पर पूरी तरह विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रकृत श्रौतयज्ञों का प्रयोजन, इनकी उत्पत्ति का काल, विकास, तथा यज्ञों में समय-समय हुए विविध परिवर्तन आदि विषयों पर पहले विचार करना उचित है। उसके पश्चात् ही पशुयज्ञ के सम्बन्ध में विचार करने में सुविधा होगी।

इन विषयों पर हम **'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा'** लेख में लिख चुके हैं। अतः पाठकों से निवेदन है कि वे पूर्व पृष्ठ ७२—**'यज्ञों की कल्पना का प्रयोजन'**; पृष्ठ ७३—**'यज्ञों की कल्पना का आधार**; पृष्ठ ७४—**'यज्ञों की आधिदैविक सृष्टियज्ञों से तुलना'** आदि प्रकरण देख लें। इन प्रकरणों से भले प्रकार व्यक्त हो जाता है कि श्रौत द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना सृष्टिरूपी महायज्ञ के एक-एक देश को समझाने के लिये की गई है। इसलिये इनमें और सृष्टियज्ञ के अवयवरूप कार्य में बहुत समानता है। इनका क्रम भी सृष्टियज्ञ का ही अनुगमन करता है। यथा—

१. पृथिवी की सलिलावस्था से ओषधिवनस्पति के सर्जन, और वनस्पतियों के संघर्ष से पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्न्युत्पत्ति का अन्वाख्यान, अग्न्याधान के अन्तर्गत वेदिनिर्माण, और अरणियों के मन्थन से अग्न्युत्पत्ति द्वारा किया है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ७४-७९)।

---

१. वीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥महा० शान्ति० ३३७।४॥ ये अजसंज्ञक बीज तीन वर्ष से अधिक काल के प्ररोहण के अयोग्य व्रीहि और यव थे। द्र०—वायुपुराण ५७। १००,१०१, तथा मत्स्य पुराण १४३।१४॥ स्याद्वादमञ्जरी श्लोक २३ की व्याख्या में त्रिवार्षिक व्रीहि और यव, पञ्चवार्षिक तिलमसूरादि, और सप्तवार्षिक कङ्कुसर्षपादि धान्य 'अज' कहे गये हैं। विशेष इसी लेख में आगे देखें।

२. सृष्टि में प्राणियों के अनुभव में आनेवाले क्रमशः विभाग हैं—दिन-रात, शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष, तीन प्रधान ऋतुएं, उत्तरायण दक्षिणायन, एवं वर्ष। इन सृष्टचवयवगत परिवर्तनों वा परिस्थितियों का व्याख्यान करनेवाले क्रमशः यज्ञ हैं—सायं प्रातः का अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास, चतुर्मास्य, गवामयन, एवं ज्योतिष्टोम (सोमयाग)।

यज्ञों के आधिदैविक व्याख्यान के संकेत

अग्निहोत्र में सायं अग्नि देवता होती है। रात्रि की देवता=द्योतन-कर्त्ता=प्रकाशक अग्नि ही होती है। प्रातः सूर्य देवता होती है। दिन में प्रकाशक सूर्य ही होता हैं। उसके आगे अग्नि विद्युत् आदि सब का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। अग्निहोत्र की आध्यात्मिक व्याख्या शतपथ ११।३।१।१४ में देखें।

दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ में ११।२।४।१ से ११।२।७।३३ तक विस्तार से की है। दोनों पक्षों में पन्द्रह-पन्द्रह दिन मिलकर ३० दिन होते हैं। दोनों यज्ञों में भी पन्द्रह-पन्द्रह (=प्रयाजों की ५, अनुयाजों की ३, आघारावाज्यभाग की ४, और प्रधानाहुति ३) आहुतियां मिलाकर ३० आहुतियां होती हैं। कहा भी है—**त्रिंशत्त्वेवाहुतयो भवन्ति।**[1] दोनों पक्षों में पूरे तीस दिन नहीं होते, कभी २९ भी माने जाते हैं। इस पक्ष की उपपत्ति दर्श में सान्नाय्ययाजी (=दूध दही द्रव्ययाजी) पक्ष में इन्द्रदेवताक दूध और इन्द्रदेवताक दही दोनों की समान देवता होने से इकट्ठी (१ आहुति) देने से दर्शाई गई है। इस प्रकार सान्नाय्ययाजी पक्ष में दर्श की १४ आहुतियां, और पौर्णमास की १५ आहुतियां मिलकर २९ होती हैं।

चातुर्मास्य के लिये कौषीतकि ब्रा० ५।१ में लिखा हैं—'**भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते।** अर्थात् चातुर्मास्य भैषज्य (=चिकित्सा) यज्ञ है। ऋतुसन्धियों में रोग होते हैं। इसलिये चतुर्मास्य ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं।

---

१. आहुतियों का परिमाण गणनाभेद से भिन्न-भिन्न दर्शाया है। मीमांसा २।२।८ के भाष्य में पौर्णमासेष्टि में १४ आहुतियां, और दर्श में १३ आहुतियों का बोधक वचन पढ़ा है—'चतुर्दश पौर्णमासाहुतयो भवन्ति, त्रयोदशामावास्यायाम्'। शतपथ ११।२।६।१० में २१ आहुतियां एक पक्ष में गिनाई हैं।

गवामयन शब्द का अर्थ ही है—सूर्य की किरणों की उत्तर दक्षिण गति। अतः इसका आधिदैविक तत्त्व नाम से ही स्पष्ट है।

ज्योतिष्टोम के लिए कहा है—**'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत।'**[1] एक वसन्त से दूसरे वसन्त से पूर्व तक सूर्य की पूरी परिक्रमा हो जाती है। इसीलिये उत्तर भारत में चैत्र शुक्ला १ से वर्ष का आरम्भ माना जाता है। ऋतुओं में वसन्त ऋतु सौम्य होती है। अतः इस ऋतु में किये जानेवाले यज्ञ का द्रव्य भी सोम है। आयुर्वैदिक सिद्धान्त के अनुसार शीत ऋतु में संचित कफ वसन्त में सूर्य की पूर्व ऋतु की अपेक्षा प्रखर किरणों से कुपित होता है। उसके शमन के लिये वमन विरेचन के जो द्रव्य लिखे गये हैं, उनमें एक सोम भी है।

इस संक्षिप्त निर्देश से इतना तो जाना ही जा सकता है कि श्रौत नित्य यज्ञों का सम्बन्ध सृष्टिगत यज्ञों के साथ है। इसीलिये हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में सब से छोटी इकाई 'अहोरात्र' से लेकर 'एक सहस्र चतुर्युगी' तक वर्तमान रहनेवाले हमारे ब्रह्माण्ड (=सौरमण्डल) की स्थिति पर्यन्त सृष्टिगत परिवर्तनों का व्याख्यान करने के लिये दैनिक अग्निहोत्र से लेकर सहस्र संवत्सर-साध्य यज्ञों की प्रकल्पना हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने की है।

वेद-प्रतिपादित यज्ञ सृष्टियज्ञ हैं

वेद में जितने यज्ञों का उल्लेख मिलता है, वे सब सृष्टियज्ञ ही हैं, लौकिक यज्ञ नहीं हैं। उदाहरण के लिये हम 'पुरुषमेध' को उपस्थित करते हैं। पुरुषमेध में यजुर्वेद का ३१वां अध्याय तथा ऋग्वेद का १०।९० पुरुष सूक्त विनियुक्त है। इस सूक्त में श्लेषालङ्कार से प्राकृतिक विराट् पुरुष (=महद् अण्ड=हिरण्यगर्भ) का और त्रिगुणातीत परम विराट् पुरुष ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। हम इस प्रकरण के कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं। जिनसे स्पष्ट हो जायगा कि श्रौत पुरुषमेध में विनियुक्त मन्त्रों में किस पुरुष का उल्लेख है, उसका मेध क्या है। यजुर्वेद अ० ३१ का पांचवां मन्त्र है—

ततो विराड् अजायत विराजो अधिपुरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चात् भूमिमथो पुरः॥

प्रथम चार मन्त्रों में विराट् पुरुष की महिमा का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में सर्ग की प्रक्रिया का अति संक्षिप्त वर्णन है। इसकी व्याख्या

---

१. भाट्ट दीपिका अ० २, पाद २, अधिकरण ८ में उद्धृत।

सांख्यदर्शन और वेद के अन्यत्र निर्दिष्ट प्रकरण के आधार पर करनी चाहिये ।

उस [प्रारम्भिक अजायमान सत्त्वरजतम की साम्यावस्था रूप प्रकृति] से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से पुरुष उत्पन्न हुआ । उससे उत्पन्न हुआ पुरुष अत्यरिच्यत=अतिरिक्त=खाली हुआ । उसने भूमि तथा अन्य पुरों=लोकों प्रकट किया ।

यह मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है । इसमें प्रकृति के सर्गोन्मुख होने के पश्चात् उत्पन्न दो प्रधान विकारों का उल्लेख किया है । विराट् से यहां साख्यकथित महान् अहंकार, और उससे उत्पन्न पञ्चतन्मात्रों की उत्पत्ति पर्यन्त प्रथम सर्ग=प्रथम देव युग का निर्देश है । और पुरुष से हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि विविध नामों से स्मृत 'महदण्ड' का ।

ऋग्वेद १०।७२ के अदिति सूक्त में कहा है—अदिति=देवों की माता प्रकृति के आठ पुत्र[1] उत्पन्न हुए । उनमें सात पूर्व युग में हुए, और आठवां मार्ताण्ड[2] (=मृत=मरणधर्मा नाशवान् अण्ड=महदण्ड) दूसरे युग में हुआ । मन्त्र इस प्रकार है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
देवाँ उप प्रैत सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत ।।८।।
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत पूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ।।९।।

यह वैदिक मार्ताण्ड ही महदण्डरूप पुरुष प्रजापति है । जैसे अण्डज प्राणियों के अण्डों के भीतर उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग बनते रहते हैं, वैसे ही महदण्ड के भीतर लोक-लोकान्तरों का निर्माण होता है । इसी को वेद में यज्ञ विश्वकर्मा भौवन (=भुवनों का उत्पन्न करनेवाला) कहा है । जब मार्ताण्ड =महदण्ड के अन्तःताप से तदन्तर्गत भुवनों का निर्माण समाप्त होने को

---

१. लौकिक कश्यप ऋषि की पत्नी अदिति के १२ पुत्र थे । अतः स्पष्ट है कि लौकिक देवों की माता अदिति और आधिदैविक देवों की माता अदिति दोनों भिन्न-भिन्न हैं ।

२. मृत+अण्ड (=मरणधर्मा अण्ड)=मृताण्ड, 'मृताण्ड एव मार्ताण्डः' प्रज्ञादित्वात् (अ० ५।४।३८) स्वार्थेऽण् । सूर्यवाचकस्तु मार्त्तण्डोऽन्यः ।

होता है, तब यह मार्तण्ड सहस्रांशु समप्रभ (मनु० १।९)=हिरण्य के समान प्रदीप्त होने से 'हिरण्यगर्भ' कहाता है। इसी का वर्णन ऋग्वेद १०।१२१ के हिरण्यगर्भसूक्त में इस प्रकार किया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ आरम्भ में वर्तमान था। वही उत्पन्न हुए लोकों का पति=स्वामी था। उसी ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया था। उस 'क'=प्रजापति=हिरण्यगर्भ देव के लिये हम देव अन्तः वर्तमान प्राणरूप भूतगण अपने हव्य अंश से निर्माण-कार्य करते हैं।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः। यजुः ३१।५॥

स जातः=जब विराट् पुरुष=महद् अण्ड परिपक्व हो गया, हिरण्यवत् चमकने लगा, तब वह **अत्यरिच्यत**=अतिरेचित हुआ=रिक्त हुआ। अर्थात् उसके ऊपर के आवरण के भेदन से भीतर निर्मित ग्रह उपग्रह बाहर आये। उस अतिरेक के पश्चात् पहले भूमि और पश्चात् अन्य पुर=ग्रहोपग्रह अपनी स्थिति को प्राप्त हुए।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ यजुः ३१।६॥

उस यज्ञ=संगतिकरण से निर्मित विराट् पुरुषरूप यज्ञ जो सर्वहुत्[1], अर्थात् जिसके भीतर वर्तमान प्रकृत्यंश सब हुत हो गये थे, कार्यरूप में परिणत हो गये थे। उससे पृषदाज्य=कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश संभृत=धारित हुआ। और उसी सर्वहुत् यज्ञ ने वायव्य=वायु में विचरण करनेवाले जो ग्राम्य और आरण्य पशु, जो स्वरूप से दिखाई पड़नेवाले थे, उन को उत्पन्न किया।

ये वायु में विचरनेवाले ग्राम्य समूहरूप से एक स्थान पर स्थित सूर्यरूपी खूंटे से बन्धे हुए, और आरण्य स्वतन्त्र विचरण करनेवाले धूमकेतु आदि पशु हैं। भूलोकवासी पशु पक्षी नहीं हैं। अगले ८वें मन्त्र में कहे उभयादत् (=दोनों ओर दांतवाले=भक्षण सामर्थ्यवाले) अश्व और एकदत्=एक ओर

---

१. द्रष्टव्य—निरुक्त १०।२६—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुह्वाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुह्वाञ्चकार। ···विश्वकर्मन् हविषा वृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०।८१।६)॥

दांतवाले गौ अज अवि आदि भी लौकिक पशु नहीं हैं। विस्तारभय से इस विषय पर नहीं लिख रहे हैं (अवि पशु का वर्णन इस निबन्ध में आगे आयेगा)। उससे आगे १४वें मन्त्र में कहा है—'जिस सर्वहुत पुरुष से देवों ने=भौतिक शक्तियों ने यज्ञ का विस्तार किया है, उसका आज्य=व्यक्ति वा कान्ति का साधन वसन्त था, इध्म=प्रदीपक ग्रीष्म और हव्य शरद ऋतु थी।' इससे भी यह स्पष्ट है कि यह यज्ञ भौतिक यज्ञ नहीं है। इस यज्ञ (=पुरुषाध्यायोक्त सृष्टियज्ञ का द्रष्टा=दर्शक यजमान[1] नारायण है। नारा नाम आप:= मूल प्रकृति का है। उसमें जिसका अयन=व्याप्ति है, उस परम पुरुष का नाम नारायण है।[2]

पशुयज्ञ भी सृष्टियज्ञ के एकदेश

हमारी उक्त अति संक्षिप्त (पूर्वलिखित और यहां लिखी) विवेचना से स्पष्ट है कि वेदप्रतिपादित यज्ञ सृष्टिगत यज्ञ वा यज्ञाङ्ग हैं। किसी भी सर्जन-क्रिया में संगतिकरण से कार्यविशेषों का जहां सर्जन होता है, वहां कुछ अंश में किन्हीं पूर्व उत्पन्न वस्तुओं का नाश भी होता है। अत: सृष्टियज्ञ के क्रिया-कलाप के वर्णन में सर्जन और विनाश दोनों का निर्देश होना आवश्यक है। सृष्टिगत यज्ञ की सर्जनात्मक प्रवृत्ति दैव यज्ञ है, और विनाशात्मक प्रवृत्ति आसुर यज्ञ है। इन ध्वंसनात्मक प्रवृतिवाले आसुर अंशरूप यज्ञ वा यज्ञाङ्ग को ही पशुयाग कहा जाता है। मन्त्रों में वस्तुत: इन्हीं दैव और आसुर यज्ञ का वर्णन है। इसको समझाने के लिये हम आगे आसुर-प्रवृत्यात्मक पशुयज्ञों का निर्देश करके बताएंगे कि वेदोक्त पशुयज्ञ किस प्रकार के हैं।

मैं पाठकों को यह बता देना आवश्यक समझता हूं कि मैंने यज्ञगत पश्वालम्भन के भय से यह जोड़-तोड़ नहीं की है। मैं आरम्भ में ही यही समझता था कि श्रौतसूत्रों ब्राह्मणग्रन्थों और शाखाग्रन्थों में जिन यज्ञों का वर्णन किया है, उनका निर्देश मन्त्रसंहिताओं में भी है। अत एव कर्मकाण्ड और समग्र

---

१. यज्ञों में यजमान केवल द्रष्टा होता है, और अपने से प्रेरित ऋत्विजों के क्रियमाण कर्म के फल से निर्मुक्त रहने के लिये **'इदं न मम'** का ही संकल्प दोहराता रहता है।

२. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥ मनु० १।१०॥

मीमांसाशास्त्र के अध्ययन के पश्चात् मैंने सन् १९३५ में 'श्रौतयज्ञों की वैदिकता' शीर्षक से विस्तृत लेख लिखा था। इसमें मन्त्रों में प्रयुक्त विविध श्रौतयज्ञों के नाम, क्रिया-कलाप, पात्रों के नाम जहां-जहां भी मिले, सब का संग्रह किया था। वह लेख 'आगरा' से प्रकाशित होनेवाले 'दिवाकर' (साप्ताहिक) पत्र के (२६ अक्टूबर १९३५ के) 'वेदाङ्क' नामक विशेषांक में छपा था[1]। उसके पश्चात् निरन्तर वैदिक वाङ्मय के स्वाध्याय से मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्ययज्ञों का वर्णन नहीं है। वहां तो सतत प्रवृत्त सृष्टिरूप महायज्ञ का ही विभागशः वर्णन किया है। मन्त्रों में श्रौतद्रव्ययज्ञों का वर्णन न होने से ही मन्त्र और यज्ञगत क्रिया का सम्बन्ध बताने के लिये यज्ञों के क्रिया-कलाप में मन्त्रों का **विनियोग** किया गया है। यह विनियोग श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या आदि के द्वारा किया जाता है [द्र०—मीमांसा ३।१।१-१३], और इनमें भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर-पर हेतु दुर्बल होता है—**'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्'** (३।१।१४)॥

यज्ञ-सम्बन्धी कथानक

यज्ञों के सम्बन्ध में जो कथानक वैदिक वाङ्मय में मिलता है, वह दो प्रकार का है। एक-सृष्टिगत यज्ञों के सम्बन्ध में, और दूसरा श्रौत-सूत्रोक्त मानुष द्रव्य यज्ञों के सम्बन्ध में। दोनों के वर्णन में स्थान-स्थान पर देव और असुर शब्दों का प्रयोग मिलता है। अतः इन वचनों के विषय-विभाग में बड़ी कठिनाई होती है। हम अपनी बुद्धि के अनुसार दोनों वचनों का विभाग करके लिखते हैं।

प्रस्तुत असुर सम्बन्धी यज्ञों पर विचार करने से पूर्व यह बात ध्यान में रखनी चाहिय कि भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टि और प्रलय का चक्र सदा चलता ही रहता है। परन्तु जब वर्तमान सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ लिखना होता है, तो भारतीय ग्रन्थकार वर्तमान सृष्टि से पूर्व जो प्रलयावस्था थी, उस का पहले वर्णन करते हैं, पश्चात् सृष्टि के सर्जन का।

हमारे सौरमण्डल का सृष्टि और प्रलय का काल ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष का है। इसमें ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष दिन, अर्थात् सृष्टि का स्थितिकाल

---

१. यह लेख इस संग्रह में पूर्व पृष्ठ ३४३ पर छपा है।

और ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष रात्रि अर्थात् प्रलयकाल होता है । प्रलयकाल के आरम्भ से आसुर=ध्वंसनात्मक प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हैं। और प्रलय के मध्य में पूर्णता को प्राप्त होने के पश्चात् दैवी प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर विकास होता है, और आसुर प्रवृत्तियां घटती जाती हैं। इस कारण वर्तमान सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में आसुर प्रवृत्तियों के कारण ध्वंसनात्मक यज्ञ हो रहे थे । अर्थात् प्रलयात्मक यज्ञ आसुर शक्तियों के पास था । इसी का निर्देश तैत्तिरीय संहिता ६।३।७ में किया है—

'असुरेषु वै यज्ञ आसीत्, तं देवा तूष्णीं होमेनापवृञ्जन्' ।

अर्थात् पहले निश्चय ही यज्ञ असुरों में था । देवों ने उसे तूष्णीम् होम से काट लिया=छीन लिया । अभिप्राय स्पष्ट है कि जब प्रलयकाल में आसुरी शक्तियां प्रबल हो रहीं थी, तब सर्गोन्मुखकाल में दैवी शक्तियों ने तूष्णीं=चुपचाप=शनैः शनैः अपना कार्य=सर्जनरूप यज्ञ आरम्भ किया । और शनैः-शनैः सर्जन प्रक्रिया बढ़ती गई । इस प्रकार यज्ञ असुरों से देवों के हाथ में आ गया ।

सर्गोन्मुख काल में दैवी प्रवृत्तियां छोटी थीं, आसुरी प्रवृत्तियां बड़ी थीं । इसको श्लेष से शतपथ में कहा है—**'कानीयसा एव देवाः, ज्यायसाः असुराः'** (श० १४।४।१।१) ।

मानुष सर्ग के आरम्भ में असुर और देव प्रजापति कश्यप की संततियां थीं । इनमें असुर बड़े थे, देव छोटे । 'असुर' शब्द का अर्थ है—**'असु+र'** (मत्वर्थीय)=प्राणोंवाला अर्थात् बलवान् ।

असुर पृथिवी के प्रथम शासक

कश्यप पुत्र असुर ही ज्येष्ठ होने से इस पृथिवी के प्रथम शासक हुए । तैत्तिरीय संहिता ६।२।४ में लिखा है—

'असुराणां वा इमयग्र आस । यावदासीनः परा पश्यति तावद्देवानाम् । ते देवा अब्रुवन् अस्त्वेव नोऽस्याम्' ।।

अर्थात् यह समग्र पृथिवी पहले असुरों की थी । जितना बैठा हुआ व्यक्ति पीछे की ओर देख सकता है, उतनी अर्थात् अत्यल्प देवों की थी । देवों ने असुरों से कहा कि इस पृथिवी में हमारा भी भाग होवे[1] ।

---

१. दायभाग के असमान बटवारे और देवों के मांगने पर भी असुरों

इसी तथ्य का निर्देश मैत्रायणी संहिता ३।८।३; ४।१।१० में भ मिलता है।

असुरों द्वारा वर्णाश्रम-मर्यादा वा यज्ञों का प्रवर्तन

असुरों के प्रथम शासक होने से वर्णाश्रम-मर्यादा का व्यवस्थापन और यज्ञों का प्रवर्तन करना युक्त था।

प्रह्लादपुत्र कपिल असुर द्वारा वर्णाश्रम-विभाग का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र २।१२।३० में मिलता है। वहां लिखा है—**'तत्रोदाहरन्ति—प्राह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस। स एतान् भेदान् चकार देवैः सह स्पर्धमानः'**।

इसी कारण असुरों में भी वर्णाश्रम-मर्यादा थी। मैत्रायणी संहिता २।३।७ में लिखा है—

'देवाः पराजिग्यमाना असुराणां वैश्यमुपायन्।'

अर्थात्—देव लोग पराजित होते हुए असुरों के वैश्यों के पास पहुंचे। [उन्हें असुरों से पृथक् करने के लिये]।

यज्ञ भी पहले असुरों ने ही आरम्भ किये थे। तैत्तिरीय संहिता ३।३।७ में लिखा है—

'प्रजापतिर्देवासुरानसृजत। तदनु यज्ञोऽसृज्यत, यज्ञं छदांसि। ते विश्वञ्चो व्यक्रामन्। सोऽसुरान् यज्ञोऽपाक्रामत। यज्ञं छन्दांसि॥'

इससे इतना स्पष्ट है कि यज्ञ पहले असुरों के पास थे।

[1]सौत्रामणी यज्ञ के विषय में शतपथ १२।६।३।७ में स्पष्ट लिखा है—

द्वारा उनके भाग को न देने से कौरव पाण्डवों के समान देवों और असुरों में १२ अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुए। इनकी भयङ्करता की प्रतीति युद्ध की भयङ्करता का बोध कराने के लिये उपमारूप से रामायण महाभारत में बहुधा प्रयुक्त निर्देशों से होती है। यह संग्राम न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष तक चला।

१. सौत्रामणी यज्ञ के विषय में प्रसिद्ध है कि उसमें सुरापान (=मद्यपान) का विधान है, वस्तुतः यह झूठ है। उसमें वर्णित सुरा होशहवास खोनेवाली मदिरा नहीं है। वह तो 'कांजी' से भी हलका तीन दिनमात्र में सिद्ध होने वाला पेय है। विशेष द्रष्टव्य—हमारी महाभाष्य अ० १, पाद १, आह्निक १, (भाग १), पृष्ठ २१ की हिन्दी-व्याख्या।

'असुरेषु वा एषोऽग्रे यज्ञ आसीत् सौत्रामणी। स देवान् उपप्रैत'।

यज्ञ असुरों से देवों के पास पहुंचा—शतपथ ब्राह्मण १२ ६।३।७ के पूर्वोक्त वचन के अनुसार सौत्रामणी पहले असुरों के पास था, फिर वह देवों के पास पहुंचा। इसी प्रकार पूर्व पृष्ठ ३६४ पर उद्धृत तैत्तिरीय संहिता ६।३।७ के वचन में श्लेष मानें, तो उससे भी यही ज्ञात होता है कि यज्ञ असुरों से देवों को प्राप्त हुए। कुछ काल पश्चात् देव लोग यज्ञ-विद्या में असुरों से बहुत आगे बढ़ गये। अन्तत: ऐसी स्थिति आई कि असुर देवों का अनुकरण करने लगे—**'देवा वै यद् यज्ञे अकुर्वत तदसुरा अकुर्वत।'** तै० सं० ६।४।६॥

यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा—कुछ काल पश्चात् यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा। महाराज ऐल ने गन्धर्वों (=देव जातिस्थ) से अग्नि-विद्या का रहस्य जानकर यज्ञ की एक अग्नि को तीन अग्नियों में विभक्त किया[1]। ऋषियों ने यज्ञ के विविध क्रिया-कलापों को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया।[2]

मनुष्यों में यज्ञ का आरम्भ त्रेता युग के आरम्भ में हुआ था, और असुरों और देवों में कृतयुग के उत्तरार्ध में आरम्भ हो चुका था। अत: पूर्व पृष्ठ ८१, टि० १ पर निर्दिष्ट यज्ञ-प्रवर्तन के कृतयुग निदर्शक और त्रेतायुग निदर्शक दोनों प्रकार के वचन युक्त हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये असुर कौन थे? प्रश्न का कारण है, असुरों के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा। जिसके अनुसार 'असुर' शब्द सुनते ही राक्षस पिशाच आदि वैदिक मर्यादा-विहीन जनों का बोध होता है। अत: हम प्रसंगवश उन असुरों के विषय में भी प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

भारतीय इतिहास के अनुसार असुर देव और मनुष्य ये पुरुष जाति के तीन कुल थे। आरम्भ में प्रजापति कश्यप से दिति अदिति दनू आदि पत्नियों से जो सन्तानें हुईं, वे माता के नामों पर दैत्य आदित्य दानव आदि कहलाये। दैत्य ही भारतीय इतिहास में असुर कहे गये हैं। पीछे से दानव आदि भी असुरों के सहयोगी बन गये। अदिति के १२ पुत्र आदित्य देव कहे गये हैं। इन्हीं से असुरों और देवों के कुलों का आरम्भ होता है।

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ८१ तथा पृष्ठ ८२, टि० १।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ ८२, ८३।

असुर आरम्भ में श्रेष्ठ थे। प्रजापति कश्यप ने इनकी श्रेष्ठता और जेष्ठता के कारण पृथिवी का शासन इन्हें दिया। इन्हीं असुरों ने वेद के अनुसार वर्णाश्रम विभाग और यज्ञों का प्रवर्तन किया। यह हम पूर्व लिख चुके हैं। शासन अथवा विशेषाधिकार मिल जाने पर यदि उस पर अंकुश न रखा जाय, तो मनुष्य की मति धीरे-धीरे विकृत होने लगती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार असुरों में गिरावट आई। असुर शब्द, जो पहले श्रेष्ठ अर्थ (असु =प्राणों से युक्त=बलवान्) का वाचक था, वह उनके निकृष्ट आचरण से निकृष्ट अर्थ का बोधक बन गया। परन्तु बलवान् अथवा सर्वशक्तिमानन्रूप श्रेष्ठ अर्थ का वाचक असुर शब्द पुराने ईरानियों की भाषा में **'अहुर'** रूप में सुरक्षित रह गया। असुर लोग पहले श्रेष्ठ आचार-विचारवाले थे, इस अर्थ को प्रदर्शित करनेवाला और उनके पूर्व इतिहास पर प्रकाश डालनेवाला एक शब्द है—**'पूर्वे देवाः'**। यह अमरकोश आदि में असुरों के पर्यायवाची नामों में पढ़ा है।

यहां प्रसंग से यह और लिख देना चाहते हैं कि निरङ्कुश राज्यसत्ता पाकर जो दशा असुरों की हुई, वही दशा उत्तरकाल में देवों के हाथ में निरङ्कुश राज्यसत्ता आने पर देवों की भी हुई। इन्द्र के अनेक मर्यादाविहीन कर्मों का वर्णन इतिहास-पुराणों में मिलता है। यज्ञों में पश्वालम्भन आरम्भ भी इन्द्र ने ही किया था, यह आगे लिखा जायेगा।

हमें ऋषियों का परम आभारी होना चाहिये कि उन्होंने असुरों और देवों के निरङ्कुश शासन से शिक्षा लेकर मानव राजाओं की रक्षा के लिये मानवीय राजनीति में ऐसा विशिष्ट प्रावधान किया, जिससे राजा सर्वथा निरङ्कुश न रहे। वह था राजा के लिये पुरोहित का प्रावधान करना। यह पुरोहित साधारण यज्ञकर्त्ता ऋत्विक् नहीं था। वह राजा की भावी आपदाओं से पहले से ही रक्षा का प्रावधान करने में समर्थ सर्वश्रेष्ठ,परम तेजस्वी ब्राह्मण होता था। यही सर्वप्रधान मन्त्री होता था। जैसे रघुकुल के राजाओं का पुरोहित वा प्रधानमन्त्री वसिष्ठ था। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, मध्यकाल के प्रधान राजनीतिशास्त्रज्ञ आचार्य कौटिल्य ने भी लिखा है— **"तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत'** (अधिकरण १, अ० ९)।

अन्यत्र तो यहां तक लिखा है कि प्रमाद करते हुए राजा को एकान्त में आचार्य वा अमात्य कोड़े तक लगावे—

'मर्यादां स्थापयेद् आचार्यान् अमात्यान् वा। य एनं अपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। छायानालिकया प्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः। (अधि० १, अ० ७)।

अस्तु ! अब हम पूर्वनिर्दिष्ट कतिपय निर्देशों का पुन: स्मरण कराकर प्रकृत श्रौत पशुयज्ञों के आलम्भन विषय पर लिखते हैं—

पूर्व हम लिख चुके हैं कि मन्त्रों में जिन यज्ञों का वर्णन है, वे सृष्टिगत यज्ञ ही हैं (पूर्व पृष्ठ ३५९-३६२) । प्राचीन ऋषियों ने सृष्टि-रचना को समझाने के लिये ही श्रौत द्रव्ययज्ञों की कल्पना की थी (पूर्व पृष्ठ ७३-८०)। सृष्टिरचना में सर्जनकार्य 'दैव यज्ञ' हैं, और सर्जनविरोधी कार्य वा अवाञ्छनीय तत्त्वों का नष्ट होना वा नष्ट करना 'आसुर यज्ञ' हैं। सृष्टिगत दैव यज्ञों का बोध कराने के लिये इष्टियों (=पाकप्रधानयज्ञ) और सोमयज्ञों की प्रकल्पना की गई है, और आसुर यज्ञों का बोध कराने के लिये पशुयज्ञों की।

अब हम सृष्टिगत आसुर यज्ञ, जिनमें पशुओं का आलम्भन हुआ था, अथवा होता है, उनका निदर्शन कराते हैं—

सृष्टियज्ञ के पशु

सृष्टियज्ञ अत्यन्त विस्तृत है। इसमें प्रत्येक देवयज्ञ (सर्जन) के साथ आसुर यज्ञ=पशुयज्ञ होते रहते हैं। अत: सृष्टियज्ञ के सभी पशुओं का परिगणन असम्भव है। हम यहां उदाहरणार्थ कतिपय पशुओं का निदर्शन कराते हैं—

हमने इसी निबन्ध में सृष्टिगत यज्ञों का निर्देश करते हुए यजुर्वेद अ० ३१ का १६वां मन्त्र **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा:०'** उद्धृत किया है। इस का व्याख्यान करते हुए यास्कमुनि ने निरुक्त १२।४१ में लिखा है—

'यज्ञेन येज्ञमयजन्त देवा:—अग्निना अग्निमयजन्त देवा:। अग्नि: पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्'।

इसका भाव यह है कि सर्गक्रम में पूर्व उत्पन्न देवों ने अग्नि को प्राप्त किया, और उस अग्नि से अग्नि का यजन किया, अर्थात् उसे तीन स्थानों में विभक्त किया।

यजुर्वेद २३।१७ तथा तै० सं० ५।७।२६ में अग्निरूप पशु के साथ वायु और सूर्य पशुओं का, और उनके द्वारा किये गये यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है—

'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त'।

इससे स्पष्ट है कि सृष्टियज्ञ में अग्नि वायु और सूर्य पशु थे। इनका सृष्टिक्रम में आलम्भ हुआ। इनसे यज्ञ किया गया, और नया निर्माण हुआ।

अग्नि-पशु का आलम्भ और उससे यज्ञ

सर्ग के आरम्भ में जब प्रकृति के विकाररूप **'आपः'** (पञ्च तन्मात्राओं) ने गर्भ धारण करते हुए=महद् अण्ड के रूप में संघटित होते हुए अग्नि को उत्पन्न किया, उसके पश्चात् देवों का एक असु=गतिशील[1] महद् अण्ड उत्पन्न हुआ। जिन **'आपः'** ने अपनी महिमा से दक्ष (=अग्नि[2] को धारण करते हुए और यज्ञ[3] (=महदण्ड) उत्पन्न करते हुए देखा। जो देवों[4] में अधिदेव (=महादेव) था। उस 'क'=प्रजापति[5] के लिये हम (=अन्तः वर्तमान प्राणरूप भूतगण) हविरूप से सहयोग करते हैं। अर्थात् महद् अण्ड के मध्य स्थित अग्नि के सहयोग से ही महद् अण्ड के भीतर ग्रहोपग्रहों का निर्माण हुआ। इसका प्रतिपादन निम्न मन्त्रों में किया है—

---

१. असु क्षेपणे (दिवादिगण पठित) धातु से औणादिक् 'उ' प्रत्यय।

२. द्र०—आगे उद्ध्रियमाण मन्त्रों के 'गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्' और 'दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्' चरण। प्रथम में अग्नि को गर्भरूप में धारण करने का उल्लेख है, और दूसरे में उसी गर्भस्थ अग्नि को 'दक्ष' कहा है।

३. 'दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्' (ऋ० १०।१२१।८)। 'यज्ञ' पद से यहां प्रजापति हिरण्यगर्भ आदि विविध नामों से स्मृत 'महद् अण्ड' अभिप्रेत है।

४. महद् अण्ड की उत्पत्ति से पूर्व पञ्चतन्मात्रा और पञ्च महाभूत (=परमाणुरूप में) उत्पन्न हो चुके थे। द्र०—प्रशस्तपाद भाष्य, सर्गवर्णन प्रकरण। 'महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै।' वायुपुराण ४।७४॥ ये महदादि ही यहां देव अभिप्रेत हैं।

५. प्रजापतिर्वै कः। ऐ० ब्रा० २।३८॥ कौ० ब्रा० ५।४॥

आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेक: कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
ऋग्वेद १०।१२१।७-८।।

इस अग्नि पशु का आलम्भ=अवयव-विभाग किया गया। उसे देवों(=भौतिक शक्तियों) ने तीन प्रमुख भागों में बांटकर द्यु अन्तरिक्ष और पृथिवी[1] में स्थापित किया।[2] इसका वर्णन भी ऋग्वेद (१०।८८।१०) में इस प्रकार मिलता है—

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभि: रोदसीप्राम् ।
तम् अकृण्वँस्त्रेधा भुवे कं स ओषधी: पचति विश्वरूपा: ।।

अर्थात्—भौतिक देवों ने अपने सामर्थ्य से द्युलोक और पृथिवीलोक में पूर्ण (=व्यापक) होनेवाले जिस अग्नि को द्युलोक (=महद् अण्ड के) उपरिभाग में (अग्नि अन्य तत्त्वों से सूक्ष्म होने से ऊर्ध्व भाग में) उत्पन्न किया। उसे तीन प्रकार से कल्याणकारी होने के लिये विभक्त किया। वह विश्वरूप विविध रूपवाली ओषधियों (=ओष अग्नि को धारण करनेवाले महद् अण्ड के अवयवरूप ग्रहोपग्रहों) को पकाता है, समर्थ बनाता है।

इस अग्नि के प्रादुर्भाव से महद् अण्डस्थ ग्रहोपग्रह पक गये(=निर्मित हो गये), और इससे यह महद् अण्ड सहस्रांशु=सूर्य के समान चमकने लगा (=हिरण्यमय हुआ)। यह अग्नितत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति में महत्त्वपूर्ण प्रमुख भूमिका निभाता है। सारे देव इसी से अनुप्राणित होते हैं। इसीलिये ऋग्वेद १।१।२ के मन्त्र में कहा है—

---

१. पृथिवी पद महद् अण्ड में निर्मित होनेवाले स्वयं प्रकाशित न होनेवाले ग्रहोपग्रहों का उपलक्षक है। ऋ० १०।१९०।३ के 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता ···दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्व:।' मन्त्र के पूर्वार्ध में सूर्य स्वयंप्रकाशक ग्रहों का, और चन्द्र उपग्रहों का उपलक्षक है। उत्तरार्ध का द्यु सूर्य के चारों ओर की वाह्य परिधि का,पृथिवी स्वयं प्रकाशित न होनेवाले ग्रहों का,अन्तरिक्ष दो ग्रहों के मध्य अवकाश का और स्व: गतिशील उल्का पिण्डों का।

२. तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणि:। निरुक्त ७।२८।।

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ।।

अर्थात्—[अग्नि से] पूर्व उत्पन्न ऋषि=प्राणस्वरूप भौतिक शक्तियां, और नूतन (=पश्चात्) उत्पन्न ऋषि इसी अग्नि की स्तुति करते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं। वही सब देवों=भौतिक तत्त्वों को सर्ग के लिये यथास्थान प्राप्त कराता है।

वायु-पशु का आलम्भ और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र में सृष्टियज्ञ में वायुरूप पशु से यजन का वर्णन है। इस वायु-पशु का प्रथम आलम्भ=अवयवविभाग महद् अण्ड में ही हुआ। सौरमण्डल के अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप भागों के निर्माण के लिये इसे विभक्त किया गया, और प्रत्येक विभाग को यथास्थान रखा गया। जैसे इस शरीर में गर्भावस्था में एक ही प्राणवायु दशधा विभक्त होकर शरीरावयवों के निर्माण में सहयोग देता है, वैसे ही महदण्ड ग्रहोपग्रहों के निर्माण में एक ही वायुतत्त्व अनेकधा विभक्त होकर सहायक होता है। ऋग्वेद १।२।१ में लिखा है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः । तेषां पाहि श्रुधि हवम् ।।

जगत् के निर्माण में प्रवृत्त भौतिक शक्तियां कहती हैं—हे दर्शत ! जगत् को दर्शनीय बनानेवाले वायो ! तुम आओ। तुम्हारे लिये ये सोम=उत्पादक तत्त्व अलंकृत हैं, तैयार हैं। इनका पान करो, अर्थात् इनको अपने भीतर समेट लो। और हमारे हव=हवनीय=यजनीय आङ्क्षा को सुनो, और सुनकर पूर्ण करो।

वायु-पशु का पुनरालम्भ—जगत् के सर्ग और स्थितिकाल में पशुयज्ञ होते ही रहते हैं, यह पूर्व कह चुके हैं। वायु का सर्गोत्पत्ति के पश्चात् एक बार पुनः आलम्भ हुआ। हमारी पृथिवी और सूर्य के मध्य जो वायु विद्यमान था, उसके कार्यभेद वा स्थानभेद (सप्त परिवह=सात आकाश) के कारण सात विभाग हुए, और एक-एक विभाग (=परिवह) में स्थित वायु के सात-सात विभाग किये गये। ये ४९ विभागों में विभक्त वायुतत्त्व ४९ मरुतों के नाम से वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं।

आदित्य (=सूर्य) पशु का आलम्भ और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य पशु से किये गये याग का भी वर्णन है। सूर्य नाम आदित्य का है। महद् अण्ड के विभक्त होने पर ग्रहोपग्रह जब उससे बाहर आये, तब ये सब लोक पास-पास थे। धीरे-धीरे ये सब

एक-दूसरे से दूर हुए। पृथिवी और आदित्य की समीपता का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में बहुत्र मिलता है।[1] कुछ काल के पश्चात् आदित्य अग्नि और प्रबल वात के कारण झटके के साथ पृथिवी से दूर हुआ। परन्तु स्व-स्थान से विचलित सूर्य दोले (=झूले) के समान वह एक स्थान पर स्थिर नहीं हुआ, कई बार पृथिवी के समीप आया और दूर हुआ। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वह दो बार पृथिवी से दूर होने के पश्चात् अपने स्थान पर स्थिर हुआ।[2] आदित्य की इस सरण=दूर होने की क्रिया[3] के कारण ही सूर्य नाम हुआ— **'सूर्यः सरते र्वा'** (निरुक्त १२।१४)।

इस प्रकार जब सूर्य स्वस्थान में टिक गया, उसके पश्चात् सूर्य के जाज्वल्यमान भाग पर, जैसे पिघले हुए लोहे पर कुछ काल पश्चात् मैल जम जाता है, वैसे ही मैल जम गया। उससे सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो गया। इसे तैत्तिरीय संहिता में **स्वर्भानु**[4] आसुर का तम से बींधना कहा है—**'स्व-**

१. 'जामी सयोनी मिथुना समोकसा'। ऋ० १।१५९।४॥ 'द्यावा-पृथिवी सहास्ताम्'। तै० सं० ५।२।३, तै० ब्रा० १।१।३।२॥ 'सह हैवेमावग्रे लोका आसतुः'। शत० ७।१।२।२३॥

२. आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन्, तेऽमुष्मिंल्लोके व्यतृष्यन्त, इमं लोकं पुनरेत्य सुवर्गलोकमायन्। तै० सं० १।५।४॥ आदित्यो वा अस्माल्लोकादमुं लोकमैत्, सोऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमभ्यध्यायत्… सोऽग्निमस्तौत्। स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत्। तै० सं० १।५।९॥ अग्नि की स्तुति से सूर्य के स्वर्गमन वा दूर गमन के लिये देखिये—तै० सं० २।५।८; ५।१।५॥ शत० १४।१।१।२२॥

३. आदित्य सब ग्रहों के केन्द्रस्थान में है। अतः उसका दूर गमन न होकर अन्य ग्रहोपग्रहों का उससे दूर गमन होता है। परन्तु जैसे पृथिवी की गति से होनेवाला सूर्योदय वा सूर्यास्त सामान्य रूप से (=लौकिक जनों की दृष्टि से) सूर्य में गति का आरोप करके कहा जाता है (द्र०—**यादृगेव ददृशे तादृग् उच्यते**। ऋ० ५।४४।६), इसी प्रकार यहां भी सूर्य में दूर गमन आरोपित जानना चाहिये।

४. स्वः सूर्यस्य भां प्रकाशं नुदति अपसारयति इति स्वर्भानुः। असुरे-वासुरः प्रज्ञादित्वाद् (अ० ५।४।३८) अण्।

र्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत्' (तै० सं० २।१।२)। सूर्य के इस दोष को दैवी शक्तियों न चार चरणों में पूर्ण किया। इसका वर्णन तैत्तिरीय संहिता के इसी प्रकरण (२।१।२) में इस प्रकार किया है—

'तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाऽविरभवत्, यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सा बलक्षी, यदध्यस्थाद् अपकृन्तन् साऽविर्वशा समभवत्'।

अर्थात्—देवों ने आसुर स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य पर किये तम के आवरणरूप दोष की प्रायश्चित्ति (=दोषनिवृत्ति) चाही। उन्होंने प्रथम वार तम को हटाया यह कृष्णवर्ण अवि[1] हुई, अर्थात् अत्यन्त कृष्णवर्ण आवरण हुए। जो दूसरी बार तम को हटाया, वह लालवर्ण[2] (=गहरे लाल वर्णवाली) अवि हुई। जो तीसरी बार तम को हटाया, वह श्वेत वर्ण(=भूरे रङ्गवाली) अवि हुई। और जो अस्थि के ऊपर,[3] अर्थात् अन्तभाग से तम को काटा= हटाया, वह वशा अवि हुई।

ऐसा ही पाठ मैत्रायणी संहिता २।५।२, तथा काठक संहिता १२।१३ में भी मिलता है।

प्रकृत में स्वर्भानु द्वारा सूर्य में तम के आरोप और उसके अपाकरण रूप, और अपाकरण से कृष्णवर्णा, लोहिनी, भूरी और वशाधर्मा अवियों का उल्लेख किया गया है। यह स्वल्प अंश आलङ्कारिक है, शेष पूर्णतया सर्गावस्था के सूर्य पर बार-बार आये आवरण और उसके अपाकरण का वास्तविक निर्देश है। सूर्य में अभी भी कृष्णवर्ण धब्बे विद्यमान हैं। इस विषय पर हम पूर्व पृष्ठ २० तथा ५२ पर जैमिनि ब्राह्मण का वचन लिख चुके हैं। साम्प्रतिक कृष्णत्व भी नियत समय पर प्राकृतिक घटनाचक्रानुसार दूर होते हैं। तब सूर्य में अत्यधिक ऊंची-ऊंची लपटें उत्पन्न होती हैं। सारा रेडियो सिष्टम नष्टसा हो जाता है। यह आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं।

---

१. 'समभवत्' क्रिया यहां प्राकट्य अर्थ में प्रयुक्त है।

२. भट्टभास्कर ने 'फल्गुनी' का अर्थ 'नील-वर्णा' किया है। सायण ने 'लालवर्णा' किया है। मै० सं० २।५।२ में 'लोहिनी' पाठ होने से सायण का अर्थ उचित प्रतीत होता है।

३. मैत्रायणी सं० २।५।२ में 'अध्यस्तात्' पाठ है। उसका अर्थ विवेचनीय है।

चार बार क्रमशः जो सूर्य का आवरण हटा, उसके हटने पर अवि (= विशिष्ट अवस्थापन्न) पृथिवी की जो स्थिति दृश्यरूप में आई, उसी का वर्णन उक्त वचन में आलङ्कारिक रूप में किया है। 'अवि' पृथिवीमात्र का वाचक नहीं है, अपितु आरम्भिक अवि (=भेड़) के समान पिलपिली नरम स्थिति-वाली पृथिवी का नाम है, यह आगे 'अविसेध' में स्पष्ट करेंगे। यहां आलङ्कारिक भाषा में सूर्य के चार बार क्रमशः उतारे गये आवरण से चार रंग वा प्रकार की अवियों (=भेड़ों) वा पृथिवी की विशिष्ट स्थितियों का परिज्ञान कराया हैं।

प्रथम बार सूर्य का जो घना आवरक पदार्थ हटा, वह अत्यन्त कृष्ण वर्ण था। जब सूर्य पर घना आवरण था, तब प्रकाश का सर्वथा अभाव होने से पृथिवी आदि लोक दृश्य अवस्था में नहीं थे। जब प्रथम बार घना आवरण हटा, तब पृथिवी आदि पर अति क्षीण प्रकाश पहुंचने से वे लोक कृष्णवर्ण दिखाई दिये[1]। जब दूसरी बार आवरण हटा, तब सूर्य का प्रकाश कुछ अधिक स्फुट हुआ। लाल वर्ण सा प्रकाश निकला, उससे पृथिवी आदि लोक लाल वर्ण दिखाई दिये। जब तृतीय बार आवरण हटा, प्रकाश की मात्रा अधिक बढ़ी, पृथिवी आदि मटैले से श्वेत वर्ण दिखाई दिये। जब चौथी बार आवरण हटा, तब पृथिवी आदि लोक अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई दिये। वह स्वरूप था 'वशा अवि' रूप।

यद्यपि इस काल में प्राणि जगत् था ही नहीं। अतः पृथिवी की विभिन्न स्थितियों का द्रष्टा भी नहीं था। अतः पृथिवी आदि लोकों की उपलब्धि-विशेषों की जो स्थिति कही है, उससे तादृश उपलब्धिशक्त्यवच्छिन्न पदार्थ का वर्णन किया है।

स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य के तम से आवृत होने तथा तम को दूर करने का वर्णन ऋग्वेद ५।४०।५-९ इन चार मन्त्रों में भी मिलता है। वहां मन्त्र ६ में इन्द्र के द्वारा तीन बार[2] तम को हटाने का वर्णन है, और चौथी बार अत्रि द्वारा। मन्त्र ८ में अत्रि के द्वारा सूर्य में चक्षु (=तेज) के आधान

१. द्र०—पृष्ठ ३७३ की टिप्पणी १।

२. मन्त्र में साक्षात् 'तीन बार' का उल्लेख नहीं है, परन्तु **'तुरीयेण ब्राह्मणाविन्दद् त्रिः** (ऋ० ५।४०।६) में 'तुरीय' पद से पूर्व तीन बार तम हटाने की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है।

और स्वर्भानु की माया को दूर करने का उल्लेख है। जैमिनि ब्राह्मण १।८० में लिखा है—'सूर्य को स्वर्भानु असुर ने तम से आच्छादित कर दिया था। देवों ने और ऋषियों ने उसकी चिकित्सा की। देवों ने अत्रि ऋषि से कहा कि तुम इस तम को दूर करो'।[1]

ऋग्वेद और जैमिनि ब्राह्मण में उक्त अत्रि भौम = भूमि का पुत्र अग्नि है।

तैत्तिरीय संहिता २।१।२,४; २।१।८, २।२।१० में भी लिखा है—**'आदित्यो न व्यरोचत'** (=आदित्य प्रकाशित नहीं हो रहा था)। ऐसा निर्देश करके उसे प्रकाशित करने के कई निर्देश मिलते हैं। सायण ने लिखा है—'आदित्य के विषय में उक्त विविध प्रायश्चित्तियां कल्प वा युग के भेद से व्यवस्थित जाननी चाहियें'। अर्थात्—सर्गावस्था में सूर्य पर कई बार तम का आक्रमण हुआ, और उसका निराकरण हुआ[2]। स्वर्भानु का तम का आक्रमण वर्तमान समय में भी होता है, और उसका यह आक्रमण नियत समय पर होता रहता है, यह पूर्व संकेत कर चुके हैं।

'वशा अवि' का आलम्भन

अवि नाम लोक में भेड़ का है। अविमेध का भी वर्णन वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। **'मेध'** यज्ञ का नाम है। यह **मेधृ 'सङ्गमे हिंसायां च'** धातु से बनता है। इसके सङ्गम=मिलना और हिंसन दोनों अर्थ हैं। यही मेध शब्द **गोमेध अजमेध अश्वमेध पुरुषमेध** आदि यज्ञविशेषों के नाम में भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक यज्ञों में मेध शब्द के यथायोग्य (जहां जो सम्भव है) दोनों अर्थ गृहीत होते हैं।

स्वर्भानु के द्वारा आदित्य को तम से आवृत करने और उस तम के निराकरण के सम्बन्ध में पूर्व (पृष्ठ ३७३) तैत्तिरीय संहिता का जो वचन उद्धृत किया था, उसमें अस्थि के ऊपर के तम को हटाने से **वशा अवि** का प्राकट्य कहा है। उसके आगे संहिता का पाठ इस प्रकार है—

---

१. 'स्वर्भानुरासुर आदित्यं तमसाऽविध्यत्। तद्देवाश्चर्षयश्चाभिषज्यन्। तेऽत्रिमब्रुवन्नृषे त्वामिदमपजहीति' जै० ब्रा० १।८०॥

२. 'आदित्यविषये बहवः प्रायश्चित्तयः कल्पयुगादिभेदेन व्यवस्थापनीयाः'। तै० सं० भाष्य २।१।८॥

'साविर्वशाऽभवत् । ते देवा अब्रुवन् देवपशुर्वा अयं समभूत् । कस्मा इममालप्स्यामहा इति । अथ वै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीत् । अजाता ओषधयः । तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त, ततो वा अप्रथत पृथिवी, अजायन्त ओषधयः' । तै० सं० २।१।२।।

अर्थात्—वशा अवि प्रकट हुई । वे देव बोले—यह देवपशु प्राप्त हुआ है । इसे किसके लिये आलभन करें । उस समय यह पृथिवी अल्प थी, ओषधियों से रहित थी । उस वशा (=वन्ध्या) अवि को आदित्यों की कामना के लिये आलभन किया । उससे पृथिवी फैली, उस पर ओषधियां उत्पन्न हुईं ।

मैत्रायणी संहिता २।५।२ में इस प्रकार कहा है—

'अथवा इयं तर्ह्यृक्षाऽऽसीद् अलोमिका । ते अब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, यथाऽस्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति' ।।

इस पाठ में ऋक्षा पृथिवी को अलोमिका कहा है । और उस पर वनस्पतियों को ओषधियों के रूप में लोम उत्पन्न करने की कामना की है ।

यद्यपि ये दोनों पाठ समान से प्रतीत होते हैं, पर सूक्ष्मता से देखने पर इन दोनों में अन्तर है । ये अन्तर वशा और ऋक्षा तथा ओषधि और वनस्पति शब्दों से प्रकट होता है । तैत्तिरीय संहिता में वशा कहा है, जिस का अभिप्राय है कि उस समय पृथिवी पर घास तृण कुछ भी पैदा नहीं हुए थे । तदनन्तर जब घास तृण उत्पन्न हो गये, तो वह लोमिका=रोमोंवाली हो गई । ओषधि का अर्थ है **'ओषध्यः फ़लपाकान्ताः'** जिनका फल पकने पर जो स्वयं नष्ट हो जावें, वे ओषधियां कहाती है, अर्थात् घास तृण आदि । इनसे जब पृथिवी भर गई, तब वह ऋक्षा हुई । ऋक्ष नाम भालू का है । उसके समस्त अङ्गों पर लम्बे-लम्बे रोम होते हैं । इस समय अभी वनस्पति पुष्प फलवाले वृक्ष उत्पन्न नहीं हुए थे । अतः ऋक्षा पृथिवी का देवों ने पुनः आलभन किया । उससे पृथिवी पर वनस्पतियां=बड़े-बड़े वृक्ष उत्पन्न हुए । इस उत्तर दशा को मैत्रायणी संहिता के पाठ में दर्शाया है । जैमिनि ब्राह्मण २।५४ में दोनों अवस्थाओं को एक बनाकर भी कहा है—**'ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि ।'**

अनेक वार अवि का आलभन

उक्त दोनों पाठों में वशा अवि का तथा ऋक्षा अवि का दो बार

आलभन कहा है। इन दोनों अवस्थाओं में पृथिवी **अवि थी**, अर्थात् अवि के समान पिलपिली=नरम थी। इसे ही यजुर्वेद (२०।१२) में **अविरासीत् पिलिप्पिला'** शब्दों से कहा है। ऋक्षा अवि को यजुर्वेद (१३।५०) में ऊर्णायु कहा है। क्योंकि उस पर उनके समान ओषधिरूप लोम उत्पन्न हो गये थे। मैत्रायणी संहिता २।५।२ के उपर्युक्त वचन में वनस्पतियों को भी लोम कहा है। यहां लोम से अभिप्राय केशों से है, जो रोमों की अपेक्षा लम्बे होते हैं।

इस अविरूप पृथिवी का अनेक बार आलभन हुआ। यजुर्वेद १३।१७ में **भू भूमि अदिति विश्वधा पृथिवी** शब्दों के द्वारा पृथिवी की भिन्न-भिन्न पांच अवस्थाएं कही हैं। 'पृथिवी' अवस्था के अनन्तर उसमें दृंहण होता है। यजुः १३।१८—**'पृथिवीं दृंह'**। यह दृंहण पृथिवी में शर्करा=रोड़ों की उत्पत्ति के अनन्तर होता है। कहा है—

'शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्'। **मैत्रा० सं० १।६।३॥**

'आर्द्रेव हीयमासीत् तां देवा शर्कराभिरदृंहन् तेजोऽग्नावदधुः'। **काठक सं० ८।२॥**

सलिलरूपा भू का सुवर्णोत्पत्ति पर्यन्त नौ बार आलभन हुआ। उसी की प्रक्रिया भी वैदिक वाङ्मय में वेदिनिर्माण के प्रसङ्ग से बताई है। इसके लिये देखिये—पूर्व पृष्ठ १०-१३; ४१-४३; ७४-७८।

आलभन और आलम्भन

आलभन और आलम्भन ये दो स्वतन्त्र शब्द हैं। इनकी दो स्वतन्त्र **'लभ'** और **'लम्भ'** धातुएं हैं। यह हम पूर्व 'वेदार्थ की विविध प्रकियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' शीर्षक लेख के पृष्ठ ८४ पर आयुर्वेदीय चरक संहिता (चिकित्सा० १९।४) के **'आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'** वचन से व्यक्त कर चुके हैं। (द्र०—पृष्ठ ८४ की टिप्पणी ३, जो कि लेख के अन्त में पृष्ठ १३४ पर छपी है, देखें)। वेद और वैदिक वाङ्मय में जहां जहां पशुयज्ञों का वर्णन मिलता है, वहां सर्वत्र **'आलभते'** क्रिया का प्रयोग है। इससे वहां सर्वत्र पशु का **'आलभन'** अर्थात् 'प्राप्त करना' अथवा 'स्पर्श करना' अर्थ ही अभिप्रेत है, पशु का मारना अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

ऊपर के ब्राह्मण वचनों से यह व्यक्त है कि इन आकाशीय यज्ञों में देवों ने किसी देवपशु का आलभन हिंसा अथवा नाश नहीं किया, अपितु उन्होंने किसी न किसी प्रकार पशु को समृद्ध किया। पार्थिव यज्ञ इन्हीं आकाशीय आधिदैविक यज्ञों की अनुकृति रूप हैं। जब आधिदैविक यज्ञों में ही देव पशुओं का संज्ञपन=हनन अथवा नाश नहीं होता तब भला उनकी अनुकृतियों पर रचे गए पार्थिव पशुयज्ञों में पशुओं का हनन कैसे सम्भव है। इसीलिये वेद में अवि के लिये कहा है—

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने माहिंसीः परमे व्योमन्॥

अर्थात् इस ऊर्णायु=अवि को [जो] वरुण की नाभि, त्वचा पशुओं दो पैरोंवालों और चार पैरोंवाले की, उत्पन्न करनेवाले की प्रजाओं में प्रथम उत्पन्न हुई को, हे अग्ने! मत हिंसा करो, परम व्योम (=आकाश में)।

इसी याजुष-मन्त्र के भाव को याजुष शाखाओं में इस प्रकार व्यक्त किया है—

अलेलेद् वा इयं पृथिवी, साबिभेदग्निर्मातिधक्ष्यत्यीत्य बीभेदग्निर्हरो मे विनेष्यतीति। काठक स० ८।२॥

अग्नेर्वा इयं सृष्टादबिभेदति माधक्ष्यतीति। मैत्रायणी सं० १।६।३॥

अर्थात्—अतिशय द्रव थी यह पृथिवी, उसमें अग्नि उत्पन्न होने पर वह डरी, मुझे बहुत जला देगा, मेरा बहुत विनाश कर देगा।

इस मीमांसा से यह भले प्रकार स्पष्ट हो गया कि वैदिक पशुयज्ञों में कहीं पर भी पशुओं के संज्ञपन अथवा हिंसन का निर्देश नहीं है। उस में तो यज्ञीय पशुओं की रक्षा का भाव पदे पदे स्पष्ट किया है। अतः वेद में प्रतिपादित आधिदैविक अथवा आकाशीय पशुयज्ञों की अनुकृति पर रचे गए पार्थिव पशुयज्ञों में पशुहिंसा करना निश्चय ही वेदविरुद्ध है।

पशुयज्ञों की शास्त्रीय संज्ञा—'पशुबन्ध'

उपर्युक्त कारण से ही पशुयज्ञों का नाम ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतयज्ञों में **'पशुबन्ध'** है, 'पशुवध' नहीं। 'पशुबन्ध' शब्द से स्पष्ट है कि पशुयज्ञों में ग्राम्य वा आरण्य पशुओं का यूप में बन्धन तक क्रिया होती है। यदि पशुयागों में पशुओं का वध अभिप्रेत होता तो इनकी संज्ञा **'पशुवध'** होनी चाहिये थी।

पशुबन्ध संज्ञा का अन्य रहस्य

'पशुबन्ध' संज्ञा से ही स्पष्ट है कि यज्ञ में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी। उनको यज्ञ में यूप में बांधकर पर्यग्निकरण पर्यन्त क्रिया करके छोड़ दिया जाता था। यह पूर्व उद्धृत चरक संहिता के **आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म** (चिकित्सा १९।४) के वचन से स्पष्ट है। जब यज्ञों में मूर्खतावश पशुओं का आलम्भन=हिंसा प्रवृत्त हुई, उस समय भी आरण्य पशुओं की हिंसा नहीं की जाती थी। कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में कहा है—**'कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्'** (का० श्रौ० २०।६९)। इतना ही नहीं, पुरुषमेध में भी विविध प्रकार के पुरुषों को एकत्रित किया जाता था, उनकी हिंसा नहीं की जाती थी। श्रौतसूत्रों में कहा है—

'कपिञ्जलादिवद् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्'। (का० श्रौ० २१।१२)

अर्थात्—जैसे अश्वमेध में कपिञ्जल आदि आरण्य पशु पक्षियों का उत्सर्जन कहा है, उसी प्रकार पुरुषमेध में ब्राह्मण आदि जो पुरुष संगृहीत किये हैं, उन्हें छोड़ देवें।

इसी प्रकार प्राचीनकाल में समस्त पशुओं को छोड़ दिया जाता था। मारकर उनके अवयवों से यज्ञ नहीं करते थे।

पशुयागों में पशु के स्थान पर पुरोडाश

पशुयागों में सामान्य रूप से कहा है—**'यद्देवत्यः पशुः तद्देवत्यः पुरोडाशः'**, अर्थात्—जिस देवतावाला पशु होता है, उस देवतावाला पुरोडाश करे।

हमारे विचार में यह प्रशु प्रकरण में निर्दिष्ट पुरोडाश याग पशु के के स्थान पर विहित है। इसी की पुष्टि पुरुषमेध से भी होती है, वहां पुरुषों के उत्सर्ग के पश्चात् कहा है—

'स्विष्टकृद्वद्वनस्पत्यन्तरे पुरुषदेवताभ्यो जुहोति'। (का० श्रौत० २१।१।१३)

अर्थात्—स्विष्टकृत् और वनस्पति के मध्य पुरुष देवताओं के लिये होम करे। यथा ब्राह्मण का देवता ब्रह्म कहा है—**'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्** (यजुः ३०।५)। अतः **ब्राह्मण** के लिये **ब्रह्मणे स्वाहा** कहकर घृत की आहुति देवें।

पुरुषमेघस्थ पुरुषों के उत्सर्ग और उनके स्थान पर घृताहुति का विधान इस बात को सूर्य की भान्ति स्पष्ट कर देता है कि पशुयज्ञों में किसी भी पशु का वध न करके उनके स्थान पर उनके देवता के उद्देश्य से घृताहुति देकर यज्ञकर्म पूर्ण करना चाहिए।

पशुयज्ञों में पशुओं का वध क्यों नहीं होता था, यह हम पूर्व (पृष्ठ १४, ४४, ४५) लिख चुके हैं। उसका सार यह है कि श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ के रूपक है। प्राचीन घटनाओं के रूपक जो नाटकरूप[1] में प्रस्तुत होते हैं, उनमें और सब घटनाओं का निदर्शन तो यथावत् होता है, परन्तु युद्ध में वध बन्धन आदि का निदर्शन नहीं कराया जाता। इसी प्रकार श्रौत यज्ञान्तर्गत पशुयाग जो सृष्टिगत आसुरयज्ञ के नाटक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उनमें भी पशुओं का वध दिखाना ऋषिमुनि अनुचित मानते थे। अत: उन्होंने पश्वाहुति के स्थान पर पुरोडाश अथवा घृताहुति का विधान करके यज्ञ की पूर्णता सम्पन्न करने का विधान किया था।

अब हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि यज्ञों में पशुहिंसा किस समय और क्यों आरम्भ हुई। इसके लिये यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति कब और कैसे हुई ?

सृष्टि के आरम्भ में मानव निरामिष-भोजी

न केवल भारतीय ग्रन्थ इस तथ्य को प्रकट करते हैं, अपितु संसार के सभी धर्मग्रन्थ[2] इसी इतिहास को पुष्ट करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में मानवों का भोजन फल मूल कन्द और अन्न आदि ही था[3]। विकास मतानुयायी वृथा अनुमान से आदि मानव को असभ्य और शिकार पर जीनेवाला मानते हैं।

---

१. आरम्भ में लौकिक नाटकों का उद्भव श्रौत यज्ञीय नाटकों के आधार पर ही हुआ था। अतः एव यज्ञीय नाटक के आधारभूत स्रुच स्रुव आदि पात्रों के आधार पर ही लौकिक नाटकों के अङ्गभूत व्यक्तियों का नाम भी 'पात्र' प्रसिद्ध हुआ।

२. पुरानी बाइबल और कुरान आदि में लिखित आदम और हव्वा की कथा इसी सत्य को प्रकट करती है।

३. इसके विस्तार के लिये देखिये—पं० भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग १, पृष्ठ २१०-२१२, द्वि० सं०।

इसके प्रमाण में वे उत्खनन में उपलब्ध होनेवाले पाषाणों के कल्पित हथियार भी विकास वादियों के मतानुसार पांच सात सहस्र वर्ष से प्राचीन नहीं हैं, जबकि भारतीय इतिहास के ग्रन्थ तथा अन्य देशों के ग्रन्थों से व्यक्त होनेवाला मानव इतिहास बहुत पुराना है। भारतीय इतिहास तो न्यूनातिन्यून अठारह बीस सहस्र वर्ष का क्रमबद्ध इतिहास है। अतः सत्य इतिहास के विद्यमान होते हुए वृथा अनुमान का उदय ही नहीं होता। भारतीय इतिहास के अनुसार तो मानव समाज में मांसाहार का प्रचलन बहुत काल पश्चात् हुआ। संसार की सबसे प्राचीन धर्म पुस्तक ऋग्वेद ५।८३।१० में स्पष्ट कहा है— **'अजीजन ओषधीर्भोजनाय'** अर्थात् खाने के लिये ओषधियां उत्पन्न की गई हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद ६।१४०।२ में दांतों को उद्देश करके कहा है—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय ·· ॥

इस मन्त्र में स्पष्टरूप से दांतों का भाग वा भोजन व्रीहि यव माष तिल बताया है।

शरीर विज्ञान की साक्षी—सभी चिकित्सक चाहे वे भारतीय हों, चाहे पाश्चात्य, एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के दांतों और उदर की आंतड़ियों की बनावट मांसाहारी जीवों के समान नहीं है।

इतना ही नहीं, जितने निरामिष भोजी पशु हैं, वे चाहे भूखे मर जायें, परन्तु कभी मांस नहीं खाते। क्या वानरों को वा हिरण आदि पशुओं को किसीने आजतक मांस खाते देखा है? मानव भी स्वभावतः निरामिष भोजी है। अतः वह आदिकाल में मांसाहार में स्वभावतः प्रवृत्त नहीं हो सकता।

मांसाहार का आरम्भ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कश्यप प्रजापति के दिति से उत्पन्न दैत्य=असुर इस पृथिवी के प्रथम अधिष्ठाता थे[1]। ये अत्यन्त बलवान् थे। अतः एव इन्हें असुर=(**असु=प्राण+र[2]=युक्त**)कहा गया है[3]। इन दैत्यों का आचार

---

१. पूर्व पृष्ठ ३८० तथा अगले पृष्ठ ३८२, टि० २।

२. 'र' मत्वर्थीय। यथा पाण्डुर पांसुर नगर।

३. तस्य वा असुरेवाजीवत्, तेनासुना सुरान् असृजत तदसुराणामसुरत्वम्। मै० सं० ४।२।१॥

प्रारम्भ में अत्यन्त श्रेष्ठ था। इसलिये पहले इन्हें **'देव'** कहा जाता था। उत्तरकाल में इन असुरों के आचार भ्रष्ट होने पर अदिति सुत देवों से इनका भेद दर्शाने के लिये इन्हें **'पूर्वदेव'** कहा जाने लगा[1]। यूनानीग्रन्थों में उल्लिखित देवों की तीन श्रेणियों[2] में प्रथम श्रेणी के देव ये असुर ही हैं। (हरक्यूलिस =सुरकुलेश=विष्णु को द्वितीय श्रेणी का देव कहा है और वेक्कस=विप्रचित्ति दानव को तृतीय श्रेणी का)। दैत्यों का पृथिवी पर निष्कण्टक आधिपत्य होने से उनमें शनैः-शनैः मद अहंकार उत्पन्न हुआ, और उससे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का प्रादुर्भाव हुआ, और शनैः-शनैः उनमें सुरापान और मांसाहार की प्रवृत्ति हुई। अब उनका धर्म केवल **शरीर पोषण** रह गया[3]। ऐसी अवस्था में असुर शब्द **'असुषु रमते'** (=प्राणों में रमनेवाला) व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थान्तर का वाचक हुआ। इन्द्रादि अदिति सुत असुरों से छोटे थे। असुरों ने उन्हें पृथिवी का भाग नहीं दिया[4]। दायभाग (=पृथिवी के बंटवारे) के निमित्त असुरों और देवों में विरोध उत्पन्न हुआ, तद्धेतुक १२ महान् संग्राम हुए,[5] अन्त में देवों ने असुरों को पराजित करके उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया[6]। तदनन्तर महान् विजय और ऐश्वर्य के मद

---

१. अमर कोश १।१।१२ ।। **स पूर्वदेव चरितम्** ...... महा० सभा० १।१७।। **पूर्वदेवो वृषपर्वा दानवः** (नीलकण्ठ)। देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् असृजत्। महा० वनपर्व २२०।१०।। यहां 'देवान्' का विशेषण 'यज्ञमुष्' प्रयुक्त होने से देव शब्द से पूर्वदेव=असुरों का निर्देश किया है। द्र०— असुरसृष्टिमाह-देवान्। नीलकण्ठी टीका।

२. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ २१३, २१४, २१५। (द्वि० सं०)।

३. छान्दोग्य उप० ८।८।२—५।।

४. असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्, ते देवा अब्रुवन्, दत्त नोऽस्याः पृथिव्याः। मैत्रा० सं० ४।१।१०।। तुलना करो—का० सं० ३१।८।।

५. तेषां दायनिमित्तं वै संग्रामा बह्वोऽभवन्। वराहेऽस्मिन् दश द्वौ च षण्डामर्कान्तगाः स्मृताः। वायु० ९७।७२।।

६. ततो वै देवा इमामसुराणामविन्दत, ततो देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यो निरभजन्। मै० सं० ४।१।१०।। तुलना—का० सं० ३१।८।।

से देवों में भी शनैः-शनैः तामसी प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वे भी आचार में उच्छृङ्खल हुए। उनमें भी मांसाहार की प्रवृति हुई, परन्तु विष्णु इस दोष से बचा रहा[1]। स्कन्द तथा अन्य निवृत्ति मार्गानुयायी इन व्यसनों से दूर रहे।

त्रेता के आरम्भ तक ऋषियों की महती अनुकम्पा से आर्यों का आचार स्तर सर्वथा पवित्र और उच्च रहा। तदनन्तर [दूषित] देवों के विशेष संसर्ग से आर्य राजाओं में भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, और उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इतना होने पर भी ऋषि मुनि उस प्रवृत्ति को सीमित रखने के लिये समय-समय पर **'वृथा मांसं नाश्नीयात्'** आदि प्रतिबन्ध लगाते रहे। इससे उच्चवर्णों और कुलों में मांसाहार की प्रवृत्ति अत्यल्प हुई।

यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति

पूर्व लिख चुके हैं कि यज्ञों का प्रादुर्भाव सबसे प्रथम असुरों में हुआ। तत्पश्चात् वह देवों के पास पहुंचा[2]। इन्द्र ने सौ महाक्रतु करके **शतक्रतु** नाम पाया। तदनन्तर यज्ञों का प्रसार मानवों में हुआ। मानवों में यज्ञों की प्रवृत्ति त्रेता प्रारम्भ में अथवा कृतयुग के अन्त में हुई[3] शनैः-शनैः मानवों में यज्ञ की प्रवृत्ति बढ़ी और शतशः काम्य तथा नैमित्तिक यज्ञों की सृष्टि हुई।

कृतयुग में यज्ञों की प्रवृत्ति देवों में ही थी। कृतयुग में पशुयज्ञों में कभी भी पशुओं की हिंसा नहीं हुई। उत्तरकाल में जब देवों में मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, तब त्रेता के प्रारम्भ अथवा दोनों के सन्धिकाल में प्रथम बार इन्द्र ने पशुहिंसा प्रारम्भ की। ऋषियों ने इस अनर्थकारी कर्म का भारी विरोध किया। परन्तु इन्द्रादि देवों ने अपने अहङ्कार के मद में ऋषियों का कथन न माना। इस प्रकार यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति भी देवों से आरम्भ हुई।

अब हम इस विषय पर प्रकाश डालनेवाले प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) महाभारत आश्वमेधिक पर्व अ० ९१, शान्ति पर्व अ० ३३७, अनुशासन पर्व० अ० ११५, मत्स्य पुराण अ० १४३ और वायु पुराण अ०

---

१. आजतक वैष्णव भोजनालय का अर्थ निरामिषभोजी समझा जाता है।

२. पूर्व पृष्ठ ३६४।

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ ८१, टिप्पणी १।

५७ में **उपरिचर वसु** की कथा विस्तार से लिखी है। उसका भाव इस प्रकार है—

"इन्द्र ने सर्वप्रथम अश्वमेध में पशुओं का आलम्भन (=हिंसन) किया। दीर्घदर्शी ऋषि लोग इस नए अनर्थ को देखकर घबरा उठे। उन्होंने इन्द्र को समझाया कि वेद में पशुहिंसा की विधि नहीं है। यदि आगमस्थ विधि से यज्ञ करना है, तो तीन वर्ष अधिक पुराने अप्ररोही (=अज=जो उगने के अयोग्य हो गये हों,) ऐसे बीजों से **यज्ञ** करो। इन्द्र ने मान(=मद) और मोह के वशीभूत होकर ऋषियों का कथन न माना। दोनों ने निर्णयार्थ **उत्तानपाद के पुत्र उपरिचर वसु**[1] को मध्यस्थ बनाया। उसने देवों और ऋषियों का बलाबल विचारकर देवों के पक्ष में अपना निर्णय दिया। ऋषियों ने पक्षपात से मिथ्या निर्णय देने के कारण उपरिचर वसु को शाप दिया।"

(२) अग्निवेश कृत (विक्रम से ५००० वर्ष पूर्व) और वैशम्पायन चरक[2] द्वारा प्रतिसंस्कृत (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) चरक संहिता के चिकित्सास्थान अ० १६।४ में अतिसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः··· अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।

अर्थात्—आदिकाल (कृतयुग) में निश्चय से यज्ञों में पशुओं का **समालभन** (=स्पर्श) किया जाता था। **आलम्भन**[3] (=हिंसन) के लिए प्रकृत नहीं किये जाते थे। तत्पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ

---

१. पुरुकुलोत्पन्न संवरण वंशोद्भव कृतिराज का पुत्र चेदिराज 'उपरिचर' भिन्न व्यक्ति है।

२. द्र० पूर्व पृष्ठ १७६, टि० ३।

३. लभ और लम्भ स्वतन्त्र धातुएं हैं और इनका अर्थ भी पृथक्-पृथक् है। द्र०—पूर्व पृष्ठ १३४ पर छपी पृष्ठ ८४ की टि० ३।

में) मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु और शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में '[वेद में] **पशुओं [के आलम्भन] की ही अनुज्ञा है'**, ऐसा समझकर पशु प्रोक्षण अर्थात् आलम्भन को प्राप्त हुए। और इसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र[1] ने पशुओं के अभाव के कारण गौ का आलम्भन (=हिंसन) प्रवृत्त किया...उससे अतिसार पूर्व उत्पन्न हुआ पृषध्र के यज्ञ में।

चरक के उक्त वर्णन से निम्न ५ बातें स्पष्ट हैं—

क—आदि काल (=कृतयुग) में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी।

ख—[मानवों में] सर्वप्रथम मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं का आलम्भन हुआ।

ग—**'वेद में पशुओं के आलम्भन की आज्ञा है'**। यह मिथ्या ज्ञान ही इस निन्दनीय प्रवृत्ति का कारण हुआ।

घ—आङ्पूर्वक लभ और लम्भ ये मूलत: दो पृथक् धातु हैं[2]। 'आलभ' का मूल अर्थ है—प्राप्त करना, और 'आलम्भ' का अर्थ है—हिंसा।

ङ—गवालम्भ की प्रवृत्ति पृषध्र (यह मनुपुत्र पृषध्र से उत्तरकालिक पुरुरवा का पौत्र है) के काल में हुई।

(३) चरक के कथन की पुष्टि **'वसिष्ठ-धर्मसूत्र'** २१।२३ से भी होती है। उसमें लिखा है—

त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
पृषध्रस्तनयं हत्वा अष्टानवतिमाहरेत्॥

यहां उत्तरार्ध का पाठ भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ **'पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्'** होना चाहिए (देखो अगला उद्ध्रियमाण वचन)।

वसिष्ठ धर्म-सूत्र का भाव है—पहले [मानवों में] केवल तीन रोग थे—ईर्ष्या, क्षुधा, और बुढ़ापा। पृषध्र ने गौ का हनन करके ९८ नए रोग उत्पन्न कर दिये।

---

१. यह पृषध्र मनु-पुत्र नहीं है, यह चरक के इसी वचन से स्पष्ट है। यहां मनु-पुत्रों से उत्तरकाल में पृषध्र का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यह पृषध्र पुरुरवा का पौत्र **नहुष** है। यह अगले प्रकरण से स्पष्ट होगा।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ १३४ पर छपी पृष्ठ ८४ की टिप्पणी ३।

(४) जैन आचार्य उग्रादित्यविरचित 'कल्याणकारण' वैद्यक-ग्रन्थ पृष्ठ (७२४) में भी इसी प्रसङ्ग का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

अवन्तिषु तथोपेन्द्रः पृषध्रो नाम भूपतिः ।
विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम् ।।

अर्थात्—अवन्ति (=उज्जैन) में उपेन्द्र पृषध्र[1] नामक भूपति ने विनय का उलङ्घन करके गौ का वृथा वध किया।

(५) महाभारत शान्तिपर्व अ० २६५ में भी गवालम्भ से १०१ रोगों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। यथा—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ।।४७।।
ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन् ।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ।।४८।।
अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामहे त्वत्कृते व्यथाम् ।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ।।४९।।
ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले ।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ।।५०।।

इन श्लोकों का भाव है—अघ्न्या (=न मारने योग्य) यह गौ का नाम है, इनको मारने में कौन समर्थ है? महान् हानिकारक कर्म किया, जो गौ और बैल का आलम्भन किया। ऋषियों ने नहुष से कहा—गौ माता और वृषभ प्रजापति का जो तुमने वध किया, तुम्हारे इस अकार्य कर्म से हम दुःख को प्राप्त होंगे। इससे सब भूतों में १०१ रोग प्रवृत्त होंगे। ऋषियों ने प्रजाओं के मध्य ही नहुष को **भ्रूणहा** कहा, और हम तेरा यज्ञ नहीं कराएंगे, ऐसा कहा।।

महाभारत शान्तिपर्व अ० २६८ में भी नहुष को प्रथम गवालम्भक लिखा है। महाभारत के इन प्रसङ्गों की पूर्वलिखित संख्या २-४ के वचनों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि **नहुष** और **पृषध्र** एक ही व्यक्ति के

---

१. मनु-पुत्र पृषध्र और पुरुरवा का पौत्र पृषध्र दोनों का सम्बन्ध अवन्ति अर्थात् उज्जैन के साथ नहीं था। जैन आचार्य उग्रादित्य के लेख में अवन्ति का निर्देश कैसे हुआ, यह विचारणीय है।

नाम है। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने पूर्वोद्धृत ४७वें श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठान्तर **"पृषध्रो गा लभन्निव"** लिखा है। उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है (नीलकण्ठ की इस पाठान्तर की व्याख्या ठीक नहीं है)। महाभारत में १०१ रोगों का उत्पादक नहुष को लिखा है, और वसिष्ठ धर्मसूत्र में ९८ रोगों का प्रवर्तयिता पृषध्र को कहा है[1]। महाभारतोक्त १०१ रोगों में सम्भवत: वसिष्ठ धर्म-सूत्रोक्त ईर्ष्या क्षुधा और जरा इन तीन प्राचीन रोगों की संख्या भी सम्मिलित कर ली गई है। चरक संहिता के अनुसार ९८ नये रोगों में एक महान रोग अतिसार था।

यह पृषध्र नाम किस नहुष का था ?

एक पृषध्र मनु का पुत्र, नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि का भ्राता था। वह पृषध्र गवालम्भ का प्रवर्तयिता नहीं हो सकता। क्योंकि चरक में गवालम्भप्रवर्तयिता पृषध्र को मनुपुत्र नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि से अवरकाल का लिखा है। इन प्रसङ्गों में **पृषध्र नहुष का पर्याय है,** यह ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है। इतिहास में नहुष नाम के दो व्यक्ति उपलब्ध होते हैं। एक चन्द्रवंश में और दूसरा सूर्यवंश में (बाल्मीकीय रामायणानुसार)। महाभारत के **'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्'** (शान्ति ३६८।६) श्लोक में श्रुत **'त्वष्टा'** द्वादश आदित्यों में एकतम है। अत: उसके साथ श्रुत **नहुष चन्द्रवंश का नहुष (पुरुरवा का पौत्र) ही सम्भव हो सकता है**। सूर्यवंश का नहुष बहुत उत्तरकालिक है, वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता। इस विचार की पुष्टि उग्रादित्य के उपरिनिर्दिष्ट (संख्या ४) श्लोक से भी होती है। उसमें नहुष का विशेषण **उपेन्द्र** लिखा है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है कि ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र के छिप जाने पर देवों ने पुरुरवा के पौत्र नहुष को इन्द्र के स्थान पर अधिष्ठित किया (अ० ११)। इस सम्मान के मद से हतबुद्धि नहुष ने इन्द्राणी को अपनी भार्या बनाने की चेष्टा की (अ० ११।१७-१९), और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई (अ० १७।२५)। ऐसे हतबुद्धि व्यक्ति का गवालम्भ का प्रवर्तन करना अधिक सम्भव है।

---

१. ब्राह्मण धम्मसुत्त २७-२८ में इक्ष्वाकु को पशुयज्ञप्रवर्तक और गवालम्भ-प्रवर्तक लिखा है। और इसी गोघात से ९२ रोग उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यहां 'इक्ष्वाकु' के निर्देश में किसी कारण से भूल हुई है।

यज्ञ में पश्वालम्भ के विधान के भ्रम के दो प्रधान कारण

प्रथम कारण—वेद में पशुहिंसा का विधान है, इस भ्रम के कारण ही यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। यह चरक के पूर्वोद्धृत **'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्'** वचन से, तथा उपरिचर वसु के **'संहितामन्त्रा हिंसालिङ्गाः'** (वायु० **५७।१०७**) कथन से स्पष्ट है। इस भ्रम के दो प्रधान कारण हैं। एक—**अज** आदि शब्दों के विभिन्न अर्थों का होना, और दूसरा—**आलभ** तथा आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य होना।

अज शब्द के अर्थ में भ्रम

अज शब्द के दो अर्थ हैं। एक **'छाग'**=बकरा, और दूसरा **'न उत्पन्न होनेवाला'**। प्राचीन आगम ग्रन्थों में निर्दिष्ट **'अजैर्यष्टव्यम्'** आदि वाक्यों में अज शब्द बकरे का वाचक है अथवा 'न उत्पन्न होनेवाले' अर्थ का, इसकी मीमांसा न करके **'योगाद् रूढिर्बलीयसी'** न्याय के अनुसार अज शब्द का अर्थ छाग समझने से यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। इस भ्रम पर निम्न प्रमाण विशेष प्रकाश डालते हैं—

क—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७ में देवों और ऋषियों का एक संवाद उपलब्ध होता है। उसमें कहा है—

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥

ऋषयः ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै बध्यते पशुः॥

अर्थात्—देवों ने कहा—**'अज'** से यज्ञ करना चाहिए, ऐसा विधान है। और वह अज भी छाग अर्थात् बकरा जानना चाहिए, अन्य पशु नहीं॥

ऋषियों ने कहा—बीजों से यज्ञ करना चाहिए, यही वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है। इसलिये छाग का वध नहीं करना चाहिए। जहां पशु का वध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है॥

ख—यद्यपि इस प्रकरण में 'अजसंज्ञक' बीज कौनसे हैं, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता, तथापि वायुपुराणान्तर्गत उपरिचर कथा में कहा है—

यज्ञ[1]बीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते ।
त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः ।।५७।१००,१०१।।

अर्थात्—हे सुरश्रेष्ठ ! उन बीजों से यज्ञ करो, जिनमें हिंसा नहीं है । जो तीन वर्ष से अधिक पुराने, और [खेत में] उगने में असमर्थ हों ।।

वायुपुराण के इस श्लोक में **'अज'** का अर्थ **'अप्ररोही'** शब्द से दर्शाया है । इस वचन से यह भी ध्वनित होता है कि खेत में उगने योग्य धान्यों से भी यज्ञ करना अनुचित है ।

ग—मत्स्य पुराण में इसी कथा के प्रसङ्ग में कहा है—

यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः ।१४३।१४।।

यहां **'त्रिवर्षपरमोषितैः'** पाठ होना चाहिये ।

घ—महाभारत और पुराणों में प्रतिपादित अज शब्द के तात्त्विक अर्थ का निर्देश जैनग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है । स्याद्वादमञ्जरी में भी लिखा है—

'तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते । सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिलमसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्कुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसायन्ति ।।' श्लोक २३ की व्याख्या, पृष्ठ १०७,१०८ ।

अर्थात्—वेद के 'अजों से यज्ञ करना चाहिये' इत्यादि वाक्यों में मिथ्यादृश (=अज्ञानी) अज शब्द को पशुवाचक कहते हैं । सम्यग्दृश (=ज्ञानी) जन्म के अयोग्य तीन वर्ष के जौ व्रीहि आदि, पांच वर्ष के तिल मसूर आदि, सात वर्ष के कङ्कु सर्षप आदि धान्य के पर्यायरूप में परिणत करते हैं ।।

ङ—इसी की प्रतिध्वनि पञ्चतन्त्र में भी उपलब्ध होती है । वहां लिखा है—

---

१. वायु तथा मत्स्य पुराण में 'यज्ञबीजैः' ही पाठ है । यहां 'यज बीजैः' पाठ होना चाहिए, अन्यथा क्रिया के अभाव में वाक्य अधूरा रहता है । तुलना करो—बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्- महाभारत का उपरिनिर्दिष्ट श्लोक ।

'एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशुन् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तम्—'अजैर्यष्टव्यम्'। अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः'।

अर्थात्—ये याज्ञिक भी यज्ञकर्म में पशुओं को मारते हैं, वे मूर्ख वेदवचन के ठीक अर्थ को नहीं जानते। वेद में कहा है—'अजों से यज्ञ करना चाहिए'। अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशुविशेष (बकरा)॥

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जिन प्राचीन यज्ञागमों में **'अजैर्यष्टव्यम्'** ऐसा विधान था, वहां भी अज का अभिप्राय खेत में उगने के अयोग्य पुराने धान्यों से था, बकरों से नहीं। परन्तु उत्तरकाल में जब भ्रान्ति से इस वचन में अज का अर्थ बकरा समझा गया, तब उस भ्रान्ति से यज्ञ में पशु की हिंसा प्रारम्भ हुई।

अवि गौ अश्व आदि अन्य शब्दों के अर्थों में भी भ्रान्ति

जिस प्रकार 'अज' शब्द के अर्थ में भ्रान्ति होने से यज्ञ में बकरे की हिंसा प्रवृत्त हुई, उसी प्रकार अवि गौ अश्व आदि शब्दों के वास्तविक अर्थों का ज्ञान न होने से यज्ञों में अवि=भेड़ गौ और घोड़े आदि की हिंसा आरम्भ हुई। वैदिक यज्ञप्रकरण में अवि शब्द का क्या तात्पर्य है, यह हम पूर्व तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण से स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार गौ और अश्व भी मूलतः वैदिक=आधिदैविक यज्ञ में गो=पृथिवी तथा अश्व=सूर्य के वाचक हैं, पार्थिव प्राणियों के नहीं। यतः मूल आधिदैविक यज्ञों में इन देवपशुओं=आकाशीय प्राकृत पदार्थों का आलम्भन=हिंसन नहीं हुआ, अतः उनकी अनुकृति पर रचे गये पार्थिव द्रव्यमय यज्ञों में भी इन पार्थिव प्राणियों की हिंसा नहीं होनी चाहिए।

दूसरा कारण यज्ञ में पश्वालम्भन की प्रवृत्ति का है—

आलभ और आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य

पाणिनि तथा सम्भवतः उससे कुछ पूर्वकाल में शुद्ध लम्भ धातु के तिङन्त के प्रयोग संस्कृतभाषा में उच्छिन्न हो चुके थे। अतः उस काल के वैयाकरणों ने लम्भ धातु का संग्रह धातुपाठ में नहीं किया, और लम्भ से निष्पन्न शब्दों का संबन्ध लभ धातु से ही जोड़ दिया। इस कारण आलभ और आलम्भ ये समानार्थक हैं, ऐसी मिथ्या धारणा प्रचलित हो गई। इसी

धारणा के अनुसार यजुर्वेद अ० ३० के उपसंहार[1] में श्रूयमाण **'अथैतानष्टौ विरूपानालभते'** वचन में **'आलभते'** का अर्थ आलम्भन=मारना समझा गया। और उसके अनुसार पुरुषमेध में इस (३०वें) अध्याय में उक्त ब्राह्मण आदि प्राणियों की हिंसा प्रवृत्त हुई।

लभ और लम्भ के पार्थक्य में प्रमाण

वैयाकरणों द्वारा धात्वादिक में आगम आदेशादि के द्वारा जिन शब्दों का सम्बन्ध एक धातु से जोड़ा गया है, वे सभी प्रयोग वस्तुतः उसी एक धातु से निष्पन्न हैं, अथवा मूलतः उनकी धातु एक से अधिक हैं, इसके निर्णय के लिये महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एक कसौटी बनाई है—

'वैयाकरणों ने जिन शब्दों में जिन निमित्तों में आगम आदेशादि विधान किया है, वे कार्य उन निमित्तों के होने पर भी किन्हीं शब्दों में न हों, और जहां उक्त निमित्त न हों, वहां भी देखे जायें'। यथा—

'बृंहेरच्यनिटि। बृंहेरच्यनिटि उपसंख्यानं कर्तव्यम्। निबर्हयति, निबर्हकः। अचि इति किमर्थम्? निबृंह्यते। अनिटि इति किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम्। तत्तर्ह्युपसंख्यानं कर्तव्यम्? न कर्तव्यम्। बृहिः प्रकृत्यन्तरम्। कथं ज्ञायते? अचीति लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते— निबृह्यते। अनीटीत्युच्यते, इडादावपि दृश्यते—निबर्हिता, निबर्हितुम्। अजादावित्युच्यतेऽजादावपि न दृश्यते—निबृंहयति निबृंहकः'॥ महाभाष्य १।१।४॥

अर्थात्– इड्भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहने पर **'बृंह'** के अनुनासिक का लोप होता है। यथा—**निबर्हयति, निबर्हकः**। **'अचि'** क्यों कहा? **'निबृंह्यते'** यहां 'यक्' परे लोप न हो। **'इड्भिन्न के परे'** क्यों कहा? **'निबृंहिता, निबृंहितुम्'** यहां इट् परे लोप न हो। तो यह वार्तिक बनाना चाहिये? नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि **'बृह'** **प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर** है [उससे ये रूप बन जाएंगे]। कैसे जाना जाए [बृह धात्वन्तर है?]। वार्तिक में अच्

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१) में आलभते क्रिया का सम्बन्ध प्रथम वाक्य **'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते'** से जोड़ा है। उसका अगले वाक्यों में अनुषङ्ग होता है। माध्यन्दिन पाठ के अनुसार उपसंहार में श्रूयमाण क्रिया का पूर्व सभी वाक्यों में सम्बन्ध होता है।

परे रहने पर लोप कहा है, परन्तु अनजादि (अजादिभिन्न हलादि) प्रत्यय परे भी अनुनासिकलोप देखा जाता है। यथा—'**निबृह्यते**'। इट् परे रहने पर नहीं होता ऐसा कहा है, परन्तु इडादि में भी लोप देखा जाता है। यथा—'**निर्बहिता, निर्बहितुम्**'। अजादि में लोप कहा है, परन्तु अजादि में भी नहीं देखा जाता। यथा—'**निबृंहयति, निबृंहकः**'।

महाभाष्य के इस उद्धरण से **प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर कल्पना करने का नियम स्पष्ट है**[1]। इसी नियम के अनुसार हम वैयाकरणों द्वारा लभ धातु से सम्बद्ध प्रयोगों के नियमों की परीक्षा करेंगे।

पाणिनि ने दो सूत्र रचे हैं—

(१) **लभेश्च**; (२) **आङो यि**॥ ७।१।६४, ६५॥

अर्थात्—(१) लभ धातु को शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय के परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—**लम्भयति, लम्भकः**॥

(२) आङ् से उत्तर लभ धातु को यकारादि प्रत्यय पर रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—**आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा**।

प्रथम नियम के अनुसार लभ धातु से '**अनीयर्**' प्रत्यय के परे रहने पर नुम् होकर '**लम्भनीय**' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु चरकसंहिता (१९।४) के पूर्वोद्धृत (पृष्ठ ३८४) पाठ में **समालभनीयाः** प्रयोग में नुम् का अभाव देखा जाता है।

दूसरे नियम के अनुसार '**यत्**' प्रत्यय में '**आलम्भ्या**' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु '**अग्निष्टोम आलभ्यः**' [काशिका १।१।७५ में उद्धृत] प्रयोग में नुम का अभाव उपलब्ध होता है।

इस व्यत्यास से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः लभ और लम्भ धातु पृथक्-पृथक् हैं। पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन काशकृत्स्न धातुपाठ में **डुलभष् प्राप्तौ** (१।५६४), और **लभि धारणे** (१।३६२) दोनों स्वतन्त्र

---

१. महाभाष्य में लोप आगम आदेश के द्वारा अनेक स्थानों में प्रकृत्यन्तर विधान का निर्देश मिलता है। यथा महाभाष्य १।१।४; ३।१।३४; ३।१।७८; ३।२।१३५; ४।१।३५; ४।१।६७; ४।२।२; ४।३।२२; ५।२।२९; ६।१।६०; ६।३।३५; ६।४।२४; ७।३।८७॥

धातुएं पढ़ी हैं[1]। और इनके रूप भी क्रमशः **लभते लभनम्**, तथा **लम्भति लम्भनम्** पृथक्-पृथक् दर्शाये हैं।

लभ और लम्भ में अर्थभेद

यत: **'लभ'** और **'लम्भ'** दोनों स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् धातुएं हैं। अतः इनके अर्थ में भी कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिये। इस अन्तर की पुष्टि **'चरक'** के पूर्वोद्धृत (पृष्ठ ३८४ में) **'आदिकाले यज्ञेषु पशव: समालभनीया बभूवु:, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'** इस वाक्य से भी होती है। यदि ही अर्थ होता तो दो क्रियाओं का पृथक्-पृथक् निर्देश न होता। काशकृत्स्न धातुपाठ में **लभ और लभि=लम्भ** के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं।

लभ के अर्थ

१. प्राप्ति अर्थ—

क—लभ धातु का अर्थ पाणिनीय तथा काशकृत्स्नीय दोनों धातुपाठों में **'प्राप्ति'** लिखा है—**'डुलभष प्राप्तौ'**।

ख—काशिका ७।१।६५ में उद्धृत **'अग्निष्टोम आलभ्यः'** वाक्य में भी 'आलभ' का अर्थ प्राप्त करना है।

२. स्पर्श अर्थ—

क—उपनयन तथा विवाह-प्रकरण में श्रूयमाण—

'दक्षिणांसमधिहृदयमालभते' (पारस्कर गृह्य) वाक्य में **'आलभते'** का स्पष्ट अर्थ **'स्पर्श'** ही है।

ख—सुश्रुत कल्पस्थान अ० १, श्लोक १९ के—

आलभेतासकृद्दीनः करेण च शिरोरुहान्।

यहां भी **'आलभेत'** का अर्थ स्पर्श ही है।

लम्भ के अर्थ

१. हिंसा अर्थ—

चरक के पूर्व (पृष्ठ ३८४ में) निर्दिष्ट वाक्य **'नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म'**

---

१. द्र०—हमारे द्वारा संस्कृत-रूपान्तरित 'काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्' पृष्ठ ९४, ५८॥

में 'आलम्भ' का अर्थ हिंसा है, यह पूर्वनिर्दिष्ट **'समालभनीयाः'** पद के प्रतिद्वन्द्वीरूप में प्रयुक्त होने से स्पष्ट है।

२. स्पर्श अर्थ—

कहीं-कहीं 'आलम्भ' का प्रयोग स्पर्श अर्थ में भी देखा जाता है। यथा—

कुमारं जातं···पुरा अन्यैरालम्भात् ॥ आश्व० गृह्य ॥
स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशंकायाम् ॥ गौतम धर्म० २।२२॥

इन उदाहरणों में **'आलम्भ'** का अर्थ **'स्पर्श'** के अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं है।

३. धारण अर्थ—

काशकृत्स्न-धातुव्याख्यान १।३६२ में लभि='लम्भ' का धारण अर्थ कहा है।

इन प्रयोगों से इतना स्पष्ट है कि **आलभ और आलम्भ दोनों स्पर्श अर्थ में समानार्थक** हैं। परन्तु आलभ का कहीं भी हिंसा अर्थ नहीं है[1]। 'आलम्भ्या गौः' इत्यादि प्रयोगों में 'आलम्भ्या' का अर्थ स्पर्श हो सकता है। अथवा यह भी सम्भव है कि इन वचनों में 'आलम्भ्या' का अर्थ हिंसन ही हो, और यह वचन उत्तरकालीन हो। जो कुछ भी हो, इस प्रकरण से यह तो पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि **वेद तथा ब्राह्मणों में जहां-कहीं भी आलभ अर्थात् आङ्पूर्वक लभ धातु का प्रयोग है, वहां सर्वत्र इसका मूल प्राचीन अर्थ 'प्राप्ति' अथवा 'स्पर्श' ही है।** उत्तरकालीन व्याख्यानकारों ने अथवा लेखकों ने **आलभ और आलम्भ** को समानार्थक समझकर **'आलभते'** आदि का हिंसन अर्थ किया है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है।

यजुर्वेद अ० ३० की समस्या का समाधान

याज्ञिक पद्धति के अनुसार यजुर्वेद का ३०वां अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है। तदनुसार इसके ५वें मन्त्र से अन्त तक विविध देवताओं के लिये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि विभिन्न प्रकार के पुरुषों के **आलभन** का निर्देश है। इस

१. निरुक्त १।१४—'नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्'; तथा कठोपनिषद् १।१।२५—'नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः' में लम्भ का प्राप्ति अर्थ देखा जाता है।

प्रकरण के अन्त में (मन्त्र २२) **आलभते** क्रिया का निर्देश है, वह सम्पूर्ण प्रकरण का शेष है। अत: **आलभते** क्रिया का **ब्रह्मणे ब्राह्मणम्**, **क्षत्राय राजन्यम्** आदि प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध है। याज्ञिक पद्धति के अनुसार **आलभते** का अर्थ संज्ञपन=हिंसन किया जाता है।

हमारी उपर्युक्त मीमांसा के अनुसार यहां भी 'आलभते' का अर्थ संज्ञपन=हिंसन नहीं हो सकता (क्योंकि संज्ञपनार्थक **आलम्भ** पृथक् धातु है)। इस दृष्टि से सम्पूर्ण अध्याय पर विचार करने से इस अध्याय का अर्थ बहुत ही सुन्दर और शिक्षाप्रद प्रतीत होता है। हमारे विचार में इस अध्याय में किस व्यक्ति से क्या प्राप्त करे, किस प्रकार का ज्ञान सीखे, इस विषय का वर्णन है। इसमें श्रेष्ठतम व्यक्ति से लेकर निन्दिततम व्यक्ति से भी उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा है। इस सम्पूर्ण अध्याय की व्याख्या हम किसी और समय प्रकाशित करेंगे[1]। इस समय तो हमने प्रसंगात् इस अध्याय की ओर संकेतमात्र कर दिया है।

उपसंहार

हमने इस लेख में संक्षेप से श्रौतयज्ञ-सम्बन्धी 'पश्वालम्भन' पर विचार करते हुए निम्न विषयों पर प्रकाश डाला है—

१—श्रौतयज्ञ आकाशीय पदार्थों की विभिन्न क्रियाओं के निदर्शन (=प्रत्यक्षीकरण) के लिये कल्पित किये गये हैं। अर्थात् श्रौतयज्ञ आकाशीय दैव और आसुर यज्ञों के प्रतिनिधि भूत हैं।

२—सर्गकाल में आसुर यज्ञों में कुछ पदार्थों का हिंसन=नाश होता है। उन्हीं के प्रतिनिधिभूत पशुयज्ञों में श्रौतयज्ञों के नाटकस्थानीय होने से उनमें पशु का वध नहीं होता, अपितु पर्यग्निकरण के पश्चात् उनका उत्सर्ग होता है।

३—पशुयज्ञों की 'पशुबन्ध' संज्ञा भी इसमें प्रमाण है कि पशुओं का यूप में बन्धनमात्र होता था, उनका वध नहीं होता था। अन्यथा इनकी संज्ञा 'पशुवध' होनी चाहिये।

---

१. इसी अध्याय के 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' (१८) मन्त्रांश की अद्भुत व्याख्या के लिये देखिये इसी संग्रह में पूर्व पृष्ठ १७९-१९२ पर मुद्रित **'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' पर विचार** नामक निबन्ध।

४—मानव सृष्टि के प्रारम्भ में निरामिषभोजी था। उसने बहुत काल पश्चात् मांसाहार स्वीकार किया।

५—आदिकाल में श्रौतयज्ञों में पश्वालम्भन नहीं होता था।

६—उत्तरकाल में वास्तविक वेदार्थ के अपरिज्ञान के कारण पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई।

७—सब से प्रथम पश्वालम्भ इन्द्र के अश्वमेध में हुआ।

८—यज्ञ में गवालम्भ का आरम्भ पृषध्र अपर नाम नहुष से हुआ।

९—ऋषियों ने इन्द्र और नहुष को बहुत समझाया। पर दोनों ने ऐश्वर्य के मद के कारण **अकिंचन ऋषियों** के कथन पर ध्यान नहीं दिया।

१०—गवादि पश्वालम्भ से प्रजाओं में ९८ नये रोग उत्पन्न हुए।

११—उत्तरकाल में ऋषियों के बहुधा प्रयास करने पर भी मानव समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ी। इस प्रकार यज्ञों में पशुबलि की वृद्धि हुई। अतः एव उत्तरकालीन प्रायः सभी ग्रन्थों में आपाततः किसी न किसी प्रकार पशुबलि का विधान उपलब्ध होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि **वेद में यज्ञों में पश्वालम्भ का निर्देश तो दूर रहा, उसमें इन पार्थिव द्रव्यमय यज्ञों का ही वर्णन नहीं है। उसमें जहां-कहीं भी यज्ञों का वर्णन है, वह उन आधिदैविक यज्ञों का है,** जिन्हें आधिदैविक देव वा असुर ब्रह्माण्ड में सतत कर रहे हैं। जब इन आधिदैविक यज्ञों की अनुकृति पर यज्ञ रचे गए, और उनमें भी उत्तरकाल में वेद के अभिप्राय को न समझने के कारण जब पशु आलम्भन होने लगा, उनके अनुसार यज्ञपद्धतियों के ग्रन्थ लिखे गये, और इस विकृत यज्ञप्रक्रिया के अनुसार वेदार्थ किया जाने लगा, तब वेद में पश्वालम्भ की प्रतीति होने लगी। वस्तुतः वेद के उन-उन शब्दों का यह वास्तविक अभिप्राय ही नहीं है। हमने प्रसंगात् **अविमेध** के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वह भी अपनी ओर से नहीं, अपितु ब्राह्मणवचनों के आधार पर। वस्तुतः जब इसी दृष्टि से वेद के इस प्रकार के सभी प्रकरणों पर विचार किया जायेगा, तभी वेद के वास्तविक रहस्य खुलेंगे। अन्यथा वे छिपे ही रहेंगे।

पशुयज्ञों में पशुओं का वध होता है वा नहीं, हम इस विषय का विस्तृत वर्णन मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के आरम्भ में **'श्रौतयज्ञ-मीमांसा'** शीर्षक उपोद्घात में करेंगे।

श्रीमद्भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो

मान्या वे
नेषु च वेदभाष
वैशिष्ट्यमित्येष
एतत्प्रश्नसमाध

वेदानां प्र
शाखाब्राह्मणवेद
तदुक्तं भगवता

'साक्षात्कृ
मन्त्रान् सम्प्रादु
वेदं च वेदाङ्गानि

इयमेव वेद
यनरूपेण प्रवहति

तत्रादिकाले
यद्यपि कश्चिद्
शास्त्राणां परिशं
सर्वविद्यानां भूत
एतस्यातिप्राचीनस्
प्रस्तूयन्ते । तत्र सर्वप्रथमं समाजशास्त्रविधानस्य प्रवक्ता भगवान् स्वायम्भुवो मनुराह—

४—मानव सृष्टि के प्रारम्भ में निरामिषभोजी था। उसने बहुत काल पश्चात् मांसाहार स्वीकार किया।

५—आदिकाल में श्रौतयज्ञों में पशवालम्भन नहीं होता था।

६—उत्तरकाल में वास्तविक वेदार्थ के अपरिज्ञान के कारण पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई।

।

प से हुआ।

। पर दोनों ने

नहीं दिया।

पन्न हुए।

र भी मानव

स ... लि की वृद्धि

हु ... कसी न किसी

प्र

निर्देश तो दूर

स ... समें जहां-कहीं

... नों के ... आधिदैविक देव

व ... ों की अनुकृति

प ... को न समझने

के ... तियों के ग्रन्थ

लि ... ा जाने लगा,

त ... उन-उन शब्दों

क ... र के वास्तविक

स्व ... ु ब्राह्मणवचनों

के ... सभी प्रकरणों

प ... ं। अन्यथा वे

हि

य का विस्तृत वर्णन मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के आरम्भ में 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' शीर्षक उपोद्घात में करेंगे।

श्रीमद्भगवद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम्

मान्या वेदविचक्षणा विपश्चिद्वर्याः विलसत्सु विविधेषु प्राचीनेष्वर्वाचीनेषु च वेदभाष्येषु श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिपादानां वेदभाष्ये किमस्ति वैशिष्ट्यमित्येष प्रश्नः प्रायेणोत्पद्यत एव बहूनां विपश्चितां स्वान्तेषु। अत एतत्प्रश्नसमाधानायैवेह कश्चित् प्रयासः क्रियते।

वेदानां प्रादुर्भावेन सहैव मन्त्रार्थप्रवचनस्य या प्रवृत्तिः प्रावर्तत, सैव शाखाब्राह्मणवेदाङ्गादिप्रवचनरूपेणाऽऽभारतयुद्धकालम् अबाधमाना प्रावहत्। तदुक्तं भगवता यास्केन—

'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुर्वेदं च वेदाङ्गानि च इति।' निरुक्त १।२०॥

इयमेव वेदार्थप्रवचनधारोत्तरोत्तरं विपरिणमती अद्ययावद् वेदभाष्यप्रणयनरूपेण प्रवहति।

तत्रादिकाले कीदृशी मन्त्रव्याख्यानपद्धतिरासीदित्यस्य साक्षात् परिचायको यद्यपि कश्चिद् ग्रन्थो नोपलभ्यते, तथापि प्राचीनानां विविधविषयकाणां शास्त्राणां परिशीलनेनैकं तथ्यमनायासेनैव विज्ञायते, यत् पुराकल्पे—'वेदाः सर्वविद्यानां भूतभव्यभविष्योपयोगिनां ज्ञानानामाकरग्रन्थाः' इत्यमन्यन्त। एतस्यातिप्राचीनस्य मतस्य निदर्शनायेह कानिचित् प्राचामाचार्याणां वचनानि प्रस्तूयन्ते। तत्र सर्वप्रथमं समाजशास्त्रविधानस्य प्रवक्ता भगवान् स्वायम्भुवो मनुराह—

सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति ॥
(मनु० १२।१००, ९७) इति ।

तत्रभगवता मनुनाऽन्यत्रापि वेदमधिकृत्य महता कण्ठेनोक्तम्—

सर्वज्ञानमयो हि सः । (२।७) इति ।

अयमेव राद्धान्तस्तत्रभवता कृष्णद्वैपायनेनाऽपि प्रतिपादितः—

यानीहागमशास्त्राणि याश्च काश्च प्रवृत्तयः ।
तानि वेदं पुरस्कृत्य प्रवृत्तानि यथाक्रमम् ॥
(महाभारत अनु० १२२।४) इति ।

तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—

वेदात् षडङ्गान्युद्धृत्य । (महा० शान्ति० २८४।९२) इति ।

परं ब्रह्मिष्ठेन भगवता याज्ञवल्क्येनाऽप्युक्तम्—

न वेदशास्त्रादन्यत्तु किञ्चिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निःसृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात् सनातनात् ॥[1] इति ।

अपि च, य इदानीं शिक्षा-कल्प-व्याकरण-निरुक्त-छन्दो-ज्योतिष-धर्मशास्त्र-पदार्थविज्ञान-साहित्य-कला-शिल्प - राजनीति-आयुर्वेद-धनुर्वेद-गन्धर्ववेद-वास्तुशास्त्रादीनाम् आकरग्रन्था उपलभ्यन्ते, ते सर्वेऽपि स्वस्वविषयस्य वेदमूलकतां महता कण्ठेनोद्घोषयन्ति ।

पदार्थविज्ञानप्रतिपादकस्य वैशेषिकशास्त्रस्य प्रवक्ता भगवान् कणादो वेदस्य प्रामाण्यमपि तस्य पदार्थविज्ञानप्रतिपादकत्वादेव मनुते । अत एवाह—

तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् । (वैशेषिक १।१।३) इति ।

अस्यायमर्थः—तच्छब्देन 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' इत्येवं पूर्वं प्रतिज्ञातो वैशेषिकप्रतिपाद्यो पदार्थधर्मः परामृष्यते । तस्यैव पदार्थधर्मस्य प्रतिपादनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यं भवति, नेतरथेति ।

---

१. द्र०—बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ । अ० १२, श्लोक १ । अत्र तृतीयचरणे 'सर्वं विनिःसृतं शास्त्रम्' इति पाठभेदो दृश्यते ।

अत्रेदमपि ज्ञेयं यद् भगवान् कणादो न केवलं 'वेदाः पदार्थधर्मप्रतिपादकाः' इति प्रतिज्ञामात्रमेव कृतवान्, अपितु तत्तत्प्रकरणे तत्तत्पदार्थधर्मप्रतिपादनाय श्रुतिप्रमाणमपि महता कण्ठेनोदाहृतवान् । तथा—

हिमकरकादीनामुत्पत्तिरप्सु तेजःसंयोगाद् भवति इति प्रतिपाद्य दिव्यास्वप्सु तेजःसंयोगो भवतीति प्रतिपादयन् 'वैदिकं च' (५।२।१०) इति सूत्रेण वैदिकवचनमपि प्रमाणयति । यथा—

या अग्निं गर्भं दधिरे विश्वरूपा ता न आपः शं स्योना भवन्तु ।
(तै० सं० ५।६।१) इति ।

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
(ऋ० १०।१२१।७) इति ।

वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां गर्भं समुद्रियम् । (यजु० ११।४६) इति ।

यो अनिध्मो दीदयद् अप्स्वन्तः (ऋ० १०।३०।४) ।

इत्येवमादीनि बहूनि वचनानि वेदेषूपलभ्यन्ते ।

एवमेव शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं चेति विवृण्वन् अतीन्द्रियमयोनिजं शरीरं प्रतिपादयन् 'वेदलिङ्गाच्च' (४।२।११) इति सूत्रेणायोनिजशरीरप्रामाण्याय वैदिकं लिङ्गमुपस्थापयति ।

अनेनातिसंक्षिप्तेन निदर्शनेन पुराकल्पे वेदाः सर्वविद्यानामाकरग्रन्थाः स्वीक्रियन्ते स्मेति विस्पष्टं विज्ञायते । तथा सति तस्मिन् काले वेदव्याख्यानान्यपि सर्वविद्याद्योतकान्येव विधीयन्ते स्मेत्यप्यञ्जसा शक्यतेऽनुमातुम् । अन्यथा सर्वविद्या वेदादेव प्रादुर्भूता इति प्राचां मतं समूलखातमुत्खन्येत ।

उत्तरकालं यदा मनुष्यामायुषो मेधायाश्च ह्रासः समजानि, तदा सुसूक्ष्मस्य सृष्टिविज्ञानस्य व्याख्यानायाऽञ्जसा ग्रहणाय च यज्ञानां प्रक्रिया समुद्भाविता, प्राचीनायाश्च सर्वविद्योपबृंहिकाया विविधाया वेदार्थप्रक्रियाया आध्यात्मिकाधिदैविकाधियज्ञविषयकासु त्रिविधासु प्रक्रियासु संक्षेपोऽकारि । चिरन्तनकालेन त्रिविधा वेदार्थप्रक्रियेति राद्धान्तो लोके प्रसिद्धिं गतः । कालान्तरे तास्वपि त्रिविधासु प्रक्रियासु याज्ञिकप्रक्रियैव प्राधान्यमलभत । तथा सति आध्यात्मिकाधिदैविकवेदार्थप्रक्रिये विरलप्रचारे अभूताम् । तत्राद्याया प्रक्रियाया निदर्शनमुपनिषत्सु, अपरस्याश्च निरुक्तशास्त्रे क्वचित् ब्राह्मणग्रन्थेषु च दर्शनं जायते ।

सम्प्रति यावानपि वैदिको वाङ्मय उपलभ्यते, स सर्वोऽपि प्रायेण यज्ञप्रक्रियामेव केन्द्रीकृत्य प्रवृत्तः। अतः एव 'वेदा यज्ञार्थमेव प्रवृत्ताः' इति वैदिकानां राद्धान्त एव समजनि। तत्रापि च मन्त्राणां यज्ञप्रक्रियासु कस्मिंश्चित् कर्मणि विनियोगमात्रमेव प्रयोजनम्। तदाह सायणः—

'तस्मिंश्च वेदे द्वौ काण्डौ, कर्मकाण्डो ब्रह्मकाण्डश्च। बृहदारण्याख्यो ग्रन्थो ब्रह्मकाण्डस्तद् व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम्। तत्रोभयत्राग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात्'॥
(काण्वसंहिताभाष्योपोद्घाते)।

सायणादिभाष्यकाराणां काले निरुक्तशास्त्रादिप्रतिपादितो वेदार्थप्रक्रियाया आधिदैविकपक्षस्तु शशशृङ्गायित एवाभूद्, इत्युक्तवचनेनैव विस्पष्टं भवति। अत एवाधिदैविकप्रक्रियापरस्य निरुक्तशास्त्रस्य व्याख्याने प्रवृत्ता वैदिकास्तत्रस्थानाम् आधिदैविकप्रक्रियानुसारं व्याख्यातानां मन्त्राणां व्याख्यानमपि बलाद् याज्ञिकमतमनुसृत्यैव विहितवन्तः।

वैक्रमस्यैकोनविंशशताब्द्या अन्ते यदा पाश्चात्यविदुषां वैदिकवाङ्मयेन परिचयोऽभूत्, तदा तत्र प्रवेशाय सायणीयं वेदभाष्यमेवैकं द्वारं मार्गप्रदर्शकं वाऽभूत्। तदाश्रयेण च यथाबुद्धि वेदान् विज्ञाय पाश्चात्या मैक्समूलरप्रभृतयः 'वेदाः परमबालिशा जटिला अधमाः साधारणाः कुरानबाइबलप्रभृतिभ्योऽपि हीनाः, तत्र ग्राम्याणां गोपालाविपालानां गीतिभ्यो न किञ्चिद् वैशिष्ट्यम्, वैदिका ह्यार्याः प्राकृतानेव पदार्थान् पूजयामासुः, न ते परमेश्वरं विदुर्' इत्येवमादीन् मतान् घोषयाञ्चक्रुः।

एतादृशे सर्वतोऽन्धेतमसि निमग्ने वैदिकविज्ञानविरहिते काले तत्रभवन्तः श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनः संस्कृतवाङ्मयं, तत्रापि च विशेषतो प्राचीनमार्षं वाङ्मयं सम्यगवगाह्य विज्ञातवन्तो यद् वेदाः सर्वविद्यानामाकरभूताः परमविज्ञानसमन्विताः सन्ति। एतेषां विषये प्राचीनानां स्वायम्भुवमनुप्रभृतीनां मतमेव सत्यं वर्तते। एवमेव पाश्चात्यैर्मैक्समूलरप्रभृतिभिर्वेदविषये यन्मतं प्रख्यापितं तन्न केवलं भ्रान्तिमूलकम् अपितु ईसाईयहूदीमतपक्षपातसमन्वितं चास्ति। वस्तुतः प्राचीनं वेदविषयकं मतं विस्मृत्याऽऽध्यात्मिकाधिदैविकप्रक्रिये चोत्सृत्य केवलं याज्ञिकप्रक्रियामेवावलम्ब्य वेदास्तादृशीमधोगतिं प्रापिता, येन न केवलं तेषां माहात्म्यमेव नष्टम्, अपितु तेषां ज्ञानप्रदत्वेन मानुषजीवनेन सह यः साक्षात् सम्बन्ध आसीत्, सोऽपि विनाशं गतः।

तदेवं भगवद्दयानन्दपादाः प्राचीनं वैदिकवाङ्मयं सम्यगनुशील्य प्राचां मतानुसारं वेदविषयकान् यान् राद्धान्तान् स्थिरीचक्रुस्त इमे सन्ति—

१—वेदशब्दो मन्त्रसंहितानामेव वाचकः।

२—वेदोऽपौरुषेयः, स्वायम्भुवो मनीषिणः कवेः काव्यं वा, देवाधिदेवस्य दैवी वाग्वा, ज्येष्ठस्य ब्रह्मणो ब्राह्मी वाग्वा, प्रजापतेः श्रुतिर्वा, महतो भूतस्य निःश्वसितं वा वर्तते। अत एव—

३—वेदा अजरा अमरा नित्याः सन्ति। अत एव—

४—वेदेषु कस्यचिदपि देशस्य जातेर्व्यक्तेर्वेतिवृत्तं न विद्यते। अत एव—

५—सर्वेऽपि वैदिकाः शब्दाः यौगिका एव सन्ति, न रूढाः। अत एव—

६—वैदिकाः शब्दाः सामान्यार्थस्य वाचका महार्था वा सन्तः सर्वविध-प्रक्रियानुगामिनो भवन्ति। अत एव—

७—वेदाः सर्वज्ञानमयाः सन्ति। अत एव—

८—वेदेषु सर्वविधमाधिदैविकमाध्यात्मिकं च विज्ञानं सूत्ररूपेण विद्यते। अध्यात्मदृष्ट्या च—

९—वेदानां वास्तविकं तात्पर्यमध्यात्मज्ञान एव विद्यते। अतो नैवेश्वर-स्यैकस्मिन्नपि मन्त्रे त्यागः संभवति। अत एव—

१०—वेदेषु प्रयुक्ता अग्निवाय्विन्द्राश्विमित्रावरुणादित्यादयो यावन्तो देवतावाचका शब्दास्त उपासनाप्रकरणे परमेश्वरस्यैव वाचका भवन्ति।

यज्ञप्रक्रियाया अवसानमप्याधिदैविके आध्यात्मिके वाऽर्थे भवति। अत एव—

११—युक्तिप्रमाणसिद्धो याज्ञिकक्रियाकलापो मन्त्रार्थानुसारी विनियोग-स्तदनुसारी च वेदानां याज्ञिकार्थोऽपि ग्राह्यो वर्तते।

स्वायम्भुवो मनीषिणः कवेः काव्यत्वाद्—

१२—बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे वर्तते। अत एव—

१३—वेदेषु भौतिकपदार्थेभ्योऽभिलषितार्थयाचना, अश्लीलता, वर्गद्वेषः, पशुहिंसा, असम्भवदोषग्रस्ता अनर्थकारिणो वा विषयास्तत्र न सम्भवन्ति।

१४—वेदाः स्वतः प्रमाणानि सन्ति। अन्यः सर्वोऽपि वैदिको लौकिको वा वाङ्मयस्तदनुकूलतयैव प्रामाण्यं भजते। अत एव—

१५—वेदव्याख्याने शाखाः ब्राह्मणानि आरण्यका उपनिषदः पदपाठाः धनुर्वेदादय उपवेदाः कल्पसूत्रादीन्यङ्गानि प्रातिशाख्यादीनि लक्षणानि मीमांसादीन्युपाङ्गानि इत्येवमादेः समस्ताद् वैदिकाद् वाङ्मयाल्लौकिकाच्च साहाय्यं शक्यते ग्रहीतुम्, न त्वेतेषाम् अनानुकूल्याद् वैपरीत्यमात्रेण वा न तावन् मन्त्रार्थः शक्यते परित्यक्तुम्, यावत्स वेदादेव विपरीतो न भवेत्।

एतान् प्राचीनैर्ऋषिमुन्याचार्यवर्यैः स्वीकृतान् वेदविषयकान् राद्धान्तान् अनुसृत्य भगवद्दयानन्दपादैर्वेदभाष्यप्रणयनात् प्राक् चतुर्णामपि वेदानां प्रतिवर्गं प्रतिसूक्तं प्रतिदशति प्रत्यध्यायं वा यथायथं विषयनिर्देशपुरःसरं चतुर्वेदविषयानुक्रमनामा स्वल्पकायः परन्त्वतिमहत्त्वपूर्णो ग्रन्थो निर्मितः। स चाद्य यावत् परोपकारिणीसभायाः संग्रहे सुरक्षितो वर्तते। यद्ययं ग्रन्थः प्राकाश्यं गच्छेत्[1] तर्हि वैदिकविदुषां महान् उपकारो भवेत्।

चतुर्वेदविषयानुक्रमग्रथनानन्तरमाचार्यपादा वेदभाष्यप्रणयने प्रवृत्ताः। तत्र ब्राह्मणग्रन्थान् विशेषतो निरुक्तं व्याकरणं चाग्रे कृत्वा प्रतिमन्त्रं प्रतिपदं तादृशि निर्वचनानि निर्दिशतानि, यानि सर्वप्रक्रियास्वञ्जसा सगच्छन्ते। अतस्तदीयं भाष्यं परोक्षरूपेण सर्वप्रक्रियाद्योतकमिति शक्यते वक्तुम्।

बहवो वैदिका ब्रुवते श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीभिः याज्ञिकप्रक्रियानुसारि व्याख्यानमकृत्वा यज्ञानां समस्तस्य वैदिकवाङ्मयस्य चावहेलना कृता। परन्त्वेतत् कथनं सत्यादपेतं वर्तते। एतद्विषये भगवत्पादैः स्वीयऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामेवं प्रत्यपादि—

"परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राग्निहोत्राश्वमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनस्तत्कथनेनानृषिग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति।" ऋग्भाष्य भाग १, पृष्ठ ३८८, रा० ला० क० ट्र० संस्करण।

भगवद्दयानन्दसरस्वतीपादानां वेदभाष्येऽस्त्येकमेतादृग् वैशिष्ट्यं यदन्यवेदभाष्येषु क्वचिदपि नोपलभ्यते। तच्चास्ति मन्त्राणां व्यावहारिकार्थविधानम्। अनेनैव च वेदानां मनुष्यजीवनोपयोगित्वं व्याख्यातं भवति। एतेन च

---

१. अयं ग्रन्थः प्राकाश्यं गतः। अस्माभिरप्येकं सटिप्पणं संस्करणं 'दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रहे' प्रकाशितम्।

व्यावहारिकेणार्थेन साधारणा अपि जना वैदिकशिक्षानुकूलं स्वजीवनं श्रेष्ठं सुखिनं च सम्पादयितुं समर्था भवन्ति। व्यावहारिकार्थविधानमपि नाचार्यपादैः स्वमनीषयोपकल्पितम्, अपितु तत्राप्यस्ति प्राचामाचार्याणां संकेतग्रहः। एतद्विषये मीमांसायाः प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादस्य तृतीयसूत्रस्य शबरस्वामिनो भाष्यं द्रष्टव्यम्[1]।

सम्प्रति यावन्त्यपि वेदभाष्याण्युपलभ्यन्ते, तेषु 'वेदानां मनुष्यजीवनेन सह कः साक्षात् सम्बन्धः', यद्वा 'वेदानां मनुष्यजीवने कः साक्षाद् उपयोगः' इति प्रश्नस्य उत्तरं नैव प्राप्यते। अस्मिन्नंशे दयानन्दीयं वेदभाष्यं सर्वाण्यपि वेदभाष्याण्यतिशेते।

बहवो वैदिका सायणभाष्यं तदीयं पाण्डित्यं जातितरां प्रशंसन्ति, परन्तु ततः प्राचीनानां वेदभाष्याणां परिशीलनेन विज्ञायते यत् सायणीये भाष्ये न किमप्यस्ति नवीनत्वम्। सर्वत्र हि प्रायेण प्राचामनुकरणं संग्रहो वा विद्यते। केचन विद्वांसस्तदीयगं भाष्ये व्याकरणप्रक्रियामुपलभ्य तद्व्याकरणपाण्डित्यं प्रशंसन्ति। परन्त्वत्रापि स प्राचीनं भट्टभास्करकृतं तैत्तिरीयसंहिताभाष्यमेवानुकरोति। यत्र हि स तदनुकरणं विहाय किञ्चिदपि स्वमनीषया लिखति, तत्रैव स पथभ्रष्टः सन् स्वस्य व्याकरणप्रक्रियानभिज्ञत्वमेव द्योतयति। ऋग्वेदस्य प्रथमसूक्तस्य नवानां मन्त्राणां व्याख्याने स उपदशं (८-९) भ्रान्तः। निदर्शनायेह प्रथममन्त्रे पुरोहितरत्नधातमशब्दयोर्व्याकरणप्रक्रियोद्ध्रियते—

'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' (अष्टा० ५।३।३९) इति पूर्वशब्दादस्प्रत्ययः पुरादेशश्च। ततोऽत्र प्रत्ययस्वरः। धाञो निष्ठायां 'दधातेर्हि' (अ० ७।४।४२) इत्यादेशे सति प्रत्ययस्वरेणान्तोदात्तो हितशब्दः। तत्र समासान्तोदात्तत्वे प्राप्ते तदपवादत्वेन 'तत्पुरुषे तुल्यार्थं०'(अ०६।२।२) इत्यादिना अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् इति'।

इह सायणो द्विर्भ्रान्तः। तथाहि—पुरस् अव्ययस्य हितशब्देन सह केन सूत्रेण कस्मिन्नर्थे कश्च समासः, इति न किमप्युक्तम्। 'तत्पुरुषे०' इति सूत्रनिर्देशेन तत्पुरुषसमास इहेष्यत इति ज्ञायते, स च न केनापि सूत्रेण प्राप्नोति। न चेह 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ०'(६।२।२) इति सूत्रस्य कथंचित् प्रवृत्तिः सम्भवति, 'अव्यये नञ्कुनिपातानाम्' इति वार्तिककारेण परिगणनात्। नह्यत्र 'पुरोऽव्ययम्' (१।४।६७) इत्यनेन निपातसंज्ञां विधाय सूत्रं शक्य प्रवर्तयि-

१. द्र०—पूर्वत्र पृष्ठ १५, १६।

तुम् । तथा सति परत्वात् गतिरनन्तरः (६।२।४९) इति सूत्रस्य प्रवर्तनात् । अपि च 'यद्वा' इत्युक्त्वा पक्षान्तरे गतिसंज्ञाविधायकस्य गतिरनन्तरः(६।२।४९) इति स्वरविधायकस्य च सूत्रस्योपस्थापनात् पूर्वत्र गतिसंज्ञा नेष्यत इत्यस्य ज्ञापनाच्च ।

एवमेव, 'रत्नधा इत्यत्र रत्नानि दधातीति विग्रहः । समासत्वादन्तोदात्तो रत्नधाशब्दः' इत्युक्तम् । एतदप्यविचारितरमणीयम् । यतो हि रत्नानि दधातीति विग्रहे परत्वात् 'गतिकारकोपपदात् कृत्' (६।२।१३९) इत्येव प्रवर्तते, न 'समासस्य' (६।१।२२३) इति सूत्रम् ।

यद्यपि गच्छतः स्खलनं न दोषायेति न्यायेन सायणीयाः प्रमादाः शक्या उपेक्षितुम्, तथापि ये नाम सायणीयभाष्यस्यैव सर्वश्रेष्ठत्वं प्रामाणिकत्वं चोद्घोषयन्ति, तेषां कृते वस्तुस्थितिनिदर्शनायैवेह व्याकरणप्रक्रियाया भ्रान्तयो निदर्शिताः ।

अन्ते तत्रभवतां दयानन्दसरस्वतीपादानां वेदभाष्यविषये योगिराजस्यारविन्दस्य सम्मतिमुद्धृत्य विरम्यते—

अरविन्दः सायणभाष्यस्यालोचनां विधायाह—'एतस्मिन् विषये दयानन्दसरस्वतीस्वामिनो विचाराः सुस्पष्टाः, तस्याधारशिलाऽभेद्या वर्तते । वैदिकसूक्तानि विभिन्नैर्नामभिरेकं परमेश्वरम् एव संबोध्य गीतानि । विप्रा अर्थाद् ऋषय एकं परमेश्वरमेव अग्नीन्द्रयमवायुमातरिश्वादिशब्दैर्बहुधा वदन्ति····· । एतस्य विज्ञानात् दयानन्दस्य मौलिकसिद्धान्तस्य स्वीकरणात्, वैदिकानामृषीणां सर्वे देवता एकस्यैव महत आत्मनो नामानीति विश्वासस्योदयनात् वेदस्य तदेव तात्पर्यमवगम्यते यद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना प्रकाशितः' इति । (वैदिक मैगजीन सन् १९१६) ।

यद्यपि काम-क्रोध-लोभ-मोह-मदाहंकाराविद्यादिभिर्ग्रस्तः संसारो भगवद्दयानन्दसरस्वतीकृतस्य वेदभाष्यस्य मूल्यं नाद्ययावद् व्यजानात्, तथापि यदा तस्य बुद्धिर्विमला मनश्च पवित्रं भविष्यति, तदा स योगिराजारविन्द इव भगवद्दयानन्दस्य श्रवर्णनीयतपःप्रभाव-निर्झरिताया वेदार्थप्रक्रियाया माहात्म्यं विज्ञास्यति, वक्ष्यति च—नमः परमर्षये नमः परमर्षये इति ।।

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा का उपसंहार

प्रस्तुत संग्रह में वेद के विषय में लिखे गये १७-१८ लेखों वा निबन्धों को छापा है। इनके अतिरिक्त मेरे वेदविषयक कुछ लेख और भी छपे थे। यथा—

१. वैदिक छन्द: संकलनम्—(संस्कृत) [सरस्वती सुषमा—वाराणसी]

२. वैदिक छन्दःशास्त्र—(हिन्दी) [सविता—अजमेर]

३. वेदार्थ में स्वरशास्त्र की आवश्यकता और उसकी उपेक्षा का परिणाम—[वेदवाणी सं० २०१३]

४. वेदार्थज्ञान के कतिपय साधन—[सविता—अजमेर]

५. वेदार्थ के साधन और उनकी उपेक्षा का रहस्य—[आर्यमित्र, २६ जुलाई १९५८]

६. क्या यजुर्वेद में ब्राह्मण मिश्रित है?—[आर्यजगत्—लाहौर, सं० २००४]

७, वेद के अनुक्रमणीसंज्ञक ग्रन्थ—[दयानन्द सन्देश—देहली, सं० १९९६] आदि।

इन लेखों की अधिकांश सामग्री 'वैदिक स्वरमीमांसा, वैदिक छन्दोमीमांसा' ग्रन्थों में तथा प्रस्तुत संग्रह में छपे लेखों के अन्तर्गत आ गई है। अत: हमने इन्हें यहां पुन: छापना उचित नहीं समझा।

प्रस्तुत संग्रह में छपे लेखों वा निबन्धों में कई अंश ऐसे हैं, जो पुनः-पुन: कई लेखों में आये हैं। यत: ये लेख विभिन्न समयों में लिखे गये। अतः कुछ महत्वपूर्ण अंशों का विभिन्न लेखों में पुन: लिखा जाना स्वाभाविक था। उन अंशों को प्रस्तुत संग्रह में एक स्थान पर लिखकर अयन्त्र हटा देने से लेख की आत्मा नष्ट हो जाती है। इस कारण हमने लेखों में परिष्कार आदि तो किया है, पर पूर्व स्वरूप यथावत् रहने दिया है। हां, अन्तिम लेख 'श्रौत पशुबन्ध यज्ञ और पश्वालम्भ' के पूर्वार्ध भाग को नये सिरे से लिखा है। अत: उसमें पूर्व लेखों में प्रस्तुत अंशों को छोड़ दिया है। संकेतार्थ केवल उनकी पूर्ण पृष्ठ संख्या लिख दी है॥

प्रथम-परिशिष्ट

प्रमुख संशोधन परिवर्तन और परिवर्धन

(संस्कृत-भाग पर संस्कृत में, भाषा-भाग पर भाषा में)

पृष्ठ २, पं० ११—'**न वेदशास्त्रादन्यत्तु**' इत्युद्धृतं वचनं बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ द्वादशाध्यायस्यादौ (श्लोक १) तृतीयचरणे '**सर्वं विनिःसृतं शास्त्रं**' इत्येवं पाठभेदेनोपलभ्यते । द्र०—स्मृतिसन्दर्भ, भाग ४, पृष्ठ २३३४, 'मोर' संस्करण ।

पृष्ठ ३, पं० ३ —'**दुर्बोधं तु भवेद् यस्माद्**'' इत्युद्धृतं वचनं बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतौ द्वादशाध्यायस्यादौ (श्लोक २) उपलभ्यते । द्र०—स्मृतिसन्दर्भ, भाग ४, पृष्ठ २३३४, 'मोर' संस्करण ।

पृष्ठ ४, पं० १३—'**यजुः १५।४६।।**' इत्यस्य स्थाने '**यजुः ११।४६।।**' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १४, पं० २३ —'**कात्या० श्रौत० २०।८।।**'इत्यस्य स्थाने '**कात्या० श्रौत०** २०।६।६।।'' इत्येवं शोधनीयम् ।

पृष्ठ १४, पं० २६ – '**यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**' अयमेवार्थ आयुर्वेदीय चरकसंहितायां शारीरस्थाने पञ्चमाध्याय एवं व्याख्यायते—'**पुरुषोऽयं लोकसम्मित इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः । यावन्तोऽहि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके**' । **इत्येवं प्रतिज्ञाय भगवान् आत्रेयोऽनुपदं विस्तरेण च व्याचष्टवान्** ।

पृष्ठ १६, पं० ५—'**विशिखा इव**'—शबरस्वामिनाऽस्य पदस्य व्याख्यानं बालकानां विविधशिखत्वपरमुक्तम् । केचन विशिखस्य विगतशिखत्वरूपं व्याख्यानं कुर्वते । समुद्ध्रियते च स्मृतिवचनम्—'**विशिखो व्युपवीतश्च यत्करोति न तत्कृतम्**' इति । (द्र०—ऋग्वेदेऽलंकाराः, पृष्ठ ७३) तत्त्वत्र व्याख्यानं न सम्भवति । बाणानां विविधशिखत्वात् तदुपमानेऽपि कुमाराणां विविधशिखत्वमेवोचितं वक्तुम् इति ।

पृष्ठ ३४, पं० १—'यजः १५।४६।।' के स्थान में 'यजुः ११।४६।।' शोधें।

पृष्ठ ४५, पं० ६, ७—'का० श्रौत० २०।८।।' के स्थान में 'का० श्रौत० २०।६।६।।' इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ ४५, पं० ११—'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' वचन की तुलना आयुर्वेदीय चरकसंहिता शारीरस्थान पञ्चमाध्याय १-५ तक 'लोकसम्मितोऽयं पुरुषः' प्रकरण के साथ करें।

पृष्ठ ६६, पं० २३—हन्त्यात्मानमात्मा—तुलना करो—'हन्त्यात्मानम्, घातयत्यात्मा······ द्वावात्मानौ—अन्तरात्मा शरीरात्मा च'। महाभाष्य १।३।६७।।

पृष्ठ ७१, पं० १६,१७ पर उद्धृत शाङ्खायन श्रौत के वचन से स्पष्ट है कि आधिभौतिक कोई वेदार्थ की प्रक्रिया नहीं है। त्रिविध ताप की परिगणना में आधिभौतिक ताप की गणना होती है।

पृष्ठ ७१, पं० २९—पुरुष का मोक्ष—यहां श्लोकगत वेदान्ताभिहित पद इस प्रकार जोड़ना चाहिये—'पुरुष का [वेदान्ताभिहित] मोक्ष'। अन्य श्लोकगत पद यथास्थान प्रयुक्त हैं। 'वेदान्ताभिहित' पद छूट गया है।

पृष्ठ ८६, पं० २१—'गन्थे त्वा'—मिलाकर पढ़ें—'गन्थेत्वा'।

पृष्ठ ८७, पं० ५—'दृष्टिकोण···हो गया' को शोधें—दृष्टि···—·हो गई।' दृष्टिकोण अंग्रेजी भाषा के point of view शब्द का अनुवाद है। आर्यभाषा (संस्कृत-हिन्दी) की प्रवृत्ति के अनुसार केवल दृष्टि पद का प्रयोग होना चाहिये।

पृष्ठ ८९, पं० २१—'शांख्या०' के स्थान पर शोधें—'शाङ्खा०'।

पृष्ठ ८९, पं० १२—'अग्निध्रीये' के स्थान में शोधें—'आग्निध्रीये'।

पृष्ठ १२३, पं०१८—(२।२)' के स्थान में '(निरुक्त २।२)' शोधें।

पृष्ठ १२६, पं० २६—'उसको निभा' के स्थान में 'उसको अपने वेदभाष्य में निभा' इस प्रकार पढ़ें।

पृष्ठ १३२, पं० १५—'भारत युद्ध के ३६ वर्ष बाद कलि का आरम्भ' यह मत पं० भगवद्दत्त जी एवं पौराणिक लेखों के अनुसार है। महाभारत के कुछ प्रसङ्गों से प्रतीत होता है कि कलि का आरम्भ महाभारत युद्ध के समीप

ही हो गया था। 'एतत् कलयुगं नाम अचिरात् यत् प्रवर्तते'। वनपर्व १४९।३८।। (भारतीय ज्योतिष शास्त्रा चा इतिहास, पृष्ठ ११७, द्वितीय संस्करण)।

पृष्ठ १३३, पं० २१—'में उद्धृत' के स्थान में 'में विष्णु पुराण का उद्धृत वचन' इस प्रकार शोध कर पढ़ें।

पृष्ठ १४०, पं० २९—'तर्को न्यायमीमांसे इति' इत्यस्य स्थाने पठनीयम्—'तर्को न्यायमीमांसे अर्थवाद इति केचित् इति'।

पृष्ठ १४०, पं० ३१—इत्यस्यानन्तरं परिवर्धनीयम्—

न कल्पमात्रे (पा० गृह्य २।६।७) इति सूत्रं तदैव सम्भवति, यदा तर्कपदेन कल्पसूत्रमुच्यते (यथा भर्तृयज्ञ आह, द्र०—पं० २७)। तदायमर्थोऽस्य सूत्रस्य—न तावदेव=कल्पसूत्रं समाप्यैव न, अपि तु षडङ्गमध्ययनं समाप्य स्नायात्।

पृष्ठ—१४२, पं० २०—इत्यतोऽनन्तरं परिवर्धनीयम्—

'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इति बृहदारण्यकीयां श्रुतिं (२।४।१०) विवृणन् शङ्कराचार्य आह—'ततो जातमित्युच्यते—यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम्। इतिहास ।'

पृष्ठ १४५, पं० १९—'अनेन मन्त्राणामेव सर्वसम्मता वेदसंज्ञा, न ब्राह्मणानाम् इत्येवापतति'—इत्यस्योपरि टिप्पणी परिवर्धनीया—

अयं लेखः २००९ तमे वैक्रमाब्दे 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः' इति नाम्ना प्रकाशितोऽभूत्। तमभिलक्ष्य तन्निरासाय श्री स्वामिकरपात्रिमहोदयेन 'वेद का स्वरूप और प्रामाण्य' नाम्नः पुस्तकस्य द्वितीयभागे १०१ पृष्ठत आरभ्य १११ पृष्ठपर्यन्तं बहुप्रपञ्चितम्। परन्तु न तत्र तत्प्रकरणनिर्दिष्टस्य 'कृष्णयजुष एव श्रौतसूत्रेषु कस्मादिदं सूत्रमुपलभ्यतेऽन्यवेदानां श्रौतसूत्रेषु कुतो न पठ्यते' इत्यस्य न किञ्चिदुत्तरमुपटङ्कितम्। अहो हठधर्मिता स्वामिपादानाम्। अत्रैव च १०१ पृष्ठे "एक समाजी सज्जन ने 'अभिनव विचार' नाम से", १०४, १०६ पृष्ठे—'ये ही समाजी सज्जन', १०७ पृष्ठे च—'मीमांसकमन्यसमाजी सज्जन को' इत्यादि पदैर्यदस्मद्विषये लिखितं, तत्तेषां हृदयस्थभावानेव प्रकटी करोतीत्यलमतिपल्लवितेन।

इदमप्यत्रावधेयम्—१९६४ खीस्ताब्दस्य नवम्बरमासस्य ११-१८ पर्यन्तासु तिथिषु एभिरेव स्वामिमहोदयैरायोजिते सर्ववेदशाखासम्मेलने १६, १७, १८ तिथिषु पुरीस्थानां शङ्कराचार्यपादानाम् आध्यक्षे—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाम**' इत्यस्मिन् विषये मया सह शास्त्रार्थोऽभूत्। तत्रापि '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' इत्यस्य सूत्रस्य विषये ये मया दोषाः समुपस्थापिताः, न तेषां किञ्चिदुत्तरमेतत्सभापण्डितैः प्रदत्तम्। दोषाणां समाधानमकृत्वैव '**सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृत्वं वेदत्वम्**' इत्यन्यद् वेदसंज्ञालक्षणमुपन्यस्तम्। एतल्लक्षणेऽपि ये व्याप्त्यतिव्याप्त्यादयो दोषा मया तत्रोपस्थापिताः, तेषामपि न तत्र केनचित्समुद्धारः कृतः। एतल्लक्षणविषयको विचारोऽप्यस्मिन्नेव निबन्धेऽन्ते कृतः। स तत्र द्रष्टव्यः।

पृष्ठ १४५, पं० २३—'**कृष्णयजुषः शाखासु**' इत्यस्य स्थाने '**कृष्णयजुषः सर्वासु शाखासु**' इत्येवं पठनीयम्।

पृष्ठ १४८, पं० ११—'**विंशत्तमे**' इत्यस्य स्थाने शोधनीयं '**त्रिंशत्तमे**'।

पृष्ठ १५२, पं० २८—**सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे**...' इदं लक्षणं १९६४ तमस्य खीस्ताब्दस्य नवम्बरमासस्य १६-१७-१८तिथिषु मया सह यः शास्त्रार्थः 'अमृतसर'नगरेऽभूत्, तत्रान्तिमे दिने प्रस्तुतमासीत् पौराणिकमतानुयायिना पण्डितेन।

पृष्ठ १५७, पं० २६—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदः**' पाठ को शुद्ध करें—'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदशब्दः**'।

पृष्ठ १६४, पं० २२—'**ब्राह्मणग्रन्थों की नहीं।**' इस पर टिप्पणी—

प्रस्तुत लेख संवत् २००९ में प्रथम वार '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः**' शीर्षक से संस्कृत और हिन्दी में छपा था। उसको दृष्टि में रखकर काशी के श्री स्वामी करपात्री जी ने अपनी '**वेद का स्वरूप और प्रामाण्य**' नामक पुस्तक के द्वितीय भाग में पृष्ठ १०१-१११ पर्यन्त बहुत कुछ लिखा है। परन्तु उसमें मुख्य अंश—'**मन्त्रब्राह्मयोर्वेदनामधेयम्**' सूत्र कृष्णयजुओं के श्रौतसूत्रों में ही क्यों उपलब्ध होता है, अन्य वेदों के श्रौतसूत्रों में यह सूत्र क्यों नहीं पढ़ा गया? इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। क्या यह मूल तत्त्व को छिपाना नहीं है? आक्षेपों का उत्तर देने में असमर्थ होकर पृष्ठ १०१ पर—'एक समाजी सज्जन ने अभिनव विचार नाम

से', पृष्ठ १०४, १०६ पर 'ये ही समाजी सज्जन', तथा पृष्ठ १०७ पर 'मीमांसकमन्य समाजी सज्जन को' इत्यादि पदों के प्रयोग श्री स्वामी करपात्री जी के हृदयस्थ भावों को ही प्रकट करते हैं।

यहां यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि सन् १९६४ में नवम्बर की ११-१८ ता० तक अमृतसर में आयोजित 'सर्ववेदशाखा-सम्मेलन' के अवसर पर ता० १६-१७-१८ तीन दिन तक पुरी के स्वामी शङ्कराचार्य जी की अध्यक्षता में जो मेरे साथ शास्त्रार्थ हुआ था, उस में भी मैंने **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** सूत्र की समालोचना करते हुए यही निष्कर्ष प्रकट किया था कि यह सूत्र केवल कृष्णयजुओं की ही शाखाओं में, जिनमें मन्त्रब्राह्मण मिश्रित है, क्यों मिलता है? अन्य वेदों के, जिनमें मन्त्रब्राह्मण पृथक्-पृथक् निबद्ध है, क्यों नहीं मिलता? उस शास्त्रार्थ में भी इस प्रश्न का समाधान उनकी ओर से नहीं दिया गया। इसके विपरीत मेरे प्रश्न से अनुत्तरित होकर वेद का नया लक्षण—**'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वेदत्वम्'** उपस्थापित किया गया। इस लक्षण में भी अव्याप्ति अतिव्याप्ति रूप जो दोष मैंने उपस्थापित किये, उनका भी उद्धार नहीं किया गया। इस लक्षण के सम्बन्ध में इसी निबन्ध के अन्त में विचार किया है। पाठक इस विषय में यथास्थान देखें।

पृष्ठ १७३, पं० २८—**'सम्प्रदायाविच्छिन्नत्वे'** वेद का यह लक्षण सन् १९६४ के नवम्बर मास की १६-१७-१८ तारीखों में 'सर्ववेदशाखा सम्मेलन' के प्रधान-प्रधान विद्वानों के साथ जो मेरा शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें तारीख १८ को पौराणिक मतानुयायी प्रवक्ता की ओर से प्रस्तुत किया गया था। इस पर मैंने शास्त्रार्थ में जो अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोष दिये थे, उनका पौराणिक विद्वानों की ओर से कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया।

इस शास्त्रार्थ का विवरण हम प्रस्तुत लेखसंग्रह के द्वितीय भाग में प्रस्तुत करेंगे।

पृष्ठ १७९, पं० २३—'हमारा लेख' इसके आगे बढ़ावें—यह लेख इसी संग्रह में पृष्ठ २३१-२३६ तक मुद्रित- **'यजुषां शौक्ल्य-कार्ष्ण्यविवेकः'** संस्कृत लेख में, तथा पृष्ठ २३७-२४० तक मुद्रित 'याजुष शाखाओं के शुक्ल-कृष्ण भेद' शीर्षक लेख में देखें।

पृष्ठ १८२, पं० ४—**'कुछ समय हुआ'** पर टिप्पणी—**'दुष्कृताय**

चरकाचार्यम्' यह लेख प्रथम बार वेदवाणी के नवम्बर १९५२ के अङ्क में छपा था। उस समय मैं काशी में था।

पृष्ठ २०२, पं० १९—'बराबर होता है' के आगे बढ़ावें—'**चन्द्रमा का पृथिवी की परिक्रमा का काल २७ दिन १९ घड़ी १८ पल है।**'

पृष्ठ २०९, पं० ३—'इत्यादि' इसके आगे बढ़ायें—महाभारत शान्ति पर्व १८७।३१ में इस मानस अग्नि को ही जीव (=आत्मा) कहा है—'**मानसोऽग्निः शरीरेषु जीव इत्यभिधीयते।**'

पृष्ठ २५७, पं० ८—'आदि को' के स्थान में शोधें—'**आदि के**'।

पृष्ठ २५८, पं० १७-१८—'**नाभानिर्दिष्ट**' के स्थान पर '**नाभानेदिष्ठ**' पढ़ें।

पृष्ठ २५९, पं० १७—'**नाभादिष्ट**' को शोधें—'**नाभानेदिष्ठ**'।

पृष्ठ २५९, पं० २१—'**इस सूक्त दानस्तुति रूप में**' को इस प्रकार शुद्ध करें—'**इस दानस्तुतिरूप सूक्त में**'।

पृष्ठ २६४, पं० २१—'**अनुवाकनुक्रमणी**' इत्यस्य स्थाने '**अनुवाकानुक्रमणी**' इत्येवं शोधनीयम्।

पृष्ठ २६५, पं० ११, १२—'**उन्होंने—है—**' इन पङ्क्तियों के नीचे जो लाईन (रूल) है, उसे पं० १० वा ११ के मध्य होना चाहिये। भूल से नीचे लग गई है।

पृष्ठ ३१२, पं० १६— 'पन्तं' को 'पान्तं' बनावें।

पृष्ठ ३१६, पं० १७—'षलूनाग्नि०' इसके स्थान में 'षळूनाग्नि०' इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ ३३७, पं० १८—'**योग्य होता है।**' इससे आगे नये पैरे से बढ़ावें—

यदि पूर्वपक्षी के मतानुसार यह मान लें कि यहां '**मन्त्रकृत्**' का अर्थ '**मन्त्र-रचयिता**' ही है, तो उसी के मतानुसार श्रौतसूत्रों के 'सूत्रकाल' नाम से स्मृत काल से बहुत पूर्व '**मन्त्रकाल**' समाप्त हो चुका था। तब श्रौतसूत्रकार ने मन्त्रकृत्=मन्त्ररचयिताओं का वरण करने का विधान कैसे किया? या तो

सूत्रकाल तक मन्त्ररचना काल मानना होगा, अथवा मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्र-रचयिता छोड़ना होगा। यह पूर्वपक्षी के मत में 'उभयत:पाशा रज्जुरूप दोष आता है।

पृष्ठ ३५०, पं० ३—**'दर्वीनिक्षणायवनं'** इसे शोधें **'दर्वीनिक्षणावपनं'**।

पृष्ठ ३५८, पं० १—**'क्रमश: विभाग'** इसके स्थान पर **'क्रमशः काल-विभाग'** इस प्रकार शोधें।

पृष्ठ ३७८, पं० ८-९ पर निर्दिष्ट मन्त्र का पता बढ़ावें—**'यजुः १३। ५०॥'**

पृष्ठ ३७९, पं० ८—'(का० श्रौ० २०।६९)' के स्थान में '(का० श्रौ० २०।६।९)' बनावें।

पृष्ठ ३७९, पं० ११—'(का० श्रौ० २१।१२)' के स्थान में '(का० श्रौ० २१।१।१२)' इस प्रकार शोधें।

द्वितीय परिशिष्ट

वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा में उद्धृत प्रमाणों की सूची

तृतीय परिशिष्ट

लेखों के लेखन-परिष्करण-मुद्रण विषयक परिचय

(उपोद्घात में) **स्वाध्यायान्मा प्रमदः**—यह लेख प्रथम वार 'आर्यमार्तण्ड' नामक पत्र के ३ नवम्बर १९४२ के अङ्क में छपा था।

१. वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च—यह लेख 'राजस्थान संस्कृत सम्मेलन' (सन् १९६६) के 'भीलवाड़ा' (राज०) के अधिवेशन के अवसर पर 'वेद-परिषद्' के सभापति-भाषण के लिये लिखा गया था, और उक्त सम्मेलन द्वारा प्रकाशित हुआ था। तदनन्तर सन् १९६६ में 'गुरुकुल-पत्रिका' तथा 'संस्कृत-रत्नाकर' पत्रिका में छपा था। इसका परिष्कृत रूप वाराणसी से सन् १९६८ में प्रकाशित **'वेदों का सत्य स्वरूप'** में छपा। तत्पश्चात् मेरे द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेदभाष्य के भाग २ के आरम्भ में छपा।

२. वेदों का महत्त्व और उनके प्रचार के उपाय—यह पूर्व लेख का ही भाषानुवाद है। प्रथमतः वाराणसी से सन् १९६८ में प्रकाशित **'वेदों का सत्य स्वरूप'** में छपा। यह भाषानुवाद श्री पं० विश्वमित्र पीएच० डी० ने किया था। तत्पश्चात् मैंने स्वयं इसका भाषानुवाद करके स्वसम्पादित स्वामी दयानन्द सरस्वती के ऋग्वेदभाष्य भाग २ के आरम्भ में संस्कृत लेख के साथ छापा।

३. वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा—यह लेख प्रथम बार 'वेदवाणी' पत्रिका के वर्ष ६, अङ्क ४, ५, ६, (सं० २०१०, सन् १९५३) में 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन' शीर्षक से छपा था।

४. वेदसंज्ञा-मीमांसा—यह लेख संस्कृत में प्रथम बार 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—इत्यत्र कश्चिदभिनवो विचारः' शीर्षक से 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन' (आल इण्डिया ओरियण्टल कान्फ्रेंस) के सन् १९५१

के लखनऊ अधिवेशन में पढ़ा था। तत्पश्चात् इसी शीर्षक से 'वेदवाणी' पत्रिका के वर्ष ४, अङ्क ८ (सं० २००६, सन् १६५२) में भाषानुवाद सहित छपा था। तत्पश्चात् इसका परिष्कृत वा परिवर्धित रूप **'वेदसंज्ञा मीमांसा'** शीर्षक से संस्कृत और भाषा में (सं० २०२३ सन्, १६६६में) अजमेर से पुस्तक रूप में मैंने छापा था। प्रस्तुत लेख उसका पुनः परिष्कृत रूप है।

५. **वेदसंज्ञा-मीमांसा, अर्थात् 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' सूत्र पर विचार**—इसके विषय में पूर्व विवरण देखें।

६. **दुष्कृताय चरकाचार्यम् (यजुः ३०।१८) पर विचार**—यह लेख प्रथम बार 'वेदवाणी' पत्रिका के वर्ष ५, अङ्क १ (सं० २००६, सन् १६५२) में छपा था।

७. **'दशमे मासि सूतवे' (ऋ० १०।१८४।३) अर्थात् बालक के गर्भ-वास-काल की मीमांसा**—यह लेख प्रथम बार 'कल्याण' पत्रिका के सन् १६५३ के 'बालक अङ्क' में छपा था।

८. **वेदप्रतिपादित (अथर्व १०।२।२७-३३) शरीर में आत्मा का निवास स्थान**—यह लेख प्रथम बार 'वेदवाणी' पत्रिका के वर्ष ६, अङ्क १, (सं० २०१०, सन् १६५३) में प्रथम बार छपा था। तत्पश्चात् 'सरस्वती' पत्रिका के मई १६५६ में यह परिष्कृत वा परिवर्धित रूप में छपा था। प्रस्तुत संग्रह में यह लेख पुनः परिष्कृत वा परिवर्धित किया गया है।

६. **यजुषां शौक्ल्य-कार्ष्ण्य-विवेकः**— यह लेख प्रथम बार (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की 'सरस्वती सुषमा' पत्रिका वर्ष ११, अङ्क १, २ (सन् १६५६) में छपा था। उसके पश्चात् 'भारती परिषद् प्रयाग' द्वारा प्रकाशित 'ऋषिकल्पन्यास' नामक स्मृतिग्रन्थ में छपा था।

१०. **याजुष शाखाओं के शुक्ल-कृष्ण भेद**—यह लेख प्रथम बार लखनऊ से प्रकाशित 'सरस्वती' पत्रिका में (सम्भवतः सन् १६५० में) 'यजुर्वेद क्या है' शीर्षक लेख के पूर्वार्ध में छपा था।

११. **मूल यजुर्वेद**—यह लेख प्रथम बार देश-विभाजन से पूर्व लाहौर की 'आर्य जगत्' पत्रिका (सं० १६६८) में 'वर्तमान माध्यन्दिनी संहिता ही मूल यजुर्वेद है' शीर्षक से छपा था। तत्पश्चात् लखनऊ से प्रकाशित होने-वाली 'सरस्वती' पत्रिका (सम्भवतः सन् १६५०) में 'यजुर्वेद क्या है' शीर्षक से मुद्रित लेख के अन्तर्गत छपा था।

१२. **ऋग्वेद की दानस्तुतियों पर विचार**—यह लेख प्रथम बार सन् १९४६ में 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर' से पुस्तिकारूप में छपा था। तत्पश्चात् 'वेदवाणी' पत्रिका के वर्ष ४, अङ्क ३ (सं० २००८, सन् १९५०) में छपा था। उसे पुनः परिष्कृत करके यहां छापा है।

१३. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—यह लेख प्रथम बार हिन्दी भाषा में 'वैदिक धर्म' पत्रिका (औंध-महाराष्ट्र) में सन् १९४४ में छपा था। तत्पश्चात् सन् १९४६ में 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर' से पुस्तक रूप में छपा। उसका परिष्कृत रूप मैंने सन् १९४८ में अजमेर से प्रकाशित किया। उसका पुनः परिष्कार करके भाषानुवाद के रूप में यहां छापा है। यही लेख **ऋग्वेदस्य ऋक्संख्या** नाम से संस्कृत में 'सरस्वती सुषमा' पत्रिका (वाराणसी) के वर्ष ९, अङ्क ३, ४, तथा वर्ष १०, अङ्क १-४ (सम्मिलित) में छपा था। उसे पुनः परिष्कृत करके यहां छापा है।

१४. **क्या ऋषि मन्त्र-रचयिता थे?**—यह लेख प्रथम बार सन् १९३३ में सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा, देहली द्वारा आयोजित 'प्रथम आर्य-विद्वत् सम्मेलन' में मैंने पढ़ा था। तत्पश्चात् उसी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ। तदनन्तर सन् १९४६ में 'रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर' से पुस्तिका रूप में छपा। उसे संशोधित करके 'वेदवाणी' पत्रिका वर्ष ५, अंक ७, ८ (सं० २०१०, सन् १९५३) में पुनः परिष्कृत होकर यहां छापा है।

१५. **श्रौतयज्ञों की वैदिकता**—यह लेख प्रथम बार 'दिवाकर' पत्र (आगरा) के वेदाङ्क में सन् १९३५ में छपा था। उसे ही यहां छापा है।

१६. **श्रौत 'पशुबन्ध' यज्ञ और पश्वालम्भन**—यह लेख प्रथम बार **'श्रौतयज्ञ और पश्वालम्भ'** शीर्षक से 'वेदवाणी' पत्रिका वर्ष ८, अङ्क १, २ में छपा था। इसे पुनः परिष्कृत और परिबृंहित करके यहां छापा है।

१७. **श्रीमद्भगवद्दयानन्दसरस्वती-स्वामिनो वेदभाष्यस्य वैशिष्ट्यम्**—यह लेख 'राजस्थान आर्य प्रतिनिधिसभा' अजमेर की हीरक जयन्ती के अवसर पर आयोजित वेद-सम्मेलन में पढ़ा था। तत्पश्चात् 'गुरुकुल-पत्रिका' (सं० २०३३, सन् १९६७) में छपा था।

रामलाल कपूर ट्रस्ट के अन्य प्रकाशन

१. ऋग्वेदभाष्य (संस्कृत हिन्दी वा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रतिभाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट वा सूचियां। प्रथम भाग ३०-००, द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग ३०-०० । चतुर्थ भाग छप रहा है ।

२. यजुर्वेदभाष्य-विवरण—ऋषि दयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत । प्रथम भाग—अप्राप्य, द्वितीय भाग मूल्य २०-००

३. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—दयानन्द सरस्वती (सटिप्पण) १५-००

भूमिका परिशिष्ट—भूमिका पर किये गये आक्षेपों के उत्तर १-५०

४. माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ—शुद्ध संस्करण १५-००

५. वैदिक सिद्धान्त मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वेद विषयक विशिष्ट १७ निबन्धों का अपूर्व संग्रह । मूल्य विशिष्ट स० ३०-०० साधारण सं० २५-०० ।

६. ऋग्वेद की ऋक्संख्या—युधिष्ठिर मीमांसक १-००

७. वेदसंज्ञा मीमांसा— ,, ,, ०-७५

८. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु । ०-७५

९. वेद और निरुक्त—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु । ०-७५

१०. निरुक्तकार और वेद में इतिहास— ,, ०-७५

११. त्वाष्ट्री सरण्यू की कथा का वास्तविक स्वरूप— ०-७५

१२. वेद में आर्य-दास युद्ध-सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन—श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री । ०-७५

१३. संस्कारविधि—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट । मूल्य लागतमात्र १०-०० राज-संस्करण १२-०० । सस्ता संस्करण । ४-००, सजिल्द ५-०० ।

१४. संस्कार-विधि मण्डनम्—वैद्य रामगोपाल शास्त्री ३-००

१५. वैदिक नित्यकर्म-विधि—पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों के पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित । युधिष्ठिर मीमांसक । २-००

मूलमात्र—संध्या, तथा स्वस्तिवाचनादि सहित । ०-५०

१६. पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्द सरस्वती १-००

१७. पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप—श्री पं० मदनमोहन विद्यासागर ३-००

१८. हवनमन्त्र— ०-२५

१९. सन्ध्योपासनविधि—भाषार्थसहित । ०-२५

२०. सन्ध्योपासन-विधि—भाषार्थ वा दैनिक अग्निहोत्र सहित ०-३०

२१. वर्णोच्चारणशिक्षा—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या ०-५०

२२. शिक्षासूत्राणि—आपिशलि-पाणिनि-चन्द्रगोमी प्रोक्त १-५०

२३. निरुक्त-समुच्चय:—आचार्य वररुचिकृत, सं० यु० मी० ६-००

२४. अष्टाध्यायी (मूल)—शुद्ध संस्करण १-५०

२५. धातुपाठ—धात्वादिसूचीसहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण २-००

२६. पाणिनीयं शब्दानुशासनम् (भाग १)—पाणिनीय सूत्रपाठ के विविध पाठ-भेद तथा सूत्र-सूची सहित सजिल्द ४-००

२७. अष्टाध्यायी-भाष्य— श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत । प्रथम भाग १५-००, द्वितीय भाग १६-००, तृतीय भाग २०-००

२८. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु । प्रथम भाग ६-००, द्वितीय भाग ८-००

२९. महाभाष्य—हिन्दी व्याख्या, यु० मी०, प्रथम भाग यन्त्रस्थ, द्वितीय भाग २५-०० तृतीय भाग २५-००

३०. उणादिकोष—ऋ० द० स० कृत व्याख्या तथा पं० यु० मी० कृत टिप्पणियों एवं ११ सूचियों सहित । अजिल्द ७-००, सजिल्द १०-००

३१. दैवम्—पुरुषकारवार्तिकोपेतम्—लीला शुकमुनि कृत ८-००

३२. वामनीयलिङ्गानुशासनम्—(स्वोपज्ञवृत्ति) ३-००

३३. लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि २-००

३४. भागवृत्तिसंकलनम्—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति ३-००

३५. संस्कृतवाक्यप्रबोध (मूल)—ऋषि दयानन्दकृत ०-७५

३६. संस्कृतवाक्यप्रबोध (मूल), अंग्रेजी अनुवाद तथा आक्षेपों के उत्तर सहित २-५०

३७. काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्—संस्कृत रूपान्तर यु०मी ८-००

३८. काशकृत्स्न व्याकरणम्—संपादक—यु० मी ३-००

३९. अनासक्तियोग—पं० जगन्नाथ पथिक १२-००

४०. आर्याभिविनय (हिन्दी)—स्वामी दयानन्द । दोरङ्गी २-००

४१. Aryabhivinaya. English Translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई, अजिल्द ३-००, सजिल्द ४-००

४२. विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम् (सत्यभाष्य-सहितम्)—पं० सत्य देव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य । ४ भाग मूल्य ५०-००

४३. हंसगीता—(महाभारत का एक आध्यात्मिक प्रसंग) ०-५०

४४. अगम्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन—चंचल बहिन २-००

४५. विदुरनीति—पदार्थ और विस्तृत व्याख्या सहित । ५-५०

४६. भारतीय प्राचीन राजनीति—पं० भगवद्दत्त । ०-७५

४७. सत्याग्रह-नीति-काव्य—पं० सत्यदेव वासिष्ठ । मूल्य ५-००

४८. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक कृत । नया संस्करण (सन् १९७३) । प्रथम भाग २५-००, द्वितीय भाग २०-००, तृतीय भाग १५-०० पूरा सैट ६०-००

४९. संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि—डा० कपिलदेव शास्त्री एम० ए० । सजिल्द १०-००

५०. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्मचरित—सम्पादक पं० भगवद्दत्त १-००

५१. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृतसाहित्य को देन—डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए० । सजिल्द १०-००

५२. आर्यसमाज के वेद-सेवक विद्वान्—डा० भवानीलाल । ३-००

५३. सत्यार्थप्रकाश [आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण]—राजसंस्करण, १३ परिशिष्ट, ३५०० टिप्पणियां ३०-००, साधारण २४-००

५४. व्यवहारभानु—ऋषि दयानन्दकृत १-००

५५. आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्दकृत ०-२५

५६. भागवत-खण्डनम्—ऋषि दयानन्दकृत । ०-५०

५७. अष्टोत्तरशतनाममालिका—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास की सुन्दर प्रामाणिक विस्तृत व्याख्या । पं० विद्यासागर शास्त्री ५-००

५८. आर्य-मन्तव्य-प्रकाश—म० म० आर्यमुनि ४-००

५९. नाडीतत्त्वदर्शनम्—पं० सत्यदेव वासिष्ठ । १०-००

६०. आर्यसमाज के दिग्गज विद्वानों का शास्त्रार्थ—'वेद में इतिहास है वा नहीं' विषय पर लाहौर में सन् १९३१ में हुआ । ३-००

६१. Vegetariansm Vs: Meet-Eating—कर्मनारायण कपूर ०-५०

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा)